शास्त्रदीपिका

डा० किशोरदास स्वामी

श्रीसाधुबेलासंस्कृतमहाविद्यालयप्रकाशनस्य प्रथमं पुष्पम्

महामहोपाध्यायश्रीमत्पार्थसारथिमिश्रप्रणीता-

शास्त्रदीपिका

श्रीसाधुबेलासंस्कृतमहाविद्यालयस्य सम्मानितदर्शनप्राध्यापकमीमांसारत्न-
श्रीपं० सुब्रह्मण्यंशास्त्रिविरचितया विशिष्टभूमिकया
विषमस्थलटिप्पण्या च समलङ्कृता।

सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार
डा० किशोरदास स्वामी, एम० ए०,
सर्वदर्शनाचार्य, काव्यतीर्थ, विद्यावारिधि (Ph. D.)
दर्शनमार्तण्ड

सम्वत् २०३४ दिसम्बर १९७७ ई०
वाराणसी

प्रकाशक

श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय,
७/२३, सकरकन्द गली,
वाराणसी

पुस्तक प्राप्ति स्थान

- श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय,
  ७/२३, सकरकन्द गली,
  वाराणसी

- श्री साधुबेला उदासीन आश्रम,
  १८ ए०, भूलाभाई देसाई मार्ग,
  बम्बई, ४०००२६

- श्री साधुबेला आतिथेयम्,
  सप्तसरोवर मार्ग,
  हरिद्वार

- श्याम-निवास,
  जस्साराम मार्ग,
  हरिद्वार

[redacted]

शोधित मूल्य-४५-०० रुपये

मुद्रक

सुधीरकुमार चतुर्वेदी
सुदर्शन मुद्रक
४२, उत्तर वेनिया बाग,
वाराणसी

वक्तव्य

भारतीय दर्शनके अत्यन्त व्यापक क्षेत्रमें प्रमाण प्रमेयके निरूपणका अपना पृथक् विशेष महत्व है। यही कारण है कि आस्तिक और नास्तिक सभी दर्शनोंके प्रतिपादकोंने अत्यन्त विस्तारसे इस विषयपर विचार किया है। कुछ अंशोंमें तो प्रमाण प्रमेयके निरूपणकी सभी दर्शनोंमें समान व्याख्या है, किन्तु उन दर्शनोंके अपने अपने सिद्धान्तोंके अनुसार कहीं कहीं कुछ विषमता भी है।

महर्षि जैमिनिके द्वारा प्रतिपादित पूर्वमीमांसा दर्शनमें शास्त्रदीपिकाके तर्कपादका विशेष महत्व है। इसकी अनेक हस्तलिखित टीकाओंमेंसे केवल दो टीकाएं अभीतक मुद्रित हो पाई हैं— रामकृष्ण भट्टकी 'सिद्धान्तचन्द्रिका' और सुदर्शनाचार्यकी 'प्रकाशटीका'। इनमेंसे पहली टीका तो भाष्य, वार्तिक तथा काशिका आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपादित प्रमेयोंका संग्रह मात्र है। इस कारण मूल पाठका अर्थ लगानेमें अध्येताको अधिक सहायता नहीं मिल पाती। सुदर्शनाचार्य की टीकाकी भाषा तो सरल है किन्तु रामानुज सम्प्रदायानुसारी होनेके कारण उन्होंने जहाँ तहाँ अपने मतका पोषण करनेकी दृष्टिसे मूल ग्रन्थके अर्थको अपनी भावनाके अनुसार ढाल लिया है। जिसका समर्थन मीमांसा शास्त्रके अनुसार नहीं किया जा सकता। ऐसे सभी स्थलोंका निदर्शन इस टीकामें यथास्थान सप्रमाण कर दिया गया है। उदाहरणतः मीमांसकोंने यज्ञके लिए प्रत्यक्ष पशुका आलम्भन ही शास्त्र विहित माना है। पिष्ट-पशु (आटेके पशु) का आलम्भन नहीं। मीमांसक लोग शब्दको ही नित्य मानते हैं। वे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीकी चर्चा नहीं करते। इसी प्रकार मीमांसक लोग जीवात्माको विभु तथा अनेक मानते हैं, वे उसे अणु नहीं मानते। वास्तवमें सर्वगत शब्दका अर्थ व्यापक ही है, अणु नहीं, इसी प्रकार ज्ञान सन्तानका उपरम भी बौद्धोंका मत है, चार्वाकका नहीं तथा 'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत' इत्यादि वचन आधुनिक मीमांसकोंके मत नहीं है, प्राचीनोंके हैं तथा प्रामाणिक हैं।

यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयकी एम० ए० तथा आचार्य जैसी उच्च कक्षाओंके पाठ्यक्रममें निर्धारित है, किन्तु पच्चीस-तीस वर्षोंसे अध्येताओंको सुलभ नहीं था। दर्शन शास्त्रके छात्रोंको अध्ययनमें अत्यन्त कठिनाईका सामना करना पड़ता था। अनेक छात्रोंको तीन-तीन सौ रुपए मूल्य देकर यह ग्रन्थ खरीदना पड़ा था। इन्हीं सब कठिनाइयोंको दृष्टिमें रखकर इसका राष्ट्र भाषा हिन्दीमें रूपान्तर किया गया। मुझे इसके लिए आशा और निराशाके झूलेमें नहीं झूलना पड़ा। ईश्वरकी अनुकम्पासे सभी व्यवस्थाएं स्वतः सम्पन्न हो गईं।

ग्रन्थकी टीकाका नाम 'श्रीचन्द्रप्रभा' रखा गया है। भगवान श्रीचन्द्राचार्य उदासीन सम्प्रदाय के उन्नायक हैं। सनक सन्दन सनातनकी परम्परासे चला आ रहा यह विशुद्ध वैदिक सम्प्रदाय है। उदासीन शब्दका अर्थ होता है उत् + आसीनः उदासीनः। अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे ऊँचा उठा हुआ व्यक्ति। भगवान श्री चन्द्राचार्य परम आध्यात्मिक तथा साक्षात् शिवके अवतार थे। पूर्व मीमांसक भले ही नैयायिक सम्मत ईश्वरको नहीं मानते, पर सदाशिवके प्रति आस्था रखते हैं। अतः श्रीचन्द्राचार्य मीमांसकोंके भी पूज्य हैं। इन्होंने समस्त भारत वर्षका भ्रमण करके वैदिक धर्मका प्रचार किया। अपने आध्यात्मिक उपदेशोंसे देशका वातावरण शान्त कर दिया। मीमांसक समुच्चयवादी हैं, अर्थात् ज्ञान-कर्म समुच्चयको मोक्षका साधन मानते हैं।

उदासीन सम्प्रदायके आचार्य भी समुच्चयवादी हैं। ये भक्ति-ज्ञान समुच्चयको मोक्षका साधन मानते हैं। भक्ति भी तो सूक्ष्म मानसिक कर्म है। अतः दोनोंका समन्वय है। भक्तिके साथ ज्ञान मिल जाए तो जैसे कोई पक्षी दोनों पंखोंसे उड़कर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाता है, वैसे ही भक्ति-ज्ञान के समुच्चयसे जीव-परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है। मानवताको परमार्थकी ओर प्रवृत्त करना ही इन समुच्चयवादियोंका मूल उद्देश्य है।

इस श्रीचन्द्रप्रभा टीकामें वेदवाक्योंकी व्याख्याके वास्तविक स्वरूपका ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा याज्ञिक दृष्टिसे युक्तिसंगत विचार किया गया है। इतना ही नहीं इस टीकाका निर्माण केवल सूत्र, भाष्य तथा वार्तिकके आधारपर न होकर शब्द और प्रतिपाद्य अर्थकी दृष्टिसे ऐसी सरल सुबोध हिन्दीमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है, कि किसी भी तत्त्व जिज्ञासुको अर्थ समझनेमें किसी प्रकारकी असुविधा न हो। इतना ही नहीं, मूलकी व्याख्याके साथ साथ मीमांसाके सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादन करके, विभिन्न मतोंकी विशेषताएं समझाते हुए उन्हें स्पष्ट करनेका यथा-शक्ति प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हो पाया है, इसका परीक्षण और समीक्षण तो विद्वज्जन ही कर सकेंगे। इसलिए मनीषी पाठकोंसे आग्रहपूर्ण निवेदन है कि इस टीकामें उन्हें जहाँ कहीं किसी प्रकारकी त्रुटियाँ या विप्रतिपत्ति प्रतीत हो वे उसे यदि लिख भेजनेकी कृपा करें तो दूसरे संस्करणमें उनका परिमार्जन कर दिया जा सकेगा।

इस ग्रन्थकी सारगर्भित विशद भूमिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके पूर्व मीमांसा विभाग के भू० पू० अध्यक्ष, मीमांसा रत्न श्री पं० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री जीने लिखकर जहाँ इस ग्रन्थका गौरव बढाया है, वहीं इसके प्रतिपाद्य विषयके विषम स्थलोंपर टिप्पणी लिखकर इसका महत्व भी संवर्धित किया है। इतना ही नहीं उन्होंने पाठ भेद आदि मिलाने तथा मूलका संस्कार करनेमें भी पूर्ण सहयोग और परामर्श दिया है। उनकी इस अहैतुकी कृपाके लिए मैं हृदयसे उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

लिखे जानेपर भी यह ग्रन्थ अमुद्रित और अप्रकाशित ही पड़ा रह जाता यदि साधुबेला आश्रम, बम्बईके मुख्य पुजारी श्री जीवन्मुक्त जी उदासीन, आर्थिक सहायता देकर इसके प्रकाशनमें योग न देते। वास्तवमें इस ग्रन्थके प्रकाशनका सम्पूर्ण श्रेय श्री जीवन्मुक्त पुजारी जी को है। उन्हींकी उदारता और विश्वासका यह फल है कि जिज्ञासु पाठकोंको यह ग्रन्थ सुलभ हो पाया है। श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालयका प्रकाशन विभाग हृदयसे उनका यह भार स्वीकार करता हुआ उन्हें धन्यवाद और साधुवाद देता है।

इस पुण्य कार्यमें मुझे सबसे अधिक प्रेरित करनेवाले साधुबेला आश्रमके परमाध्यक्ष राजर्षि आचार्य स्वामी श्रीगणेशदासजी महाराज, भारतीय संस्कृति और बौद्ध दर्शनके प्रकाण्ड विद्वान् त्रिपिटकाचार्य स्वामी कूटस्थानन्दजी महाराज, श्याम-निवास, जस्साराम मार्ग, हरिद्वार, तथा आचार्य पं० सीतारामजी चतुर्वेदी तथा परम सम्माननीय स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेवजी मुख्य रूपसे रहे हैं। किस प्रकार ये महानुभाव ईमानदारीसे अपने जीवनका समय व्यतीत करते हैं और करते थे इनसे सात्त्विक प्रेरणा प्राप्त करके ही इस जटिल ग्रन्थका हिन्दी रूपान्तर हो पाया है। अतः मैं सर्वभावेन इन सब महानुभावोंके प्रति अपने हृदयकी समस्त श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

किशोरदास स्वामी



श्री जीवन्मुक्तजी महाराज, उदासीन।
प्रधान पुजारी—श्री साधुबेला उदासीन आश्रम, बम्बई—२६।

पुजारी श्री जीवन्मुक्तजी उदासीन

श्रीसाधुबेला उदासीन आश्रम, बम्बईके प्रधान पुजारी श्री जीवन्मुक्त उदासीन जो उन थोड़ेसे गिने-चुने उदार महापुरुषोंमें हैं जिन्होंने अपना सारा जीवन धर्म सेवा और लोक सेवामे समर्पित कर दिया। आजके इस स्वार्थभावित जगतमें ऐसे बहुत कम लोग दिखाई पड़ते हैं जो अत्यन्त सात्त्विक और निरीह भावसे प्रभु-सेवा और जन सेवामें मनसा-वाचा और कर्मणा संलग्न हों।

श्री जीवन्मुक्तजी उदासीनका जन्म इटावा जनपदके पालोवाल गौड़ ब्राह्मण कुलमें सन् १९२२ में हुआ था। आपके पिता श्री लक्ष्मण प्रसादजो वहांके प्रसिद्ध दैवज्ञ थे। उन्हींके यहां उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती तेजीबाईको पावन कुक्षसे श्री जीवन्मुक्तजीका जन्म हुआ। उनके साथ विचित्र बात यह देखी गई कि जन्मके समय ही उनके दोनों कान छिदे हुए थे।।

बाल्यावस्थासे ही आपकी रुचि भगवत्सेवा, कथा और कीर्तनमें प्रवृत्त थी। इसी कारण श्रीमद्भागवत तथा श्रीरामचरित मानसके अनुशीलनमें आपकी स्वभावतः वृत्ति रम गई। इन्हीं दोनों महाग्रन्थोंनें आपके जीवनको उदार और उदात्त बनानेमें पर्याप्त योग दिया।

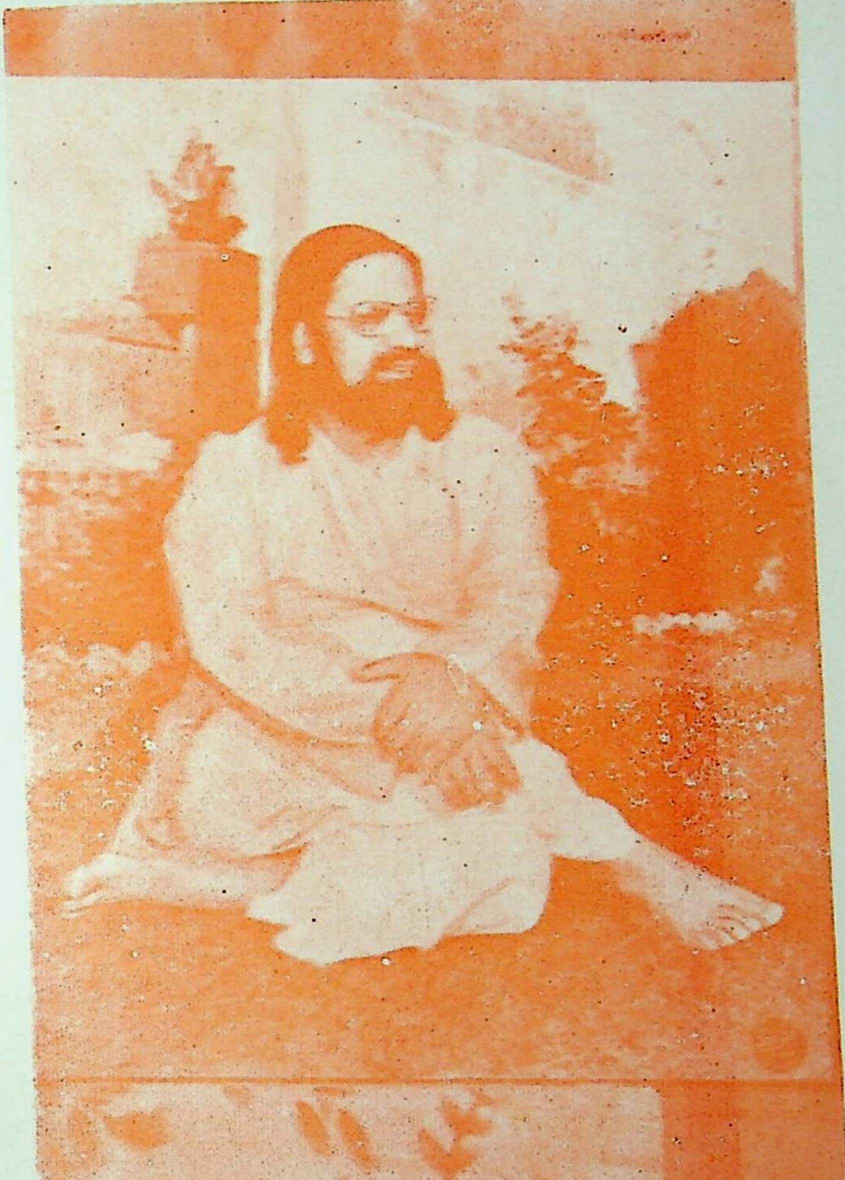
संयोग वश संस्कृत भाषा साहित्य और दर्शनके अध्ययनके निमित्त आप काशीके श्रीचन्द्र महाविद्यालयमें प्रविष्ट हो गए और वहां निवास करके आपने अत्यन्त परिश्रमके साथ संस्कृत भाषा साहित्य और दर्शनका विधिवत् अध्ययन किया। सन् १९४१ ई० में प्रयागके कुम्भके अवसरपर पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण, पूज्यपाद आचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी हरिनामदासजी महाराजकी आज्ञानुसार श्रीगुरुदासजी महाराजसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हो गए। वहांसे तीर्थाटन करते हुए सक्खर (पाकिस्तान) स्थित श्रीसाधुबेलाके पवित्र तीर्थमें पूज्य श्री स्वामी हरिनामदास जीकी सेवामें जा उपस्थित हुए। अपनी तन्मयतापूर्ण सेवासे ये शीघ्र ही स्वामीजी महाराजके इतने कृपापात्र

और वात्सल्य भाजन बन गए कि उन्होंने इन्हें भगवत्सेवा कथा और कीर्तनका कार्य प्रसन्नता-पूर्वक सौंप दिया।

आपके सरस भाषणोंसे स्वामीजी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने आपको स्वर्ण पदकके साथ-साथ व्याख्यान-वाचस्पतिकी उपाधि भी प्रदानकी और तभीसे आप पुजारीजीके नामसे प्रसिद्ध हो गए। भारत विभाजनके पश्चात् कुछ समय तक ये श्रीसाधुबेला उदासीन आश्रमके ट्रस्टी भी बने रहे। और उसके पश्चात् अभी तक आप श्रीसाधुबेला उदासीन आश्रम, बम्बईमें प्रधान पुजारी पदका सेवाभाव अत्यन्त योग्यता और कर्मठताके साथ सम्भाले हुए हैं।

श्री पुजारीजी महाराज अत्यन्त त्यागी और परम सेवा-मूर्ति हैं। यदा-कदा भक्तों, माताओं एवं बन्धुओंसे कुछ द्रव्य भेंट रूपमें प्राप्त होता रहा, उसे वे लोक कल्याणकी दृष्टिसे संचित करते रहे। उसीका परिणाम है कि धाम वृन्दावनमें श्रीसाधुबेला, कदम्बछायाके निर्माणमें उन्होंने वह सब संचित राशि लगा दी थी। उसके अतिरिक्त जो कुछ शेष द्रव्य बचा, वह दस सहस्र रुपया उन्होंने श्रीसाधु-बेला संस्कृत महाविद्यालयके स्थाई कोषमें दान कर दिया।

उनकी त्याग वृत्ति इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने यह घोषणा कर दी है, कि मेरे शरीरपातके पश्चात् मेरी आँखें, गुर्दा आदि यदि किसीके लिए आवश्यक हों तो निकालकर दे दिये जाएँ। इतना ही नहीं, अभी कुछ दिन आंध्रमें जिस भयंकर झंझावातने लाखों व्यक्तियोंको जन-धन-गृह और प्राणोंसे वंचित कर दिया, उसके लिए भी आपने अपनी ओरसे यथाशक्य आर्थिक सहायता भेजी। इस ग्रन्थके प्रकाशनका सम्पूर्ण व्यय भार श्री पुजारीजीने ही वहन किया है, जो भारतीय संस्कृतिके प्रति उनकी अगाध निष्ठा, और प्रेमका परिचायक है। ऐसे तपस्वी, त्यागी और महापुरुषका श्रीसाधुबेलाका प्रकाशन विभाग हार्दिक अभिनन्दन करता है, और उनके प्रति सात्विक कृतज्ञता व्यक्त करता है।



श्री साधुबेला आश्रमके नवम पीठाधीश्वर,
जगद्गुरू राजर्षि-आचार्य श्रीस्वामी गणेशदास जी महाराज।

राजर्षि आचार्य

श्रीस्वामी गणेशदास जी महाराज

विक्रम सं० २००६ में पदवाक्य-प्रमाण-पारावारीण—आचार्य स्वामी श्री हरिनामदास जीके ब्रह्मलीन होनेपर २५ दिसम्बर सन् १९४९ ई० को सम्प्रदायके आचार्योंनें राजर्षि आचार्य स्वामी गणेशदासजी महाराजको साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया। इस उत्तराधिकारको इन्होंने उत्तर-दायित्व पूर्ण ढंगसे संभाला। इनका ही प्रताप था कि बम्बईमें लगभग सात लाख रुपएकी लागतसे श्री साधुबेला उदासीन आश्रमका दिव्य भवन तथा मन्दिरकी रचना सन् १९५७ में हुई जहाँ १९१८में श्री वनखण्डी जी महाराजने अपनी धूनी जगाई थी, जो आज भी उसी प्रकार निर्बाध रूपसे प्रज्वलित हो रही है।

साधुबेला आश्रमसे सम्बद्ध आश्रमोंको सनातन धर्मकी मर्यादाके अनुसार व्यवस्थित करनेका, स्वामीजीने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है। जिसके कारण उत्तर काशी, वृन्दावन, हरिद्वार, काशी, रायपुर, पटियाला, तथा दिल्लीमें साधुबेला आश्रमकी सुव्यवस्थित शाखाएं स्थापित करदी गईं। हरिद्वारमें अत्यन्त भव्य, सर्वसुविधा सम्पन्न, साधुबेला आतिथेयम्का निर्माण कराया तथा साधुओंकी सुख-सुविधाके लिए साधुबेला पंचवटी आश्रमकी स्थापना भी की गई, जहाँ सब महात्मा एवं साधुओंके योग क्षेम तथा तपः साधनाके लिए अत्यन्त अनुकूल व्यवस्था कर दी गई है।

आश्रमकी ओरसे जिन सांस्कृतिक कार्योंकी योजना है, उनमें भारतीय संस्कृति, जीवन और दर्शनसे सम्बद्ध अनेक सद् ग्रन्थों और मासिक पत्रिकाके प्रकाशनका भी विचार है। उनमेंसे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। आश्रमकी ओरसे यह भी योजना बनाई जा रही है कि सुयोग्य विद्वान और साधु विदेशोंमें समय समयपर, धर्म प्रचारके लिए भेजे जाते रहें, जो हिन्दू धर्मके सम्बन्धमें व्यापक अनेक भ्रान्तियोंका निवारण कर सकें और सनातन धर्मकी उदार विशेषताओंका समुचित रीतिसे प्रतिपादन भी कर सकें।

हमारे देशमें बहुतसे प्रदेश ऐसे हैं, जहाँके निवासी अभीतक वन्य, असभ्य तथा अन्ध-विश्वास पूर्ण दरिद्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अतः श्री स्वामीजीने यह योजना बनाई है कि ऐसे प्रदेशोंमें कुछ ऐसे धर्म प्रचारक और धर्म सेवक भेजे जाएँ जो सेवाभावके साथ उन प्रदेशोंके पिछड़े हुए जन-जीवनको समृद्ध कर सकें। इस प्रकार इस आश्रमके द्वारा स्वामी जी भारतके धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं कृषि सम्बन्धी क्षेत्रमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सेवा कार्योंमें संलग्न हैं।

स्वामी जी महाराज मानव वेदनाके लिए इतने अधिक संवेदनशील हैं कि यदि कोई अपरिचित साधु या सद्गृहस्थ किसी व्याधिसे ग्रस्त हो, तो उसके लिए अत्यन्त तत्परताके साथ उसका सारा व्यय भार सहर्ष वहन करते हैं। ऐसी उदार सद्वृत्ति बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलती है ।

श्री स्वामी जी महाराजकी रुचि शिक्षा और स्वास्थ्यके विषयमें अत्यन्त अभूतपूर्व है। काशीमें साधुवेला संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापना इन्होंने ही की । जिसमें चुन-चुनकर भारतवर्षके परमोच्चकोटिके विद्वान वहां अध्यापनके लिए सम्मानित रूपसे नियुक्त हैं। तथा वहाँसे परीक्षोत्तीर्ण अत्यन्त योग्य छात्र भारतके विभिन्न विद्यालयोंमें अत्यन्त उत्कृष्ट पदोंपर कार्य कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त श्रीस्वामीजी की अद्भुत योजना है, दिल्लीमें वाल-विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी, जिसमें विश्वभरके बच्चे 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' की विश्वबन्धुत्वकी भावनाके साथ भारतीय संस्कृतिके वातावरणमें अध्ययन कर सकें।

श्री स्वामीजीकी एक विराट योजना तीन करोड़ रुपयेकी लागतका एक अस्पताल हरिद्वार और देहरादूनके बीच स्थापित करनेकी है, जिससे शिमलासे लेकर नैनीताल तकके पार्वत्य प्रदेशके लोग लाभ उठा सकें।

श्री साधुबेला आश्रमके सम्बन्धमें सभी लोगोंकी धारणा है कि यदि किसीको स्वच्छता, पवित्रता सुन्दरता, और सुव्यवस्थाका दर्शन करना हो तो साधुबेला आश्रममें आकर देखे। यही कारण है कि बम्बई जैसे जनसंकुल और व्यस्त नगरके गुजराती, मराठी, मद्रासी, पंजाबी, सिन्धी सभी वर्गोंके नागरिक इस आश्रमके दर्शनके लिए निरन्तर आते रहते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि साधुबेलासे सम्बद्ध सभी आश्रमोंमें निरन्तर कथा, कीर्तन, भजन आदि होते रहते हैं। जिससे यहाँका वातावरण पूर्णतः धार्मिक और सात्विक बना रहता है।

इन सब उदात्त प्रवृत्तियोंका एकमात्र श्रेय राजर्षि आचार्य श्री स्वामी गणेशदास जी महाराज को ही है और उन्हींकी प्रेरणा और सद्भावसे ही इस पूर्वमीमांसाके मूर्धन्य ग्रन्थका प्रकाशन हो सका है।

भूमिका

यह सबको विदित है कि इस पृथ्वी तलमें भारतवर्ष धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारोंसे ओत प्रोत है। सभीका मूल कारण है सर्वज्ञ कल्प भगवान अपौरुषेय वेद। इसीके अध्ययन मनन तथा अनुशीलनसे हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोंने अपने अपने अनुभवको दर्शनके रूपमें संकलित किया है। यह ऋषियोंकी विचारधारा अनादि कालसे अनवच्छिन्नरूपसे प्रवृत्त होती चली आ रही है, यही भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। यह अन्य देशोंमें नहीं है। वहाँ केवल तर्क है। दर्शन कम मात्रामें है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस देशमें आचार परतंत्र है। विचार स्वतंत्र है। और यह भी एक विशेषता है कि इन दोनोंका क्रमशः मूल वेदका पूर्व भाग तथा उत्तर भाग है। अर्थात् पूर्व-काण्ड या कर्म-काण्ड उत्तर-काण्ड या ज्ञान-काण्ड ही आचार परतंत्रता और विचार स्वतंत्रताका मूल आधार है। पूर्व भागका ही विस्तार है धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, उनकी व्याख्या, उप व्याख्याएँ और निबन्ध। उत्तर भागका विस्तार है पुराण और इतिहास। यों कहा जा सकता है कि सभी शास्त्रोंका वेदोंसे ही आविर्भाव हुआ है। और सबका लक्ष्य भी एक ही परम पुरुषार्थ है। उत्तम, मध्यम, अधम अधिकारियोंके भेदसे सभी शास्त्र सार्थक होते हैं। 'एकमातृप्रसूताना ऐकमत्येन वर्तिनाम्।
स्ववैमत्येन वैमत्यं शास्त्राणां मानवा जगुः'॥
अतएव स्मृत्यधिकरणमें कुमारिल भट्ट जीने सभी विद्यास्थानोंका समन्वय किया है।

दर्शनोंका भेद

ये ऋषि महर्षियोंके दर्शन नास्तिक तथा आस्तिक भेदसे दो प्रकारके हैं—सभी दर्शन अपने अपने स्थानपर विशेष महत्व रखते हैं और सर्वांगपूर्ण हैं। समयके प्रवाहके अनुसार इन दर्शनोंका वैदिक तथा अवैदिक नामसे भी व्यवहार होता है। इनमें अवैदिक दर्शन संख्यामें छः हैं। १—चार्वाक। २—आर्हत (जैन)। ३—वैभाषिक। ४—सौत्रान्तिक। ५—योगाचार। तथा ६—माध्यमिक या शून्यवादी। इन दर्शनोंका मूल उनके आगम तथा उनके सूत्र हैं। वैदिक दर्शन भी छः होते हैं। १—न्याय। २—वैशेषिक। ३—सांख्य। ४—योग। ५—पूर्व मीमांसा तथा ६—उत्तर मीमांसा या वेदान्त। इनमें भी पहिले चारोंके मूल हैं सूत्र। पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसाका तो वेद ही मूल है। वेदके अनुसार ही सूत्र भी हैं। ये वेदार्थके निर्णयमें सहायक होते हैं। इसलिए कुमारिल भट्टने कहा है कि 'धर्मे प्रमीयमाणे वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति'। अतः मीमांसा दर्शनका 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि ही मूल है। उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शनका 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रवण विधि ही मूल है।

मीमांसा शब्दका निर्वचन

मीमांसा शब्द रूढिसे (समुदाय-शक्तिसे) वेदवाक्य विचारको बताता है। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें कहा गया है कि—

'पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रा-ङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस श्लोककी व्याख्यामें मिताक्षराकार तथा मित्रमिश्र आदि विद्वानोंने, मीमांसा = वेदवाक्य विचार, ऐसा ही व्याख्यान किया है। लोक प्रसिद्धि भी शब्दार्थके निर्णयमें प्रमाण होती है। अतः लोकमें भी मीमांसा शब्द वेद वाक्य विचारमें प्रसिद्ध है। वाचस्पति मिश्रने तो मीमांसा शब्दको यौगिक मानकर 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः' मीमांसा शब्द पूजित विचारका वाचक है, ऐसा कहा है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि मान् पूजायां धातुसे जिज्ञासा रूप अर्थमें सन् प्रत्यय करनेपर मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है। 'मानेर्जिज्ञासायाम्' यह वार्तिक है। विचारमें पूजितत्त्व क्या वस्तु है? इसका स्वयं वाचस्पति मिश्र जीने परिष्कार किया है—'विचारे पूजितत्वं च परमपुरुषार्थहेतूभूत-सूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलकत्वम्'। इसका यह अर्थ है कि परमपुरुषार्थ है मोक्ष। उसका साधन है धर्म और ज्ञान। इन दोनोंका प्रत्यक्ष या अनुमानके द्वारा निर्णय नहीं होता, अपितु वेद ही इनका निर्णायक है। इस अर्थका निर्णय ही जिसका फल हो, वही पूजितत्व है। अतः पूजित विचारवाची मीमांस शब्द है, यह कथन भी जो पूर्वमें कहा गया है उसी अर्थमें संगत होता है। इससे मान् विचारे मान्-पूजायां इन दोनों धातुओंसे मीमांसा शब्दकी निष्पत्ति होती है, ऐसा व्याख्याकारोंका मत है। सुकुमार बुद्धिके व्यक्ति इसे समझ सकें, इस तात्पर्यसे ऐसा कहा गया है। इसमें यह कमी है कि दोनों धातुएँ अलग-अलग हैं। इनके विशेष्य विशेषणभावका कोई नियामक नहीं। इसलिए यह प्रकार मानना उतना उपयुक्त नहीं।

क्या मीमांसा शब्द तर्क वाची है?

मीमांसा शब्द तर्कका वाचक है, इस बातका न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकामें मिश्रजीने स्वयं उपपादन किया है—मीमांसा नामक यह तर्क सभी वेदोंसे प्रादुर्भूत हुआ है, अतः यह वेद ही है। अर्थात् वेदरूपी तर्क है। जैसे खारे समुद्रसे निकली हुई लकड़ी खारी ही होती है—

मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः।
सोऽतो वेदो समाप्राप्तकाष्ठादिलवणाम्बुवत् ॥

(न्या० वा० ता० टी०, पृ० ६१)

इसी प्रकार 'विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः' इस 'पारस्कर गृह्यसूत्रमें' तर्क शब्दका प्रयोग है। उससे मीमांसा दर्शन ही अभिप्रेत है। और मनुस्मृतिमें भी तर्क शब्दसे मीमांसा दर्शन ही कहा गया है। और इसे वाक्य शास्त्र भी कहते हैं। प्रामाणिक ग्रन्थोंमें पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारपारीण, ऐसा विशेषण दिया जाता है। यहाँ पद शब्दसे व्याकरण शास्त्र अभिप्रेत है और प्रमाणसे न्याय शास्त्र। इन दोनोंके मध्यमें 'वाक्य' शब्द पड़ा हुआ है। इससे मीमांसा शास्त्रका ही बोध होता है। मध्यमणि न्यायसे उसका प्राधान्य भी भासता है। वाक्यार्थ निर्णयके उपयोगी न्यायोंका यह प्रतिपादक है, इसी तात्पर्यसे शालिकनाथ मिश्रने कहा है कि—

'मीमांसाशास्त्रं हि वेदवाक्यार्थविचारोपायभूतन्यायनिबन्धनम्' इति। इससे यह सिद्ध हुआ कि मीमांसा शास्त्र तर्क शब्द तथा वाक्य शास्त्रसे भी व्यवहृत होता है। यहाँ कुछ लोगोंने जिज्ञासा और मीमांसा दोनों शब्द सन्नन्त होनेसे समान अर्थके बोधक हैं, ऐसा माना है। यह ठीक नही, क्योंकि श्रोता पुरुषकी क्रिया और ज्ञानकी इच्छा ही जिज्ञासा है। वक्ता पुरुषकी विचाररूपा क्रिया मीमांसा कहलाती है। ये दोनों समानार्थक कैसे हो सकती हैं? अर्थात् दोनों भिन्नार्थक होनेसे समानार्थक नहीं मानी जा सकतीं।

मीमांसा दर्शनकी आवश्यकता

सर्वज्ञ कल्प वेद अपौरूषेय हैं और स्वतः प्रमाण हैं। अक्षर, पद वाक्य, स्वर और मात्रायें ही वेदका स्वरूप है। इनका निर्वचन करनेके लिए क्रमशः शिक्षा, व्याकरण तथा छन्द प्रवृत्त हुए हैं। शिक्षामें वर्ण कितने हैं, उनका कौन सा स्थान है, प्रयत्न क्या है? उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और उनके उच्चारण क्रम आदि वर्णित हैं। जैसे पाणिनि शिक्षामें कहा है 'त्रिशष्ठिश्चतुः षष्ठोर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः' तिरसठ या चौंसठ अक्षर होते हैं। यह शिक्षाकार शम्भुका मत है। अतः शिक्षा वर्णोंके संस्कारके द्वारा वेदकी उपकारिका है। क्रम विशिष्ट वर्ण ही पद कहलाते हैं। प्रकृति और प्रत्ययके द्वारा निष्पन्न ही शब्द साधु तथा प्रयोगके योग्य होते हैं। इसलिए साधु-असाधु शब्दोंका विवेचन करनेके कारण व्याकरणही वेदका अंग माना गया है। ध्यानमें रहे कि चन्द्र आदि नौ व्याकरण प्रसिद्ध हैं। उनमें पाणिनि व्याकरणको छोड़कर और सभी व्याकरण लौकिक शब्दोंके व्युत्पादक हैं, वैदिकोंके नहीं। पाणिनि व्याकरण तो वैदिक शब्दोंका भी निष्पादक है। इसलिए इसीको वेदांग माना है। इसका महर्षि पतंञ्जलिने जोरदार शब्दोंमें समर्थन किया है।

यथा—'वेदरक्षार्थमध्येयं व्याकरणम्' इत्यादि।

वेदका तीसरा अंग छन्द है, जिसे पिङ्गल महर्षिने बनाया है। उसमें गायत्री आदि वैदिक छन्दोंका विवेचन है। अतः इन तीनोंसे वर्ण, पद और वाक्योंका संस्कार होता है।

वैदिक पदार्थोंको समझनेके लिए निघण्टु बना है। इसमें पांच अध्याय है। प्रथम तीन अध्ययोंमें अमरकोष आदिके समान पृथ्वीके गौ इत्यादि इक्कीस नाम हैं। आकाशके इतने नाम हैं। इन्द्रके इतने नाम हैं, इस प्रकार निघण्टुके पहिले तीनों अध्यायोंमें वैदिक पदोंका अर्थ बताया गया है। चौथे अध्यायका नाम है निगम-काण्ड। इसमें मंत्रोमें एक पदका अर्थ ज्ञात न होनेसे सारा मंत्र अधूरा रह जाता है। अतः एक पदका अर्थ बताकर सम्पूर्ण मंत्रका वाक्यार्थ बतानेके लिए इस अध्यायकी प्रवृत्ति हुई है। यथा निधा आदि शब्द। निधा = पाश्यं = पाशसमूहः। इत्यादि एक पदको लेकर प्रवृत्त होनेसे इसे एक-पदिक-काण्ड भी कहते हैं। और पांचवा अध्याय देवता काण्डके नामसे प्रसिद्ध है, इसमें देवताका स्वरूप, स्थान आदिका वर्णन किया गया है। इसपर महर्षि यास्कने बारह अध्यायका भाष्य रचा है। जिसके विषयमें दुर्गाचार्यने कहा है कि—

'पञ्चाध्यायीनिघण्टोस्तु निरुक्तमुपरि स्थितम्'। अर्थात् पांच अध्याय वाला जो निघण्टु है, उसके ऊपर निरुक्तको बनाया है। अन्तमें एक अध्याय परिशिष्ट है। कुल मिलाकर मूल और भाष्य अठारह अध्याय हैं। यही निरुक्त कहलाता है। यह वैदिक पदार्थोंको समझनेमें अत्यन्त उपयोगी है। वैदिक पदार्थोंको समझनेके लिए प्रमाण तथा प्रमेयोंकी आवश्यकता होती है। इसलिए न्याय-वैशेषिक

आदि भी वेदाङ्ग माने जाते हैं। न्यायमें प्रमाणोंकी चर्चा तथा वैशेषिकमें प्रमेयका वर्णन है। ये दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। वेदमें संक्षेपसे सृष्टि-प्रलय आदिका वर्णन है। उसीका पुराण तथा इतिहास आदिमें विस्तार किया गया है। इसीलिए कहा जाता है कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' तथा वेदोंमें संक्षेपसे कहे गए धर्मोंका धर्मशास्त्रमें सांगोपांग निरूपण किया है। इस प्रकार वेदार्थको समझने पर भी जहाँ जहाँ विरोध तथा संशय आदि उत्पन्न होते हैं, उनके निराकरणके द्वारा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारके निर्णयके लिए मीमांसाकी आवश्यकता है। अतः मीमांसा वेद वाक्यार्थ निर्णयमें प्रमुख स्थान रखता है। और साथ ही उत्तर मीमांसा या वेदान्तका पूरक भी है।

मीमांसाका प्रतिपाद्य विषय

मीमांसा दर्शनका मुख्य उद्देश्य है सन्दिग्ध वेद वाक्योंका तात्पर्य परिशोधनके द्वारा वाक्यार्थका निर्णय करना। यह दर्शन शब्दकी दृष्टि तथा अर्थकी गरिमासे अत्यन्त विशाल है।

इसके 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' इत्यादि कर्मकाण्डके विचारसे प्रवृत्त होनेपर भी इस दर्शनका प्रतिपाद्य विषय चार प्रकार का है। यथा १—तत्त्व-दर्शन। २—दार्शनिक-सम्मत प्रमाण-प्रमेयोंका विवेचन। ३—क्रतु-प्रयोगका निर्धारण तथा ४—शाब्द बोधके उपयोगी न्यायोंका विवेचन। इसलिए यह दर्शन सभी शास्त्रोंका उपकारक माना जाता है। उक्त विषयोंमें दो विषय अर्थात् क्रतु-प्रयोगका निर्धारण तथा शाब्द-बोधके लिए उपयोगी विषयोंका विवेचन द्वादश अध्यायोंमें विस्तारसे किया गया है। मीमांसा दर्शनके प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें पहिले तथा दूसरे विषयका विवेचन किया गया है। इसलिए इसके प्रथम पादका तर्कपाद भी दूसरा नाम है। वेदान्तमें भी द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादका तर्कपाद नाम है। अतः दोनों नामसे तो समान हैं, किन्तु प्रतिपाद्य विषयके भेदसे जमीन आसमानका अन्तर है। वेदान्तमें तो पर मतका निराकरण ही है। यहां तो सभी दार्शनिक सम्मत प्रमाण और प्रमेयोंका निरूपण किया गया है। अतः तर्कपादकी व्युत्पत्तिसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः'=पदार्थाः अर्थात् प्रमाण प्रमेय रूप पदार्थं। उनका ज्ञान इस तर्क पादसे होता है। इसके मूल हैं सूत्र, भाष्य और वार्तिक। इन तीनोंको आधार मानकर 'जल्प न्यायसे पार्थसारथि मिश्रने प्रमाण प्रमेयका विवेचन किया है। जिस विषयमें विरोध है उसका निराकरण कर, प्रतितंत्र सिद्धान्त न्यायसे अपने पक्षका समर्थन किया है। यह भी ध्यानमें रहे कि मध्य कालीन ग्रन्थकारोंनें पर पक्षका निराकरण कर अपने पक्षका समर्थन किया है। पार्थसारथि मिश्रने तो 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इस न्यायसे अपने पक्षका पहिले उपस्थापन करके, पर पक्षका निराकरण किया है। इस विषयमें जैसे नैयायिक सांख्य, वैयाकरण, वेदान्ती आदिका विरोध है, वैसे ही अवैदिक दर्शनोंके साथ भी मीमांसा दर्शनका विरोध है, अतः उनका भी निराकरण किया है। यह सब होने पर भी अपने मुख्य प्रतिद्वन्दी प्रभाकर मीमांसकका खण्डन करना ही इनका मुख्य ध्येय है। ग्रन्थकारने स्वयं इस आशयको प्रकट किया है। यथा—'न्यायाभासतमश्छन्न' इत्यादिसे।

मीमांसा दर्शनके सम्बन्धमें शंकाएँ और उनका समाधान

मीमांसा दर्शनके विषयमें कुछ विद्वानोंकी यह धारणा है कि मीमांसा शास्त्र दर्शनोंकी श्रेणीमें गिनने योग्य नहीं, क्योंकि यह कतिपय वेद वाक्योंका विचार है तथा कर्मका प्रतिपादक है। दर्शनका तो यह प्रयोजन होना चाहिए कि उसमें संसारके मूल कारणका विचार हो, आत्मा परमात्माका विवेचन

हो। इस दृश्यमान प्रपंचका क्या सम्बन्ध है, यह किससे उत्पन्न होता है, इसकी निवृत्ति किस उपायसे होती है इत्यादि निरूपण हो उसका प्रयोजन है। मीमांसा शास्त्रमें तो इनमेंसे एक भी बात नहीं है। अतः यह दर्शनकी श्रेणीमें गिनने योग्य नहीं। यद्यपि भाष्य, वार्तिक शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें कुछ परमार्थके विचार मिलते हैं, इसमें जैमिनि महर्षिका उपर्युक्त अर्थोंसे सम्बन्धित एक भी सूत्र नहीं है। इत्यादि। इसीके आधार पर पाश्चात्य विद्वानोंने भी कुछ इसी प्रकारकी धारणा व्यक्त की है। मैक्समूलर, मेगडानल आदिका कहना है कि पूर्व-मीमांसा दर्शन नहीं है। प्रोफेसर दास गुप्ताने तो अपने भारतीय दर्शनमें मीमांसा दर्शनका परिचय जैमिनीय न्यायमालाके प्रथम पादको आधार मान कर दिया है। उनका कहना है कि मीमांसा दर्शनमें धर्मका लक्षण है और धर्ममें वेद प्रमाण है। प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः होता है। शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध नित्यत्व तथा शब्द नित्यत्व, वाक्यार्थका निरूपण और वेदोंकी अपौरूषेयता आदि विषयों पर विचार किया गया है। यही उनकी दृष्टिमें मीमांसा दर्शनका वास्तविक परिचय है। स्वर्गीय मधुसूदन झा तथा उनके शिष्योंने तो मीमांसाके साथ वेदान्तको भी सम्मिलित करके कहा है कि ये दोनों दर्शन कोटिमें आने योग्य नहीं है। 'ब्रह्मसिद्धान्त' तथा उसकी व्याख्यामें उन्होंने इस तथ्यको सत्य सिद्ध करनेका प्रयास किया है। परन्तु इन उपर्युक्त विद्वानोंका कथन युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि इसके दो कारण हैं। पहला कारण है ब्राह्मण ग्रन्थ, मीमांसा सूत्र, उनका भाष्य और वार्तिक आदि ग्रन्थोंके यथार्थ अध्ययनका न होना। क्योंकि ग्रन्थ बहुत है। उनकी अपनी पद्धति और शैली है। उनके गहन तात्पर्यको समझना प्रत्येक व्यक्तिके वशकी बात नहीं है। इसका वास्तविक ज्ञान गुरू परम्परासे ही प्राप्त हो सकता है। इस पारम्परिक अध्ययन और ज्ञानका उनमें अभाव है। यद्यपि विदेशी विद्वानोंने इस तथ्यको समझनेके लिए अथक प्रयास किये हैं, यह स्तुत्य है, किन्तु अध्ययन और ज्ञान सुलभ न होनेसे वास्तविक तथ्यको समझना उनके वशकी बात नहीं है।

दूसरा कारण है कि सब दर्शनोंके मूल हैं सूत्र। ये सूचनात् = सूत्र कहे जाते हैं। अतः ये अनेक अर्थोंके बोधक होते हैं। उनमें कुछ शाब्दिक होते हैं और कुछ आर्थिक। अर्थात् भाष्य, वार्तिक आदिमें जो कुछ भी कहा गया है वह सब सूत्रोंके आधार पर ही वर्णित है। यों कहा है कि—

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्॥ (तंत्रवा०, पृ०–६२३)

अर्थात् जो भाष्य-वार्तिक आदि ग्रन्थोंमें है, वह सब सूत्रोंमें ही निहित है। अर्थोंका मूल सूत्र है। इसीलिए सब सूत्रमें प्रतिष्ठित है।

और भी बात है कि भाष्य वार्तिक आदिमें जो अर्थ कहे गये हैं, वे सूत्रोंसे भी अधिक प्रामाणिक हैं। जैसे कि कहा गया है—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'। और भारतीय सभी दर्शनोंमें धर्म तथा तत्त्व दर्शन ये दो अंश मुख्य हैं। इनमें 'श्रौत-स्मार्त धर्मको सभी वैदिक दर्शन स्वीकार करते हैं। यह दर्शनोंका प्रथम सोपान है। और तत्त्व-विचारमें सभी दार्शनिकोंका वैमत्य होनेपर भी अन्तःकरण शुद्धिके लिए धर्मानुष्ठान तो सभी स्वीकार करते हैं। इसमें किसीका वैमत्य नहीं। मीमांसा दर्शनमें तो जगत सत्य है, उसका मूल है धर्म। उसमें प्रमाण है वेद। धर्माधर्म जीवाश्रित हैं, इत्यादि सभी अर्थ सूत्रोंमें ही कहे गये हैं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' 'चोदना पुनरारम्भः' इत्यादि।

इसलिए मीमांसा शास्त्रको भी दर्शनकोटिमें अंगीकार करना अनिवार्य है। और यदि मीमांसाको दर्शन कोटिमें न गिना जाए तो दूसरी यह हानि होगी कि दर्शनोंकी षट्त्व संख्यामें न्यूनता हो जाएगी। अर्थात् मीमांसाको दर्शन न माननेपर पाँच ही दर्शन रह जाएंगे। पर षड्दर्शन तो विश्व भरके विद्वानों द्वारा मान्य हैं। इससे 'ब्रह्मसिद्धान्त' ग्रन्थोक्त विचारोंका भी निरास समझना चाहिए।

जिज्ञासा सूत्रार्थका विचार

मीमांसा दर्शनके सम्बन्धमें सूत्रकारने प्रथम सूत्रका निर्माण किया है, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (१।१।१) यह सूत्र मीमांसा दर्शनका धर्म हो विषय है, धर्म ज्ञान ही प्रयोजन है, इसे बतानेके लिए प्रवृत्त हुआ है। इसमें सम्बन्ध भो अपेक्षित है। सम्बन्ध दो प्रकारसे होता है। प्रथम शिष्य प्रश्न आनन्तर्यरूप। दूसरा गुरू परम्परा क्रमरूप। प्रथम सम्बन्ध वैशेषिक आदि दर्शनोंमें देखा जाता है— 'को धर्मः' ऐसा शिष्यका प्रश्न होनेपर—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्यादि। दूसरा है ब्रह्मा या महेश्वरने प्रजापतिको सर्वप्रथम मीमांसा दर्शनका उपदेश दिया। तत्पश्चात् प्रजापतिने इन्द्रको वह उपदेश दिया इत्यादि। किन्तु प्रकृतमें इन दोनों प्रकारके सम्बन्धोंका कोई उपयोग नहीं। इसलिए यहाँ कोई ऐसा सम्बन्ध मानना चाहिए, जिससे कि शास्त्रका आरम्भ हो सके। वह सम्बन्ध साध्य-साधन-भावरूप है। जिसे ग्रन्थकारने स्वयं स्पष्ट किया है 'साधनत्वमेव साध्यार्थिनः साधने प्रवृत्ति हेतुः' इति। इसलिए प्रकृतमें साध्य-साधन भाव सम्बन्ध निश्चित होता है। यहाँ धर्म ज्ञानको चाहनेवाला अधिकारी है। इन चारोंको अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। विद्वानोंने अनुबन्धका लक्षण किया है कि 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्'। शास्त्रमें प्रवृत्तिका प्रयोजक जो ज्ञान है उसके विषय हैं, धर्मादि। उन्हें शास्त्रके आरम्भमें कहना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें ऐसी प्रसिद्धि है कि 'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते'। इति।

प्रथम पादके सूत्र तथा अधिकरणका निरूपण

प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें कुल बत्तीस सूत्र हैं। यह आठ अधिकरणोंमें विभक्त है। पहिले पाँच अधिकरण तो एक एक सूत्रको लेकर एक एक अधिकरण है। उनमें भी बिना सूत्रके पूर्व पक्ष हैं। इसे उत्सूत्रपूर्वपक्ष कहते हैं। सूत्रसे सिद्धान्त कहे गए हैं जैसे 'अथातो धर्मजिज्ञा' इस सूत्रको लेकर जिज्ञासा अधिकरण है। छठे अधिकरणमें यह विशेषता है कि इसमें अठारह सूत्र हैं। अर्थात् छठे सूत्रसे लेकर तेईसवें सूत्र तक शब्द नित्यत्वाधिकरण है। इसमें पहिले छः सूत्रोंमें पूर्व पक्षका वर्णन है। अनन्तर छः सूत्रोंमें उसका निराकरण है। आगेके छः सूत्रोंसे अपने सिद्धान्तका उपपादन है। जैसे कि यह श्लोक है—

षड्भिः सूत्रैः पूर्वपक्षस्तावद्भिस्तन्निराकृतिः।
पुनरन्यैस्तु सिद्धान्तः षड्भिरित्येषसंग्रहः॥

सातवें वाक्याधिकरणमें तीन सूत्र हैं। वह तद्भूताधिकरण भी कहलाता है। आठवाँ है वेदापौरुषेयत्वाधिकरण। इसमें छः सूत्र हैं। दो पूर्व पक्ष और चार सिद्धान्त पक्षमें हैं। इस प्रकार तर्कपादमें बत्तीस सूत्र और आठ अधिकरण हैं। यह क्रम सूत्र, भाष्य तथा वार्तिकके अनुसार है।

सूत्रका लक्षण

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोममनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (जिसमें अक्षर बहुत कम हों, तथा जो सन्देह युक्त अर्थका बोधक न हो, और तात्पर्य या गम्भीर अर्थसे युक्त हो, अनेक अर्थोंका बोधक भी हो, जिसमें निरर्थक शब्द न रहें, अध्याहार आदि दोषोंसे वर्जित हो, सूत्रके जानकार विद्वान उसे सूत्र कहते हैं)

अधिकरणका स्वरूप

विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, प्रयोजन, संगति इन सबके समुदायको अधिकरण कहते हैं। अर्थात् वेदके समान अधिकरण भी छः अङ्गोंसे युक्त है। इसमें प्रमाण है—

विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं सङ्गतिश्च शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥ इति।

कुछ लोग संगतिको छोड़कर अधिकरणके पाँच ही अंग मानते हैं। प्रायशः ऐसा ग्रन्थोंमें लिखा भी रहता है—

विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनञ्च पञ्चाङ्गप्राञ्चोऽधिकरणंविदुः ॥ इति।

जिज्ञासाधिकरणका विचार

जिज्ञासा अधिकरणमें यह विचार किया गया है कि विचारशास्त्र=मीमांसा शास्त्रका आरम्भ होना चाहिए या नहीं ? 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यहाँसे लेकर 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यन्त जैमिनिसे कहे हुए सूत्र समुदायको विचार शास्त्र या मीमांसा शास्त्र कहते हैं।

यहाँ विचार शास्त्र विषय है। आरम्भ नहीं करना है या करना है ? यह संशय है। इसमें पूर्वपक्ष है मीमांसा शास्त्रका आरम्भ नहीं करना है। सिद्धान्त है—मीमांसा शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए। इतने अंशमें भाट्ट प्रस्थान और प्राभाकर प्रस्थान दोनों समान हैं। किन्तु दोनोंके तत्त्व प्रतिपादनकी प्रक्रिया भिन्न भिन्न है। जैसे भाट्ट मीमांसकोंने 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधिको लेकर पूर्वोत्तर पक्षोंका वर्णन किया है। प्राभाकर मीमांसकोंने तो अध्ययन विधिको छोड़कर अध्यापन विधिको लेकर पूर्वोत्तर पक्षोंका वर्णन किया है। उनका यह अभिप्राय है कि आठ वर्षका बालक, उपनयन संस्कारसे संस्कृत होकर, वेदाध्ययन मेरा इष्ट साधन है, अतः मुझे वेदाध्ययन करना चाहिए, ऐसा सोच नहीं सकता। अतः यह भार माणवक (शिष्य) से हटाकर, अध्यापकोंपर रख दिया गया है। इसे सरल शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणालीके अनुसार शिष्यको पढा लिखाकर सुयोग्य बनानेका दायित्व गुरूपर होता है। यही प्राभाकर मत है। और आजकल अंग्रेजीके स्कूल कालेजोंमें प्रवेश लेना, प्रवेश-शुल्क देना, उपस्थिति अंकित कराना, फिर अध्ययन करते हुए परीक्षा देना आदि समस्त कार्य-भार छात्रपर ही होता है। गुरू या अध्यापक पर इसका कोई दायित्व नहीं। केवल इतना ही दायित्व है कि समयपर क्लासमें छात्र आ जाए तो पढ़ा देना। इत्यादि। यही भाट्टकी मान्यता है। यह समझाने के लिए कहा गया है। इस प्रसंगमें ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने प्राभाकर मतका अर्थात् अध्यापन विधिका खण्डन करके अध्ययन विधिका समर्थन किया है। अध्यापन तो जीविकाके लिए है, अतः काम्य है। अध्ययन तो नित्य है। न करनेसे प्रत्यवाय होता

है। 'अनधियायाना: व्रात्या भवन्ति' यह शास्त्र है। केवल अध्ययनसे सन्देह रहित वेदका अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अतः विधिसे ही विचार शास्त्रका आक्षेप होता है। इसलिए विचार करना भी वैध=विधिसे प्राप्त है। इसलिए अध्ययन विधिसे ही विचार या मीमांसा शास्त्र प्रयुक्त होता है। उसका आरम्भ होना चाहिए। इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने कहा है कि—'अध्यापन विधि पक्षका निरास न्यायरत्नमालामें मैने किया है'। यहाँ सिद्धान्तचन्द्रिकाकारने ग्रन्थकारके ऊपर यह आक्षेप किया है कि न्यायरत्नमालामें अध्यापनविधिके निरासकी प्रकृतमें क्या उपयोगिता है। ऐसा कहकर न्यायरत्नमालामें जो समाधान है उसका संक्षेपमें वर्णन किया है। वह इस प्रकार है कि 'अष्टवर्षं ब्रह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत' यह वाक्य अध्यापनका विधान नहीं कर सकता। 'नाध्यापनमिदं वाक्यं विधातुं शक्यते यतः' द्रव्यार्जनके लिए अध्यापन अर्थतः प्राप्त होता है। 'षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका' यह स्मृति वचन है। अतः यह अध्यापनका विधान नहीं कर सकता। इस वाक्यका तो यह अर्थ है हि आठ वर्षका ब्राह्मण बालक गुरूके पास जाए और वह उनसे अध्ययन करे। 'अष्टवर्षो ब्राह्मणः गुरूसमीपं गच्छेत् सोऽधीयीत, इति-अध्ययनविधिरेव, नाध्यापनविधिरिति'। इसलिए अध्ययन दृष्टार्थ होनेके कारण वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलमें रहकर, वेदवाक्योंका विचार करे।

इस प्रकार अध्ययन विधि विचार समाप्त किया। अब कहते हैं कि धर्मका विचार चार प्रकारसे होता है—स्वरूप, प्रमाण, साधन और फल। इसमें आभासको जोड़नेपर आठ प्रकार हो जाते हैं। यथा—स्वरूप (लक्षण), स्वरूपाभास, प्रमाण, प्रमाणाभास। साधन, साधनाभास, फल, फलाभास। इस प्रकारसे धर्म विचारके आठ प्रकार बताए हैं।

द्वितीय सूत्रमें लक्षण और प्रमाणका शब्द और आक्षेपसे प्रतिपादन किया है। अर्थात् लक्षणको शब्दसे कहनेपर आक्षेपसे प्रमाण सिद्ध हो जाता है। प्रमाणको शब्दसे कहनेपर प्रमाण अर्थतः सिद्ध होता है। यों वार्तिककारने कहा है 'द्वयमेकेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते' इति। इस द्वितीय अधिकरणमें 'चोदनैव लक्षणं प्रमाणं यस्मिन्' इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों की धर्ममें प्रवृत्तिका निषेध किया। दूसरी प्रतिज्ञासे विधि वाक्य धर्ममें प्रमाण है ही, यह बताया है। इसी प्रसंगमें सामान्यतः सभी प्रमाणोंका अर्थतथात्वरूप प्रामाण्य सिद्ध किया है। और नैयायिक मतके समान कारण-दोष बाधक ज्ञानसे अप्रामाण्य परतः होता है, तथा शब्दका प्रामाण्य पृथक् होता है। अर्थात् शब्दका प्रामाण्य शब्दविधया होता है। अनुमानविधया नहीं, यह दर्शाया है। इन स्थलोंमें पर पक्षका निराकरण भी ग्रन्थकारने किया है।

तीसरे 'तत्प्रनिमित्तपरीष्टिः' इस अधिकरणमें यह धर्मशास्त्र नहीं है, किन्तु परीक्षा शास्त्र है, इसलिए साधक-बाधक प्रमाणोंके द्वारा पर्याप्त विचार कर सकते हैं, यह कहा गया है। चौथे अधिकरणमें प्रत्यक्ष प्रमाण धर्मका बोधक नहीं हो सकता, धर्मके भावी होनेके कारण। प्रत्यक्ष पूर्वक होनेसे अनुमानादि भी धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकते, यह सिद्ध किया गया है। पांचवें अधिकरणमें विधि वाक्य धर्मका बोधक नहीं, ऐसा आक्षेप कर बोधक है यह सिद्धान्त किया है। प्रसंगतया शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य होता है, प्रामाण्यमें परापेक्षा नहीं है, यह बादरायण महर्षिको भी अभिमत है, इत्यादि भी कहा गया है। इसी प्रसंगमें ग्रन्थकारने भाष्यके अनुसार प्रथम पादके प्रतिपाद्य विषयका संग्रह किया है। छठे अधिकरणमें वैदिक शब्दको नित्य सिद्ध किया है। शब्दके नित्य

होनेसे सम्बन्धकी भी नित्यता सिद्ध होती है। इसी प्रसंगमें क्षणभंग वादका निराकरण किया है। शब्द आकाशका गुण है, इस पक्षका भी खण्डन किया है। यह ध्यानमें रहे कि वर्णात्मक शब्द; द्रव्य है, नित्य है और विभु है, गुण नहीं है। ध्वन्यात्मक शब्द तो वायुका गुण है और अनित्य है। इत्यादिका निरूपण है।

सातवें अधिकरणमें वाक्यार्थ धर्ममें कोई कारण नहीं; यह पूर्व पक्ष कर, वाक्यार्थके प्रति पदार्थ ज्ञान कारण है, यह अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है। अतः वही वाक्यार्थका हेतु है, न पद है, न वाक्य है, इन दोनों पक्षोंका निराकरण किया है।

इसी प्रसंगमे वाक्य वाक्यार्थका बोधक है, इस वैयाकरण पक्ष तथा अन्विताभिधानका भी निराकरण कर, अभिहितान्वय वादका समर्थन किया है। भाट्ट मीमांसक मतमें सर्वत्र वाक्यार्थ लक्षित होता है। इसका समर्थन किया है। और वाक्यार्थ में भावना ही मुख्य विशेष्य होती है, न धात्वर्थ, न प्रथमान्त पदार्थ, इस विषयका विवेचन आगे किया जाएगा।

आठवें अधिकरणमें वाक्यत्व रूप हेतु तथा समाख्याके द्वारा वेद पौरुषेयत्वका आक्षेप कर सिद्धान्त किया गया है, कि वेदाध्ययन परम्परा अनादि होनेसे वेद अपौरुषेय है। वाक्यत्व रूप हेतु बाधित है। सत्प्रतिपक्ष दोषसे युक्त है। समाख्या तो प्रवचन निमित्तक है, अतः वेद अपौरुषेय है। इस प्रकार प्रथम पाद पूरा चोदना सूत्रका ही परिकर है। अतः विधि वाक्य धर्ममें प्रमाण है, यह भाष्यके अनुसार प्रथम पादार्थका सार है।

वृत्तिकार मतसे प्रथम पादार्थका संग्रह

भाष्यकार शबर स्वामीने 'तस्यनिमित्तपरीष्टिः' 'प्रत्यक्ष' सूत्र तथा 'औत्पत्तिक' सूत्र इन तीनोंका अपने मतसे व्याख्यानकर 'वृत्तिकारस्तु' इत्यादि ग्रन्थसे वृत्तिकारका मत दर्शाया है। उसमें उनके मतमें नञ्का अध्याहार होनेपर भी वेद प्रामाण्यके लिए अपेक्षित अर्थका प्रतिपादन है। वैदिक अवैदिक प्रतिपक्षियोंका निराकरण करना भी अभीष्ट है। इसलिए उनके मतका प्रतिपादन किया है। वह इस प्रकार है कि छः प्रमाणोंके प्रसिद्ध होनेसे, उनकी परीक्षाकी आवश्यकता नहीं। जहां प्रत्यक्ष आदिमें दोष होता है, उसके परिहारके लिए 'सच्छब्द' तथा 'तच्छब्द'का रद्दोबदल करके प्रत्यक्षका लक्षण किया है।

उसी अनुपातसे अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इत्यादि प्रमाणोंका भी वर्णन किया है। सच्छब्द तच्छब्दके अध्याहार पक्षमें उंवेक भट्टने दूसरे अध्याहार पक्षका भी वर्णन किया है। वहां तच्छब्द प्रत्यक्ष स्वरूपका परामर्शी है। सच्छब्द उसका विशेषण है। वार्तिक-व्याख्याता सुचरित मिश्रने तो अध्याहृत सच्छब्द शोभन अर्थमें है, ऐसा व्याख्यान किया है। यों कहा है—'यद्वाऽध्याहारकल्पना' इति। 'अन्यस्यैव वाऽयं तच्छब्दस्याध्याहारः, इति भट्टोंवेकः। द्वयोरपि तत्सतोरत्राध्याहारः। तत्राभाससमानाकारपरामर्शार्थोऽध्याहृतस्तच्छब्दः' । इत्यादि।

इसी प्रसंगमें औत्पत्तिक सूत्रके आधारपर निरालम्बन वाद, शून्यवाद, अनुमान, शब्द, उपमान अर्थापत्ति, अभाव, चित्राक्षेपवाद, सम्बन्धाक्षेपवाद, स्फोटवाद, आकृतिवाद, अपोहवाद, वनवाद, सम्बन्धाक्षेप-परिहारवाद, चित्राक्षेप-परिहारवाद, आत्मवाद, इन वादोंका संग्रह किया है। यह वेद प्रामाण्यके लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह वृत्तिकारके मतसे प्रथमाध्यायके प्रथमपादका सार संग्रह है।

प्राभाकरकी ओरसे वृत्तिकार सम्मत पदार्थोंका संग्रह

प्राभाकर मीमांसकोंका यह कहना है कि 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्यादि तीनों सूत्रोंका भाष्यकारने स्वयं व्याख्यान किया। तदनन्तर कतिपय दोष होनेपर भी विधि-प्रामाण्यके उपयोगी अनेक अर्थोंका प्रतिपादक होनेसे पर मत भी अपेक्षित है, यह मानकर वृत्तिकार मतको दर्शाया है। उस व्याख्यामें अध्याहृत नञ्से युक्त 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इस सूत्रके साथ 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियबुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' यहांतक एक अधिकरण है। वृत्तिकार मतमें यह विशेषता है, कि निमित्त परीक्षा नहीं करनी चाहिए, इस आशंकित पूर्वपक्षका निरास करनेके लिए यह सिद्धान्त सूत्र है ऐसा माना है। सच्छब्द तथा तच्छब्दका व्यत्यास करके, उत्तर सूत्रसे प्रमेय विषयक प्रत्यक्षका लक्षण कहते हुए श्रुतिसे सिद्धान्तकी स्थापना करनेके लिए है। अर्थात् शाब्दिक और आर्थिक अर्थोंको लेकर निरालम्बनवाद आदि अभाव निराकरण पर्यन्त सात अधिकरण सूचित किए हैं। यह प्राभाकर मीमांसकोंकी अपनी विशिष्ट प्रक्रिया है। इस बातको प्रकरणपञ्चिकाके व्याख्याता नारायण भट्टने जाति निर्णय प्रकरणके आरम्भमें पृ० ६३ पर कहा है—'स्वमतेन तस्य निमित्तपरीष्टिरित्यादिसूत्रत्रयं व्याख्याय कतिपयदोषोपेतमपि चोदनाप्रामाण्योपयोग्यानेकार्थाभिधानादपेक्षितं परमतमितिमत्वा भगवता भाष्यकारेणोपन्यस्तम्। तत्राध्याहृतनञ्युक्तेन 'तस्य निमित्तपरीष्टीति' सूत्रेण सत्सम्प्रयोगे इति तत्प्रत्यक्षमित्येवमन्तेन च साक्षादुक्तमेकमधिकरणम्। तत्र निमित्तपरीक्षा न कर्तव्येति प्रथमं राद्धान्तसूत्रमाशंकितपूर्वपक्षपरिहारार्थम्। व्यत्यस्तसत्तच्छब्दकमुत्तरसूत्रमपि मेयविषयप्रत्यक्षलक्षणप्रदर्शनमुखेन राद्धान्तस्थापनार्थं श्रुत्या, अर्थान्निरालम्बनवादादीन्यभावनिराकरणपर्यन्तानि सप्ताधिकरणानि सूचितानीति दर्शनस्थितिः'।

इस प्रकार ग्रन्थकारने भाष्यमत तथा वृत्तिकार मतका उपपादन किया है। पार्थसारथि मिश्रने भाट्ट सम्मत प्रमाण-प्रमेयोंका उपपादन करते हुए पर मतोंका अर्थात् अपने सिद्धान्तोंके विरोधी मतोंका निरास किया है। ये सब बातें ग्रन्थके अनुवाद कर्ताने स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित की हैं। अतः भाट्ट मीमांसककी ओरसे प्रधानतया इन विषयोंपर विचार किया जाएगा। जैसे १—प्रमाण और उसका प्रामाण्य। २—वेदका प्रामाण्य। ३—ख्यातियोंका विचार। ४—सृष्टि प्रलय तथा ईश्वरका विचार। ५—आत्माका निरूपण। ६—मोक्ष विचार। ७—भावना विचार। ८—वेदापौरुषेयत्व विचार तथा ९—प्रमाण-प्रमेयोंका संकलन।

प्रमाण-प्रमेयका निरूपण

दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। उनमें प्रमाण पहिले हैं और प्रमेय बादमें। विद्वानोंका कथन है कि प्रयाणोंके द्वारा ही प्रमेयका निश्चय होता है। प्रमाकरणको प्रमाण कहते हैं। इस अंशमें नैयायिक और मीमांसक एक मत हैं। किन्तु प्रमाके सम्बन्धमें वैमत्य है। नैयायिक यथार्थानुभवको प्रमा कहते हैं, और भाट्ट मीमांसक अज्ञातार्थ ज्ञापकको प्रमा मानते हैं। नैयायिकोंने यथार्थानुभवको प्रमा कहा है। वहाँ स्मृतिकी व्यावृत्तिके लिए अनुभव पद दिया है। वह 'अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाण है' इस लक्षणसे गतार्थ हो जाता है। अर्थात् यथार्थको प्रमा मानकर स्मृतिकी व्यावृत्तिके लिए अनुभव पद यदि देना है, तो सीधा सा लक्षण बताना चाहिए, जिससे उक्त दोषका निवारण हो सके। अतः विचार करनेपर तत् तत् वादियों द्वारा किए गए लक्षणका

इसीमें पर्यवसान होता है। इसीलिए मधुसूदन सरस्वतीने गीता गूढार्थदीपिकामें अज्ञातार्थज्ञापकत्व इस लक्षणको सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा है। लोकमें भी पूर्वमें अज्ञात विषयका ज्ञान करानेके कारण ही उसे प्रमाण कहा जाता है। इसलिए भी उपर्युक्त प्रमा लक्षण युक्त है। सूत्रकार जैमिनि महर्षि ने भी औत्पत्तिक सूत्रमें इसी लक्षणका समर्थन किया है। यह भाष्य, वार्तिक, शास्त्रदीपिका आदिमें वर्णित हैं। वेदान्ती भी इसी लक्षणको स्वीकार करते हैं। ये प्रमाण स्वतः सिद्ध हैं। इनकी सिद्धिमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं, अन्यथा अनवस्था होगी।

प्रामाण्य स्वतस्त्व विचार

प्रामाण्यके सम्बन्धमें जो विचार न्याय और मीमांसा आदिमें उपलब्ध होते हैं, उन सबका मूल 'नन्वतथाभूतमपि-अर्थंब्रूयाच्चोदना' यह शाबर भाष्य है। इन प्रमाणोंका प्रामाण्य = अबाधित विषयत्व या अर्थतथात्व स्वतः उत्पन्न होता है और स्वतः गृहीत होता है। यहां स्व शब्द आत्मीय वाची है। अर्थात् जिस सामग्रीसे ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिस सामग्रीसे ज्ञान गृहीत होता है, उसीसे प्रामाण्यका ग्रहण होता है। इसीको क्रमशः 'उत्पत्तौ स्वतस्त्वम्, ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्' ऐसा कहा जाता है। यह प्रामाण्य दूसरेसे गृहीत नहीं होता। अन्यथा जिससे प्रामाण्यका ग्रहण होता है, वह भी ज्ञान है, उसका भी प्रामाण्य दूसरेसे गृहीत होगा। उसका भी दूसरेसे इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। जिसको मूलक्षयकरिणी कहते हैं। यदि इस दोषका परिहार करनेके लिए कुछ दूर जाकर ज्ञानको स्वतः प्रमाण मानेंगे, तो प्रथम ज्ञानको ही स्वतः प्रमाण क्यों न माना जाए? अर्थात् प्रथम ज्ञानमें ही प्रामाण्य मान लिया जाए। उक्त अर्थको वार्तिककारने ऐसे कहा है—

'कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता।
प्रथमस्य तथा भावे प्रद्वेषः किं निबन्धनः॥

(श्लो० वा०, चोदनासू०, का० ७६)

अर्थ स्पष्ट है। अतः ज्ञानका प्रामाण्य स्वतः होता है। कल्पसूत्राधिकरण वार्तिकमें भट्टजी कहते हैं कि 'मीमांसकैरेव यशः पीतम्' इत्यादि। अर्थात् स्वतः प्रामाण्यको अंगीकार करके मीमांसकोंने यश अर्जित किया।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकामें वाचस्पति मिश्रने 'इदं जलमिति ज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्' इस अनुमानसे प्रामाण्यको परतः सिद्ध किया है। इस प्रसंगमें मिश्रजीने हेतु ज्ञानको स्वतः प्रमाण माना है। अतः स्वतः प्रामाण्य ही युक्त है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रामाण्यवादके पूर्वपक्षमें बौद्धोंने यह कहा है कि अप्रामाण्य स्वतः है, अवस्तु होनेसे। प्रामाण्य तो वस्तु होनेके कारण परतः होता है। परतः का अर्थ है संवादज्ञान, गुणज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान आदि। इसपर कुमारिल भट्ट तर्क देते हैं। तर्क ग्यारह प्रकारके होते हैं, उसमें प्रसंग नामक एक तर्क है यथा—पहिले सब ज्ञान प्रमाण ही होते हैं। अप्रमाण नहीं, किन्तु बादमें कारण-दोष-ज्ञान, बाधक-ज्ञान आदिसे वे अप्रमाण सिद्ध होते हैं। इस बातका श्रीहर्ष मिश्रने खण्डनखण्डखाद्यके चतुर्थ परिच्छेदमें तर्क निराकरण प्रसंगमें उल्लेख किया है। 'बाहुल्याद्दृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हता उत्सर्गः। तद्यथा—स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामा-

ण्याप्रामाण्यनिर्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषेऽपि विना बाधमप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तंप्रति स्यात्, न तु प्रमाणम्, यं तर्कमेतमालम्ब्याहुः—

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेःप्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थ दोषज्ञानादपोद्यते।। इति।।

'द्रष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोऽपि विप्रतिपत्तुमर्हति'। उसका यह आशय है कि लोकमें अप्रसिद्धकी अपेक्षा अति प्रसिद्ध, अदुर्बलके स्वीकारकी योग्यताको उत्सर्ग कहते हैं। जैसे किसी स्वस्थ पुरुषका जाग्रदवस्थामें जो ज्ञान होता है उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्यके निर्णायक प्रमाण रूप विशेषके न होनेपर भी बाधकके अभाव कालमें उस ज्ञानको जो बौद्ध आदि अप्रामाण्य मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्ग नामक दोष होता है। जो मीमांसक उक्त ज्ञानको प्रमाण मानते हैं उनके प्रति उत्सर्ग दोष नहीं होता। इसी उत्सर्ग रूप तर्कको लेकर कुमारिल भट्टने चोदना सूत्रके ५३वें श्लोकमें कहा है—कि बोधस्वरूप होनेसे बुद्धिको उत्सर्गतः प्रामाण्य प्राप्त हो जाता है। वही प्रामाण्य कहीं विषयका बाध होनेसे या कारण दोष होनेसे बाधित भी होता है। इस विषयमें बौद्ध भी विप्रतिपत्ति नहीं कर सकते। इसी बातको लेकर श्री हर्षने कहा है कि मैंनें ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थमें वेद प्रामाण्यके प्रसंगमें उत्सर्गका उदाहरण दिया है। (दृष्टव्य खण्डनखण्डखाद्य, अच्युत ग्रन्थमाला संस्करण, पृ० ५६८)

वेदका प्रामाण्यवाद

मंत्र और ब्राह्मणरूप शब्द राशिको वेद कहते हैं। कात्यायनादि महर्षियोंका कहना है कि 'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति'। इसका यह लक्षण है कि प्रत्यक्ष या अनुमानके द्वारा इष्ट प्राप्ति अनिष्ट परिहारके अलौकिक उपाय, जो कि ज्ञात नहीं होते, उनकी बोधक शब्द राशिको वेद कहते हैं 'इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर्लौकिकमुपायं बोधयति यः शब्दराशिः स वेद इति'। इसका दूसरा भी लक्षण है 'अपौरुषेयत्वे सति वाक्यत्वम्' इसमें जो वाक्य पुरुष प्रणीत नहीं उसे वेद कहते हैं। इस लक्षणमें एक और विशेषण देना चाहिए। वह यह कि 'नियतस्वरानुपूर्वीकत्वम्'। अर्थात् जिसके स्वरका नियम हो तथा आनुपूर्वीरूप क्रमका भी नियम हो, उसे वेद कहते हैं। अतः यह परिष्कृत लक्षण हुआ नियत स्वरानुपूर्वीकत्वे सति अपौरुषेयत्वे सति वाक्यत्वम्'। यह अलौकिक अर्थ धर्म और ईश्वरमें प्रमाण है। यह पुरुष कृत नहीं है। पौरुषेय वाक्यमें आनुपूर्वीके निर्माणमें पुरुष स्वतंत्र होता है। जैसे—'पात्रमाहर' 'आहरपात्रम्' इत्यादि। वैदिक अनुपूर्वीमें तो ईश्वर भी स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् 'अग्निमीले पुरोहितम्' इसके स्थानपर 'ईलेअग्निंपुरोहितम्' ऐसा ईश्वर भी नहीं कर सकता। जैसे अश्वमेघ याग धर्म है, ब्रह्महत्या अधर्म है, इसको ईश्वर बदल नहीं सकता। वैसे वैदिक आनुपूर्वीका भी ज्योंका त्यों ही उपदेश करता है। और वर्ण, पद या वाक्यको लेकर वेदको अपौरुषेय नहीं कहते किन्तु अध्ययन परम्पराके अनवच्छिन्न होनेसे वेद अपौरुषेय हैं। इसमें वार्तिककार तथा ग्रन्थकारने अनुमान प्रमाण दिया है 'सभी वेदाध्ययन गुरु अध्ययन पूर्वक है, अध्ययनत्व हेतुसे। वर्तमान अध्ययनकी तरह। यह ध्यानमें रहे कि 'सर्ववेदाध्ययनम्' इससे काल त्रय वर्ती अध्ययनका ग्रहण नहीं होता, अन्यथा सिद्धसाधन और दृष्टान्तासिद्धि नामके दो दोष आजाएंगे। इसलिए आतीत कालवर्तिसर्वंवेदाध्ययनम्' प्रकृत अनुमानमें पक्षको ऐसे समझना चाहिए। इस अनुमानसे गुरू अध्ययन पूर्वकत्व

ही सिद्ध होता है। अतः अधिकरण-सिद्धान्त न्यायसे वेद अनादि तथा अपौरुषेय हैं। 'यत्सिद्धौ-अन्यप्रकरणसिद्धि सोऽधिकरणसिद्धान्तः'। यह अधिकरण सिद्धान्त न्यायका स्वरूप है।

वेदका विभाग

यह वेद छः प्रकारका है—१–विधि। २–अर्थवाद। ३–मंत्र। ४–नामधेय। ५–निषेध तथा ६–उपनिषत्। उसमें जो लिङ्, लोट, तव्य प्रत्यय घटित है, जिसके द्वारा साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता आदिसे विशिष्ट प्रवृत्तिका प्रतिपादन होता है, उसे विधिवाक्य कहते हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्सर्गकामः' इत्यादि। यह साक्षात् धर्ममें प्रमाण है। यह प्रवर्तनारूपसे एक होनेपर भी प्रमेयके भेदसे चार प्रकारोंमें विभक्त है। वे चार प्रकार हैं—उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग तथा अधिकार। अतः विधिवाक्य चार प्रकारके होते हैं, ऐसा ग्रन्थोंमें मिलता है। यथा—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकारविधि। अमुककर्म करो, ऐसा जो बताता है—वही उत्पत्तिविधि है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' अग्निहोत्र होमसे इष्टको प्राप्त करे। अंगांगिभावरूप सम्बन्धको विनियोग कहते हैं। अर्थात् यह अंग है यह अंगि है ऐसे इन दोनोंके सम्बन्धकी बोधक विधिको विनियोगविधि कहते हैं। यथा 'दध्ना जुहोति' दधिसे होमको करें। अंग तथा प्रधानके क्रमबोधक विधिको प्रयोगविधि कहते हैं। यह विधि प्रत्यक्षसे नहीं पढ़ी गई, किन्तु कथित है। फल सम्बन्धको अधिकार कहते हैं। इसीलिए फल सम्बन्ध बोधक विधि अधिकारविधि कहलाती है। और अपूर्वविधि नियमविधि तथा परिसंख्याविधि ये तीनों विनियोगविधिके अवान्तर भेद हैं या उत्पत्ति विधिके भेद हैं, इत्यादि ग्रन्थोंमें कहा गया है।

जो स्तुति या निन्दाके प्रतिपादक वाक्य हैं, उन्हें अर्थवाद कहते हैं। 'प्राशस्त्यनिन्दाऽन्यतरप्रतिपादकं वाक्यमर्थवादः'। पहिला तो विधिका शेष होता है। दूसरा निषेधका शेष होता है। इसलिए ये दोनों विधि और निषेध वाक्यके साथ एक वाक्यताको प्राप्त होकर, धर्ममें प्रमाण होते हैं। यह ध्यानमें रहे कि स्तुतिके बिना विधि तथा निन्दाके बिना निषेध अधूरा रह जाता है। वैसे निन्दा और स्तुती भी विधि-निषेधके बिना अधूरी रह जाती है। अतः इन दोनोंमें परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध तथा सहभावी नियम भी है।

और अनुष्ठानसे सम्बद्ध पदार्थोंका जिनके द्वारा स्मरण होता है, उसे मंत्र कहते हैं 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मंत्राः'। यह लक्षण अधिक प्रचलित है। किन्तु जिसको याज्ञिक लोग मंत्र कहते हैं, वही मंत्रका निर्दुष्ट लक्षण है। मंत्र चार प्रकारके होते हैं—जैसे निर्वाप मंत्र, करण मंत्र, क्रियमाणानुवादी-यथा मार्जन मंत्र। अनुमंत्रण मंत्र अग्रग्रहयित्यादि'। तथा जप मंत्र जपतिसे विहित है। इनमें प्रथम तीनों दृष्टार्थ हैं, अन्तिम अदृष्टार्थ है। इसकी भी प्रधान विधिके साथ एक वाक्यता होनेपर प्रामाण्य होता है। नामधेय तो विधेय यागादिका परिच्छेद करते हुए, यह भी धर्ममें प्रमाण होता है जैसे उद्भिदादि विधिके समान निषेध भी स्वतन्त्र प्रमाण है। यद्यपि न्यायप्रकाश, अर्थसंग्रह आदिमें वेदके पाँच ही प्रकार बताए हैं, उपनिषद्को नहीं बताया, क्योंकि प्रकृतमें उपनिषद्का कोई उपयोग नहीं। किन्तु उसका निरूपण करना भी अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि विध्यादि भागोंमें शरीरसे अतिरिक्त आत्माका विवेचन स्पष्ट नहीं है। उसके बिना कर्मकाण्ड साकांक्ष है। जो साकांक्ष होता है वह अप्रमाण होता है। अतः वेद प्रामाण्य सिद्धिके लिए उपनिषदोंका निर्देश

करना भी आवश्यक है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि स्मृतिकी व्याख्यामें उपनिषदोंको लेकर ही व्याख्याकी गई है। इस बातका आत्मवादमें विवेचन किया जाएगा। इससे यह सिद्ध होता है कि जो विधिसे विहित हैं, अर्थवादोंसे जिनकी प्रशंसा होती है, मंत्रोंके द्वारा जिनका स्मरणकर अनुष्ठान किया जाता है, वे ही कर्म विशेष फल प्रद होते हैं—'विधिनाविहितमर्थवादेनप्ररोचितं मंत्रैःस्मृतं सदनुष्ठीयमानं कर्माभ्युदयकारी भवतीति'।

इस प्रकार वेद या वैदिक वाक्य विधि-मंत्र-अर्थवाद-उपदेश-अतिदेशके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं।

शब्दस्वरूपका विचार

इसी प्रसंगमें शब्दका क्या स्वरूप है ? इसका संक्षेपसे विचार करते हैं। शब्दके सम्बन्धमें प्रधानतया तीन मत हैं। उनमें प्रथम मत है कि शब्द वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक है, दोनों गुण हैं तथा अनित्य हैं। यह नैयायिकोंका मत है। 'सोऽयंगकारः' यह अबाधित प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्णात्मक शब्द नित्य हैं। ध्वन्यात्मक शब्द तो वायुका गुण हैं, वे अनित्य हैं।

शब्द नित्य है, इस पक्षमें भी दो प्रकार हैं। स्फोट ही शब्द है। वह निरवयव और नित्य है। यह वैयाकरणोंका पक्ष है। महर्षि पतंजलिने अपने भाष्यमें इस बातका इस प्रकार निरूपण किया है कि—जिसका उच्चारण करनेसे अर्थ प्रतीति होती है, वही शब्द है–'येनोच्चारितेनार्थप्रतीतिर्भविष्यति'। इस प्रकार अर्थ प्रतीतिरूप कार्यके द्वारा शब्दस्वरूपका निरूपण किया है। इस पक्षको माननेपर पदार्थके आश्रित प्रसंग, तंत्र, बाध, ऊह, अतिदेश आदि सिद्ध नहीं होंगे। इसी कारणसे मीमांसकोंको स्फोटात्मक शब्द अभिमत नहीं है। इसी अर्थको वार्तिककारने कहा है—वर्णसे अतिरिक्त, प्रतिषिध्यमान स्फोट मन्द फल उत्पन्न करता है। और वाक्यके अवयव पद, प्रकृति, प्रत्यय आदिको विषय करनेवाले प्रसंग, तंत्र आदि पदार्थोंको सही सिद्ध करनेके लिए यह प्रयत्न किया गया है। अर्थात् स्फोटात्मक शब्दका निषेधकरके, वर्णात्मक शब्दको सिद्ध किया है। इस सन्दर्भमें भाष्यकार कहते हैं कि 'श्रोत्रग्रहणे हि अर्थे शब्दशब्दः प्रयुज्यते' इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि 'गौः' इस श्रावण प्रत्यक्षमें गकार, औकार, विसर्ग तीन ही अक्षर भासते हैं। अतः भाष्यकारका यह अभिप्राय है कि विधिसे सम्बन्धित शब्दका निरूपण करना ही उनका मुख्य प्रयोजन है। इसी अभिप्रायको आगेके भाष्यसे स्पष्ट करते हैं कि 'ते च श्रोत्रग्रहणाः' वे अक्षर ही श्रोत्रसे गृहीत होते हैं। अतः वर्ण त्रयसे अतिरिक्त स्फोटका, विधिमुखसे या कार्य मुखसे अनुपलब्धिके कारण सम्बन्धका नित्यत्व नहीं सिद्ध होगा। वर्णात्मक होनेसे सम्बन्धका नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। अतः वर्णात्मक ही शब्द है। वह द्रव्य तथा विभु है। ध्वन्यात्मक शब्द वायुका गुण है, वह अनित्य है, यह पूर्वमें कह दिया है।

ख्याति विचार

ख्याति शब्द ज्ञानार्थक हैं, किन्तु प्रकृतमें भ्रमके अर्थमें आरूढ है। यथार्थ अयथार्थके भेदसे ज्ञान दो प्रकारके होते हैं। अयथार्थ ज्ञानके सम्बन्धमें दार्शनिकोंमें पाँच ख्यातियां मुख्यतया प्रसिद्ध हैं। १—असत्ख्याति, २—आत्मख्याति, ३—अख्याति, ४—अनिवर्चनीयख्याति तथा ५—अन्यथा ख्याति या विपरीतख्यातिके भेदसे। इनमें असत्ख्याति सर्वशून्यवादि माध्यमिकों तथा द्वैतवादी

माध्वोंकी है। यह अयुक्त है, क्योंकि पदार्थके असत् होनेसे उसका भान कैसे होगा ? जैसे कि उदाहरणके रूपमें—शुक्तिमें रजतके ज्ञानको लीजिए। यदि रजत असत् है, तो उसका 'यह रजत है' यह भान कैसे होगा ? इसीलिए यह अयुक्त है।

दूसरी है आत्मख्याति। विज्ञानवादी योगाचारके मतमें ज्ञान ही है। ज्ञानातिरिक्त वस्तु अलीक है। अतः भ्रम स्थलमें आन्तर ज्ञान ही पुरोवर्ती पदार्थके रूपमें भासित होता है। ऐसा माननेपर ज्ञान और आत्माका अभेद होनेसे 'मैं रजत हूँ' ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होगा ? इसलिए यह मत अयुक्त है।

तीसरा है अख्यातिवाद—यह प्राभाकर मीमांसकोंका है। उनका यह कहना है कि ज्ञान दो भागोंमें विभक्त है—अनुभव और स्मरण। तीसरा ज्ञानका कोई प्रकार नहीं। अतः अनुभूति ही प्रमाणका लक्षण है—'अनुभूतिः प्रमाणम्' यह उनका कथन है। उनके मतमें 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान नहीं, दो ज्ञान हैं। जो भ्रमको मानते हैं, उनके मतमें यह विशिष्ट ज्ञान है तथा एक ही ज्ञान है। गुरुमतमें तो दो ज्ञान हैं, एक ज्ञान नहीं। 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलोंमें दो ज्ञान हैं और दो विषय हैं। 'इदम्' अंशमें अनुभव है। रजतांशमें इन्द्रिय सन्निकर्ष न होनेसे संस्कारके कारण स्मरण है। अनुभवका विषय है शुक्ति-शकल। स्मरणका विषय है रजत-खण्ड। इन अनुभव-स्मरण दोनोंका स्वरूप तथा विषयसे भेद ग्रहण न होनेसे 'इदं रजतं' यह ज्ञान होता है। यही समीचीन ज्ञानके समान प्रवर्तक है। उनके मतमें न ज्ञानका बाध होता है, न विषयका, अपितु ज्ञानसे प्रवर्तित व्यवहारका बाध होता है। इसीको लेकर ज्ञानमें बाधकत्व व्यवहार है। इसी प्रकार 'यह रजत है' ऐसा सामानाधिकरण्यका प्रयोग होता है। 'पीतः शंखः' 'उष्णं जलम्' इत्यादिमें दोनों अनुभवोंका विवेकाग्रह है। इस प्रकार सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, यह प्राभाकर मीमांसकोंका मत है। यों कहा है—'यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति'। अर्थात् जैसे शुक्तिमें रजतका अध्यास है, ऐसी लोक प्रसिद्धि है, वहां उनका विवेकाग्रह ही कारण है। इसलिए सब ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। यह उक्त मत विचार संगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि प्रमा और भ्रमकी व्यवस्था जो कि लोकमें प्रसिद्ध है, वह नहीं बन सकेगी। इसीलिए मण्डन मिश्रजीने कहा—'आख्यातो नो तत्त्वमिथ्याविभागः'। इति। इससे रामानुजाचार्य सम्मत सत्ख्यातिका निराकरण भी समझना चाहिए।

अद्वैत वेदान्ती सम्पूर्ण संसारको भ्रम मानते हैं। अर्थात् ब्रह्ममें जगत् अज्ञानसे कल्पित है, यह मानते हैं। यह प्रपंच प्रतीत तो अवश्य होता है, किन्तु इसे सत् नहीं कह सकते, क्योंकि सत्का बाध नहीं होता। त्रिकालाबाध्यको सत् कहते हैं। वह आत्मा ही है। तब प्रपंचको असत् कहिए, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत्का भान नहीं होता। अतः सत् और असत् से विलक्षण यह जगत है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। इसी प्रकार 'इदं रजतम्' आदि स्थलोंमें भी भासमान रजत आदि, सत् असत्से विलक्षण होनेसे अनिर्वचनीय है। उसीका भ्रम-स्थलमें भान होता है। यही अनिर्वचनीय ख्याति है।

वेदान्तियोंका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि लोकमें पदार्थोंका दो ही प्रकारसे निर्वचन हो सकता है। कुछ पदार्थ सत् होते हैं। कुछ असत्। सद्विलक्षण होनेसे असत् होगा। असद्विलक्षण

होनेसे सत् होगा। तीसरा प्रकार तो है नहीं। 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः'। इसलिए यह मत भी ठीक नहीं।

अब रह गई अन्यथाख्याति। यह दो प्रकार की है। अर्थात् इसे तार्किक और भाट्ट मीमांसक दोनों मानते हैं। किंतु दोनोंमें अन्तर है। वे कहते हैं 'अन्यत्र आपणस्थ रजतका शुक्तिमें पुरो वर्तितया भान होता है। अर्थात् नैयायिक मतमें सामने रजत नहीं रहता, किन्तु अन्यत्र विद्यमान ही रजत भासता है। यह उनकी अन्यका अन्यरूपसे भान होना रूप अन्यथाख्याति है।

भाट्ट मीमांसकोंके मतमें अन्यथाख्याति तो अवश्यक है, किंतु उसका स्वरूप कुछ दूसरा है। यथा—'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलोंमें रजत तो है ही, उसका तादात्म्य सम्बन्ध मात्र असत् भासित होता है। इसी बातको पार्थसारथि मिश्रनें कहा है कि 'सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेवावभासते, संसर्गिणस्तु सन्त एव। सेयं विपरीतख्यातिरुच्यते मीमांसकैः। असत्ख्यातिवादिनस्तु संसर्गिणोऽप्यपलपन्तीतिविशेषः'।

आचार्य मण्डन मिश्रने 'विभ्रमविवेक' में कहा है कि—

एकान्तसत्वे का भ्रान्तिः, असत्वे किं प्रभासताम्।
द्वयानुगुण्यात् वृद्धानां सम्मता ख्यातिरन्यथा ॥ (का० ४७)

और लोगोंने भी कहा है—'स्वारस्यमन्यथाख्यातौ' इत्यादि। अतः भाट्ट मीमांसकोंके मतमें भ्रम स्थलमें अन्यथाख्याति या विपरीत ख्याति होती है, यह सिद्धान्त है।

सृष्टि-प्रलयका विचार

शास्त्रदीपिकाकारने सृष्टि तथा प्रलयके सम्बन्धमें विचार करते समय वैशेषिक तथा सांख्य-योग, अद्वैत-वेदांत, अर्धजरतीय वेदान्तवाद (भास्करवाद) उन सबका खण्डन करके, अपने सिद्धान्तको स्थिर किया है। वैशेषिकोंका कहना है कि जगतके उपादान कारण पृथिव्यादि चार परमाणु हैं। ईश्वर निमित्तकारण है। जब ईश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तो परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न होती है। उससे दो परमाणुओंका संयोग होनेसे द्व्यणुकादि क्रमसे पृथिवी, अप, तेज, वायु ये चार भूत उत्पन्न होते हैं। जीवोंके अदृष्टकी विचित्रतासे शरीरादिका आरम्भ होता है। उस ईश्वरकी संहारेच्छा होने पर कार्य वर्ग द्व्यणुक पर्यन्त नाश होता है। और असमवायिकारणके नाशसे परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं। इत्यादि। किन्तु न्याय-वैशेषिकोंका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि केवल इच्छा मात्रसे विना प्रयत्नके परमाणुओंमें स्पन्दनरूप किया नहीं हो सकती। ईश्वरका शरीर तो है नहीं। विना शरीरके प्रयत्न नहीं हो सकता। प्रलयकालमें सभी कार्योंका लय होनेसे ईश्वरका शरीर भी लीन हो जाएगा, तो विना शरीरके ईश्वर कैसे प्रयत्न करेंगे? जैसे मुक्त आत्माओंको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, वैसे ईश्वरकी भी इच्छा नहीं होती। यदि कहा जाए ईश्वरके ज्ञान, क्रिया, इच्छा, प्रयत्न आदि सब नित्य होते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानादि अनित्य हैं। इस विषयमें यह अनुमान है कि—'क्षित्यादिक नित्य प्रयत्न, नित्येच्छा, नित्य ज्ञान कर्तृक नहीं होते, कार्य होनेसे, घटादिकी तरह,—'क्षित्यादिकं नित्यज्ञाननित्येच्छानित्यप्रयत्नवत्कर्तृकं न भवति कार्यत्वात् घटवत्'। यदि ईश्वर शरीरको नित्यमाना जाए, तो अनुपलब्धि का विरोध है। और भी बात है कि प्रत्येक कार्यमें भिन्न भिन्न प्रयत्न होनें आवश्यक हैं। ऐसा

माननेपर सृष्टि-प्रलय दोनों नहीं हो सकेंगे, परस्पर विघात होनेसे। यदि वेदको नित्य और स्वतः प्रमाण मान कर सभीका समर्थन करनेपर खण्ड प्रलय तथा खण्ड सृष्टि ही होगी, आदि सृष्टि नहीं होगी। अतः तार्किकोंका सृष्टि विषयक मत युक्तियुक्त नहीं।

सृष्टि-प्रलयके सम्बन्धमें सांख्य मतका निराकरण

इसी प्रकार सांख्य और योगका पक्ष भी विचार करनेपर युक्तिसंगत नहीं ठहरता। क्योंकि प्रधान = प्रकृति ही महदादि क्रमसे प्रपंचके रूपमें परिणत होती है और प्रधान ही कर्त्री है। पुरुष तो कमल-पत्रकी तरह निर्लेप है। कार्य सत् है इत्यादि कथन, जो पदार्थ लौकिक प्रमाण के विषय नहीं हैं, उनमें लागू नहीं हो सकते। वेदको भी पौरुषेय माननेपर अन्यान्य पुरुष वचनों की तरह वेदोंका अप्रामाण्य ही होगा। इसलिए सांख्य-योग सम्मत सृष्टि-प्रलयवाद मानना उपयुक्त नहीं।

भास्कर मतका खण्डन

अब रहा भास्कराभिमत ब्रह्म-परिणाम वाद। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चिद्रूप आत्माका जड़ प्रपंचके रूपमें परिणत होना सम्भव नहीं। और आत्माको एक मानने पर सभी शरीरोंमें मै ही हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होगी। ऐसे सुख-दुःख आदिकी साक्षात् उपलब्धि• भी होने लगेगी। यदि कहो कि अन्तःकरणके भेदसे सुख-दुःख आदिकी व्यवस्था होती है, तो ऐसा नहीं कह सकते। अन्तःकरण तो जड़ है, वह सुख-दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। अनुभव करने वाला आत्मा तो सर्वत्र एक ही है। आत्माका भेद तो आप मानते नहीं। तब सभीमें 'मै ही हूं' इस अनुभवको कौन रोक सकता है। अतः जगत प्रकृतिका परिणाम है, यह पक्ष जैसे अयुक्त है, वैसे आत्माका परिणाम जगत है, यह पक्ष भी असंगत है।

अद्वैतवेदान्ति मतका खण्डन

एक अद्वितीय आत्मा ही अपनी इच्छासे आकाश आदि प्रपंच रूपसे परिणत होता है। वेदान्तीके इस कथनसे यहाँ परिणाम शब्दसे विवर्तको समझना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थोंमें विवर्त और परिणाम दोनों पर्याय वाची शब्द हैं। मण्डन मिश्र तथा वाचस्पति मिश्रने न्यायकणिका = विधिविवेकमें इनका विवेचन किया है। अतः परमार्थ रूपसे परिणाम नहीं होता, किन्तु अपरिणत ही परिणतकी तरह दिखाई देता है। इस प्रपंच-सृष्टिका अविद्या ही उपादान कारण है। भेद दृष्टिका कारण भी अविद्या ही है। इत्यादि पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्षका विरोध होगा। प्रत्यक्ष प्रपंचकी सत्ताका ग्राहक है, ऐसा प्रत्यक्ष सूत्रमें कहा गया है। और आगमसे प्रत्यक्षका बाध होता नहीं, क्योंकि सब प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष प्रथम तथा श्रेष्ठ प्रमाण है। आगम प्रत्यक्षका बाधक है, यह कह नहीं सकते, क्योंकि शीघ्र प्रवृत्त होनेवाला प्रत्यक्ष आगमको प्रवृत्त नहीं होने देगा। इसलिए जो चित्सुखाचार्यने प्रपंचको अनिर्वचनीय सिद्ध किया है, यह भी असंगत है। और अविद्याका निरूपण भी नहीं कर सकते। अतः आत्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, यह कथन भी आत्मज्ञानकी प्रशंसा मात्र है। इसलिए सृष्टि-प्रलयका प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसी लिए जगत अनादि और सत्य है। अतः मीमांसकों का यही सिद्धान्त युक्त है कि—'न कदाचिदनीदृशं जगत'।

ईश्वर विचार

और भी बात है कि ईश्वर वादी सभी दार्शनिक सृष्टि, प्रलय, लौकिक व्यवहार, शास्त्रीय व्यवहार तथा प्रमाणके प्रामाण्यके लिए ईश्वरको मानत हैं। जैसे न्याय-वैशेषिक, सेश्वर-सांख्य (पातञ्जल) तथा वेदान्ती। इन सबके ईश्वरको सिद्ध करनेमें तर्क तथा प्रयोजन समान ही हैं। जैसे 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'। (वै० द० २।१।६१) 'ईश्वरः कारणम्, पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' (न्या० द०, ४।१।१९) 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्या० द० १।१।७) इन सूत्रोंके भाष्यमें वेद प्रामाण्य ईश्वराधीन है, यह अर्थ स्पष्ट है। वेदान्ती लोग जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयके हेतु तथा ऋग्वेद आदिके कर्ताके रूपमें ईश्वरको मानते हैं। इसमें प्रमाण—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्' इत्यादि श्रुतियां है। 'जन्माद्यस्य यतः' 'शास्त्रयोनित्वात्' ये वेदान्त सूत्र हैं। और सेश्वर सांख्य ने तो पूर्वोक्त दोनों हेतुओंको छोड़कर तीसरा कारण बताया है 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रके द्वारा समाधि सिद्धिके लिए ईश्वरको उन्होंने माना है। इससे यह सिद्ध होता है, कि उपर्युक्त दार्शनिकोंकी दृष्टिमें ईश्वर सिद्धिके लिए सृष्टि-प्रलयका वर्णन तथा वेद प्रामाण्यकी स्थापना, ये दो ही मुख्य कारण हैं। निरीश्वर सांख्य मतमें ईश्वरकी सत्तामें अनुकूल कोई प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु विरोधी प्रमाण ही मिलते हैं 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० द० १।९२) इत्यादि।

ईश्वरके बारेमें मीमांसक मत

मीमांसक सिद्धान्तमें ईश्वरके होनेमें कोई प्रमाण नहीं, ऐसा ज्ञात होता है। लोकमें भी ऐसी प्रसिद्धि है। क्योंकि सूत्रकार महर्षि जैमिनि अपने सूत्रमें न तो ईश्वरका विधान करते हैं, न निषेध करते हैं। ऐसा होने पर भी कुछ सूत्रोंको देखने पर ज्ञात होता है, कि ईश्वर नामक तत्त्व नहीं है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्रमें 'चोदनैव लक्षणं प्रमाणं यस्मिन्' इस व्युत्पत्तिसे अन्ययोग की व्यावृत्ति कीगई है। ईश्वरको मानने पर वह सर्वज्ञ होता है, धर्मको भी जानता है, यह मानना होगा। धर्मको ईश्वरीय ज्ञानका विषय मानने पर विधिवाक्यसे ही धर्मका ज्ञान होता है, यह कथन चरितार्थ नहीं होगा। यदि धर्म ईश्वर ज्ञानका विषय नहीं होता, तो ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। धर्मादि को न जानते हुए ईश्वर रहे तो हम वेदान्तियोंके समान मीमांसकों को कोई हानि नहीं। अतः चोदना सूत्रमें ईश्वरके निराकरणका बीज निहित है, इस निमित्तसे अनुमान सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार 'औत्पत्तिक' सूत्रमें शब्द अर्थका सम्बन्ध नित्य कहा गया है। अतः कर्ताके रूपमें ईश्वरको नहीं माना जा सकता। दूसरी बात है, कि वेदापौरुषेयत्वाधिकरणमें ईश्वर ही वेदों का कर्ता है, इसका निराकरण किया गया है। इसी प्रकार अपूर्वाधिकरणमें (मीमांसाद० २।१।२) यागादि कर्म ही अपूर्वके द्वारा फल देता है, ईश्वर फल दाता नहीं। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे जैमिनि सूत्रोंका पर्यालोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि ईश्वर निराकरणके बीज यत्र तत्र निहित हैं।

इस प्रकार वेदान्त दर्शनमें भी 'फलमत उपपत्तेः' इस सूत्रसे ईश्वर ही कर्म फल देता है, यह सिद्धान्त करके फिर जैमिनि मतसे पूर्व पक्ष किया कि 'धर्मंजैमिनिरत एव'। अर्थात् कर्म ही अपूर्वके द्वारा फल देता है, ईश्वर नहीं। इससे भी यह ज्ञात होता है कि मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते। फिर भी भाष्य, वार्तिक, शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थोंका भली प्रकार अनुसन्धान करने पर

नैयायिकोंने जिस तर्कसे ईश्वरको सिद्ध किया है, वह प्रकृतिमें लागू नहीं होता। क्योंकि नैयायिक सम्मत ईश्वर शब्दार्थके सम्बन्धमें या सृष्टिके निर्माणमें कर्ता नहीं हो सकता।

दूसरी बात है कि नैयायिक अनुमान और शब्दको भी प्रमाण मानते हैं। हम भाट्ट मीमांसक तो अनुमान तथा शब्दको प्रमाण मानते हुए भी शब्दको ही प्रमुखता देते हैं। अर्थात् शब्दका विरोध न करते हुए ही अनुमान प्रमाण होता है, ऐसा हम मनते हैं। भाष्यकारने कहा है कि हम लोग प्रधान रूपसे शब्दप्रमाण वादी हैं। 'शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति'। नैयायिकोंके मतमें तो ऐसी बात नहीं है। वे तो अनुमानसे स्व-अभिमत अर्थको सिद्धकर, सामान्य रूपसे वेदको प्रमाण मानते हैं। जैसे उन्होंने कहा है 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्'। इस प्रकार ईश्वर सत्तामें अनुमान प्रमाण दिखाकर 'द्यावाभूमि जनयन्देव एकः' इत्यादि आगम भी उसमें प्रमाण बताया गया है। अतः तार्किकोंनें अनुमानके द्वारा जिस ईश्वरको सिद्ध किया है, मीमांसकों द्वारा उसका ही निषेध किया गया है। यह बात भाष्य, वार्तिक, शास्त्र-दीपिका आदिमें स्पष्ट है। और अनुमानके बलसे ही ईश्वरको जो सर्वज्ञ माना है, उसका भी मीमांसक निषेध करते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियां जब ईश्वरको सर्वज्ञ बताती हैं, तो अनुमानसे उसकी सर्वज्ञता सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है, इस बातको भवनाथ मिश्रने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है, कि इस प्रकार ईश्वरमें नैयायिकोंसे कहे हुए अनुमानका खण्डन किया गया है। ईश्वर निरस्त नहीं हुआ है। प्रभाकर मिश्रने वैशेषिकोंसे कही हुई सृष्टि-प्रक्रियाका निराकरण किया है। ईश्वरके बारेमें कुछ कहा नहीं। किन्तु प्रकरणपंचिकाकार शालिकनाथ मिश्रने वार्तिक शैलीको अपना कर ईश्वरका निराकरण किया है। उसका भी उपर्युक्त अर्थमें ही तात्पर्य है। इस प्रकार नैयायिक सम्मत सर्वज्ञका निराकरण करते हुए सृष्टि कर्ता प्रजापतिका भी निषेध किया है। सुगत सर्वज्ञ है, आर्हत सर्वज्ञ है, इस पक्षके निराकरणका भी धर्माधर्मका ज्ञान न होनेमें तात्पर्य है। बृहट्टीकाकारने कहा है कि 'कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते'। व्यर्थमें कीड़े मकौड़ोंकी संख्या गिननेसे क्या लाभ है? अर्थात् उनके गिननेसे अभीष्ट धर्माधर्मका ज्ञान नहीं हो सकता।

इसी प्रसंगमें सृष्टिके आरम्भमें जैसे कोई सोया हुआ व्यक्ति जागनेपर वस्तुओंको पूर्वकी भाँति ग्रहण करता है, वैसे ही हिरण्यगर्भको नित्य वेदका स्फुरण हुआ। तभीसे यह स्वाध्याय= वेदाध्यन परम्परा चल रही है, वेदान्तियोंका यह जो कथन है, वह मीमांसा सिद्धान्तके विरुद्ध है। क्योंकि जैसे वेदका स्फुरण हुआ वैसे धर्माधर्मका भी स्फुरण हो सकता है, तब विधिवाक्यसे ही धर्माधर्मका ज्ञान होता है, इस प्रतिज्ञाकी हानि हो जाएगी। इसी अभिप्रायको कुमारिल भट्टने व्यक्त किया है— 'नित्यागमावबोधोऽपि प्रत्याख्येयोऽनया दिशा'।
अतः वेद सिद्ध ईश्वरको मीमांसा दर्शन मानता है। नैयायिकोंसे कल्पित ईश्वरको नहीं मानता।

मीमांसक मतसे खण्ड-सृष्टि खण्ड-प्रलयका समर्थन

अब रहा मंत्र और अर्थवाद आदिमें सृष्टि-प्रलयका वर्णन। वह खण्ड-सृष्टि और खण्ड-प्रलयके तात्पर्यसे किया गया है। महा-सृष्टि महा-प्रलयके तात्पर्यसे नहीं, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है—

प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वोच्छेदात्मके न हि।
तस्मादद्यवदेवात्र सर्ग-प्रलयकल्पना ॥

ययातिने हरिवंश पुराणमें भी कहा है कि चन्द्र सूर्य ग्रह आदिसे जबतक पृथ्वी आच्छादित रहती है तब तक पृथ्वीपर पुरु वंश बना रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं—

आचन्द्रार्कग्रहा भूमिः भवेदपि न संशयः।
अपौरवा न तु मही भविष्यति कदाचन ।। (भ० प० १८)

अतः यह सिद्ध हुआ कि जगत सत्य है। वेदाध्ययन परम्परा अनादि है। वैदिक ईश्वरका अस्तित्व है। खण्ड प्रलय, खण्ड सृष्टि होती है। यही इसका संक्षेपसे तात्पर्य है।

आत्माका विचार

पूर्वमें जो वेद प्रामाण्य कहा है, वह आत्मापर आधारित है। आत्मा शरीरसे अतिरिक्त है। वह कर्ता, चेतन तथा विभु है। प्रति शरीर भिन्न है। अहं प्रतीतिका विषय है। यद्यपि 'अहं' यह अनुभव है। इसका विषय आत्मा है। मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, ऐसा शरीरमें भी अहं प्रत्यय होता है तथापि वह मुख्य नहीं है। इसलिए अहं प्रतीतिको लेकर ही शरीरसे आत्मा अतिरिक्त है, यह निर्णय नहींकर सकते। अतः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतियों तथा अर्थापत्तिसे भी आत्माका शरीरसे भेद सिद्ध होता है। इसी बातका 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्ति धर्मा' इत्यादि श्रुतियां भी समर्थन करती हैं। इस आत्माका निर्देश जैमिनि महर्षिने पुरुष शब्दसे प्रत्यक्ष सूत्रमें किया है। वार्तिककारने कहा है कि यह पुरुष वह है, जो आगे आत्मवादमें सिद्ध किया जाएगा। शरीरका तो यहां पुरुष शब्दसे ग्रहण हो नहीं सकता, क्योंकि वह अचेतन है। अतः शरीरसे अतिरिक्त आत्मा है, इसे आगे आत्मवाद प्रकरणमें बताएंगे।

अब विचार है कि आत्मामें जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे आत्मामें विकार आता है या नहीं? यदि कहें विकार होता है, तो वह आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न? भिन्न पक्षमें आत्मा अनित्य हो जाएगा। अभेद पक्षमें तो उसमें कोई विशेषता नहीं होगी। इसीलिए यह पक्ष असंगत है, ऐसा आचार्य दिङ्नागने दूषण दिया है। यह दोष ठीक नहीं। इससे आत्मामें अनित्यता दोष नहीं आता। क्योंकि विकार मात्रसे वस्तुस्वरूपका उच्छेद नहीं होता। 'अहं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसे भ्रम नहीं कह सकते, बाध न होनेसे। और जो भेदाभेदका विकल्प है, अनेकान्तवादसे उसका परिहार हो जाता है। अतः आत्मा ज्ञानरूप क्रियासे विकारी होनेपर भी अनित्य नहीं होता। क्योंकि आत्मा चैतन्य, द्रव्य और सत्ता आदि अपने स्वरूपको कभी नहीं छोड़ता। जैसे कुण्डल आदिके रूपमें परिणत होनेपर भी, सुवर्णका स्वरूप न विकृत होता है, न नष्ट होता है। इसलिए आत्मा कुण्डलादिमें स्वर्णकी तरह अनुवृत्त होता ही है। जैसे कहा गया है—

तस्मादुभयहानेन व्यावृत्यनुगमात्मकः।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु स्वर्णवत् ।।

(श्लोकवा० आत्मवाद, का० २८)

और तार्किकोंने स्पन्दको ही क्रिया माना है। मीमांसकोंने तो धात्वर्थको क्रिया माना है। अतः आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्व होता है। 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिमें आत्मनेपदसे यागादिमें आत्मा कर्ता है, यह प्रतिपादित है। इसी प्रकार यागादिका संकल्प, ऋत्विक्-वरण, द्रव्य-त्याग, दक्षिणा-दान आदिमें आत्मा कर्ता होता ही है। वह चैतन्य स्वरूप है। इसलिए शास्त्रदीपिकाकारने

आत्माको ज्ञान-शक्ति स्वरूप माना है, जो भाष्य, वार्तिक आदिमें स्पष्ट है। 'स्वसंवेद्यः स भवति' 'अहं प्रत्ययेन चैतन्यस्वरूपस्यात्मनोऽस्त्विमवगम्यते' 'चितिशक्तिस्वभावोऽयम्' इत्यादि।

आत्मा अहं प्रतीतिका विषय है, इसमें यह शंका है कि एक ही क्रियामें एक ही आत्माका कर्तृत्व कर्मत्व कैसे होगा? यह दिङ्नागका पूर्वपक्ष है। श्लोक इस प्रकार है—

बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृतिर्यद्यनित्यता।
अथाविकृतिरात्मायं प्रमातेति न युज्यते॥ (प्रमाणसमुच्चय, पृ० १०९)

इसका समाधान करते हुए प्राभाकर मीमांसकोंने आत्माको कर्ता ही माना है, कर्म नहीं। क्योंकि उनके प्रत्येक ज्ञानमें आत्मा आश्रयके रूपसे ही भासता है। यही उनकी उपर्युक्त शंकाका समाधान है।

इसी आशयका एक और श्लोक है कि—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः॥ इति॥

वर्षा या गर्मीका आकाशपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चमड़ेमें तो इनका असर पड़ता है। इसी प्रकार तुम्हारे भाट्ट मीमांसक मतमें यदि आत्मा आकाशके समान है, तो ज्ञान होना न होनेका कोई असर नहीं पड़ता। अर्थात् आत्मा प्रमाता नहीं बनता। यदि आत्मा चर्मके समान है तो वह अनित्य हो जाएगा।

अब भाट्टमीमांसककी ओरसे उक्त शंकाका समाधान सुनिए—भट्ट जीका कहना है कि आत्मामें अहं ऐसा अनुभव होता है। इसका विषय है कर्ता। 'आत्मानं जानामि' यह अनुभव आत्मा कर्म है, यह बताता है। इसलिए उक्त विरोधका परिहार अनुभवसे हो हो जाता है—जो कर्तृ-कर्म भावका विरोध आत्माके बारेमें आप देते हैं, वह आप विज्ञानवादीके मतमें ही होगा। क्योंकि आप ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य वस्तुको नहीं मानते। आन्तर ज्ञान ही पुरोवर्तितया भासित होता है, यह तुम्हारा सिद्धान्त है। शून्यवादके प्रसंगमें इस बातका विवेचन किया गया है।

जैसे—'अहं प्रत्ययसम्भिन्ना ज्ञानस्यैव तु कर्तरि।
भवन्ती तत्र संवित्तिः युज्येताप्यात्मकर्तृका॥ (श्लोकवा०, शून्यवाद, का० १०)

अतः आत्मा अहं प्रतीतिका विषय है इसमें श्रुति भी प्रमाण है। 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' (तै० आ०, ३।२०)

आत्माका परिमाण-विचार

यह आत्मा अणु परिमाण नहीं है। वैसा होनेपर सभी शरीरोमें एकही कालमें जो सुख-दुःखका अनुभव होता है, यह नहीं होगा। मध्यम परिमाण भी आत्माका नहीं माना जा सकता। इस पक्षमें आत्मा सावयव हो जाएगा। सावयव होनेसे अनित्य होगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं। और निरवयव द्रव्य दो प्रकारका होता है, अणु या विभु। अणुका तो निराकरण हो चुका है। अतः विभु पक्ष ही ठहरता है। और सावयव पक्षमें आत्माके अवयवोंका संकोच- विकास मानना पड़ेगा, पर इसमें कोई प्रमाण नहीं। जो महाभारतमें कहा है—'अंगूठेके आकारके पुरुषको यमराजने बल पूर्वक खींच लिया' यह वाक्य पातिव्रत्य धर्मकी प्रशंसाके लिए है। गीता आदिमें आत्माके विभुत्वका वर्णन अनेक स्थलोंपर मिलता है। इसलिए भी आत्मा विभु है।

एकात्मवादीकी ओरसे शंका और उसका समाधान

एकात्मवादीका कहना है कि आत्मा आकाशकी तरह सर्वव्यापक है, तो सभी शरीरोंमें एकही आत्मासे काम चल सकता है। तब प्रति शरीर भिन्न-भिन्न आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं। उसका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शरोर अनेक होनेके कारण प्रत्येक शरीरमें सुख-दुःखके भोगकी व्यवस्था देखी जाती है। नहीं तो एकही शरीरसे कार्य सिद्ध होनेपर अनेक शरीरोंकी कल्पना व्यर्थ हो जाएगी, जन्मान्तरमें होनेवाले शरीरकी तरह व्यवस्था सिद्ध हो जाएगी, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जन्मान्तरमें भी कार्मसे ही सुख-दुःखादिकी व्यवस्था होती है। कर्म तो शरीर-कृत ही होता है। वह भी शरीर भेदसे होगा। दूसरा कोई प्रकार नहीं। और एकात्मवादमें अन्ध-बधिर आदिकी व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। क्योंकि वर्णके भेदसे कर्मका विधान होता है। जैसे 'ब्राह्मणः बृहस्पतिसवेन यजेत' 'वैश्यः वैश्यस्तोमेन यजेत' इत्यादि विधिवाक्य एकात्मवादमें तत्-तत् शरीरके सम्बन्धसे ही चरितार्थ होते हैं। तब कर्मविधियाँ व्यर्थ हो जाएँगी। आत्माको अनेक माननेपर उपर्युक्त दोष लागू नहीं होता। सभी आत्माओंके व्यापक होनेपर भी मूर्त न होनेके कारण सभीका समान देशमें रहना कोई विरोध नहीं। इसी तात्पर्यसे सभी उपनिषदोंमें एकात्माका व्यवहार होता है, ऐसा जानना चाहिए। अब रही सुख-दुःख आदिकी व्यवस्था। जैसे माताके गर्भमें शिशुके रहनेपर भी माताके सुख-दुःखसे शिशुका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे सभी शरीरोंसे आत्माका सम्बन्ध होनेपर भी दूसरेका सुख-दुःख दूसरेको ज्ञात नहीं होता। और त्वगिन्द्रियका स्पर्शके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उस देशमें रहनेवाले रूपादिका ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे आत्मासे दूसरे आत्माको सुख-दुःख आदिका ग्रहण नहीं होगा, जिसका वार्तिककारने अपूर्वाधिकरणमें इस प्रकार समर्थन किया है—

'यथा शरीरमात्रेऽपि मातृगर्भात्मवर्तिनाम्।
सुखादीनां व्यवस्थैवं सर्वत्रैपाभविष्यति ॥
देशप्राप्त्यायदीष्येत सुखादेरुपभोग्यता।
ततो दोषः प्रसज्येत योग्यभोगेत्वदुष्टता ॥ (तं० वा० पृ० ४०४)

अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा प्रति शरीर भिन्न, विभु और नाना है।

कर्मवादका निरूपण

सभी भारतीय दर्शनोंमें आचार(कर्मकाण्ड) विचार (ज्ञानकाण्ड) का विशेषरूपसे समन्वय रहता है। उसमें भी आचार शरीर स्थानीय है और विचार प्राण स्थानीय है। आचाररूप कर्म मीमांसा दर्शनका प्रतिपाद्य है। सभी वैदिक दर्शन तो कर्ममीमांसाको स्वीकार करते ही हैं, यहाँतक कि अवैदिक दर्शन भी इसे मानते हैं। नैयायिक वेद-शास्त्रोंसे विहित जो याग-दानादि कर्म हैं उनके अनुष्ठानसे जो अतिशय उत्पन्न होता है उसे धर्म कहते हैं। निषिद्धकर्मोंसे होनेवाले अतिशयको अधर्म कहते हैं। यथा—'वेदविहितकर्मजन्यो धर्मः; वेदनिषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः' इत्यादि।

सांख्योंने अन्तःकरणकी वृत्ति विशेषको धर्म कहा है। बौद्धोंने एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानमें होने वाले संस्कारको धर्म माना है। आर्हतोंनें पुद्गल नामक परमाणुओंको धर्म माना है। प्राभाकर मीमांसकोंनें तो अपूर्वको ही धर्म माना है। किन्तु लोक व्यवहारमें इन अर्थोंमें धर्म शब्द

का प्रयोग नहीं होता, अतः ये धर्म शब्दके वाच्य नहीं हो सकते। लोग याग-दानादि क्रिया करने वालेको ही धार्मिक कहते हैं, अतः याग-दान आदि क्रियाको ही भाट्ट मीमांसकोंने धर्म माना है। भाष्यकारने भी कहा है कि 'जो यागादि अनुष्ठान करता है, उसीको लोग धार्मिक कहते हैं'। इसलिए यागादि ही धर्म है। वह भी श्रेयः साधनके रूपसे। यह वेदसे ही जाना जाता है। अपूर्व को भी कहीं धर्म कहा है, उसे लाक्षणिक समझना चाहिए।

मीमांसकोंका सर्वस्व

इसी प्रसंगमें मीमांसकोंने अपूर्व नामक एक पदार्थ माना है। वह याग शक्ति रूप है। इसलिए वह किसी शब्दका वाच्य नहीं होता। ध्यान रहे कि प्रभाकर मतमें अपूर्व लिङादिका वाच्य होता है। इसीलिए यह प्रसिद्धि है, कि प्राभाकर वाच्यापूर्व वादी हैं और भाट्ट कल्प्यापूर्व वादी। नैयायिकोंने भी इस अपूर्वको माना है, किन्तु वाच्य रूपसे नहीं। यद्यपि लोकमें भी कृषिसे क्षेत्रका संस्कार होता है और घृतपान तथा अध्ययन आदि फलोत्पत्ति पर्यन्त स्वरूपसे नहीं रहते, अतः संस्काररूपसे रहते हैं, यह मानना होगा। किन्तु वे संस्कार अपूर्व शब्दसे नहीं कहे जाते। क्योंकि वे अवैदिक हैं। तो भी इस अपूर्वका शास्त्रीय भाषामें योग्यता शब्दसे व्यवहार होता है। अर्थात् कर्म करनेके पहिले पुरुष स्वर्ग आदिको प्राप्त करनेमें अयोग्य है। दर्शपूर्ण मासादि क्रतु भी अनुष्ठानके पहिले स्वर्गका भोग देनेमें असमर्थ हैं। ये दो प्रकार को अयोग्यताओंको दूरकर, योग्यता उत्पन्नकी जाती है। इस पुरुषगत या क्रतुगत योग्यताको ही मीमांसा शास्त्रमें अपूर्व कहा जाता। यों वार्तिकमें कहा है—

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
योग्यताशास्त्रगम्या या सा पराऽपूर्वमिष्यते ॥ (तं० वा०, पृ० ३६४)

इसमें श्रुतार्थापत्ति ही प्रमाण है। श्रुतार्थापत्ति शब्दरूप प्रमाणकी कल्पिका होती है। इसलिए भाष्यकारने कहा है—'यागेनापूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्'। यागसे अपूर्वको करके स्वर्गको प्राप्त करें।

यह अपूर्व या योग्यता याग की सूक्ष्म अवस्था है। या फलकी सूक्ष्म अवस्था है। अर्थात् यागकी उत्तरावस्था है, फलकी पूर्वावस्था है—

यागादेवफलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्ध्यति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ॥ इति ॥
(तं० वा०, पृ० ३६५)

इसीको मिश्रजीने अर्थापत्ति प्रकरणमें अपूर्व, शक्ति, अवान्तर व्यापार आदि शब्दोंसे व्यवहार किया है। इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने यह भी कहा है कि अपूर्व या शक्ति कार्यकी सिद्धिके लिए ही मानी जाती है, अतः शक्तिको जहाँ माननेपर कार्य सिद्ध होगा, वहीं शक्तिको माना जाए। यह नियम नहीं है कि, शक्ति स्वाश्रित ही रहे। वह अन्याश्रित भी रह सकती है। यह जो अपूर्व है, वह आत्माश्रित होकर फलको देता है और यह अमूर्त है। इस बातको सब लोगोंने माना है।

जैन साहित्यमें अपूर्वका 'भाव-कर्म' शब्दसे व्यवहार होता है और वह अमूर्त है। इतने अंशको लेकर जैनों और मीमांसकोंमें समानता है, ऐसा विचारक लोग कहते हैं, किन्तु मेरे विचार से द्रव्य कर्मके स्थानपर ही अपूर्व माना जा सकता है। क्योंकि वह अतीन्द्रिय और अमूर्त है। कर्मवादका रहस्य बड़ा ही सूक्ष्म है। इसका वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्यमें विशदरूपसे वर्णन है। वस्तु तस्तु यह कर्मवाद मीमांसा दर्शनकी ही देन है।

मोक्षवादका निरूपण

मीमांसा दर्शनका परम प्रयोजन है जीवको दुःखोंसे मुक्ति दिलाना। मुक्तिके सम्बन्धमें दो मत हैं, एक पक्ष है कि मोक्ष दशामें नित्य सुखकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरा पक्ष है आत्म-गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद। प्रथम मतका प्राचीन ग्रन्थोंमें प्रायः करके उल्लेख मिलता है—'नित्यसुखाभिव्यक्तिमोक्षः' इति। इस मतको ग्रन्थकारने भी दर्शाया है। और अन्तमें कहा है कि यह परकीय मत है, सिद्धान्त नहीं। क्योंकि मोक्ष दशामें मन आदि नहीं रहते। साधनके बिना नित्य सुखकी अभिव्यक्ति कैसे होगी ? अतः इस पक्षको ग्रन्थकारने नहीं माना। तथा वार्तिक-कारके मतसे द्वितीय आत्मगुणोच्छेद ही मोक्ष है, इस पक्षका समर्थन किया है। प्रपंच सम्बन्ध ही बन्ध है, उसका विलय ही मोक्ष है। शरीर, इन्द्रिय तथा विषय पुरुषको बन्धनमें डालते हैं। इसका उपनिषद् प्रकरणमें ग्रह अतिग्रह रूपसे वर्णन मिलता है। अतः कर्मका फल भोगनेके लिए शरीर इन्द्रिय आदि मिलते हैं। कर्म धर्माधर्म रूप हैं। वे दो प्रकारके हैं, कुछ हो चुके हैं, कुछ होनेवाले हैं। उत्पन्न कर्मोंका भोगसे ही क्षय होता है। और जो अनागत धर्माधर्म हैं, उनमें नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके करनेसे पाप नहीं होता। अर्थात् इन कर्मोंको अवश्य करना ही चाहिए। काम्य तथा निषिद्धोंको नहीं करना चाहिए। तब भोगसे प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होता है। और ज्ञानसे संचित कर्मोंका भी क्षय हो जाता है। यहां ज्ञान पदसे उपासनाको लेना चाहिए। उससे प्रारब्धसे भिन्न कर्मोंका ही क्षय होता है। यद्यपि गीतामें 'ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि' इत्यादि कहा है। यहाँ 'सर्व' शब्द दिया है। इससे सभी कर्मोंका ग्रहण होता है। प्रारब्धका भोगसे ही क्षय होता है, ज्ञानसे नहीं, अतः गीतोक्त सर्व शब्दसे प्रारब्धातिरिक्त सभी कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा जानना चाहिए।

मोक्षका साधन है ज्ञान तथा कर्मका समुच्चय। यहां ज्ञान शब्दसे आत्म-ज्ञान विवक्षित है। वह दो प्रकारका है। एक कर्माधिकारमें उपयुक्त है। दूसरा मोक्षका साधन है। जो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियोंसे विहित है। अतः व्याकरणाधिकरणकी वार्तिक तथा आत्मवादकी वार्तिक, दोनोंकी एक वाक्यता करके मोक्षके साधन ज्ञानका निर्णय करना चाहिए। वैसे कर्म भी साधन है। इसलिए इन दोनोंका समुच्चय है। यह समुच्चय भी तीन प्रकारका होता है—

१—कर्म प्रधान है, ज्ञान अंग है, यह प्रथम प्रकार है। २—ज्ञान प्रधान है, कर्म अंग है, यह दूसरा प्रकार है। ३—ज्ञान तथा कर्म-समान रूपसे प्रधान हैं, यह तीसरा प्रकार है। इसमें प्रमाण है—'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेद उभयं सह'। तथा यह स्मृति है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथा वै ज्ञानकर्मभ्यां नाराणां मुक्तिरिष्यते ॥

अतः केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करनेसे तथा, काम्य-निषिद्धको सर्वथा न करनेसे वर्तमान शरीरका पात होनेके बाद आत्माका स्वस्वरूपसे अवस्थान ही मोक्ष है। जिसे वार्तिककारने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ॥

शास्त्रदीपिकाकारने आनन्द बोधक श्रुतियों तथा दुःखाभाव परक श्रुतियोंका अत्यन्त विस्तारसे प्रतिपादन किया है। यहां उनके पिष्ट-पेषणकी आवश्यकता नहीं।

उक्तार्थका उपसंहार

पार्थसारथि मिश्रने औत्पत्तिक सूत्रमें भाष्य तथा वृत्तिके आधारपर दर्शनके उपयोगी प्रमेयोंका संकलन किया है। वह प्रमेय भोक्ता, भोगायतन-शरीर, भोग साधन-इन्द्रियां, भोग्य-विषय-स्पर्श आदि, भोग-सुख-दुःखका साक्षात्कार इन पांच प्रकारोमें विभक्त है। भोग्य भी आन्तर-बाह्यके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्य पृथिव्यादि हैं। आन्तर सुखादि हैं। मोक्ष तो आत्माके विशेष गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद रूप होनेसे विलक्षण पुरुषार्थ है। जो सकल दुःख ध्वंसको चाहता है और विरक्त है वही मोक्षका अधिकारी है। जो सांसारिक विषयोंमें आसक्त है वह कर्मका अधिकारी है। उसीको लेकर सभी कर्म शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। मोक्ष शास्त्र तो उससे भिन्न अधिकारीके लिए चरितार्थ होता है। अतः दर्शन सम्मत प्रमाण तथा प्रमेयोंका विचार दोनों पक्षोंमें सार्थक है। इसलिए मीमांसा शास्त्र दर्शनोंकी श्रेणीमें प्रतिष्ठित हुआ है। इन बातोंकी ओर ध्यान न देते हुए, वेद वाक्योंका विचार ही मीमांसा है, ऐसा पाश्चात्य विद्वान तो भला कह सकते हैं, क्योंकि उन्हें वस्तु-स्थितिका ज्ञान नहीं। किन्तु यदि भारतीय विद्वान उन्हींका अनुसरण करते हुए ऐसा कहें, तो यह एक खेदकी बात है। ऐसे लोगोंके प्रति सहानुभूति रखते हुए उन्हें मैं उदयनाचार्य जी के इन शब्दोंके साथ सान्त्वना देता हूँ कि—'काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः'।

शब्द नित्य है, इस विषयका विवेचन स्फोट निराकरण प्रसंगमें कर चुके हैं। उसी प्रसंगमें 'लिङ्गदर्शनात्' (१।१।२३) यह गुण सूत्र है। इस पर भाष्यकारने कहा है कि अन्यपरक वाक्य ही शब्दको नित्य बताता है। इसका उदाहरण दिया है 'वाचा विरूपनित्यया'। यहाँ सम्पूर्ण मंत्र इस प्रकार है—'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया, वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्' (तै० सं० २।६।११) (ऋ० सं० ६।७५।६) यहां विरूप शब्दका रूपयतीति रूपम् = कर्ता। विगतं रूपं यस्या सा विरूपा। इस प्रकार व्युत्पत्ति करके इसे सिद्धान्तचन्द्रिका टीकामें नित्य शब्दका विशेषण बताया है और लोगोंने भी इसी व्युत्पत्तिको माना है। किन्तु भाष्यकार माधवाचार्यने विरूप शब्दके दो तरहके अर्थ बताए हैं। उनमें प्रथम तैत्तिरीय संहिता भाष्यमें विरूप शब्दका विविधरूप ऐसा अर्थ किया है। दूसरा ऋक् संहिता भाष्यमें भी विरूप शब्दका नाना रूप अर्थ किया है। अतः ऐसी व्युत्पत्ति करना टीकाकारके लिए उचित नहीं है। विरूप शब्दको पृथक् पद मान कर भी 'नित्यया वाचा' इससे भी लिंग दर्शन सिद्ध हो जाता है। अतः ऐसी क्लिष्ट कल्पना उपादेय नहीं।

अन्विताभिधान वादका निरूपण

वाक्यार्थके प्रसंगमें प्रधान रूपसे चार मत उपस्थित होते हैं। पथम मत है कि वाक्य ही वाक्यार्थका बोधक है। यह वैयाकरणोंका मत है। उक्त वाक्यार्थमें धात्वर्थ ही मुख्य विशेष्य रूपसे भासता है और पदार्थ उसीमें प्रकार होकर भासते हैं।

दूसरा मत है प्रथमान्त पदसे उपस्थापित अर्थ ही विशेष्य होता है और पदार्थ इसीमें प्रकारतया भासते हैं, यह तार्किकोंका पक्ष है।

तीसरा पक्ष है कि पद समुदाय ही वाक्य है, अर्थात् पद ही वाक्य हैं। पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। इसका यह आशय है कि पद अन्वित अर्थका प्रतिपादक है। अर्थात् पद अन्वय, को भी कहता है और पदार्थको भी कहता है। इसका तात्पर्य है कि अन्वित अर्थको कहनेवाले पद ही अन्वयको भी बताते हैं। पदकी अन्वय तथा अर्थमें शक्ति है। इस मतमें ऐसा कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है, कि तदर्थ विषयक शाब्दबोधके प्रति, उस पदमें रहनेवाली जो शक्ति है, उसके ज्ञानके अधीन तदर्थ विषयक उपस्थिति कारण होती है—'तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति तत् पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीनतद्विषयक-उपस्थितिकारणम्'। अर्थात् तद्विषयकशाब्दबोधत्वेन तत् पद-निष्ठशक्तिग्रहाधीनतद्विषयकोपस्थितित्वेन कार्यकारणभाव:'। यह प्राभाकर मीमांसकोंका मत है। उनका कथन है कि—

पदार्थानेव वाक्यार्थं मिथ: संगतिशालिन:।
आचक्षते विधीयन्ते पदैस्ते च तथाविधा:॥ इति॥

(न्या० मा०, पृष्ट०—८३)

चौथा पक्ष है कि पद पदार्थ स्वरूपके ही अभिधायक होते हैं। वे आकांक्षा, योग्यता, आसत्तिरूप सहकारी कारणोंसे युक्त होकर लक्षणासे वाक्यार्थका बोधन करते हैं। यह भाट्ट मीमांसकोंका पक्ष है और यही सिद्धान्त है।

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य निरवयव होते हैं। वाक्यार्थं भी निरवयव है। किसी समय वाक्यका एकदेश विस्मृत होनेपर भी वाक्यार्थं होता है, वह नहीं होगा। यह पक्ष ऊह, बाध आदिका बाधक होनेसे सर्वथा हेय है।

दूसरा पक्ष जो तार्किकोंका है, वह भी उनके सूत्र-भाष्यकी कसोटीपर खरा नहीं उतरता। उनका नियम सार्वत्रिक नहीं है, गदाधर भट्टाचार्यने व्युत्पत्तिवादमें कहा है कि 'भूतले घटो नास्ति' इत्यादि स्थलोंमें नैयायिकोंका यह नियम लागू नहीं होता, अत: यह सीमित है। और दार्शनिकोंने तो इसको विचार कोटिमें स्थान ही नहीं दिया। यही बात मधुसूदन सरस्वतीने अद्वैतसिद्धिके अखण्डार्थ वादमें कही है। इसलिए यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं।

अब तीसरा पक्ष है अन्विताभिधानवाद, जिसका ग्रन्थकार विशेषरूपसे खण्डन करते हैं। इस मतमें पदोंकी अन्वय तथा अर्थमें दो शक्तियां माननी पड़ती हैं, अत: गौरव है। लाक्षणिक स्थलमें अन्विताभिधानका होना सम्भव ही नहीं। और सूत्र, भाष्य आदिसे विरोध होनेके कारण भी यह मत ग्राह्य नहीं। इसका ग्रन्थकारने न्यायरत्नमालामें विशदरूपसे वर्णन किया है।

अब रह गया अन्तिम पक्ष जो सिद्धान्त है। पद पदार्थका ही अभिधान करते हैं। जो पदसे पदार्थोपस्थिति होती है, उसका ग्रन्थकार 'अभिधान' शब्दसे व्यवहार करते हैं, क्योंकि यह पदार्थ-बोध शब्द-शक्तिसे उत्पन्न होता है। जैसे ग्रन्थकारने शास्त्रदीपिकामें कहा है कि—

सम्बन्ध है। वह प्रत्याय्य प्रत्यायकत्व लक्षण है। स्वभावसे ही शब्द अर्थका प्रत्यायक होता है, अतः यही सम्बन्ध होगा। और इन्द्रिय सन्निकर्ष, व्याप्ति-ज्ञान आदिसे निरपेक्ष होकर, अर्थके प्रतिपादनको ही अभिधान कहा जाता है—'अस्ति तु सम्बन्धः प्रत्याय्य प्रत्यायकत्वलक्षणः। असत्येवसम्बन्धान्तरे इन्द्रियलिङ्गादिसम्बन्धानपेक्षमर्थप्रतिपादनम्, इदमेवाभिधानमित्युच्यते'।

(शा० दी० पृ० ६०–६१)

पार्थसारथि मिश्रके अनुयायि चिदानन्द पण्डित तथा नारायण भट्ट आदि पदार्थोपस्थिति को स्मृति ही मानते हैं। अतः पद, पदार्थ स्वरूप मात्रका अभिधायक होता है, अन्वितका नहीं। पदार्थ तो सामान्य होते हैं। आकांक्षा आदि सहकारी कारणोंसे युक्त होकर, वही पदार्थ लक्षणासे वाक्यार्थका बोधन करते हैं। लक्षणाका बीज है वाक्य तात्पर्यकी अनुपपत्ति। वाक्यका प्रयोग वाक्यार्थके लिए है। पदोंसे पदार्थ मात्रका ज्ञान होता है। अर्थात् जिसके लिए वाक्य प्रयुक्त हुआ, उस विशिष्ट अर्थका बोध नहीं हो रहा है। और जो अलग-अलग पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है, वह हमें अपेक्षित नहीं। अतः तात्पर्यानुपपत्ति है। वही लक्षणाका बीज है। इसलिए पदसे उपस्थापित पदार्थ लक्षणासे वाक्यार्थका बोध कराते हैं। ध्यान रहे कि 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' भाट्टमतमें अभीष्ट नहीं, किन्तु 'बोध्यसम्बन्धो लक्षणा' उनको अभीष्ट है। जैसे पद बोध्य पदार्थ होता है, वैसे वाक्य बोध्य वाक्यार्थ भी होता है। लक्षणा समभिव्याहारसे ज्ञात होती है। एक वाक्यताको समभिव्याहार कहते हैं। वह कहीं प्रत्यक्ष है, कहीं अनुमेय है। इत्यादि विशेषताएँ न्यायरत्नमालामें हैं, ऐसा ग्रन्थकारने कहा है—

तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात्, वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धिमेतत् ॥

(न्या० मा०, वाक्यार्थनिर्णय, का० ४३)

अन्विताभिधान वादमें प्रधान रूपसे तीन पक्ष हैं। १—कार्यान्वित अर्थमें शक्ति है। २—इतरान्वित अर्थमें शक्ति है। ३—अन्वित अर्थमें शक्ति है। इनमें पहिले दोनों पक्षोंका, गौरव आदि दोषके कारण निरास कर, अन्वित पक्षका विवरण प्रस्थानानुयायियोंने समर्थन किया है। मण्डन मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र प्रभृतियोंनें अन्विताभिधान वादका निरासकर अभिहितान्वय वादका समर्थन किया है। चित्सुखाचार्यने भी इसी पक्षको अपनाया है।

भावना विचार

भाट्ट मीमांसकोंनें शाब्दबोधमें भावनाको मुख्य विशेष्य माना है। शाब्दी भावना तथा अर्थी भावनाके भेदसे यह भावना दो प्रकारकी है। इसका यह अभिप्राय है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यमें 'यजेत' एक पद है। पदसे यहाँ 'सुप्तिङन्तं पदं' को लेना चाहिए, 'शक्तं पदं' को नहीं, जो नैयायिकोंको अभिमत है। 'यजेत' में दो अंश हैं, एक प्रकृत्यंश तथा दूसरा प्रत्ययांश प्रत्ययमें भी दो अंश हैं। आख्यातत्व और लिङ्त्व। पहिला धर्म दसों लकारोंमें

रहता है, अतः वह व्यापक धर्म है। लिङ्त्व तो लिङ्में ही रहता है। अतः वह व्याप्य धर्म है। दोनों अंशोंसे क्रमशः प्रवर्तना तथा प्रवृत्तिका बोध होता है। प्रवर्तना नाम है प्रवृत्यनुकूल व्यापारका। जैसे लोकमें आचार्य या पिता 'गामानय' इत्यादि वाक्यका प्रयोग करते हैं। शिष्य या सेवक उसे सुनकर यह समझता है कि मुझको ये अमुक कार्यमें प्रवृत्त कर रहें हैं। अतः लोकमें शिष्य आदिकी प्रवृत्तिका कारण प्रवर्तक आचार्य आदिका अभिप्राय विशेष है। 'अयं गवानयने प्रवर्तताम्' इत्यादि। इसलिए लोकमें पुरुषका अभिप्राय ही विध्यर्थ है। वेदमें तो 'शास्त्रसे प्रेरित होकर मैं करता हूँ या विधिसे प्रेरित होकर मैं करता हूँ' ऐसा व्यवहार होता है। अतः पुरुषका स्थानापन्न विधि शब्द होता है। क्योंकि वेद तो पुरुष निर्मित नहीं है। इसी लिए वेदको अपौरुषेय माना गया है। अतः यह व्यापार शब्द निष्ठ होनेसे यह शाब्द कहलाता है और पुरुष-प्रवृत्तिको उत्पन्न करता है, इसलिए भावना भी कहलाती है। लाघवसे लोग इसे शाब्दी भावना कह देते हैं। यही विध्यर्थ है। लोक तथा वेदमें अनुगत एक प्रवर्तनात्व रूप धर्म है, आज्ञा आदि नहीं। इस प्रकार विध्यर्थ, शाब्दी भावना, प्रवर्तना, प्रेरणा इत्यादि इसके पर्याय हैं। यह प्रवर्तना रूप व्यापार ही लिङ्र्थ है। इससे प्रवृत्ति होती है, वही आर्थी भावना है। यह स्वर्गादि रूप फलको उत्पन्न करती है, अतः इसे आर्थी भावना कहते हैं। यह अन्वर्थ नाम है। अर्थ कहते हैं प्रयोजनको, उसे यह उत्पन्न करने वाली है।

भावनाका लक्षण

इन दोनोंका अनुगत लक्षण यह है—'भावनानांभवितुर्भत्रनानुकूलो भावकव्यापार-विशेषः'। इस लक्षणका समन्वय शाब्दी भावनामें इस प्रकार है—'भवितु = होनेवाली प्रवृत्तिका, भावनानुकूलः = उत्पादक, भावक = प्रवर्तक, लोकमें पुरुष है, वेदमें लिङ्गादि शब्द है। उनका व्यापार है प्रवर्तना, जो लोक वेद साधारण है। यही विध्यर्थ है। अर्थात् लिङ्गादिके श्रवणसे प्रर्वतनाका ज्ञान होता है। उससे प्रवृत्ति होती है—'प्रेरणया प्रवृतिं भावयेत'।

इस लक्षणका आर्थीभावनामें समन्वय इस प्रकार है—'भवितु = उत्पन्न होनेवाले फल स्वर्गादिका, भवनानुकूल = उत्पादक, भावकव्यापारः = पुरुषका व्यापार = आर्थी भावना है। यही प्रवृत्ति या कृति आदि शब्दसे कही जाती है। यही प्रत्येक वाक्यमें आख्यातकी वाच्य होती है। शाब्दी भावना तो अध्ययनविधि वाक्यमें ही वाच्य होती है। और विधिवाक्योंमें शाब्दी भावनाका अनुवाद ही रहता है। इसके विशेष ज्ञानके लिए मीमांसा परिभाषा, न्याय प्रकाश, शास्त्रदीपिका, तंत्रवार्तिक आदि देखने चाहिएँ। प्रवर्तना विध्यर्थ है। प्रवर्तना शब्दका इष्ट साधनत्व अर्थ है, ऐसा मण्डन मिश्रने विधिविवेकमें समर्थन किया है। इसीका पार्थसारथि मिश्रने भी समर्थन किया है। प्रवर्तना अलौकिक व्यापार है। यह न्यायसुधाकारका मत है, किन्तु यह गौरव दोषसे युक्त है।

शाब्दी भावनाके तीन अंश

शाब्दी भावनाके तीन अंश होते हैं। १—साध्य। २—साधन। ३—इतिकर्तव्यता। शाब्दी भावनाकी साध्याकांक्षा होनेपर, आर्थीभावना प्रवृत्ति-साध्यके रूपमें अन्वित होती है। ध्यान रहे कि वह भी अंश-त्रय विशिष्टा है। करणकी आकांक्षा होनेपर लिङादिका ज्ञान करणके

रूपसे अन्वित होता है। अथवा लिङादि शक्ति ज्ञान करणरूपसे अन्वित होता है। इन्हींको शाब्दी भावना समझना चाहिए। शक्ति विशिष्ट लिङादि ज्ञान भी करण होता है। इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होनेपर अर्थवादोंसे लक्षित प्राशस्त्यज्ञान इतिकर्तव्यतारूपसे अन्वित होता है उक्त अर्थका प्रतिपादक यह श्लोक है—

लिङ्गोऽभिधा सैव च शब्दभावना। भाव्यं च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः ॥
सम्बन्धबोध : करणं तदीय। प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥

श्लोकार्थ स्पष्ट है। इन तीनों अंशोंको लेकर शाब्दबोध होता है, ऐसा प्राचीनोंका मत है। नवीन खण्डदेव आदिका मत है कि यह केवल व्यवहार मात्र है शाब्द-बोधमें, अशाब्द होनेके कारण इनका भान नहीं होता। किन्तु मधुसूदन सरस्वती तथा शम्भु भट्ट आदिका कहना है कि शाब्दी भावनामें तीनों अंशोंका भी भान होता है।

आर्थीभावनाके तीन अंश

आर्थीभावनाके भी तीन अंश होते हैं—साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता। आर्थीभावनाकी साध्याकांक्षा होनेपर स्वर्गकामादि शब्दसे उपस्थित स्वर्गादि साध्यके रूपमें अन्वित होते हैं। अर्थीभावनाकी करणाकांक्षा होनेपर 'यजेत' पदसे उपात्त धात्वार्थ याग, करण रूपसे अन्वित होता है। इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा होनेपर प्रकरणमें पठित सन्निपत्योपकारक तथा आरादुपकारक अंग कलाप इतिकर्तव्यता रूपसे अन्वित होता है। यद्यपि 'स्वर्गकाम' शब्द पुरुषवाची है तथापि भावना व्यापार रूप है। अतः वह पहिले फलकी ही अपेक्षा रखती है। इसलिए स्वर्गकाम शब्दका स्वर्ग ही अर्थ माना गया है। अर्थात् स्वर्गकाम शब्द काम्यमान स्वर्ग परक है। 'अपेक्षितत्त्वाद्भाव्यस्य स्वर्गकामादितत्परा' इति। आर्थीभावना स्थलमें शाब्दबोधका यह प्रकार है कि 'कर्मतासम्बन्धेन स्वर्गविशिष्टा, करणता सम्बन्धेन यागविशिष्टा, इतिकर्तव्यतात्वसम्बन्धेनाङ्गविशिष्टार्थीभावना'। इसका संक्षेप यह है कि स्वर्गकर्मिका यागकरणिका, अङ्गेतिकर्तव्यताकार्थीभावना'।

भावनाका उपसंहार

यह पूर्वमें कह चुके हैं कि शाब्दीभावना तथा आर्थीभावना एक 'तङ्प्रत्ययसे उपात्त होनेके कारण धात्वर्थके पहिले इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है उसे विधि क्रम कहते हैं। अर्थात् विधि आर्थीभावनाको ही विषय करेगी। और भावना भी शुद्ध विधिका विषय नहीं होती, किन्तु अंश त्रय विशिष्ट ही भावना विधिका विषय होती है। अतः साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता विशिष्ट आर्थीभावनाका ही विधान होता है। यही वाक्यार्थ है। इसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया आदि भासित होते हैं। पूर्वांग–उत्तरांग आदि सभी भासित होते हैं। उपदेश, अतिदेशरूप शब्दप्रमाणकी ही यह महिमा है। पदज्ञानसे लेकर निराकांक्ष वाक्यार्थ होने तक एक ही शाब्दी प्रमा है।

क्या तात्पर्या वृत्तिसे वाक्यार्थ ज्ञान हो सकता है ?

शाब्दबोध, वाक्यार्थ, अन्वय ये सब पर्याय हैं। मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशमें तात्पर्यावृत्तिसे शाब्दबोध होता है, यह मीमांसकोंका मत है, ऐसा कहा है—

'तात्पर्याख्यं वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने' इति।

इसका क्या कारण है। मीमांसा दर्शनमें दो प्रस्थान हैं—एक भाट्ट प्रस्थान दूसरा-प्राभाकर प्रस्थान। ये दोनों प्रस्थान सूत्र तथा भाष्यको आधार मानकर प्रवृत्त होते हैं। इन ग्रन्थोंमें तात्पर्या वृत्तिसे शाब्दबोध होता है, ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः उनका यह कहना संगत नहीं है, अत: पदसे उपस्थापित पदार्थोंसे वाक्यार्थ लक्षित होता है, यही सिद्धान्त है।

वेदापौरुषेयत्व विचार

शब्द दो प्रकारके होते हैं—लौकिक तथा वैदिक। लौकिक वाक्यरूप शब्द पुरुषकृत हैं, किन्तु वैदिक वाक्योंमें सन्देह है कि ये पुरुषकृत हैं या नहीं? यहाँ पूर्व पक्ष है कि ये भी पौरुषेय हैं। क्योंकि लौकिक वाक्योंमें तथा वैदिक वाक्योंमें वाक्यत्व धर्म तो समान है। ऐसा होनेपर भी वैदिक-वाक्य पुरुष प्रणीत नहीं हैं, ऐसा क्यों माना जाता है? अत: उन्हें पौरुषेय मानना चाहिए।

और यह काठक है, यह कालापक है, यह तैत्तिरीयक है, ऐसे पुरुषके नामसे वेदकी शाखाओंका व्यवहार होता है। शब्दोंमें पुरुषका सम्बन्ध दो प्रकारसे हो सकता है। एक कर्तृ-कर्म-भाव सम्बन्ध है। अर्थात् पुरुष कर्ता है, शब्द उसका कर्म है। जैसे रघुवंशका कालिकादासके साथ सम्बन्ध है। रामायणका बाल्मीकिके साथ सम्बन्ध है। अतः वैदिक वाक्योंका पुरुषके साथ कर्तृ-कर्मभाव सम्बन्ध है। दूसरा सम्बन्ध यह है कि पुरुष प्रवचन कर्ता है। अर्थात् अध्यापन कराता है। वेद उसका कर्म हो जाता है। इसीको प्रवक्तृ-प्रवचनभाव सम्बन्ध कहते हैं। इनमें पहिला सम्बन्ध तो असाधारण होता है, दूसरा तो सर्वसाधारण है। अतः 'काठकम्' इत्यादि कर्तृ-कर्मभावको लेकर ही सिद्ध होता है। इसमें यह अनुमान भी है कि—'वेदवाक्य पौरुषेय होते हैं, वाक्य होनेसे, रघुवंश, रामायण आदिकी तरह—'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्, रामायणादिवत्'।

'अधिकृत्य कृतेग्रन्थे' यह पाणिनिका सूत्र है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वेद पुरुष प्रणीत है। आज-कलके लोग भी नदी, पर्वत, नगर, मानव, पशु, पक्षी आदिका वेदोंमें उल्लेख देखकर उन्हें पुरुषप्रणीत मानते हैं। क्योंकि 'अर्थं बुध्वा वाक्यरचना' यह न्याय है। नैयायिकोंने तो स्पष्ट ही कहा है कि ईश्वर ही वेदका कर्ता है। अन्यथा वेदका प्रामाण्य नहीं होगा। प्रामाण्यके प्रति आप्तप्रणीतत्व गुण है। इसलिए तार्किक ईश्वरको वेदोंका कर्ता मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है, कि मंत्रद्रष्टा ऋषियोंके विचारोंका संकलन ही वेद है। इत्यादि।

इस प्रकार वेद पौरुषेयत्वके सम्बन्धमें शंकाएँ होनेपर मीमांसकोंने यह सिद्धान्त किया है कि वेद अपौरुषेय है। उनका यह अभिप्राय है कि हमें लौकिक वाक्योंके, अर्थात् रामायण महाभारत आदिके कर्ता क्रमशः बाल्मीकि तथा महर्षि व्यास हैं, यह परम्परासे ज्ञात होता है। इसलिए अलौकिक वाक्योंको हम पौरुषेय मानते हैं। ऐसा वेदोंमें भी कर्ताका स्मरण होता, तो उसे भी परम्परासे पौरुषेय मानलेते, किन्तु परम्परासे कर्ताका स्मरण होता नहीं। 'यदि कर्तास्याद्युपलभ्येत, यतो नोपलभ्यते, न वा स्मर्यते, अतो नास्तीति वयमवगच्छाम:'।

और हम वेदोंको वर्ण नित्य होनेसे या पद नित्य होनेसे अपौरुषेय नहीं मानते, किन्तु अध्ययन परम्परा अनादि है, इसलिए वेदोंको अपौरुषेय मानते हैं। मीमांसक मतमें संसार अनादि है। आदिकाल तो है हो नहीं, अतः वेद अपौरुषेय हैं। इसमें अनुमान ही प्रमाण है—

'वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमध्ययनत्वात्, वर्तमानाध्ययनवदिति'। इससे वेदोंका अनादित्व तथा अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है।

और भी बात है कि लोकमें वाक्य रचना करनेमें पुरुष स्वतंत्र है, जैसे चाहता है वैसी वाक्य रचना कर सकता है। घटको लाओ, ले आओ घट—'आहर घटम्, घटमाहर'। वेदमें तो यह बात नहीं है। वैदिक पदोंके क्रमके निर्माणमें पुरुष स्वतंत्र नहीं। पुरुषकी तो बात ही क्या है ईश्वर भी वैदिक वाक्य विन्यासमें स्वतंत्र नहीं होता। अर्थात् ईश्वर भी वेदके शब्दोंका रद्दोबदल नहीं कर सकते। यों वार्तिककारने कहा है—'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतंत्रता'। इति।

अद्वैत वेदान्ती वेदको ब्रह्मका विवर्त मानते हैं, अतः आकाश आदिकी तरह वेदके भी ईश्वर ही कर्ता हैं, ऐसा वे कहते हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रके प्रथम वर्णकमें यह अर्थ स्पष्ट है। किन्तु अध्वर मीमांसक वेदको स्वतंत्र तथा अपौरुषेय मानते हैं। जो पूर्व पक्षीने कहा था वाक्यत्व हेतुसे अनुमान होता है, वह कर्ताकी उपलब्धि न होनेसे बाधित है। और वह सत्प्रति पक्ष दोषसे दूषित है। अर्थात् उसका विरोधी अनुमान भी है-- 'वेदाः पौरुषेयाः व्यवहाराऽविच्छेदे-सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति।

पूर्व पक्षीने पाणिनिके सूत्रके आधारपर जो कहा था वेद पौरुषेय हैं, तो इसका उत्तर 'तेन प्रोक्तम्' यह दूसरा सूत्र है। पहिला सूत्र वेदके पौरुषेय होनेमें प्रमाण है और दूसरा सूत्र अपौरुषेयमें प्रमाण है। यहाँ 'प्रोक्तम्' इस अर्थमें तद्धितका विधान है। यथा 'कठेन प्रोक्तं काठकम्' इससे प्रवक्तृ-प्रवचन भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। प्रवचन भी असाधारण ही होता है, साधारण नहीं। भाष्यकारने कहा है, कि प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन है—'प्रकृष्टं हि वचनं प्रवचनम्, असाधारणं हि तत्' इति। शास्त्रदीपिकाकारने तो कठ शब्दको शाखा परक मानकर वेदापौरुषेयत्वको सिद्ध किया है।

यह जो कहा गया है कि नदी, पर्वत, वृक्ष-वनस्पति आदिके वर्णनसे वेदपौरुषेय है इत्यादि, यह वेदसे लेकर लोकमें व्यवहार प्रचलित हुआ है। लोकसे लेकर वेदमें नहीं, यही तथ्य है। अतः यह कथन भी वेदपौरुषेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता।

नैयायिकोंने ईश्वरको लेकर जो पौरुषेयत्व सिद्ध किया है, वह भी हमारे अपौरुषेयत्वमें ही पर्यवसित होता है। और यह जो कहा जाता है कि अग्नि, वायु, आदित्य आदिसे वेदोंकी उत्पत्ति होती है, वह भी वैदिक सम्प्रदायके प्रवक्ता होनेके नाते ऐसा कहा गया है। वे वेदके निर्माता नहीं। अतएव ग्रन्थकारने वेदापौरुषेयत्वाधिकरणमें कहा है कि जो वेदको पौरुषेय मानते हैं, वे भी सामान्य अनुमानसे कर्ताको सिद्धकर, अपनी अपनी इच्छाके अनुसार कोई हिरण्यगर्भको कोई, ईश्वरको और कोई प्रजापतिको वेदका कर्ता मानते हैं। यह ध्यान रहे कि लौकिक शब्दोंमें लक्षणाके अनुसार ही लक्ष्यकी व्यवस्था होती है। अर्थात् व्याकरणके द्वारा अनुगत शब्द ही व्यवहारार्ह होते हैं। वैदिक शब्दोंमें तो ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो लक्ष्यके अनुसार ही लक्षण किया जाता है। अतएव महर्षि पाणिनिने कहा है कि वेदमें जैसे प्रयोग होते हैं वैसा ही मानना चाहिए। 'छन्दसिदृष्टानुविधिः' यह उनका सूत्र है। यह भी इस बातको सिद्ध करता है कि वैदिक शब्दोंमें पुरुषका स्वातन्त्र्य नहीं।

इसके आगे स्वयं पाणिनि कहते हैं, कि वेदोंमें सभी विधियोंके विकल्प होते हैं। 'छन्दसि सर्वे विधियो विकल्प्यन्ते'। यह भी उक्तार्थका ही समर्थक है। अतः यह सिद्ध हुआ मंत्र, ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है। वह अनादि अपौरुषेय है, किन्तु साम वेदमें ऊह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उसमें ऋचाएं वेदकी ही हैं। सामके ऊहका उसमें वर्णन है। अतः वह ग्रन्थ पौरुषेय है। यह अध्यापन परम्परासे सिद्ध है। अप्पय्य दीक्षित आदि महामीमांसकोंनें इसी बातका समर्थन किया है 'सर्वोप्युत्सर्गः सापवादः' यह न्याय है। अर्थात् जितनी सामान्य विधियाँ हैं उनका अपवाद होता ही है। अतः वेद अपौरुषेय होनेपर भी ऊह ग्रन्थ पौरुषेय है, यह निर्णय नवम अध्यायके द्वितीय पाद प्रथम अधिकरणके द्वितीय वर्णकमें किया गया है।

भाट्ट तथा प्राभाकर सम्मत प्रमाण-प्रमेयोंका संग्रह

मीमांसकोंने अभ्युपगम सिद्धान्त न्यायसे तार्किक सम्मत प्रमाण-प्रमेयोंको स्वीकार किया है। क्योंकि तर्क शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है प्रमाण-प्रमेयोंका निरूपण करना। अतएव गौतम शास्त्रके आरम्भमें ही प्रमाण-प्रमेयका निर्देश किया है। इसलिए मीमांसा शास्त्रने इसका अलगसे प्रतिपादन नहीं किया। उसमें भी स्वाभिमतको यदि नैयायिक कहते हैं, तो उसका मीमांसक प्रतिपादन नहीं करते। यहाँ केवल विशेष अंशका ही निरूपण किया जाता है। शास्त्रदीपिकाकारने कहा है कि—'तत्राद्यानि चत्वारि पृथिव्यप्तेजोवायुप्रकृतीनीत्यक्षपाददर्शनवदभ्युपगम्यन्ते। श्रोत्रन्त्वाकाशात्मकं तैरभ्युपगतम्। वयं तु दिशः श्रोत्रमिति दर्शनात् दिग्भागमेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रमाचक्ष्महे' (पृ० ५३) इस विषयका निर्देश भाष्य, वार्तिक आदिमें स्पष्ट है।

भाट्ट	प्राभाकर
१—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इन छः प्रमाणोंको मानते हैं।	१—शब्दके स्थानपर शास्त्र प्रमाणको रखकर प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र, उपमान, अर्थापत्ति, पाँच प्रमाण मानते हैं।
२—प्रमाकरणको प्रमाण कहते हैं।	२—वैसा ही ये भी मानते हैं।
३—अनधिगत, अबाधित, असन्दिग्ध अर्थका बोधक प्रमाण होता है।	३—अनुभूतिको ही प्रमाण मानते हैं।
४—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।	४—साक्षात् प्रतीतिको प्रत्यक्ष कहते हैं। उसमें प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति तीन विषय भासते हैं। इसे त्रिपुटी कहते हैं। विषयको लेकर ही प्रत्यक्ष, अनुमेय इत्यादि व्यवहार होता है। ज्ञान तथा आत्मा दोनों प्रत्यक्ष ही होते हैं। द्रव्य, जाति, गुण इन तीनोंमें संयोगसन्निकर्षसे प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।
५—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक	५—वैसा ही मानते हैं।

भाट्ट

६—सन्निकर्ष तीन प्रकारका होता है संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्य-तादात्म्य।

७—व्याप्यके दर्शनसे असन्निकृष्ट अर्थ विषयक वह्निआदिके ज्ञानको अनुमान कहते हैं तथा सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं।

८—व्याप्ति ज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान दोनों अनुमितिके कारण हैं। विशिष्ट - वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान या परामर्श यथासम्भव कहीं कहीं कारण होता है

९—अनुमान स्वार्थ, परार्थके भेदसे दो प्रकारका होता है।

१०—प्रतिज्ञा, हेतू उदाहरण या उदाहरण, उपनय, निगमन ये तीन अवयव होते हैं।

११—अन्वयव्यतिरेकि एक ही हेतु है, केवलान्वयि नहीं है, केवलव्यतिरेकिको पृथक् नहीं मानते। वह अर्थापत्तिमें गतार्थ है। अनुमानके सम्बन्धमें नारायण भट्टका कहना है कि यह सिद्धान्त परक नहीं है, अपितु व्याप्ति दिखानेके लिए है।

१२—वार्तिककारके मतसे हेत्वाभास चार हैं। शास्त्रदीपिकाकारके मतसे तो तीन हैं। देखिए पृ० १२०।

१३—दृष्टान्त अन्वय तथा व्यतिरेकके भेदसे दो प्रकारका होता है।

१४—लौकिक वैदिक भेदसे शब्द दो प्रकारका है।

१५—शक्ति, लक्षणा, गौणी तीन वृत्तियां हैं।

१६—शब्दके सहकारी कारण चार होते हैं। आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्यज्ञान। यहाँ तात्पर्य लौकिक वाक्योंमें पुरुष निष्ठ है। वैदिक वाक्योंमें शब्द निष्ठ है। उसका निर्णय मीमांसा न्यायसे ही होता है।

प्राभाकर

६—सन्निकर्ष तीन प्रकारका है—संयोग, संयुक्तसमवाय, समवाय।

७—अनुमान वैसा ही है, किन्तु निरुपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानते हैं।

८—व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान ही अनुमितिके प्रति कारण है, परामर्श नहीं।

९—वैसा ही मानते हैं।

१०—वैसा ही मानते हैं।

११—वैसा ही मानते हैं।

१२—हेत्वाभास चार हैं।

१३—अन्वय दृष्टान्त एक ही है। व्यतिरेक दृष्टान्त है ही नहीं। क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं।

१४—शास्त्र ही प्रमाण है। लौकिक शब्द तो अनुमानके अन्तर्गत है।

१५—यहाँ भी वैसा ही है, परन्तु यह विशेषता है कि शक्ति स्वतंत्र पदार्थ है।

१६—वैसा ही मानते हैं।

भाट्ट	प्राभाकर
१७—शब्दार्थ जाति है, उपाधि या व्यक्ति अथवा जाति विशिष्ट व्यक्ति नहीं ।	१७—वैसा ही है, किन्तु ब्राह्मणत्व, सत्ता आदि उपाधियाँ हैं, जातियाँ नहीं ।
१८—प्रेरणा या इष्ट साधनत्व विध्यर्थ है ।	१८—कार्य ही विध्यर्थ है, उसका दूसरा नाम है नियोग । उसीमें वैदिक लिङादिकी शक्ति है । वह वेदवाक्यके विमर्शसे निर्णीत होती है, लोकमें क्रिया रूपी कार्यमें लक्षणा मानी जाती है ।
१९ अभिहितान्वयवादी हैं ।	१९—अन्विताभिधान वादी हैं ।
२०—उपमान प्रमाणमें विशेषता है, कि वह अतिदेशका उपपादक होता है ।	२०—वैसा ही मानते हैं तथापि उपमान अतिदेशमें सहायक नहीं होता ।
२१—दृष्टार्थापत्ति श्रुतार्थापत्तिके भेदसे अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है ।	२१—दृष्टार्थापत्ति एक ही है ।
२२—शब्दाध्याहार इष्ट है ।	२२—अर्थाध्याहार मानते हैं ।
२३—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण भाव पदार्थके ग्राहक हैं, अभावके नहीं । अभावका ग्रहण करनेके लिए अनुपलब्धि नामक छठा प्रमाण माना जाता है । वह अभाव प्रागभावादि भेदसे चार प्रकारका होता है । भाट्टचिन्तामणिकार गागा भट्ट प्रागभावको नहीं मानते ।	२३—अधिकरणसे अतिरिक्त अभावको नहीं मानते । अतः अनुपलब्धि प्रामाणान्तर नहीं, वैसे अभावका भेद भी नहीं ।
२४—पदार्थ पाँच हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, अभाव । पूर्वतंत्रसिद्धान्त-रत्नावलीकारने तो शक्तिके साथ छः पदार्थ माने हैं ।	२४—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, सादृश्य, संख्या, समवाय इन आठ पदार्थोंको माना है । प्रकरणपंचिका व्याख्याकारने तो पृ० ८२, पर क्रमको भी नवम पदार्थ माना है ।
२५—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, शब्द, तम, ये ग्यारह द्रव्य मानते हैं ।	२५—शब्द, तमको छोड़कर नौ द्रव्य मानते हैं ।
२६—वायुका त्वगिन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है ।	२६—वायुको अनुमेय मानते हैं ।
२७—काल, आकाश, दिशा आदिका प्रत्यक्ष होता है ।	२७—इन सबको अनुमेय मानते हैं ।
२८—शरीर जरायुज, अण्डज, स्वेदज उद्भिजके भेदसे चार प्रकारके होते हैं ।	२८—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, तीन ही शरीर मानते हैं । उद्भिजको नहीं ।

भाट्ट

२९—बाह्य इन्द्रियां चक्षु, रसन, घ्राण, त्वक्, श्रोत्रके भेदसे पाँच प्रकारकी होती हैं आन्तरिन्द्रिय मन है, जिसे अन्तःकरण कहते हैं। वह चिदानन्दादिके मतसे विभु है। वाचस्पति मिश्र आदिके मतसे अणु है।

३०—आत्मा अहं प्रतीतिका विषय, विभु कर्ता, भोक्ता, प्रति शरीर भिन्न, ज्ञानादिका आश्रय है। और अपने धर्माधर्मके द्वारा जन्म, जाति, आयु, भोगोंको कर्मके अनुसार प्राप्त करता है। आत्मा प्रारब्ध कर्मोंको भोग तथा आत्म-ज्ञानसे क्षय करके मुक्त होता है। विशेष गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद ही मोक्ष है, सुख रूप नहीं। उसका साधन है ज्ञान-कर्म समुच्चय। ज्ञान-कर्म दोनोंका समप्राधान्य है।

३१—वेदसिद्ध ईश्वरको मानते हैं। नैयायिकोंके द्वारा कल्पित आनुमानिक ईश्वरको नहीं।

३२—ज्ञान अनुमेय है। प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञानमें ज्ञाततालिंगक अनुमान ही प्रमाण है।

३३—शुक्ति-रजत पीत-शंख आदि ज्ञान अयथार्थ हैं।

३४—शब्द दो प्रकारका है वर्णात्मक शब्द द्रव्य है। ध्वन्यात्मक तो वायुका गुण है, अतः वह अनित्य है।

३५—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वा-परत्व, गुरुत्व, द्रवत्व- स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, ध्वनि, प्राकट्य, शक्ति इस प्रकार चौबीस गुण होते हैं।

३६—कर्म प्रत्यक्ष है।

३७—सामान्य, पृथिवीत्व, घटत्व, गुणत्व, कर्मत्व, ब्राह्मणत्वादि जाति मानी जाती है।

प्राभाकर

२९—बाह्य इन्द्रियां तो वैसी ही हैं। श्रोत्र आकाशात्मक है तथा अणु प्रमाण है।

३०—आत्मा वैसा ही है। भेद यह है कि वह आश्रय रूपसे हो भासित होता है। मोक्ष और उसका साधन भाट्ट मत वत् ही है।

३१—वैसा ही मानते हैं।

३२—ज्ञान स्वयं प्रकाश है।

३३—सभी ज्ञान यथार्थ ही हैं। शुक्ति रजत आदि ज्ञान विसंवादि प्रवृत्ति जनक होनेसे भ्रम कहलाता है स्वरूपतः अयथार्थ नहीं।

३४—वर्णात्मक शब्द आकाशका गुण है, नित्य है। ध्वन्यात्मक तो अनित्य है।

३५—संख्या, शक्ति, स्वतंत्र पदार्थ होते हैं। प्राकट्य को नहीं मानते। शब्दके साथ बाकी सब गुण होते हैं।

३६—कर्म अनुमेय है।

३७—स्वरूप सत्तासे अतिरिक्त सत्ता जाति को नहीं मानते। द्रव्यत्व, पृथ्वित्व आदि जाती है। गुणत्व कर्मत्व उपाधि है, जाति नहीं।

भाट्ट

३८—विशेष दूसरा पदार्थ नहीं

३९—समवाय नहीं, तादात्म्य सम्बन्ध है ।

४०—शक्ति तीन प्रकारकी होती है सहज, आधेय, पद शक्तिके भेदसे ।

४१—यागादि क्रियाको धर्म मानते हैं ।

४२—प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः होता है, अप्रामाण्य परतः होता है ।

४३—यह संसार अनादि है । महाप्रलय, महासृष्टि नहीं होते । खण्ड प्रलय, खण्ड सृष्टि होते हैं, इसीको मंत्र, पुराण, इतिहास आदि बताते हैं ।

४४—कर्म ही फलप्रद होता है ।

४५—देवता शब्दमयी हैं ।

प्राभाकर

३८—विशेषके दूसरा पदार्थ न होनेपर भी पृथक्त्वमें उसका अन्तर्भाव है । वह नित्य स्थलमें ही माना जाता हे ।

३९—समवाय सम्बन्धको मानते हैं। वह नित्यों में नित्य अनित्योंमें अनित्य है ।

४०—वैसा ही मानते हैं । किन्तु शक्तिको स्वतंत्र मानते हैं ।

४१—यागादि जन्य अपूर्वको ही धर्म मानते हैं ।

४२—सभी ज्ञानोंके यथार्थ होनेसे स्वतः प्रामाण्य है । अयथार्थ न होनेसे अप्रामाण्य परतः नहीं है ।

४३—वैसाही मानते हैं ।

४४—अपूर्व ही फलप्रद होता है ।

४५—वैसा ही मानते हैं ।

इस प्रकार अभ्युपगम सिद्धान्त न्यायसे तार्किक सम्मत पदार्थोंको मानकर विशेष रूपसे अपने कर्म सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए जो जो पदार्थ माने गए हैं, उनका संक्षेप से वर्णन किया गया है ।

ग्रन्थकारका परिचय

यहाँतक तर्कपादका प्रतिपाद्य विषय समाप्त हुआ । अब ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विचार करना भी आवश्यक है । ये कब, किस स्थानपर हुए, इनके माता-पिताका क्या नाम था, इनकी कौन-कौनसी कृतियां हैं, इनकी विशेषता क्या है, आदि बातोंपर विचार किया जाएगा ।

आप मिथिलाके श्रोत्रिय वंशीय ब्राह्मण थे, मिश्र विशेषणसे ही यह ज्ञात होता है । ऐसा ही इतिहासकारोंने भी माना है । इनका स्थिति काल ई० सन् १०५० से ११२० तक माना गया है । इनके पिताका नाम यज्ञात्मन् या यज्ञेश्वर था । उपनयन संस्कारके बाद समग्र वेद-शास्त्रका अध्ययन अपने पितासे ही किया । इन्होंने अपना परिचय यों दिया है—

भुवनत्रयविख्यातः श्रीमद्यज्ञात्मनन्दनः ।
तत एव श्रुतं प्राप्य विश्रुतः पार्थसारथिः ॥

आपको वैदिक तथा वैदिकेतर सभी दर्शनोंका विशिष्ट ज्ञान था, जिसका ज्वलन्त उदाहरण है तर्कपादमें मत-मतान्तरका उपपादन। और इनकी यह विशेषता है कि भाट्ट तथा प्राभाकर प्रस्थानोंका इनमें असाधारण पाण्डित्य था। फिर भी भाट्ट प्रस्थानमें आपकी विशेष श्रद्धा और रुचि थी। इन्होंने प्राभाकर मतका जो खण्डन किया है, उसका उद्धारक आजतक न कोई देखनेमें आता है न सुननेमें। जो प्राभाकर मतमें दीक्षित हैं रामानुजाचार्य आदि उनका कहना है कि पार्थसारथि मिश्रमें मेरी अत्यन्त श्रद्धा है। अतः मैं उनके ग्रन्थकी व्याख्या करता हूँ—

गुरुतन्त्रनियंत्रितोऽपि सन् बहुमानादिहपार्थसारथेः।
विवृणोमिमतान्तराश्रितां स्थिरभावां नयरत्नमालिकाम् ॥

इनकी भाषा अत्यन्त सरल, सरस और प्रांजल है। गोदुग्धके समान मधुर है। किन्तु प्रतिपक्षियोंके लिए इन्होंने खड़ी भाषाका प्रयोग किया है। उन्हें ये 'कश्चित्', 'केचित्' आदि पदोंसे ही सम्बोधित करते हैं। इनके स्वाभिमान पूर्ण पाण्डित्यमें माधुर्य झलकता है।

रचनाएँ

इनके चार ग्रन्थ हैं—१–न्यायरत्नमाला। २–तंत्ररत्न, जो टुप्टीकाकी व्याख्या है। ३–शास्त्रदीपिका। ४–न्यायरत्नाकर जो श्लोकवार्तिककी व्याख्या है। इनमें पहला न्यायरत्नमाला प्रकरणपंचिकोक्त प्राभाकर सिद्धान्तोंका खण्डन है तथा भाट्ट प्रस्थानके सिद्धान्तोंका मण्डन है। दूसरा और चौथा दोनों व्याख्याएँ हैं। शास्त्रदीपिकामें तो अधिकरणका प्रतिपादन किया है। इसीलिए इन्हें पण्डित समाजमें अधिकरण व्यवस्थापक कहते हैं। उसमें भी तर्कपाद मीमांसा दर्शनका सर्वस्व है, जिसमें समस्त मीमांसा दर्शनके प्रमाण प्रमेयोंका निरूपण है। उसके अनन्तर 'भाट्टदीपिका' आदि ग्रन्थ बने हैं, वे भी इन चारों ग्रन्थोंके अध्ययनके बिना अधूरे हैं। इसीलिए हमारे पूज्यपाद चिन्नस्वामी शास्त्रीजी महाराजका यह कहना है कि 'भाट्टदीपिका आदि अन्य ग्रन्थोंके अध्ययन समयमें पार्थसारथिके चारों ग्रन्थोंका भी अध्ययन करना आवश्यक है'। इसी तर्कपादके आधारपर गागाभट्टकी भाट्टचिन्तामणी बनी है। जिसमें शब्द खण्डका उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है। उसमें न्यायका पुट ज्यादा है। और चिदानन्द पण्डितका नीतितत्त्वाविर्भाव तथा नारायण भट्ट एवं नारायण पण्डित इन दोनोंसे बनाया हुआ भानमेयोदय, शास्त्रदीपिकाके तर्कपादके आधारपर ही बना है। अतः पार्थसारथि मिश्रने ऐसे ग्रन्थोंका निर्माण करके मीमांसा दर्शनका गौरव बढ़ाया है, जो सर्वमान्य रहा है।

इस भूमिकामें मैंनें जो प्रमाण-प्रमेयोंका निरूपण किया है। वह मेरी कल्पनाकी उपज नहीं है। ये सब बातें मीमांसा शास्त्रके ग्रन्थोमें उपनिबद्ध हैं। जो मनोयोग पूर्वक शास्त्रका अनुशीलन करते हैं, जिनकी धर्ममें रुचि है, वे इस ग्रन्थ-रत्नसे अवश्य लाभ उठावेंगे। इस प्रकारके प्रौढ ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद करना सामान्य मनुष्य के वशकी बात नहीं है। डॉ० किशोरदास स्वामीने सरल सुबोध भाषामें इसका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर करके मीमांसा दर्शनके इतिहासमें यह अपूर्व कार्य किया है। इनका यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है।

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः। वाचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्रानुभूयताम् ॥ १ ॥
नमस्ते गार्हपत्याय नमस्ते दक्षिणाग्नये। नम आहवनीयाय महावेद्यै नमो नमः ॥ २ ॥
काण्डद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्मस्वरूपिणे। स्वर्गापवर्गरूपाय यज्ञेशायनमो नमः ॥ ३ ॥

सुब्रह्मण्यम् शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

श्रीमते शिवावताराय भगवते श्रीचन्द्राय नमः।

महामहोपाध्याय-श्रीपार्थसारथि-मिश्र-प्रणीतायाः -

शास्त्रदीपिकायास्तर्कपादः

मङ्गलाचरणम्

लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसं मुररिपुं[1] शङ्खासि[2]कौमोदकी-
हस्तं पद्मपलाशताम्रनयनं पीताम्बरं शार्ङ्गिणम्।
मेघश्याममुदारपीवरचतुर्बाहुं प्रधानात्परं
श्रीवत्साङ्कमना[3]थनाथममृतं वन्दे मुकुन्दं मुदा[4] ॥ १ ॥

॥ अथ श्रीचन्द्रप्रभा—टीका ॥

भूतेर्लक्ष्मदधत् वपुः द्युतिसितं कर्णेऽतुलं कुण्डलम्,
प्राकट्यावसरे व्यलोकि निखिलैर्लोकैर्गिरीशाकृतिः।
भक्ति-ज्ञान-समुच्चयं समवदन्-मुक्तेर्निदानं परम्,
आचार्यो भगवानभूज्जनिमतां कल्याणकृद्भूतले ॥ १ ॥
धुन्वन् यो निखिलान् प्रमावविसरैः सद्धर्मविध्वंसकान्,
धर्मं वेदविबोधितं जनपदे विष्वक् - समस्थापयत्।
उत्कर्षातिशयं व्यधान्महदुदासीनास्पदे शाश्वते,
तं भक्त्या प्रणमामि देशिकवरं श्रीचन्द्रमज्ञानहम् ॥ २ ॥

---

१. मुर धर्म कण्टक और लोक विद्रोही था। भगवानने उसका वध करके धर्मकी स्थापना की। इस मंगल पद्यमें 'मुकुन्दं' यह विशेष्य है, कौस्तुभ, मुररिपु आदि उसके विशेषण हैं। इनसे पढ़ने वालोंके लिए लक्ष्मी, सौभाग्यादिकी प्राप्ति, मुररिपु विशेषणसे विघ्न-विनाशमें सामर्थ्य, दूसरे विशेषणोंसे साधकोंके ध्यानके लिए उपयोगी भगवानके दिव्य स्वरूपका वर्णन किया गया है।

२. शङ्खाब्जेति 'ख' पुस्तके पाठः। ३. मनादिभीशमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

४. विभुं चक्रिणमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

(श्रीमान् सर्वतंत्र-स्वतंत्र पार्थसारथिमिश्र, कुमारिलभट्ट मतानुसार अधिकरण प्रतिपादक 'शास्त्रदीपिका' नामक ग्रन्थका निर्माण करते हैं। वे आरम्भमें अपने इष्ट देवता श्री लक्ष्मी-नारायणको 'लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसम्' इत्यादिसे नमस्कार करते हैं)।

अर्थ—श्री लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि जिनके वक्षस्थल पर सुशोभित हैं, जो मुर नामक दैत्यके शत्रु हैं, जो अपनी भुजाओंमें पाञ्चजन्य शंख, नन्दन नामका खड्ग और कौमोदकी गदा एवं सुदर्शन चक्र धारण किए हुए हैं, लाल कमलके समान जिनके रक्त वर्णवाले विशाल नेत्र हैं, जो पीताम्बर ओढ़े हुए हैं, शार्ङ्ग नामक धनुष जिनके हाथ में है, मेघ के समान जिनका श्याम वर्ण है, लम्बी और प्रपुष्ट जिनकी चार भुजाएँ हैं, जो प्रधान = प्रकृतिसे परे हैं, श्रीवत्स जिनका चिह्न है तथा जो अनाथों के नाथ, अविनाशी श्री भगवान विष्णु हैं, उन्हें मैं प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ।

[जब भगवान् श्री चन्द्राचार्यने अवतार लिया तब उनके अप्राकृत शरीरपर भस्म रमी हुई थी। अत्यन्त सुन्दर गौर वर्ण था। एक कानमें अद्वैतका सूचक अनुपम, चमकीला तपे हुए सोनेका कुण्डल सुशोभित हो रहा था। आस-पासके लोगोंको वे साक्षात् शिवके सामन प्रतीत हो रहे थे। उन्होंने निष्काम भक्ति-रूप सूक्ष्म मानसिक कर्म तथा ज्ञान—इन दोनोंके समुच्चयसे जीवकी मुक्तिके नए सिद्धान्तको स्थिर किया और प्राणियोंके कल्याणके लिए पृथ्वीपर अवतार लिया ॥ १ ॥

उन्होंने अपने तेजसे धर्म-विनाशक विधर्मियोंको उसी प्रकार छितरा दिया जैसे चमकीला सूर्य कुहासेको दूर भगा देता है। उन्होंने भारतमें वेद-प्रतिपादित धर्मकी फिरसे प्रतिष्ठाकी और पुरातन-सनातन उदासीन सम्प्रदायको समुन्नत किया। ऐसे आध्यात्मिक-गुरुओंमें श्रेष्ठ तथा प्राणियोंका अज्ञानान्धकार दूर करनेवाले भगवान श्रीचन्द्राचार्यको मैं (किशोरदास स्वामी) पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥]

शंका—पूर्व-मीमांसक निरीश्वरवादी हैं, ईश्वरको नहीं मानते। तब ग्रन्थकारने मङ्गलाचरण करते समय भगवान् विष्णुको नमस्कार क्यों किया ?

उत्तर—मीमांसक ईश्वरको तो मानते हैं, पर वेद-सिद्ध ईश्वरको ही। नैयायिकोंने अनुमानके द्वारा जिस ईश्वरको सिद्ध किया है, उसका वे निराकरण करते हैं, वेद-सिद्ध ईश्वरका नहीं। अत एव वैदिक शिरोमणि वार्तिककारने—

विशुद्ध - ज्ञान - देहाय त्रिवेदी दिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥ (श्लोक वा० का० १)

—इस पद्यसे भगवान् शंकरजीको नमस्कार किया है। इसकी व्याख्यामें उंवेक भट्टजी कहते हैं कि ग्रन्थ के आरम्भ में वार्तिककार इष्ट देवता को नमस्कार करते हैं अतः मीमांसकों पर निरीश्वरवादी होनेका दोष लगाना असंगत है। मीमांसकोंका अपना वेद-सिद्ध ईश्वर है। तार्किक-कल्पित ईश्वरको वे नहीं मानते। इसका विशेष विवेचन "सम्बन्धाक्षेप - परिहारवाद" में देखना चाहिए।

कुछ लोग सोमयागपरक इस श्लोककी व्याख्या करते हैं, जिसका निराकरण ('युक्ति-स्नेह-प्रपूरणी' टीका पृ० नं० ३) में किया गया है।

कर्तव्यार्थप्रतिज्ञा

न्यायाभ सतमश्छन्नशास्त्रतत्त्वाथदर्शिकाम्[1] ।
कुमारिलमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम् ॥ २ ॥

प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम्

सू०अथातो धर्मजिज्ञासा[2] ॥ १ ॥

अनेन सूत्रेण प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्य श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये धर्मज्ञानं प्रयोजनं कथ्यते । यदा हि धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्येत्युक्त्वा, शास्त्रमारभ्यमाणं दृश्यते, तदा नूनमिदं शास्त्रं धर्मज्ञानप्रयोजनमित्यवगम्यते ।

विदितं तावत्प्रयोजनम्, संबन्धोऽपि शास्त्रस्य प्रस्तावहेतुर्वक्तव्यः । यथा शास्त्रा-

'न्यायाभास' अर्थ—न्याय अधिकरणको कहते हैं; उसके आभास-रूपी अन्धकारसे ढके हुए शास्त्रके जो तात्त्विक अर्थ हैं, उन्हें दिखलानेवाली (अर्थात् सिद्धान्तोंको विशद-रूपसे प्रकाशित करनेवाली) इस 'शास्त्र-दीपिका'का भट्ट कुमारिलके मतानुसार मैं निर्माण करता हूं ।

[इस श्लोकके पूर्वार्धसे प्राभाकर मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'न्यायाभास' रूप अन्धकारके निराकरणसे शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रदर्शन ग्रन्थ का प्रयोजन कहा गया है । 'शास्त्रदीपिकां करिष्ये'-से ग्रन्थकार कर्तव्य-अर्थकी प्रतिज्ञा करते हैं । 'कुमारिलमतेन' से अपने स्वतंत्र सम्प्रदायका देश है । इससे मतान्तरका निरास सूचित होता है ।]

(इस प्रकार कर्तव्य की प्रतिज्ञा करके, प्रकृत ग्रन्थका विषय मीमांसा शास्त्र है, यह बतानेके लिए प्रथम सूत्रका निर्देश करते हैं) 'अथातो धर्म जिज्ञासा'इति । सूत्रार्थ = अथ = सांग वेदाध्ययनके अनन्तर, अतः वेदाध्ययनके सिद्ध होनेके कारण, धर्माधर्मके ज्ञानके लिए सन्दिग्ध वेदवाक्योंका विचार करना चाहिए ।

इस सूत्रसे प्रारम्भ किए जानेवाले शास्त्रका धर्म विषय है, धर्म ज्ञान प्रयोजन है, यह कहा गया है । ऐसा कहना आवश्यक है, क्यों कि श्रोताओं की सफल प्रवृत्ति के लिए कोई प्रयोजन होना चाहिए । कहा भी गया है—

'सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते'

जब 'धर्म विचार करना चाहिए' ऐसा कहकर शास्त्रका आरम्भ किया जाता है, तब निश्चित रूपसे 'इस शास्त्रका धर्म ज्ञान ही प्रयोजन है' यह ज्ञात होता है ।

इससे प्रयोजनका ज्ञान हो गया । इसी प्रकार शास्त्र आरम्भके प्रयोजक सम्बन्धको बताना भी आवश्यक है ।

१. दर्शिनीमिति 'ख' पुस्तके पाठः ।
२. जिज्ञासा श्रोताका व्यापार है, मीमांसा वक्ताका व्यापार है, अतः दोनोंमें अन्तर है ।

न्तरेपु शिष्यप्रश्नानन्तर्यादिसम्बन्धः शास्त्रस्य प्रस्तावको[1] वर्ण्यते, तथेहापि शास्त्रारम्भे प्रयोजकानां संबन्धानामन्यतमो वक्तव्यः—अनेन सम्बन्धेनेदं शास्त्रमायातमिति। अन्यथा ह्यऽसंबद्धप्रलपितं स्यात्। सत्यम्, इह तु य एवायं प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधनत्वसंबन्धः, स एव शास्त्रस्य प्रस्तावकः, नान्यः। भवति हि साधनत्वमेव साध्यार्थिनः साधने प्रवृत्तिहेतुः। स चायं सम्बन्धः प्रयोजनोक्त्यैवार्थाज्ज्ञायत इति, न सूत्रकारेण पृथगुक्तः, इत्यदोषः।

अध्यापनविधिः विचारः तत्र पूर्वपक्षः।

अत्रेदं चिन्त्यते–किमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासया गुरुगृहेऽवस्थातव्यम्? उत गुरुगृहात्समावर्तितव्यम्? इति। यदि हि स्वाध्यायाध्ययनविधिना धर्ममात्र[2]मध्ययनं स्वर्गाद्यर्थेन विधीयते ततस्तन्मात्रेणैव शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वात् 'अधीत्य स्नायात्' (बौधायन ध० सू०) इति स्मृतिवचनबलेन च समावर्तितव्यमिति।

शंका—जैसे दूसरे न्याय-वैशेषिक आदि शास्त्रोंमें शिष्यके प्रश्नके अनन्तर शास्त्रका आरम्भ किया गया है और कहीं गुरु-परम्परासे भी शास्त्रारम्भका सम्बन्ध बताया गया है[3], वैसे यहाँ भी शास्त्रके आरम्भमें कोई सम्बन्ध बताना चाहिए कि इस सम्बन्धसे इस शास्त्रका आरम्भ हुआ, नहीं तो यह असम्बद्ध प्रलापके समान होगा।

समाधान—ठीक है, (शिष्य-प्रश्नके अनन्तर या गुरु परम्परा–इन दो प्रकारके सम्बन्धोंके रहते, श्रोतागणकी शास्त्रमें प्रवृत्ति या निवृत्तिमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् वे भी अनायास ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसे ही गुरु-परम्परा-रूप सम्बन्धमें भी कोई प्रमाण नहीं है। अतः) जो साध्यको चाहेगा उसका साधनमें प्रवृत्तिका हेतु साधनत्व ही होगा। यहाँ शास्त्र साधन है। प्रयोजन साध्य है। इसलिए साध्य साधन-भाव सम्बन्ध ही शास्त्र-आरम्भका हेतु है, दूसरा नहीं। क्योंकि लोकमें जो प्रयोजन चाहेगा वह साधनमें अवश्य प्रवृत्त होगा।

शंका—यह सम्बन्ध सूत्रकारको बताना चाहिए था, क्यों नहीं बताया?

उत्तर—सम्बन्धके दो आश्रय होते हैं, साध्य और साधन, इन दोनोंको शब्दतः कहने से सम्बन्ध भी अर्थतः ज्ञात हो जाता है इसलिए सूत्रकारने इसे पृथक् नहीं कहा, अतः कोई दोष नहीं।

यहाँ विचार करना चाहिए कि अध्ययनके बाद धर्म-विचारके लिए गुरुकुलमें माणवक = शिष्यको रहना चाहिए या गुरुघरसे समावर्तन (गुरुकुल-निवासका त्याग) करना चाहिए? साथ ही यह भी विचार करना चाहिए कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिसे स्पष्ट रूपसे अध्ययन[4] का विधान है और उसका फल है स्वर्गादिक। तब अध्ययन मात्रसे ही शास्त्रार्थके समाप्त होनेसे

---

१. 'प्रस्तावकः' इति 'क' पुस्तके पाठः। २. 'धर्ममात्रार्थमिति' 'क' पुस्तकेपाठः।

३. तद्यथा 'ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसा प्रोवाच। सोऽपीन्द्राय। सोऽप्यादित्याय। स च वसिष्ठाय। सोऽपि पराशराय। पराशरः कृष्णद्वैपायनाय। सोऽपि जैमिनये। स च स्वोपदेशानन्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवान्' इति।

४. गुरुमुखोच्चारण-पूर्वक उच्चारणको अध्ययन कहते हैं।

अथाक्षरग्रहणादिपरम्परोपजायमानवाक्यार्थज्ञानार्थमध्ययनं विधीयते ? ततस्तस्य विचारमन्तरेणाऽसम्भवादध्ययनविधिनैवाऽर्थाद्विचारो विहित इति, गुरुगृह एवावस्थाय विचारयितव्यो धर्मः।

तत्र—विनापि विधिना ज्ञानलाभान्न[1] हि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥ ३॥

स्वाध्यायसंस्कारद्वारेणाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वं विनैव विधिना प्रमाणान्तरेण सिद्धमेवेति, तादर्थ्ये विध्यानर्थक्यम्।

न चावघातादिविधिवन्नियमार्थत्वम्, अवघातो हि दर्शपूर्णमासाऽपूर्वे नियम्यते—अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरपूर्वं सिध्यतीति, न तण्डुलस्वरूपे, प्रमाणान्तरविरोधात्।

'अधीत्य स्नायात्' (वेदाध्ययन समाप्तिके अनन्तर, स्नान=समावर्तन करना चाहिए) इस स्मृति वचनके अनुसार तो गुरुकुल निवास का त्याग करना चाहिए।

या अध्ययनसे अक्षर ग्रहण होता है और इस परम्पराके द्वारा जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है उसके लिए अध्ययनका विधान है। केवल अध्ययनसे, विना विचारके, वाक्यार्थ-ज्ञानके असम्भव होनेके कारण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि-वाक्यसे ही अर्थात्=अर्थापत्ति प्रमाणसे, विचारका भी विधान होता है, अतः गुरु गृहमें ही रहकर, धर्म ज्ञानके लिए वेदवाक्योंका विचार करना चाहिए (यह सन्देहका स्वरूप है)

अब पूर्व पक्ष श्लोकसे कहते हैं। अर्थ=अध्ययन विधिके[2] विना भी अर्थ-ज्ञानका लाभ हो जाता है अतः विधिका अर्थज्ञान प्रयोजन नहीं मान सकते।

(शंका-तब विधि व्यर्थ हो जाएगी। उत्तर—जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्यसे विश्वजित् नामक यागका विधान है, किन्तु इस वाक्यमें फलका निर्देश नहीं। फल-श्रवणके विना चेतन व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, अतः) विधि श्रुतिके बलसे किसी फलकी कल्पना होनी चाहिए, (उसमें भी पशु-पुत्रादिको सभी नहीं चाहते अतः जिस फलको सभी चाहते हों उस फलकी कल्पना अपेक्षित है) वह स्वर्ग ही है, (क्यों कि स्वर्गको सभी चाहते हैं। निरतिशय प्रीति विशेष[3] तारतम्य-रहित सुख को स्वर्ग कहते हैं) वही विश्वजित यागका फल[4] है।

अध्ययन स्वाध्यायकी प्राप्तिरूप संस्कारके द्वारा अर्थ ज्ञानके कारण विधिके विना भी प्रमाणान्तर (अनुमान[5]) से सिद्ध ही है, उसके लिए विधि व्यर्थ है।

शंका— (जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' धानको कूटना चाहिए) इसे नियम विधि मानते हैं, क्यों कि अवघात (कूटने) का दर्श-पूर्णमासमें नियम किया गया है। अवघातसे तुषको निकालकर तण्डुलोंसे अपूर्व सिद्ध होता है, तण्डुल स्वरूपमें नियम नहीं। अन्यथा प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरका विरोध होगा।

---

१. दृष्टलाभादिति 'ख' पुस्तके पाठः।
२. मीमांसा शास्त्रमें अपूर्वविधि, नियमविधि तथा परिसंख्याविधि प्रसिद्ध हैं। उनमें प्रकृतमें परिसंख्याविधिका उपयोग नहीं है और दोनों विधियोंका भी निराकरण ग्रन्थकार ने किया है।
३. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥
४. सः स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् (जै० सू०) विश्वजित् यागमें फल के रूपसे कल्प्यमान पदार्थ स्वर्ग ही है। इसका विवेचन अध्याय ४, पा० २, अधि० ५ में देखना चाहिए।
५. विहितं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुः, अध्ययनत्वात्, काव्याध्ययन वत्, यह अनुमान का स्वरूप है।

तद्वदिहापि ज्ञानस्याध्ययनमन्तरेणापि दर्शनात् तत्स्वरूपे नियमासम्भवात् क्रत्वपूर्वेष्वेवाऽध्ययननियमो विधातव्यः—अधीतैरेव वेदैरवगतानि कर्माणि फलदानीति। न चैवं युक्तम्, अक्रत्वर्थत्वादध्ययनस्य अनारभ्याधीतत्वात्। श्रुत्याद्यभावाच्चाक्रत्वर्थत्वम्[1]। तस्माददृष्टार्थमेव स्वाध्यायाध्ययनमिति, अध्ययनमात्रादेव समाप्ते शास्त्रार्थे गुरुगृहात् समावर्तितव्यमिति प्राप्ते—

सिद्धान्तः

अभिधीयते—लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टपरिकल्पना।
विधेश्च नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति॥ ४॥

यदुक्तम्—ज्ञानस्वरूपे, क्रत्वपूर्वे वा न नियमः संभवतीति। तत्राभिधीयते—नोभयथापि ब्रूमः, कथं तर्हि? योऽयमग्निहोत्रादिष्वधीतवेदानां त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः, नाऽनधीतवेदानां शूद्राणामित्यधिकारनियमः, स प्रयोजनमध्ययनविधेः।

वैसे यहां भी ज्ञान तो अध्ययनके विना भी होता है। अतः ज्ञान स्वरूपमें नियमका होना संभव नहीं। अध्ययनसे प्राप्त वेदोंसे ज्ञात ही कर्म फल प्रद होते हैं। इस प्रकार क्रत्वपूर्वमें ही अध्ययन नियम विधानके योग्य है।

उत्तर—यह ठीक नहीं, (क्योंकि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें विषमता है अवघात प्रकरण पठित होनेके कारण क्रत्वर्थ क्रतुका अंग है।) अध्ययन तो क्रतुका अंग नहीं है। इसमें हेतु है अध्ययन किसी क्रतुके प्रकरणमें पठित नहीं, अतः अनारम्याधीत है (सामान्य विधिको अनारभ्याधीत कहते हैं) शंका-अनारम्यधीत पर्णताको भी क्रतुका अंग माना गया है, वैसे अनारभ्याधीत अध्ययन भी क्रतुका अंग हो सकता है?

उत्तर—पर्णतामें अंगत्वका बोधन वाक्यसे होता है 'पर्णमयी जुहुः' इस वाक्यमें दोनोंका सहोच्चारण है, अतः पर्णता क्रत्वर्थ है, अध्ययन नहीं है, क्योंकि अंगता बोधक श्रुति-लिंग आदिमें कोई प्रमाण नहीं। इसलिए अध्ययनको अपूर्व विधि या नियम विधि नहीं माना जा सकता। अतः वेदाध्ययन अदृष्टार्थ है, अध्ययन-मात्रसे शास्त्रार्थ समाप्त हो जाता है। ('अधीत्य स्नायात्' स्मृतिके अनुसार) गुरुगृहसे समावर्तन करना चाहिए (अर्थात् विषय-संशय आदि न रहनेके कारण मीमांसा शास्त्रका आरम्भ नहीं करना चाहिए। ऐसा पूर्व-पक्ष प्राप्त होने पर,

अब सिद्धान्त कहते हैं। श्लोकका अर्थ = जहाँ दृष्ट फल मिलता हो वहाँ अदृष्टकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। विधिका प्रयोजन नियम है। अर्थात् विधि नियमार्थ है। इसलिए पूर्व पक्षीने अध्ययन विधिका आनर्थक्य जो पूर्व पक्षमें कहा है, वह उचित नहीं।

जो यह कहा गया है—ज्ञानस्वरूप या क्रत्वपूर्वमें नियम नहीं हो सकता, वहाँ कहा जाता है—ये दोनों प्रकार हम नहीं कहते। तब क्या कहते हैं? (अर्थात् नियमका उपपादन आप कैसे करेंगे?)

उत्तर—अग्निहोत्र आदि विधिमें जो त्रैवर्णिक वेदाध्ययन किए हुए हैं, उन्हींका अधिकार है। जो अनधीत-वेद हैं शूद्रादिक, उनका अधिकार नहीं, ऐसा अधिकारका नियम करना यह अध्ययन विधिका प्रयोजन है। इसीका उपपादन 'तथा हि'से करते हैं। अध्ययन विधिके न

१. अक्रत्वर्थमिति 'ग' पुस्तके पाठः।

तथाहि— असत्यध्ययनविधावग्निहोत्रादिशास्त्राणि विद्वांसमलभमानान्यविद्वांसमेवाधिकृत्य विद्यामन्तरेणानुष्ठानासंभवाद्विद्यामाक्षिपन्त्य[1]ऽविशेषाच्चतुरो वर्णानधिकुर्युः। सति त्वध्ययनविधौ त्रैवर्णिकानामेव विदुषामधिकारो भवति, न तुरीयादेः[2]।

तथाहि—'वसन्ते ब्राह्मणमुनपयीत' ''ग्रीष्मे राजन्यम्' 'शरदि वैश्यम्' इति द्वितीयानिर्देशादुपनयनसंस्कृतास्त्रैवर्णिकाः 'किमस्माभिः कर्तव्यम्' इत्यपेक्षन्ते। तत्संनिधौ चाध्ययनमनिर्दिष्टकर्तृकं विधीयमानं कर्तारमपेक्षते। तत्रापेक्षा-संनिधि-योग्यत्वैरेवं विज्ञायते—त्रैवर्णिकैरेवोपनीतैरक्षरग्रहणेनाध्ययनादिपरम्परयाऽर्थज्ञानं कर्तव्यमिति। एवं च फलवदध्ययनकर्तृभूतमाणवकसंस्कारत्वादुपनयनमध्ययनाङ्गम्। अध्ययनमपि दृष्टार्थज्ञानार्थम्, अर्थज्ञानं त्वनुष्ठानौपयिकत्वात्प्रसिद्धफलकमेवेति सर्वेषां फलवत्त्वम्।

एवं च त्रैवर्णिकेषु विद्वत्सु लब्धेषु नाग्निहोत्रादिविधयश्चतुर्थवर्णस्य विद्यामाक्षिपन्ति, किं तु त्रैवर्णिकानेव विदुषोऽधिकुर्वन्ति। सोयमधिकारनियमोऽपशूद्राधिकरणे वक्ष्यमाणोऽध्ययनविधिप्रसादलभ्य इति फलवानेव विधिः। तेनार्थज्ञानावसानमध्ययनमध्ययनविधिना विधीयत इति, विचारमन्तरेण तदनुपपत्तेरध्ययनविधिरेव विचारमाक्षिपंस्तद्विरुद्धं स्मार्तं स्नानं बाधत इति सिद्धमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति।

रहनेपर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादि शास्त्र, विद्वान्को न पाकर, अविद्वान्का भी अधिकार बताएँगे। ज्ञानके विना कर्मानुष्ठान सम्भव न होनेसे ज्ञानका आक्षेप करते हुए, विशेषता न होनेसे चारों वर्ण अधिकारी हो जाएंगे। अध्ययन विधि होनेपर तो त्रैवर्णिक विद्वानोंका ही अधिकार होता है, तुरीय=चतुर्थ वर्णका नहीं, क्योंकि यहाँ आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि इन तीनोंसे यह ज्ञात होता है कि उपनीत त्रैवर्णिक हैं। वे अक्षर ग्रहणसे अध्ययन आदि द्वारा अर्थ ज्ञानका सम्पादन करें। जैसे कहा है—'वसन्त ऋतुमें ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करें, 'ग्रीष्म ऋतुमें क्षत्रियका, शरद् ऋतुमें वैश्यका' इस प्रकार इन ऊपर उद्धृत श्रुतियोंमें द्वितीया विभक्तिका निर्देश है। इससे उपनयन द्वारा संस्कृत त्रैवर्णिक यह चाहते हैं कि हमारा क्या कर्तव्य है। इन्हीं वाक्योंकी सन्निधिमें अध्ययनका विधान है। उसमें कर्ताका निर्देश नहीं, कौन करे? अतः वह कर्ताकी अपेक्षा रखता है। इस प्रकार अध्ययन अर्थज्ञान रूप प्रयोजनवान् है। उसके कर्ता माणवक हैं। उपनयन उनका संस्कार है। (अर्थात् माणवक संस्कार द्वारा अध्ययनका अंग हैं) अध्ययन भी अर्थज्ञान रूप दृष्ट प्रयोजनवाला है। अर्थज्ञान भी कर्मोंके अनुष्ठानमें उपयोगी है। इस प्रकार सभीकी फलवत्ता है।

उपर्युक्त प्रकारसे त्रैवर्णिक विद्वान् (कर्ता) के प्राप्त होनेके कारण, अग्निहोत्र आदि विधियां, चतुर्थ वर्णके प्रति ज्ञानका आक्षेप नहीं करतीं, किन्तु त्रैवर्णिक विद्वानोंको भी अधिकारी बनाकर विधियाँ निराकांक्ष हो जाती हैं। यह जो अधिकारका नियम है, वह अध्ययन विधिके प्रसादसे ही प्राप्त होता है। इस विषयका विवेचन—अध्याय ६, पा० १, अपशूद्र अधिकरण ७, में कहा जाएगा। अतः अध्ययन विधि फलवान् है। (केवल अध्ययनसे अर्थनिश्चय नहीं होता, अतः 'येन विना यन्न भवति तत् तेनाक्षिप्यते' जिसके विना जो अनुपपन्न हैं—विचारके विना केवल अध्ययनसे अर्थज्ञान नहीं होता, इसलिए अध्ययन विधि विचारका भी आक्षेप करती है। वह विचारका आक्षेप करते हुए, विचारके विरुद्ध 'अधीत्य स्नायात्' स्मृतिसे विहित स्मार्त स्नानका बाध कर देती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अध्ययनके बाद गुरुगृहमें रहकर, धर्म विचार करना चाहिए।

१, शत्रन्तमिदम्। २. न तुरीयस्येति 'ख' पुस्तके पाठः।

प्राभाकरमतस्यानुवादः

केचित्पुनराचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वमध्ययनस्याङ्गीकृत्य, किमाचार्यक[1]सिद्धिरेवाध्ययनस्य प्रयोजनम्? उतार्थज्ञानम्? इति विचार्य, अन्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमित्याहुः। किं पुनः कारणमाचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वेऽध्ययनस्य? अध्ययनविधेरधि[2]कारिशून्यत्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्त्या चात्मलाभे विश्वजिदादिवत् फलकल्पनानुपपत्तिः। कः पुनराचार्यकरणविधिः? कथं वा तेनाऽध्ययनस्य प्रयुक्तिः?

उच्यते— उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ (मनु०, अ० २, श्लो० १४)

(इस प्रकार ग्रन्थकार कुमारिल मतानुसार, पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा जिज्ञासा अधिकरणका निरूपण करके, प्रभाकर मतके अनुसार जिज्ञासा अधिकरणका निरूपण करते हैं 'केचित्' इत्यादि से। यहाँ 'केचित्' पदसे प्रभाकर मिश्र अभिप्रेत हैं। उन्होंने अध्ययन विधिको नहीं माना। अध्यापन विधिको ही माना है। अध्यापन विधिका ही दूसरा नाम आचार्यकरण विधि है। उसीसे अध्ययन प्राप्त हो हो जाता है। इसलिए जो अध्ययन विधि कही गई है, वह अनुवाद है, विधि नहीं है। अध्यापन विधि यह है—'माणवकमुपनीय अध्यापनेन अचार्यकं भावयेत्'=माणवकका उपनयनसे संस्कार कराकर, अध्यापनसे आचार्यत्वको प्राप्त करे। यहाँ अध्यापनमें कर्ता है आचार्य। माणवक अध्ययनमें कर्ता है। जब कोई माणवक पढ़ेगा नहीं, तब आचार्य कर्तृक अध्यापन नहीं बन सकता। इसलिए अध्यापनसे ही अध्ययन सिद्ध हो गया, अत: अध्ययनमें विधि नहीं है, किन्तु अनुवाद है)

अब अध्यापन विधिको लेकर यह विचार किया जाता है कि इस विधिका आचार्यत्व सिद्धि प्रयोजन है, अथवा अर्थज्ञान प्रयोजन है। इसमें पूर्व पक्ष है—आचार्यत्व सिद्धि ही प्रयोजन है। वह पाठ मात्रसे ही सिद्ध हो जाता है। अत: विचारशास्त्रकी आवश्यकता नहीं।

सिद्धान्त है—आचार्यत्व परगामी होनेसे बहिरंग है, अर्थज्ञान माणवकगामी होनेसे अन्तरंग है, इसलिए अन्तरंग होनेसे अर्थज्ञान ही अध्ययन विधिका प्रयोजन है। क्योंकि ('अन्तरङ्ग बहिरङ्गयोर्मध्ये, अन्तरङ्गं बलीय:' यह न्याय पांचवें अध्यायमें प्रसिद्ध है)।

शंका—क्या कारण है? आचार्यकरण-विधि (अध्यापन-विधि) से अध्ययनका आक्षेप होता है?

उत्तर—अध्ययन विधिमें अधिकारी नहीं है। अत: अध्यापन विधिसे अध्ययनका अनुष्ठान हो जाता है। अर्थात् अध्ययनका आत्मलाभ सिद्ध हो जाता है। इसलिए विश्वजित् यागमें जैसे फलकी कल्पना होती है, वैसे यहाँ कल्पना नहीं कर सकते। (इससे भाट्टमतके पूर्व पक्षमें जो कहा गया है, उसका निरास समझना चाहिए)।

प्रश्न—आचार्यकरण विधि किसे कहते हैं? और उससे अध्ययनका अनुष्ठान कैसे होता है?

उत्तर—मनुस्मृतिमें यह श्लोक है (मूलमें देखिए)

---

१. 'योपधात् गुरुपोत्तमादुञ्', ५।१।१३२, इति पाणिनिसूत्रेण भावार्थे उञ् बोध्यः।
२. अधिकारशून्यत्वादिति 'ख' पुस्तके पाठः।

इति स्मृत्यनुमितः—'उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं कुर्यात्' इत्याचार्यकरणविधिः। अत्र चाध्यापनमाचार्यत्वसाधनम्, उपनयनं तु क्त्वाप्रत्ययात्तस्यैवाङ्गम्। तच्च केन द्वारेणाध्यापनस्योपकरोतीत्यपेक्षायाम्—उपनेयासत्तिरेवास्य द्वारमङ्गीक्रियते लिङ्गात्। तदुपनेयोऽपि नाऽकिंचित्करोऽङ्गमिति, तद्व्यापारापेक्षायामुपनयनं प्रक्रम्य विहितमध्ययनमध्यापनोपकारित्वादुपनीतस्य व्यापारत्वेनाध्यवसीयते। तदेवं स्वाङ्गभूतमुपनयनं प्रयुञ्जानोऽध्यापनविधिस्तद्द्वारेणाध्ययनं प्रयुङ्क्ते।

प्राभार मतस्यानुवादः

तदिदमनुपपन्नम्—तथाहि–नियोगार्थस्याध्ययनस्याचार्यकप्रयोजनता, अर्थज्ञानप्रयोजनता वा न शक्यते शास्त्रेण बोधयितुम्, साध्यद्वयस्यैकत्रासंभवात्। नियोगार्थतैव शास्त्रेण बोध्यते, अर्थज्ञानार्थतायां त्वनुज्ञामात्रमिति चेत्? तथाप्यर्थद्वयं स्यादेव।

किं चैवं सकृदुच्चरितस्य लिङ्प्रत्ययस्य विध्यर्थत्वम्, अनुज्ञार्थत्वं चेति वैरूप्यमपि स्यात्, तेन संशय एवानुपपन्नः।

इस स्मृतिमें अनुमित (कल्पित) 'माणवकमुपनीया ध्यापनेनाचार्यकं कुर्यात्' यह आचार्यकरण विधि है। इसमें अध्यापन आचार्यत्वका साधन है। उपनयन तो क्त्वा प्रत्ययसे अध्यापनका ही अंग है। वह किस प्रकारसे अध्यापनका उपकारक है? ऐसी आकांक्षा होनेपर, उपनेयासत्ति (गुरुसमीपमें रहना) का द्वार माना जाता है, सामर्थ्य से। गुरु समीपमें जाकर वह माणवक भी यदि कुछ नहीं करता है, तब वह अंग नहीं हो सकता। इसलिए माणवककी यह आकांक्षा होती है—मेरा क्या कर्तव्य है। इस आकांक्षासे उपनयनका आरम्भकर, विहित अध्ययन, अध्यापनका उपकारक होनेके कारण, अध्ययन ही उपनीतका व्यापार है, यह निश्चय किया जाता है। इस प्रकार अपने अंग उपनयनका अनुष्ठान करते हुए उसके द्वारा अध्ययनका भी अनुष्ठान करा देता है, (अतः पाठ मात्रसे अध्यापन सिद्ध होनेके कारण विचारशास्त्रका आरम्भ नहीं करना चाहिए, यह प्रभाकर मतसे पूर्वपक्षका अनुवाद है)।

इसका निरास करते हैं 'तदिदमनुपपन्नम्' इत्यादिसे। इसका यह तात्पर्य है कि प्रभाकर मीमांसकोंके मतमें सभी विधि वाक्योंमें लिङ्का वाच्य (लिङर्थ) अपूर्व होता है। अपूर्व, कार्य, नियोग ये पर्याय हैं। इसका विवेचन द्वितीय सूत्रमें किया जाएगा। अब यह विचार है अध्यापन विधिका पूर्व पक्षमें या सिद्धान्तमें अपूर्व एक साध्य है, यह तो निश्चित है, इसलिए जिसका नियोग प्रयोजन है, उसका आचार्यत्व भी प्रयोजन है, अर्थज्ञान भी प्रयोजन है, इस प्रकार शास्त्रसे बोध नहीं कर सकते, क्योंकि एकमें दो साध्य नहीं होते।

शंका—यदि कहा जाए—अध्यापन विधिरूप शास्त्र, नियोगका ही बोधन कराता है, अर्थज्ञानके विषयमें अनुज्ञामात्र देता है, तो क्या दोष है? अर्थात् फिर तो उपर्युक्त दोष लागू नहीं होता।

समाधान—फिर भी दो प्रयोजन तो अवश्य सिद्ध होंगे ही। और सुनिए, एकबार उच्चारण किए हुए लिङ् प्रत्यय का, विध्यर्थत्व तथा अनुज्ञार्थत्वरूप वैरूप्य भी होगा। इसलिए (प्राभाकर मतमें) संशय ही अनुपपन्न है।

तथा सिद्धान्तोप्यनुपपन्न एव—प्रमाणान्तरसिद्धत्वादर्थज्ञानार्थत्वं न शास्त्रगोचरतामनुभवतीति।

तत्र यदेवास्मदभिप्रेतं विधेर्नियमार्थत्वं महता प्रयत्नेन भवद्भिर्दूषितम्, तदेव भवद्भिरपि मुक्तलज्जैरनन्यगतिकत्वादाश्रयणीयमापन्नम्। नियमानङ्गीकारे च पूर्वपक्ष एव श्रेयानापद्यते। आचार्यत्वस्यादृष्टत्वेन प्रयोजनतोपपत्तेः। अर्थज्ञानार्थत्वे चाध्ययनं स्वाध्यायसंस्कारः, नियोगार्थत्वे तु प्रधानकर्मेति वैरूप्यमपि स्यात्।

अर्थाज्जातमर्थज्ञानं प्रयोजनं न शास्त्रत इति चेत्? आचार्यत्वमपि प्रयोजनं न स्यात, तस्याप्यर्थाज्जातत्त्वात्। स्मृतिबाधेन च स्नानोत्कर्षो न स्यात्, अशास्त्रस्वीकृतत्वाद्विचारस्य।

प्राभाकरमतेन शङ्कानिरासौ

किंच—नियोज्यः कल्पनीयोऽत्र विध्यर्थानुपपत्तितः।
न चोपनयनस्याङ्गभावोस्त्यध्यापनं प्रति ॥ ५ ॥

इसी प्रकार सिद्धान्त भी अनुपपन्न ही है। जिस बातको हम (भाट्टमीमांसकों) ने कहा है, अर्थात् अर्थज्ञान शास्त्रका विषय नहीं है, क्योंकि प्रमाणान्तर सिद्ध होनेके कारण। (यह अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है)

हम लोगोको जो अभिप्रेत हैं नियमविधि, उसका आपने बड़े प्रयत्नसे खण्डन किया है। उसीको अन्तमें अनन्य गतिक होकर लज्जाको त्यागकर, आपको मानना पड़ा। बल्कि नियमको न माननेपर आपका पूर्व पक्ष ही श्रेयस्कर ठहरता है। क्योंकि आचार्यत्व अलौकिक होनेसे अदृष्ट है। इसके प्रयोजन होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं। और यदि अध्ययनको अर्थज्ञानके लिए मानते हैं, तो उस पक्षमें अध्ययन स्वाध्यायको (प्राप्तिरूप) संस्कार होगा। नियोगार्थ पक्षमें अध्ययनको प्रधानकर्म मानना होगा; अतः एकही अध्ययन, संस्कार कर्म और प्रधान कर्म दोनों हो जाएगा अर्थात् विरूपता दोष लगेगा।

शंका—(अर्थज्ञान अध्ययन विधिका प्रयोजन माननेपर यह दोष लगेगा, किन्तु ऐसा हम कहते नहीं कि दोनों प्रयोजन हैं। हम तो कहते हैं कि) अर्थज्ञान अर्थात् = अर्थतः प्रयोजन है, शास्त्रसे नहीं। ऐसा कहनेपर आचार्यत्व भी पूर्व पक्षमें प्रयोजन नहीं हो सकेगा। क्योंकि उसको भी अर्थतः हम मान सकते हैं। (इसलिए प्राभाकर मतमें संशय, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त नहीं बन सकते)।

और सुनिए—अध्यापन विधिको मानकर विचारशास्त्र-आरम्भका समर्थन भी आप नहीं कर सकते, क्योंकि आपने कहा है—अपूर्व ही शाब्द प्रयोजन है। अर्थज्ञान है अर्थतः। इसलिए विचार भी अर्थतः प्राप्त होगा। अर्थात् शास्त्र सम्मत नहीं होगा। तब 'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिको बाधकर, स्नानका उत्कर्ष भी नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार अध्यापन विधि प्रयुक्त न होनेके कारण समावर्तनका उत्कर्ष नहीं हो सकता। अतः प्राभाकर मीमांसकोंके विचारसे मीमांसाशास्त्र आरम्भका समर्थन नहीं हो सकेगा।

(अबतक अध्यापन विधिको मानकर, उसका निराकरण किया। अब नियोज्यकी कल्पना करके अध्ययन विधि बन सकती है, अतः अध्यापन विधिका होना सम्भव नहीं। इसीको) 'किंच' इत्यादिसे कहते हैं—

श्लोकका अर्थ—अध्ययन विधिमें नियोज्यका श्रवण नहीं है, यह जो पूर्व पक्षीने कहा था, वहाँ विध्यर्थकी अनुपपत्तिसे अध्ययन विधिमें नियोज्यकी कल्पना हो जाएगी। तब अध्ययन विधि

द्वितीयाश्रुतिसामर्थ्यात्सा माणवकसंस्क्रिया ।
तथा सत्यन्तरङ्गत्वादङ्गमध्ययनस्य तत् ॥ ६ ॥

यत्तावन्नियोज्याभावादऽप्रयोजकत्वमध्ययनविधेरिति, तदयुक्तम्, अभावासिद्धेः, अश्रुतस्यापि विश्वजिदादिवत् कल्पनात् । कार्यं हि विध्यर्थः, संबन्धिशब्दश्चायं कार्यमिति, कस्यचिद्धि किंचित् कार्यं भवति न सर्वं सर्वस्य, अतः कस्येदं कार्यमित्यस्ति सम्बन्ध्यपेक्षा, साऽवश्यमध्याहृतेन केनचिन्निवर्तनीया-अस्येदं कार्यमिति । यस्येदं कार्यं स एव नियोज्य इत्युच्यते ।

यद्यपि कथंचित् परप्रयुक्तानुष्ठानादेवात्मलाभः स्यात्, तथापि न तावता कार्यत्वं सिध्यति । न हि कृतिसाध्यतामात्रं कार्यत्वम् । किं तर्हि ? यत्कृतिसाध्यम्, कृतिं

हो सकती है । अध्यापन विधि नहीं । और उपनयन अध्यापनका अंग नहीं हो सकता । किन्तु वह उपनयन 'ब्राह्मणं' इस द्वितीया विभक्तिके सामर्थ्यसे माणवकका संस्कार सिद्ध होता है । इसलिए उपनयन अन्तरंग होनेसे अध्ययनका ही अंग है, अध्यापनका नहीं ।

अब श्लोकके पूर्वार्धको स्पष्ट करते हैं—यह जो कहा गया है कि नियोज्यका श्रवण न होनेसे अध्ययन विधि नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं, नियोज्याभावकी असिद्धि होनेके कारण । अर्थात् अध्ययन विधिमें नियोज्य (कर्ता) का श्रवण न होनेपर भी 'विश्वजित्' न्यायसे अर्थज्ञान चाहनेवाले माणवककी कल्पना करते हैं । ('अर्थज्ञानकामः अधीयीत इति' जो अर्थ ज्ञान चाहता है; वह अध्ययन करे) यहाँपर विधिका अर्थ है कार्य । 'कार्य' शब्द तो सम्बन्ध शब्द है । क्योंकि किसीका कुछ कार्य होता है । सभीके सब कार्य नहीं होते । अतः किसका यह कार्य है, ऐसे सम्बन्धीकी अपेक्षा होती है* । अतः विधिसे कार्य ज्ञात होता है । यह किसका कार्य है ? ऐसी सम्बन्धीकी आकांक्षा होती है । वह श्रुतपदसे शान्त हो जाती है । जहाँ श्रवण नहीं है, वहाँ अध्याहार करके 'यह इसका कार्य है' ऐसा निश्चय कर लिया जाता है । (प्रकृतमें अध्ययन विधिमें नियोज्यका श्रवण न होनेसे उसका 'विश्वजित् न्यायसे' अध्याहार करेंगे) जिसका यह कार्य है, वही नियोज्य कहलाता है ।

यद्यपि दूसरेसे भी अध्ययनका अनुष्ठान सिद्ध होता है, तथापि उतनेसे कार्यत्व सिद्ध नहीं होगा । केवल कृति साध्यको कार्य नहीं कहते । शंका—तब किसको कहते हैं ? उत्तर—जो कृति साध्य है तथा कृतिका उद्देश्य भी है, उसीको कार्य कहते हैं§ इस प्रकार जो कृति साध्य है

---

*. यह प्राभाकर मीमांसकोंका सिद्धान्त है । ऊपर उद्धृत वाक्यमें 'यह इसका कार्य है' इससे कार्यको विषय नियोज्य सिद्ध होते हैं । जैसे ज्ञान आश्रय और विषय दोनोंसे निरूपित होता है, वैसे विषय और नियोज्य इन दोनोंसे कार्यका निरूपण होता है । विषय तो धात्वर्थ होता है, और नियोज्य कर्ता होता है । यही बात 'कस्यचिद्धि किञ्चित्कार्यं भवति' इस वाक्यसे कही गई है ।

§. जैसे कि कहा गया है—'कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत्कार्यमभिधीयते' इति । यहाँ कृतिसाध्य मात्रको कार्य कहनेसे यागादि धात्वर्थ भी कार्य होने लगेंगे । उसका वारण करनेके लिए कृतिके प्रति प्रधान भी होना चाहिए, यह कहना पड़ेगा । इतना कहनेपर स्वर्गादि फल भी कार्य होने लगेगा इसका वारण करनेके लिए 'कृतिसाध्य' भी कहना होगा ।

प्रति प्रधानभूतञ्च, तत् कार्यमित्युच्यते। प्राधान्यं च कृतेस्तदुद्देश्येन प्रवृत्तिः, ततश्चाध्ययननियोगेन कार्येण भवताऽवश्यं पुरुषव्यापारोद्देश्येन भवितव्यम्।

न चाऽसति नियोज्ये तदुद्देशेन कश्चित्प्रवर्तेत। अध्यापनविधिना हि प्रवर्त्यमानो माणवकः कथंचिदध्ययनमात्रमनुतिष्ठेत्, नत्वपूर्वमुद्दिशेत्। न हि तस्य तदुद्देश्यम्, प्रमाणाभावात्। प्रयाजाद्यपूर्वाणि दर्शपूर्णमासाऽपूर्वोपकारित्वात् तदधिकृतेन पुरुषेण तत्सिद्ध्यर्थमुद्दिश्य क्रियमाणानीति युक्तम्, यदसत्यपि साक्षान्नियोज्योपादाने कार्यत्वं लभन्ते। अध्ययननियोगस्य तु नान्यौपयिकत्वम्, यतस्तद्रूपेणोद्देश्यता स्यात्?। अर्थज्ञानस्य च नियमफलत्वेन नियोगाऽनपेक्षत्वात्।[1] तस्मादस्य कार्यत्वसिद्धयेऽवश्यं नियोज्यः कल्पनीयः।

यच्चाध्यापनविधेरुपनयनद्वारमध्ययनप्रयोजकत्वमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, उपनयनप्रयुक्तेरेवाभावात्। तद्द्वारेणाध्यापनप्रयुक्तिर्दूरापास्ता। क्त्वाप्रत्ययेन हि समानकर्तृकत्वमेवोच्यते तेन चैकप्रयोगता कल्प्यते, अङ्गाङ्गिभावस्त्वेकप्रयोगतावशात्[2] कल्पनीयः।

तथा कृतिका उद्देश्य भी है, वही कार्य प्रकृतमें अभिप्रेत है। इससे अध्ययन-नियोग रूप कार्यको पुरुष व्यापारका उद्देश्य मानना चाहिए।

ऐसा नियोज्य न होनेपर, कोई भी प्रेक्षावान् पुरुष उसके उद्देश्यसे प्रवृत्त न होगा। अध्यापन विधिसे प्रवृत्त होनेवाला माणवक किसी प्रकारसे अध्ययन ही करेगा। अपूर्वको उद्देश्य नहींकर सकता, क्योंकि उसका वह उद्देश्य है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

शंका—जैसे प्रयाजादि जन्य अपूर्व दर्शपूर्णमासापूर्वमें उपकारक होता है, इसलिए दर्शपूर्णमासमें अधिकारी पुरुष ही प्रधानापूर्व सिद्धिके लिए प्रयाजादि अपूर्वको भी कर देता है। इसलिए यह ठीक है कि प्रयाजादिमें साक्षात् नियोज्यका ग्रहण न होनेपर भी कार्य हो जाता है।

समाधान—अध्ययन नियोग दूसरेका साधन नहीं, यदि होता तो उस रूपसे उद्देश्य बन सकता था। (अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य है) अर्थज्ञान नियमका फल है। वह अपूर्वकी अपेक्षा नहीं करता। इसलिए उसके कार्यत्व सिद्ध होनेके लिए अवश्य ही (अध्ययन विधिमें) नियोज्यकी कल्पना करनी पड़ेगी (अतः अध्ययन विधिमें अर्थज्ञान कार्यको नियोज्य मानकर, अध्ययन विधि उपपन्न हो सकती है। इससे अधिकारी शून्यता हेतु का खण्डन करके, अध्यापन विधिका निरास किया गया है) अब उत्तरार्धकी व्याख्या करते हैं—

यह जो कहा गया है—अध्यापन विधि उपनयनके द्वारा अध्ययनका प्रयोजक (अनुष्ठापक) होती है, वह भी अनुपपन्न है। क्योंकि अध्यापन विधि उपनयनकी ही अनुष्ठपिका नहीं है। उपनयनके द्वारा अध्यापनसे अध्ययनका अनुष्ठान दूरसे निरस्त है। (अर्थात् अध्ययनके अनुष्ठानका खण्डन हुआ) 'उपनीय' स्मृतिमें 'त्वा' प्रत्यय समानकर्तृकत्वको कहता है। (क्यों कि पाणिनिका यह सूत्र है 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इससे समान कर्तृकत्वरूप अर्थमें 'त्वा' प्रत्ययका विधान है) अध्यापन उपनयन दोनोंमें समान कर्तृकत्व (एक कर्ता) होनेके कारण, एक प्रयोगकी कल्पना होती है। इससे अध्यापन-उपनयन दोनोंके अंगांगिभावकी कल्पना करनी पड़ेगी।

---

१. नियोगापेक्षत्वादिति 'क' पुस्तके पाठः। २. तद्वशादिति 'ख' पुस्तके पाठः।

द्वितीयया तु साक्षादङ्गित्वमेवोच्यते, अतो यथा 'त्रिवृता यूपपरिव्याणं यूपार्थम्' नोपाकरणार्थम्' एवमुपनयनमपि माणवकसंस्कारार्थम्, नाध्यापनार्थम्। स्मृतिगतश्च क्त्वाप्रत्ययः। प्रत्यक्षवेदगता तु 'वसन्ते ब्राह्मणम्' इति द्वितीया। अतोपि माणवकार्थत्वम्।

भवतु माणवकसंस्कारस्तद्द्वारेण त्वध्यापनाङ्गं नाध्ययनाङ्गमिति चेत्? मैवम्, अन्तरङ्गत्वादध्ययनस्य। तादर्थ्यमेव संस्कारस्य युक्तम्। अध्ययनमपि फलवद्, अध्यापनमपि, तयोः कस्यायं माणवकसंस्कारोऽङ्गं भवतु-इत्यपेक्षायामध्यापनस्य पुरुषान्तरगामित्वेन बहिरङ्गत्वात्, माणवकगताध्ययनार्थत्वमेव युक्तम्। यथैव ह्यध्ययनस्याऽऽचार्यकसिद्धिप्रयोजनतामनादृत्य 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति स्मृतिं बाधित्वा, अन्तरङ्गत्वादर्थज्ञानार्थतैवाऽऽश्रीयते, तथोपनयनस्याप्यध्ययनार्थता वेदितव्या।

स्मरणादपि पाणिनीयादध्ययनाङ्गतैवोपनयनस्यावगम्यते[1]। अध्ययनाङ्गतां हि स्मरन्नाचार्यकरणे नयतेरात्मनेपदं विधत्ते। अध्यापनाङ्गत्वे हि कर्त्रभिप्रायत्वात् क्रिया-

अब तीसरे अर्धं श्लोककी व्याख्या करते हैं। यहां तो 'ब्राह्मणं' इस वाक्यमें द्वितोया विभक्तिसे साक्षात् अंगित्व कहा जाता है। स्मृतिसे श्रुति प्रबल है, अतः उपनयन अध्ययनका अंग है। अध्यापनका नहीं। (इसमें इसी अर्थका श्रौत दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं,) जैसे त्रिवृत रशनासे यूपका वेष्टन किया जाता है, वह यूपकी मजबूतीके लिए है। उपाकरण (पशुसंस्पर्श)-के लिए नहीं। इसी प्रकार उपनयन माणवक संस्कारके लिए है, अध्यापनके लिए नहीं। स्मृतिमें 'त्वा' प्रत्यय है। 'वसन्ते ब्राह्मणमिति' द्वितीया प्रत्यक्ष वेद गत है। इसलिए भी उपनयन माणवकके लिए है। (अध्यापनके लिए नहीं, यह बात कह चुके हैं)

शंका—उपनयन माणवकका संस्कार है। उसके द्वारा अध्यापनका अंग है। किन्तु अध्ययनका अंग नहीं, ऐसा क्यों न माना जाए?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अध्ययन माणवकगामी होनेसे अन्तरंग है। इसीलिए उपनयन अध्ययनका अंग है। प्रकृतमें अध्ययन भी फलवत् है। अध्यापन भी फलवत् है। तब यह उपनयन दोनोंमें किसका अंग हो? यह जिज्ञासा होने पर, अध्ययन माणवकगत है। उपनयन भी उसीका अंग होना चाहिए, अन्तरंग होनेके कारण, अध्यापनका नहीं। पुरुषान्तरगामी होनेसे वह बहिरङ्ग है। जैसे अध्ययनका आचार्यत्व सिद्धि प्रयोजन है, यह न मानकर 'वेदमधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिको बाधकर, अन्तरंग होनेके कारण, अर्थ ज्ञानार्थत्व ही माना जाता है। उसी प्रकार उपनयन अध्ययनका ही अंग है, ऐसा समझना चाहिए।

शंका—पाणिणिके सूत्रसे भी उपनयन अध्ययनका अंग है यह ज्ञात होता है। इसी आशयसे आचार्य करण अर्थमें 'नीञ्' धातुका आत्मने पदमें विधान किया है 'आत्मनेपदं विधत्तेसे' यद्यपि 'नीञ्' धातुके 'ञित्व' होनेके कारण 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' सूत्रसे, क्रियाफल कर्तृगामि होनेसे आत्मनेपद सिद्ध होता है। क्रियाफल अन्यगामी होनेपर भी आत्मनेपदके लिए पुनः आत्मनेपदका विधान पाणिनिका सार्थक होता है, 'सम्मानन' इत्यादिसे। अतः अध्यापनका अंग माननेपर यह पुनर्विधान व्यर्थ हो जाएगा।

१. सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः। (पा० सू०, १।३।३५)

फलस्य ञित्वादेवात्मनेपदं सिद्ध्येत्। 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इति क्त्वाप्रत्ययो हि कथंचित् 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा' इतिवदसत्यप्यङ्गाङ्गिभावेऽवकल्पते। पुनर्विधानं चात्मनेपदस्यात्यन्तानर्थकम्। तस्मादध्ययनाङ्गमुपनयनं स्यात्।

न[1] तु स्यात्, तज्जन्यः संस्कारो हि माणवकसमवायी। सत्यम्, माणवकसमवेतोऽपि न तदर्थः, कर्त्रर्थत्वं च फलस्य कर्त्रभिप्रायत्वम्, न तु तत्समवायः। अन्यथा हि 'अग्नीनादधीत' इत्यात्मनेपदं न स्यात्, आधानफलस्याऽऽहवनीयत्वादेरग्निसमवेतत्वेन कर्तृसमवायाऽभावात्। इयं च स्मृतिः—'उपनीय तु यः शिष्यम्' इति, अतो बलीयसी द्वितीयाश्रुतिः। तस्मान्नाध्यापनाङ्गमुपनयनमिति—न तद्द्वारेणाध्यापन[2]स्य प्रयुक्तिः।

यच्च 'उपनीतस्य व्यापारापेक्षायामुपनयनं प्रक्रम्य विहितमध्ययनं तद्व्यापारत्वेनाध्यवसीयते' इति, तदप्यबुद्धिपूर्वकम्—एवं हि वदताऽध्यापनाङ्गमध्ययनमित्युपपादितं भवति। यदा ह्यध्यापनार्थत्वेनोपनीतस्य माणवकस्य तदुपयोगिव्यापारापेक्षायामध्ययनविधिरध्ययनं तदुपयोगिव्यापारतया विधत्ते—त्रैवर्णिकैरुपनीतैरध्यापनौपयिकव्यापारापेक्षैरध्ययनव्यापारः कर्तव्य इति तदापि स्पष्टमेवाध्यापनशेषोऽध्ययनमिति, दूरनिरस्तमर्थज्ञानार्थत्वमिति सुनिरूपितो वाक्यार्थः।

उत्तर—पाणिनीय सूत्रसे भी अध्यापनांगत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इसमें 'त्वा' प्रत्यय अंगांगिभावका बोधक नहीं। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा' दर्शपूर्ण मास यागकरके, सोमयाग करना चाहिए। इसकी तरह अंगांगि भावके विना भी उपपन्न होता है। प्रकृतमें तो अंगांगि भाव नहीं है (तब आत्मनेपद अनर्थक होगा, अतः उपनयन अध्ययनका अंग है।

शंका—नहीं होगा अर्थात् उपनयन अध्ययनका अंग नहीं है, क्योंकि उपनयन-जन्य संस्कार माणवकसमवायि होगा)

उत्तर—ठीक है, माणवक समवेत होने पर भी माणवकार्थ नहीं। कर्त्रभिप्रायका अर्थ है कर्तृगामी होना चाहिए। कर्तृसमवाय नहीं। नहीं तो 'अग्निनादधीते' इस स्थलमें भी आत्मनेपद नहीं होगा। क्यों कि आधानका फल आहवनीयत्व सिद्धि है। यह अग्निमें रहता है। कर्तामें नहीं। अतः पर गामी होने पर भी आत्मने पदका पुनर्विधान निरर्थक न होकर सार्थक है*। और यह स्मृति है 'उपनीय तु यः शिष्यम्'इत्यादि। अतः 'वसन्ते ब्राह्मणम्' यह द्वितीया श्रुति प्रबल है। इसलिए उपनयन अध्ययनका अंग है, अध्यापनका अंग नहीं। उपनयनके द्वारा अध्ययन का अध्यापनसे अनुष्ठान नहीं हो सकता।

पूर्व पक्षीने यह जो कहा—उपनीतके व्यापारकी आकांक्षा होनेपर, उपनयनको लेकर, विहित अध्ययन उसका व्यापार है, यह निश्चय किया जाता है। यह भी अबुद्धि पूर्वक है। क्योंकि इस प्रकार कहनेवालेके द्वारा, अध्यापनका अंग अध्ययन है, ऐसा उपपादित होता है। जब अध्यापनके लिए उपनीत माणवकके उपयोगी व्यापारकी आकांक्षा होती है, तो अध्यापन विधि अध्ययनको उसके उपयोगी व्यापारके रूपमें विधान करती है। अर्थात् जो त्रैवर्णिक उपनीत हैं, जो अध्यापनके उपयोगी व्यापारको चाहते हैं, अध्ययनरूपी व्यापार उनका कर्त्तव्य है। इस पक्षमें भी यह स्पष्ट है कि अध्ययन अध्यापनका अंग है। तब अर्थज्ञान प्रयोजन है, यह दूर निरस्त हो जाता है। (इस प्रकार उपहास करते हैं कि आपने) अच्छा वाक्यार्थ निरूपण किया।

---

*. यों वृत्तिकारने कहा है 'अकर्त्रभिप्रायार्थः' पुनरारम्भ इति।

१. न स्यादिति 'ख' पुस्तके पाठः। २. अध्यापनस्येति 'ख' 'ग' पुस्तकयो पाठः।

अथाऽध्ययनविधिरध्ययनमर्थज्ञानार्थतया विधत्ते, नाध्यापनौपयिकतया तदाऽऽस्थ[1]—अध्ययनस्य तदौपयिकत्वं केन प्रमाणेन गम्यते ? न ह्यत्र प्रत्यक्षादीनि क्रमन्ते। संनिधानादिति चेत् ? न संनिधानं नाम स्वयं प्रमाणं शब्दस्य त्वर्थं प्रतिपादयतः संनिध्यपेक्षायोग्यत्वानीतिकर्तव्यता नेत्रस्येवोन्मीलनम्। शब्दश्चेदध्यापनौपयिकतयाऽध्ययनं विदध्यात्। नार्थज्ञानार्थता सिद्ध्येत्। अर्थज्ञानार्थतया विधानेऽध्यापनौपयिकता न सिद्ध्येत्। अतो नोपनयनसंनिधौ 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति विहितस्याध्ययनस्योपनयनद्वाराऽध्यापनविधिना प्रयुक्तिसंभवः।

यदि परमध्यापनस्याध्ययनमन्तरेणासंभवात् पदार्थस्वभावेनाध्ययनमाक्षिप्यते, तथा सत्यविहितेन लौकिकेनाध्ययनेन तत्संभवान्न विहितस्याध्ययनस्य नियोगतस्तत्प्रयुक्तिः। न च प्रयुक्तिलाघवादपि विहितोपजीवनम्। तदुपजीवनेऽपि प्रयुक्त्यनवलोपात्। विहितमप्यध्ययनमध्यापनविधिनैव त्वन्मते प्रयुज्यते, न स्वविधिना। तस्माल्लौकिकमेवाध्ययनमुपनीतानामध्यापनविधिराक्षिपेत्। विधिविहितमध्ययनं परप्रयुक्त्यभावादधिकारं प्रकल्पयेत्।

शंका—अध्ययन विधि अध्ययनका अर्थज्ञानके लिए विधान करती है, अध्यापनके लिए नहीं। यदि यह कहोगे तो बताइए कि अध्ययन अध्यापनका साधन है, यह किस प्रमाणसे ज्ञात होता है ? यहाँ प्रत्यक्षादिक तो प्रवृत्त होंगे नहीं।

उपनयन विधिकी समीपतासे अध्ययन अध्यापनका अंग है, ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि 'सन्निधान' कोई स्वयं प्रमाण नहीं होता। किन्तु शब्द तो अर्थका प्रतिपादक है। उसके सन्निधि आकांक्षा, योग्यता ये तीनों इतिकर्तव्यता (सहकारी) कारण होते हैं, जैसे नेत्रोंका उन्मीलन। (अर्थात् जैसे नेत्रोंका उन्मीलन चक्षुका सहकारी कारण होता है, उसके समान समझना) यदि शब्द अध्यापन साधनत्वेन अध्ययनका विधान करेगा, तो अर्थज्ञान प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। यदि अर्थज्ञानके लिए अध्ययनका विधान मानें तो, अध्यापनका साधन नहीं बनेगा। अतः उपनयन सन्निधिमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्यसे विहित अध्ययनका, उपनयनके द्वारा अध्यापन विधिसे अनुष्ठानका होना सम्भव नहीं।

शंका—यदि कहो कि अध्ययनके विना अध्यायन नहीं बन सकता, अतः पदार्थके स्वभावसे ही अध्ययनका आक्षेप होता है। समाधान—ऐसा कहनेपर अभिहित लौकिक अध्ययनसे अध्यापन सम्भव होनेके कारण, नियमसे विहित अध्ययनका ही अनुष्ठान नहीं होगा।

शंका—प्रयुक्ति (अनुष्ठान) के लाघवसे भी विहित अध्ययनको ही लेना चाहिए।

उत्तर—विहितको लेनेपर भी अनुष्ठानकी हानि नहीं। और आपके मतमें विहित अध्ययन भी अध्यापन विधिसे ही प्रयुक्त होता है, स्व-विधिसे नहीं। इसलिए अध्यापन विधि उपनीत माणवकोंके लिए लौकिक अध्ययनका ही आक्षेप करेगी। विहित अध्ययन तो दूसरेसे अनुष्ठान न होनेके कारण अधिकार (अर्थज्ञान) की कल्पना करेगा।

---

१. तदाह्यध्ययनस्येति 'क' पुस्तके पाठः।

किं च यद्युपनयनमध्यापनाङ्गम्, ततोऽध्ययनविधिरर्थज्ञानार्थः सन्नाध्यापनार्थतयोपनीतैस्त्रैवर्णिकैः संबध्येत, येऽध्यापनार्थतयोपनीतास्त्रैवर्णिकास्तदुपयोगिव्यापारमपेक्षन्ते, तेऽर्थज्ञानार्थमधीयीरन् —इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। ततश्चोपनीतैरसम्बध्यमानोऽध्ययनविधिश्चतुर्णामपि वर्णानां स्यादिति, शूद्राधिकारप्रसङ्गः। तस्मादुपनीतानां प्रयोजनापेक्षिणामध्ययनकरणिकाऽर्थज्ञानभावना विधीयते इत्यध्ययनाङ्गमेवोपनयनम्, स्वविधिप्रयुक्तं[1] चाध्ययनम्। प्रपञ्चेनायं पक्षो न्यायरत्नमालायामेव निरस्तः, इत्युपरम्यते। तस्मात् पूर्वोक्त एव विचारः—किमदृष्टार्थमध्ययनम्, उताऽक्षरग्रहणादिपरम्परयाऽर्थज्ञानार्थमिति।

नावमिकेनाधिकरणेन अस्य विचारस्य गतार्थत्वप्रतिपादनम्।

अथ वा नात्र किञ्चिद्विचार्यते-नावमिकन्यायेनैवाध्ययनस्याक्षरसंस्कारादिपरम्परयाऽर्थज्ञानार्थत्वसिद्धेः। नवमे हि—साम्नामृगक्षराभिव्यक्तिद्वारेण स्तुत्युपयोगित्वदर्शनात् तादर्थ्यमेव, नाऽदृष्टार्थत्वमिति वक्ष्यते। तेनैव न्यायेनाध्ययनस्यार्थज्ञानार्थत्वसिद्धेरध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धमेवैतत्प्रयोजनविवक्षया सूत्रकारेणोच्यते।

और भी—यदि उपनयन अध्यापनका अंग हो, तो अध्ययन विधि अर्थज्ञानके लिए होकर, अध्यापनके लिए उपनीत त्रैवर्णिकोंसे सम्बन्धित होगी। जो अध्यापनके लिए उपनीत त्रैवर्णिक हैं, वे उसके उपयोगी व्यापारकी अपेक्षा (इच्छा) करते हैं। वे अर्थज्ञानके लिए अध्ययन करें, यह असम्बद्ध होगा। इससे उपनीत त्रैवर्णिकोंसे असम्बद्ध अध्ययन विधि चारों वर्णोंके लिए समान होगी, अतः शूद्रके अधिकारका प्रसंग होगा।

इसलिए जो उपनीत हैं, जो प्रयोजन चाहते हैं, उनके लिए अध्ययन कर्णिका अर्थज्ञान भावनाका विधान किया जाता है। अर्थात् अध्ययनसे अर्थज्ञानको प्राप्त करें। इस लिए उपनयन अध्ययनका ही अंग हैं और अध्ययन स्वविधि प्रयुक्त है। (अर्थात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिसे विहित है, अध्यापन विधि प्रयुक्त नहीं) इस पक्षका निरास 'न्यायरत्नमालाके' 'प्रयुक्ति तिलक' नामक प्रथम प्रकरणमें विस्तारसे किया गया है। इसलिए इस विषयको यहीं विराम देते हैं।

पूर्वमें जो कहा गया है—अध्ययन अदृष्टार्थ है अथवा अक्षरग्रहणादि परम्परासे अर्थज्ञानके लिए है, उसका उपपादन पहिले कर चुके हैं।

(अब 'अथवा' इत्यादिसे नवमाध्यायके विचारसे प्रकृत विचार गतार्थ है, इस बातका प्रतिपादन करते हैं) अथवा यहाँ कुछ विचार नहीं किया जाता है, क्योंकि 'नावमिक न्यायसे' अध्ययनका अक्षर संस्कारके द्वारा परम्परया अर्थ ज्ञानार्थत्व सिद्ध होता है। नवें अध्यायके ९।२।२ अधिकरणमें साम मंत्रोंकी ऋगक्षरोंकी अभिव्यक्ति द्वारा स्तुतिमें उपयोगिता है; अतः वह दृष्टार्थ है? अदृष्टार्थ नहीं, यह आगे कहेंगे। अतः इसी न्यायसे अध्ययनका अर्थज्ञानार्थत्व सिद्ध होनेके कारण, अध्ययनके वाद धर्म-जिज्ञासा करनी चाहिए, यह सिद्ध ही है। तथापि शास्त्रारम्भका अर्थ ज्ञान प्रयोजन है, इस विवक्षासे सूत्रकार कहते हैं—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति। जैसे कहा गया है—

---

१. त्वविधिप्रयुक्तमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

यदाहुः—'धर्माख्यं[1] विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्' इति। न त्वत्र कस्यचिद्वेदवाक्यस्यार्थो विचार्यते।

तदप्याहुः—'न चात्र चोदनाव्याख्या गौरवं तत्र चोदितम्' इति। तत् सिद्धमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति।

जिज्ञासायाश्चातुर्विध्यम्

सा चतुर्विधा - धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः।

नन्वध्ययनविधिना वेदवाक्यार्थविचारमात्राक्षेपाद्धर्मस्वरूपप्रमाणजिज्ञासयोः कः प्रसङ्गः? उच्यते—उपोद्घातत्वात्प्रसङ्गः, यदि हि वेदवाक्यार्थो धर्मः स्यात्, वेदश्च प्रमाणम्, ततोऽसौ विचारः कर्तव्यो भवति। इतरथा काकदन्तपरीक्षावत् स्यात्, तदध्ययनविधिरेव प्रमाणादिविचारमप्याक्षिपति[2]। धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्,

---

'मीमांसा शास्त्रका धर्म ही विषय है, धर्मज्ञान ही प्रयोजन है' (यह मूलमें उद्धृत श्लोक वार्तिकसे स्पष्ट है) इस सूत्रमें आगेके सूत्रोंकी तरह किसी वेद वाक्यके अर्थका विचार नहीं किया गया। (अपितु धर्म विचार करना है या नहीं, यही विचारका विषय है। क्योंकि सामान्य सिद्धिके विना विशेषकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए सामान्य जिज्ञासाकी कर्तव्यता सिद्ध होनेपर विशेषतः विचार आगे संगत होता है) साथ ही वार्तिकके द्वारा यह भी कहा गया है—इस सूत्रमें वेद वाक्यका विचार नहीं करना है। इसका विचार करनेपर गौरव होगा। (अब इस विचारका उपसंहार करते हैं 'तत्' इत्यादिसे) यह सिद्ध हुआ कि अध्ययनके वाद धर्म जिज्ञासा करनी चाहिए।

यह धर्म जिज्ञासा चार प्रकारकी होती है—धर्मका स्वरूप, धर्ममें प्रमाण, धर्मका साधन और धर्मका फल। (अर्थात् धर्म—विचार चार प्रकारसे होता है। यहाँ धर्मका लक्षण जो स्वरूप शब्दसे कहा गया है और प्रमाण विचार, साधन विचार तथा फल विचारके भेदसे यह चार प्रकारका है)

शंका—अध्ययन विधिसे वेद वाक्यार्थका जो विचार है, उसका ही आक्षेप होता है; (अर्थात् केवल अध्ययनसे अक्षर ग्रहण होता है, अर्थज्ञान नहीं। वह भी अर्थज्ञान पुरुषार्थ पर्यवसायी है। अतः 'येन विना यन्न भवति' इस न्यायसे विचार मात्रका ही आक्षेप हो सकता है) धर्म स्वरूप जिज्ञासा और प्रमाण जिज्ञासाका क्या प्रसंग है? (अर्थात् लक्षण—प्रमाणका विचार असंगत है) समाधान—यहाँ उपोद्घात ही प्रसंग* है। यदि वेद वाक्यार्थ धर्म है, तो वेद भी प्रमाण है, अतः यह विचार करनेके योग्य है। नहीं तो कौवेके कितने दांत हैं? इस प्रकारकी निरर्थक परीक्षाके समान हो जाएगा। इसलिए अध्ययन विधि, स्वयं प्रमाणादि विचारका भी आक्षेप करती है।

---

*. 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते'—प्रकृत विषय सिद्धिके उपपादनको उपोद्घात कहते हैं। यह भी उपोद्घातका लोगोंने लक्षण किया है कि 'प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संक्षिप्य, तदर्थमर्थान्तरकथनम्' – प्रतिपाद्य विषयको बुद्धिस्थकरके, उसके लिए दूसरे अर्थका निरूपण करना। अतः लक्षण–प्रमाण विचार भी संगत है।

१. 'अथातोधर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्' इति पूर्वार्धमनुसन्धेयम् (मी० श्लोकवार्तिक,श्लोक ११,)

२. 'विचारमाक्षिपति' इति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यत्वात्। अकारप्रश्लेषेण वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येयमिति निरवद्यम्॥

(अर्थात् जिनके विचारके विना जिसका विचार नहीं हो सकता, उससे उन सभीका विचार आक्षेपसे प्राप्त होता है। जैसे कि लोकमें—'राजाऽसौ गच्छति'—वह राजा जाता है, यह कहनेपर उसके परिवारका भी गमन सिद्ध होता है, उसी प्रकार अध्ययन विधि ही प्रमाणादि-विचारका भी आक्षेपकर देती है)

सूत्रमें धर्मका ग्रहण अधर्मके उपलक्षणके लिए है। क्योंकि अधर्मको भी जानना चाहिए, उसे त्यागनेके लिए। (जैसे धर्मका ज्ञान अनुष्ठानके लिए होता है, वैसे अधर्मका भी ज्ञान, त्यागके लिए आवश्यक है, अतः यह विचार - साध्य है; इस कारणसे अधर्मकी भी जिज्ञासा होनी चाहिए)

इसमें प्रकारान्तर कहते हैं, कि सूत्रमें 'अकार' का प्रश्लेषकर अधर्म जिज्ञासामें भी सूत्रका व्याख्यान होना चाहिए। इस प्रकारसे व्याख्या करनेपर कोई दोष नहीं।

(अधिकरणसार—'अथातो धर्मजिज्ञासा' यद्यपि प्रतिज्ञा सूत्र है। यहाँ ग्रन्थकारके मतसे ग्रन्थ रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए—विचार=मीमांसा शास्त्र अनारम्भणीय है या आरम्भणीय है? यह संशय है। इसके लिए अध्ययन विधिको लेकर विचार करना चाहिए कि अध्ययनका अक्षर ग्रहण प्रयोजन है अथवा वाक्यार्थ ज्ञान? अध्ययन मात्रसे शास्त्रार्थ समाप्त होनेके कारण 'अधीत्य स्नायात्' इस स्मृतिके अनुसार, अध्ययनके बाद समावर्तन करना चाहिए, अतः विचारशास्त्रका विषय आदि न होनेसे मीमांसा शास्त्रका आरम्भ नहीं होना चाहिए, यह पूर्व पक्षका संक्षेप है।

सिद्धान्त है कि अध्ययन विधि अधिकारी नियमके लिए है। अर्थात् उपनयनसे संस्कृत त्रैवर्णिक यह चाहते हैं, कि हमें क्या करना चाहिए। तथा अनिर्दिष्ट कर्तृकाध्ययन भी कर्ता को चाहता है। दोनोंके परस्पर संयोगसे अधीत त्रैवर्णिक अध्ययन करें। उसके द्वारा अर्थज्ञानको प्राप्तकर, कर्मानुष्ठान करें। यह अधिकारी नियम अध्ययनविधिके द्वारा ही सिद्ध होता है। अध्ययन मात्रसे आपाततः अर्थज्ञान होनेपर भी निश्चित प्रयोजनवत् अर्थज्ञान, विचारके विना नहीं होता। अतः अध्ययन विधिसे ही विचारका आक्षेप होता है। इस विचारसे स्मार्त स्नानका बाध होता है। अतः गुरुकुलमें रहकर वेद वाक्योंका विचार करे। अतः जो सन्दिग्ध हैं प्रयोजनवान् हैं, वे सब विचार-शास्त्रके विषय होते हैं। इस प्रकार विषयादि सिद्ध होनेसे, मीमांसा शास्त्रका आरम्भ होना चाहिए यह सिद्धान्तका संक्षेप है। यह प्रथमाधिकरण समाप्त हुआ।)

(इस प्रकार प्रथम-अधिकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

द्वितीयं धर्मलक्षणाधिकरणम्

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

प्रथमं तावत्को धर्मः ? कथंलक्षणकः ? इत्येतद्द्वयमनेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते। यो धर्मः, स चोदनालक्षणः, चोदनैव तस्य लक्षणं प्रमाणम्। चोदना च तस्य लक्षणमेवेति श्रुत्या प्रमाणविधौ अर्थाच्चोदनागम्य एवाग्निहोत्रादिधर्मः, नाऽतल्लक्षणश्चैत्य-वन्दनादिरिति स्वरूपमपि सिद्ध्यति। तथा यश्चोदनालक्षणः, स धर्म इति स्वरूपविधौ, अर्थात् प्रमाणसिद्धिर्वेदितव्या।

अथ प्राभाकरमतस्यानुवादः

कश्चित्त्वाह—कार्यरूपो वेदार्थः, न सिद्धरूप इत्येतदनेन सूत्रेणोच्यते। चोदनालक्षणशब्देन कार्यमुच्यते, धर्मशब्देन वेदार्थ इति। तन्निरासः - तदयुक्तम्, यानितावद्विधि-

---

(पहिले अधिकरणमें मीमांसा शास्त्रके आरम्भका समर्थन किया है। अब धर्म स्वरूप-ज्ञानके लिए द्वितीय सूत्रका उपन्यास करते हैं—) 'प्रथमम्' इत्यादिसे। पहिले धर्म क्या है ? अर्थात् धर्मका स्वरूप क्या है ? धर्ममें क्या प्रमाण है ? अर्थात् किं प्रमाणक धर्म है ? इन दोनोंका धर्म स्वरूप तथा धर्ममें प्रमाणका इस सूत्रसे, श्रुति = शब्दसे और अर्थापत्तिसे निरूपण करते हैं।

(इसका यह अभिप्राय है कि धर्म स्वरूप और प्रमाण, इन दोनोंमेंसे, किसी एकका, सूत्र = अक्षरोंसे प्रतिपादन करनेपर दूसरा अर्थापत्तिसे प्रतिपादित होता है। इसका स्पष्टीकरण यह हैं कि सूत्रके धर्ममें प्रमाण कहनेपर, अर्थापत्तिसे धर्मका स्वरूप कहा जाता है। क्योंकि प्रमेयके विना प्रमाण नहीं बन सकता।)

(प्रमाणके विना प्रमेय अनुपपन्न है, अब इसका निरूपण करते हैं) 'यो धर्मः स चोदना लक्षणः' इससे। शब्दसे, धर्ममें प्रमाणको तथा अर्थापत्तिसे धर्मके स्वरूपको कहते हैं—

यहाँ चोदनैवमें 'एव' शब्दका प्रयोग है। इसके दो अर्थ होते हैं—अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अयोगव्यवच्छेद। प्रथम पक्षमें धर्ममें चोदनाभिन्न प्रमाणका निषेध किया जाता है। अयोग-व्यवच्छेदमें अयोग कहते हैं सम्बन्धको इसका व्यवच्छेद निषेध है। विधि वाक्य धर्ममें प्रमाण है ही। इसी उक्तार्थको स्पष्ट करते हैं कि)—'श्रुतिसे प्रमाणका विधान करनेपर, अर्थापत्तिसे चोदना गम्य ही अग्निहोत्र आदि धर्म हैं, चैत्य-वन्दन आदि नहीं, क्योंकि इसमें वेद वाक्य प्रमाण नहीं है। इसलिए वह धर्म भी नहीं। इस प्रकार धर्मका स्वरूप (लक्षण) अर्थात् — अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होता है।

अर्थापत्तिसे प्रमाणताका प्रतिपादन होता है, इसका निरूपण करते हैं 'यश्चोदना लक्षणः स धर्मः' इति। लक्षणके विधानसे प्रमाण भी अर्थात् सिद्ध होता है। (लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः यह न्याय है। इसका यह अर्थ है—लक्षणसे लक्ष्यवस्तुमें सम्भावना बुद्धि होती है। प्रमाणके द्वारा 'यह वस्तु ऐसी है' इस प्रकारका निश्चय होता है यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है। इसके अनुसार धर्मका लक्षण, धर्ममें प्रमाण, दोनों शब्द और अर्थसे एक ही सूत्रद्वारा कहे गए हैं।)

(इस प्रकार भाट्ट मतके अनुसार सूत्रार्थका वर्णन करके, प्राभाकरका खण्डन करनेके लिए, उसके मतका अनुवाद करते हैं—'कश्चित्' इत्यादिसे) कोई प्राभाकर मीमांसक कहते हैं। (इसका यह तात्पर्य है—यहाँ प्राभाकर मीमांसकोंका कहना है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' इन दोनों सूत्रोंमें जो 'धर्म' शब्द पठित है, उसे वेदार्थ समझना चाहिए। अर्थात् 'धर्मो

वाक्यानि, तेषां विधावेव प्रामाण्यम्, वस्तुस्वरूपे चाप्रामाण्यं विस्पष्टमेवेति, न तत्र किंचिद्वक्तव्यम्। क्षेपिष्ठादि- वाक्यानामपि न विध्येकवाक्यतया तत्रैव प्रामाण्यम्। मन्त्राणामपि प्रकरणेन प्रधानविधिशेषत्वं द्वितीयपादे वक्ष्यत इति, न तत्रापि वक्तव्यमस्ति। तेन कस्यात्र सिद्धार्थतां निरस्य कार्यार्थतोच्यते ? 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा' इत्यादीनामुपनिषद्वाक्यानामिति चेत् ? न, तेषामपि यदि विध्येकवाक्यत्वमस्ति, ततोऽर्थवादाधिकरणेन गतम्। अथ नास्ति ? कथं तेषां कार्यार्थता स्यात् ?

वेदार्थः, चोदना लक्षणः, कार्यरूपः') वेदार्थ धर्म कार्यरूप है, सिद्धरूप नहीं होता, यही इस सूत्रसे कहा गया है। चोदना लक्षण शब्दसे कार्य कहा जाता है। धर्म शब्द वेदार्थवाची है।*

उक्त मतका निरास करते हैं 'तदयुक्तम्' इत्यादिसे। यह उनका (प्राभाकर मीमांसकोंका) कथन अनुपपन्न है, (क्योंकि वेद वाक्य पांच प्रकारके होते हैं—विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय और निषेध वाक्य। इनमेंसे किस वाक्यके सिद्ध परत्वका निरास करके, कार्य परत्व निश्चित किया जाता है ? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं) जो विधि वाक्य हैं, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि, उनका विधिमें प्रामाण्य है, वस्तु स्वरूपमें अप्रामाण्य स्पष्ट है। इसलिए उनके सम्बन्धमें कुछ कहना नहीं है। (अर्थात् विधिवाक्य कार्यपरक तो हैं ही, उनको कार्यपरक सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं)

यदि कहा जाए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्योंकी सिद्धपरकताका खण्डनकर, कार्यपरता सिद्ध की जाती है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उनकी 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादि विधि वाक्योंके साथ एक वाक्यता होनेके कारण विधिमें ही प्रामाण्य है। (वस्तु स्वरूपमें नहीं, इसलिए अर्थवाद वाक्योंमें भी कार्यपरत्व सिद्ध नहीं कर सकते।)

(यदि कहा जाए—'इषे त्वा' इत्यादि मंत्रोंके सिद्धपरत्वका निराकरणकर कार्यपरत्व सिद्ध किया जाता है, तो यह भी नहीं कह सकते) क्योंकि मंत्र प्रकरणसे प्रधान विधिके शेष होनेके कारण, उसके सम्बन्धमें भी पूर्वोक्त कार्य परत्व नहीं सिद्ध कर सकते। मंत्रोंका विचार द्वितीयपादके मंत्राधिकरणमें (मंत्र प्रधान विधिका अंग है) यह कहा जाएगा, अतः उसमें भी कुछ नहीं कहना। (यहाँ नामधेय निषेध भी उपलक्षण है। इसके भी क्रमशः विधेयार्थक, परिच्छेदक एवं निवर्तनाका प्रतिपादक होनेसे, इसमें कार्यपरत्व नहीं सिद्ध कर सकते)

अब रह गया कि किसकी सिद्धार्थताका निरास कर, कार्यपरता आप कहना चाहते हैं ? यदि कहें 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य ब्रह्मके बोधक हैं। इन्हीं वाक्योंके सिद्ध ब्रह्मपरत्वका निरास करके, कार्य परत्व कहा जाता हैं, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उन वाक्यों की भी 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधिवाक्योंके साथ यदि एक वाक्यता है, तो अर्थवादाधिकरणसे ही यह गतार्थ हो जाएगा। यदि नहीं है तो ? उनका कार्यार्थत्व होगा कैसे ?

* तात्पर्य है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि कार्य-बोधक वाक्योंका ही प्रामाण्य होता है, सिद्धार्थ-बोधक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिका प्रामाण्य नहीं। सभी शब्द कार्य परत्व ही होते हैं, उसमें भी लिङ्ादि शब्द साक्षात् कार्यके वाचक होते हैं। दूसरे शब्द कार्यान्वित-अर्थको कहते हैं। इसलिए सभी वैदिक वाक्य साक्षात् या परम्परा कार्यबोधक होते हैं। अतः वेदार्थ कार्यरूप ही होता है, सिद्धरूप नहीं, यह प्राभाकर मीमांसकोंका मत है। इसका विशेष विवेचन अगले प्रकरणमें किया जाएगा। अतः यह सिद्ध हुआ—वेदार्थ कार्यरूप है, सिद्धरूप नहीं, यही अर्थ इस सूत्रसे कहा गया है।

अथ तेषां विध्यश्रवणात्, विध्यन्तरेणैकवाक्यत्वाभावाच्च कार्यार्थत्वानुपपत्ते-र्व्युत्पत्तिविरहाच्च सिद्धार्थे प्रामाण्याऽयोगादप्रामाण्यमेवाभिमतम् । किमिदानी-मात्मादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रतिपादनपरमिदं सूत्रम् ? सुव्याहृतं तर्हि शास्त्रारम्भे प्रथमं तावत्सूत्रकारोऽप्रामाण्यमेव वेदवाक्यानां प्रतिपादयतीति ।

कार्य-एव शक्तिग्रहः, इत्युपपादनम्

कथं च कार्ये एव प्रामाण्यम् ? तत्रैव व्युत्पत्तेः । प्रवृत्त्यधीना हि व्युत्पत्तिः, सा च कार्यावगमधीनेति व्युत्पत्तिरपि तत्रैव भवतीति चेत् ? नावश्यं प्रवृत्त्यधीनैव व्युत्पत्तिः, काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यादिवर्तमानापदेशेष्वपि प्रसिद्धतृतीयार्थो-नामप्रसिद्धकाष्ठप्रातिपदिकार्थानां च पुरुषाणां काष्ठार्थे व्युत्पत्तिदर्शनात् ।

अथ प्रथमव्युत्पत्तिः कार्यविषयैव[1] । न हि तदा शब्दान्तरवशेन शब्दान्तरस्यार्थे व्युत्पत्तिः सम्भवति, सर्वस्य (धर्मस्य) अप्रसिद्धत्वादिति चेत् ? अस्त्वेवम्, तथापि

शंका—यदि कहा जाए—उपनिषद् वाक्योंमें विधिका श्रवण न होनेसे तथा दूसरी विधिके साथ भी एकवाक्यता न होनेसे, कार्यार्थत्वको अनुपपत्ति है और कार्यपरत्व न होनेसे व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) नहीं हो सकता ।

(अर्थात् 'घटमानय' इत्यादि वाक्य कार्य परक हैं । इनमें कार्यान्वित घटादिकमें घटादि शब्दोंका शक्तिग्रह होता है । सिद्धार्थमें तो शक्तिग्रह नहीं है । सिद्धार्थका बोध होनेपर भी उनका बोध हुआ है, इसमें कोई प्रमाण नहीं । जैसे कि कहा गया है 'न हि परन्तरवर्तिनि किञ्चिल्लिङ्ग-मस्ति' = कार्यपरक वाक्य सुननेपर भी श्रोताकी प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप हेतु नहीं है ।) अतः क्या उपनिषद् वाक्योंका सिद्धार्थमें प्रामाण्य न होनेके कारण, अप्रामाण्य आपको स्वीकार है ? पर ऐसा आप कभी मानेंगे नहीं ।

शंका—क्या आपके मतमें यह सूत्र उपनिषद्वाक्योंके अप्रामाण्यका प्रतिपादनपरक है ?

उत्तर—तब आप बड़ी अच्छी बात कहते हैं कि शास्त्रारम्भमें सूत्रकार सर्वप्रथम वेदवाक्योंके अप्रामाण्यका प्रतिपादन करते हैं ।

शंका—'कथं च' इत्यादिसे । क्या कार्यपरक वाक्योंका ही प्रामाण्य होता है ? (सिद्धपरक वाक्योंका' नहीं ?) क्योंकि उन्हींमें व्युत्पत्ति = शक्तिग्रह होता है । (इस पदको इस अर्थमें शक्ति है, जैसे 'घट पदकी घटमें शक्ति है, यह कार्यपरक वाक्यसे ही जाना जाता है) और शक्तिग्रह प्रवृत्तिके अधीन होता है । प्रवृत्ति भी कार्यता ज्ञानको लेकर होती है । इसलिए व्युत्पत्ति कार्यमें ही होती है, यदि ऐसा कहें ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शक्तिग्रह प्रवृत्तिके अधीन ही नहीं होता । 'काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति' इत्यादि वर्तमान निर्देशमें भी, जिनको तृतीयाका करणत्व अर्थ ज्ञात है, काष्ठ आदि प्रातिपदिकोंका अर्थ ज्ञात नहीं है, उन पुरुषोंको भी काष्ठरूप अर्थमें शक्तिग्रह अनुभवसे होता है।

शंका—यदि कहें कि प्रथमतः जो शक्तिग्रह होता है, वह कार्य विषयक ही होता है। क्योंकि उस समय दूसरे शब्दोंके अनुसार शब्दान्तरके अर्थमें शक्तिग्रह नहीं होता । क्योंकि वाक्यस्थ सभी पद अप्रसिद्ध हैं, यदि ऐसा कहें ? (अतः प्रथम व्युत्पत्ति कार्यविषयिणी ही होती है। यहाँ भूतमें 'धर्म' शब्दका पाठ है । वह सम्पातायात है । इसलिए उसका कोई पृथक् अर्थ नहीं है)

---

१. कार्यविशेषयैवेति 'क' पु० पाठः ।

पश्चाद्बहुशः सिद्धार्थे शब्दप्रयोगदर्शनात् 'कोयं राजा ?' 'पाञ्चालः' इत्यादिषु प्रश्नप्रतिवचनादिषु कार्यस्य व्यभिचाराद्व्यभिचार्यर्थमात्रं वाच्यमिति सुज्ञानम्। यथैव हि कस्यांचिद् व्यक्तौ प्रथमं गोशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् सैव वाच्येत्यवगमे सत्यपि, पश्चाद् व्यक्त्यन्तरे प्रयोगं दृष्ट्वा पूर्वव्यक्तिव्यभिचाराद्व्यभिचारि सामान्यमेवार्थ इत्यध्यवसीयते, तथा कार्यपरतामवगतामपि पश्चात्सिद्धार्थप्रयोगदर्शनेन बाधित्वार्थमात्रमेवाव्यभिचाराद् वाच्यमिति युक्तम्।

किं च प्रथमव्युत्पत्तौ कतिपयानामेव शब्दानां कार्यार्थत्वमवगतम्, न सर्वशब्दानाम्। अतः पश्चाद् व्युत्पाद्यमानस्य काष्ठादेः सिद्धार्थे व्युत्पत्तिः केन वार्यते। न च व्युत्पत्तौ शब्दानां पौर्वापर्यनियमोऽस्ति, अतः सर्वे शब्दाः पश्चाद् व्युत्पाद्यमानाः कैश्चित्सिद्धार्था भवन्ति। सर्वेषां तु कार्यार्थत्वे सिद्धार्थपरेषु लौकिकवाक्येषु सर्वशब्दानां लाक्षणिकत्वान्नकश्चिदन्विताभिधायी स्यात्। तत्रान्वितप्रतीतिः कथं सिद्ध्येत् ? वक्तृज्ञानानुमानादिति चेत् ? न, यद्विषयं हि वाक्यम् तद्विषयमेव वक्तृज्ञानमनुमातव्यम्। न चान्वितप्रतिपादकं वाक्यमुच्चारितमिति कथमन्वितज्ञानानुमानम् ?

उत्तर—भले ही ऐसा कह सकते हैं, पर फिर भी प्रथम व्युत्पत्ति कार्यविषयक हो, तो भी बादमें सिद्धार्थमें शब्दोंका प्रयोग देखनेमें आता है। जैसे कोई पूछता है—'कोऽयं राजा' महराजा कौन है ? इसका उत्तर है–यह पांचाल देशका है। इत्यादि प्रश्नोत्तर वाक्योंमें कार्यका व्यभिचार है। इसलिए व्यभिचारी अर्थमात्र ही वाच्य होता है, ऐसा ज्ञान सुलभ है। इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—'तथैव हि' इत्यादि से। किसी व्यक्तिमें प्रथम 'गो' शब्दका प्रयोग होता है। इससे वही वाच्य है, ऐसा ज्ञान होता है,। तो भी उसके पश्चात् दूसरे व्यक्तिमें 'गो' शब्दका प्रयोग देखकर, पूर्वव्यक्तिके व्यभिचारसे व्यभिचारी सामान्य (जाति) ही अर्थ है, ऐसा निश्चयकर लिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी जो कार्यपरता ज्ञात हुई, उसे बाधकर, सिद्धार्थमें प्रयोगको देखकर, अव्यभिचारी अर्थमात्र वाच्य है, ऐसा मानना ही उपयुक्त है।

और सुनिए—प्रथम व्युत्पत्तिमें कुछ शब्दोंका कार्यार्थत्व मालूम हुआ, सभी शब्दोंका नहीं। अतः पश्चात् व्युत्पाद्यमान काष्ठादिका सिद्ध अर्थमें शक्तिग्रह होना अनिवार्य है। व्युत्पत्तिमें शब्दोंके पौर्वापर्यका कोई नियम नहीं। इसलिए सभी शब्द शक्ति ग्रहणके अनन्तर किन्हीं कहे गए प्रमाणोंके द्वारा सिद्धार्थके बोधक होते हैं। सभी शब्दोंको कार्यपरत्व माननेमें यह दोष लगेगा कि सिद्धार्थबोधक लौकिक वाक्योंमें सभी शब्द लाक्षणिक होनेके कारण, कोई शब्द अन्वित अर्थका अभिधायक नहीं होगा। (आपके प्रभाकर मतमें यह दोष अपरिहार्य है)

शंका—और बताइए कि उस पक्षमें अन्वितार्थकी प्रतीति कैसे सिद्ध होगी ? यदि कहो कि वक्तृज्ञानका अनुमान होता है। (उसका स्वरूप है—'वक्तृज्ञानमन्वितविषयकं, वाक्यप्रयोक्तृत्वात्। जो व्यक्ति जिस वाक्यका प्रयोग करता है, वह उस वाक्यका अर्थ जानता है) इस अनुमानसे अन्वितार्थकी प्रतीति हो जायगी।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्वित अर्थके प्रतिपादक वाक्यका उन्होंने उच्चारण नहीं किया, तब कैसे अन्वितार्थ ज्ञानका अनुमान होगा ?

अथार्थस्वरूपस्मारकैः पदैरन्वितज्ञानमनुमीयते ? ततः कार्यवाचकेऽप्यसिद्धेरन्विताभिधानं न स्यात् ।

किं च प्रथममेव कार्यव्यभिचारः शक्योऽवगन्तुम् । यदा हि 'पुत्रस्तेजातः' इत्युक्तस्य कस्यचिन्मुखविकासं पार्श्वस्थः पश्यति, तदा हर्षहेतुरनेन शब्देन प्रतिपादित इति हर्षहेतुभूतसिद्धार्थप्रतिपादने शब्दस्य सामर्थ्यं कल्पयति । यद्यपि च तदानीमर्थविशेषो न ज्ञायते, हर्षहेतूनां बहूनां संभवात् । तथापि सिद्धार्थता तावदवगता । तावतापि कार्ये व्यभिचारः सिद्धः । किं च बहुशः पुत्रजनने सति एवं शब्दप्रयोगात्, अन्येषु हर्षहेतुष्वप्रयोगात्, पुत्रजननरूपार्थविशेषोऽपि सुज्ञान एव ।

किं च प्रवृत्त्यधीनापि व्युत्पत्तिर्नावश्यं कार्यविषयैव भवति । तथा हि—यदा कश्चित् प्रवृत्तावत्यन्तासमर्थं वृद्धमातुरं वा प्रति विनोदार्थं वाक्यं प्रयुङ्क्ते 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' इति । तत्रान्यो दैवसङ्गतः कश्चिदर्थी तद्वाक्यमर्थाच्छ्रुत्वा, नदीतीरं गत्वा, फलान्याहरति । एतत्सर्वं पश्यन्नन्यो व्युत्पित्सुः फलसद्भावप्रतिपादने शब्दस्य सामर्थ्यं व्युत्पद्यते । तस्मान्नैकान्ततः कर्यार्थता शब्दानाम् ।

शंका—यदि कहो कि अर्थ स्वरूपके स्मारक पदोंसे अन्वित ज्ञानका अनुमान होता है ।

उत्तर—तब तो कार्य वाचकमें भी अनुमान सिद्ध नहीं होगा । इससे आपके अभिप्रेत अन्वितका अभिधान नहीं होगा ।

अब कहते हैं कि पहिले भी कार्यका व्यभिचार जान सकते हैं । अर्थात् कुछ वाक्य सुननेपर सिद्धार्थका ही पहिले बोध होता है, कार्यका नहीं, इसीको 'यदाहि' इत्यादि स्पष्ट करते हैं । जब कोई व्यक्ति 'पुत्रस्ते जातः' आपको पुत्र उत्पन्न हुआ है, सन्देशवाहकसे ऐसा वाक्य सुनता है, तो अत्यन्त प्रसन्न होता है । तीसरा पासमें बैठा हुआ व्यक्ति स्वामीके मुखकी प्रसन्नताको देखता है, तो वह 'हर्षका कारण इस वाक्यसे कहा गया है' ऐसा हर्षके कारणभूत सिद्धार्थके प्रतिपादनमें उस शब्दके सामर्थ्यकी कल्पना करता है । यद्यपि उस समय हर्षका कारण विशेष ज्ञात नहीं होता, क्योंकि हर्षके कारण बहुतसे हैं (जैसे—भार्याका सुखपूर्वक प्रसव, शुभ लग्नमें पुत्रका जन्म आदि । इसलिए उस समय हर्षका कारण विशेष ज्ञात नहीं होता) फिर भी सिद्धार्थताका ज्ञान हो जाता है । इससे भी कार्यमें व्यभिचार सिद्ध होता है ।

और सुनिए—अर्थ विशेषका ज्ञान हो सकता है, क्योंकि अनेक बार पुत्र जन्मके अवसरपर ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है । दूसरे हर्ष हेतुओंमें ऐसा शब्द प्रयोग नहीं होता । इसलिए भी पुत्र जननरुप अर्थ विशेषका ज्ञान होना सुलभ है ।

और सुनिए—यद्यपि शक्ति-ग्रह प्रवृत्तिके द्वारा होता है, तथापि कार्यविषयक ही होता है, यह कोई आवश्यक नहीं । इसी बातका 'तथा हि' से उपपादन करते हैं—जब कोई प्रवृत्त होनेमें अत्यन्त असमर्थ वृद्ध या रोगी व्यक्तिके प्रति, विनोदके लिए वाक्यका प्रयोग करता है—'नदीके किनारे पाँच फल पड़े हैं' वहाँ दैवयोगसे आया हुआ कोई दूसरा फलार्थी उस वाक्यको सुनकर, नदी किनारे पहुँचा और फलोंको ले आया । इन सब क्रियाओंको देखता हुआ व्युत्पित्सु = जिज्ञासु बालक- फल सद्भावके प्रतिपादनमें शब्दकी शक्ति है, ऐसा शक्ति ग्रह करता है । इसलिए सभी शब्द कार्यार्थ होते हैं, ऐसा नहीं कह सकते । (अतः यह सिद्ध हुआ कि शब्दकार्य परक ही नहीं होते, सिद्ध परक भी होते हैं)

प्राभाकरोक्तस्य द्वितीयसूत्रार्थस्य निरासः

का चास्य सूत्रस्य वचनव्यक्तिः? यदि तावद् 'यत्कार्यम्, तद्वेदार्थ एव' इति कार्यमुद्दिश्य, वेदार्थता विधीयते, तथा सति-उद्देश्यस्योपादेयेन स्वरसनियमात्सर्वस्य लौकिकस्यापि गवानयनादिकार्यस्य वेदार्थता स्यात्। किञ्चोपादेयस्य वेदार्थस्योद्देश्येन कार्यरूपेणाग्नेरिव धूमेनाव्याप्तेरकार्येऽपि वेदस्य प्रामाण्यमनिरस्तं स्यात्।

अथ 'यो वेदार्थः स कार्यरूप एव' इति, ततो यो धर्मः स चोदनालक्षण इति वचनव्यक्तिः स्यात्। तत्रार्थशब्दोऽभ्युदयवाची कस्य विशेषणम्? यद्युपादेयस्य चोदनालक्षणपदार्थस्य? ततः सर्वस्य वेदार्थस्य कार्यत्वम्, अर्थत्वं च विधीयत इति श्येनादिनियोगानामप्यर्थत्वं स्यात्।

अथोद्देश्यवेदार्थविशेषणम्, ततोऽयमर्थो भवति– योऽर्थात्मकः = अभ्युदयात्मको वेदार्थः, स कार्यरूपः। ततश्च श्येनादिनियोगानां निषिद्धफलत्वेनाऽनभ्युदयरूपाणां कार्यता न स्यात्।

मा भूदिति चेत्? न, तेषामपि लिङा कार्यताऽवगमात्। श्येनयागस्य कार्यता निवारयितुं शक्यते, न नियोगस्य, तस्य कार्यैकस्वभावत्वात्। असति च कार्यत्वे श्येन-

---

वेदार्थ कार्यरुप ही होता है, यह प्रभाकर मीमांसकका जो द्वितीय सूत्रका व्याख्यान है उसीका ग्रन्थकार खण्डन करते हैं—'का चास्य' इत्यादि से। प्रश्न है कि इस सूत्रका वचन व्यक्ति कैसा है? (अर्थात् इस सूत्रमें उद्देश्यविधेयभाव कैसा है?) क्या इस सूत्रमें जो कार्य है, वह वेदार्थ ही है? या जो वेदार्थ है वह कार्य रुप ही है? ऐसा विकल्पकर प्रथम पक्षमें दोष देते हैं। इस पक्षमें कार्यको उद्देश्यकर, वेदार्थका विधान किया जाए?

उत्तर—ऐसा उद्देश्य-विधेय भाव मानने पर उद्देश्यका उपादेय (विधेय) के साथ यह स्वरसनियम है कि उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयका अन्वय होता है। इससे सभी उद्देश्य और विधेयोंका सम्बन्ध होगा, अतः उक्त नियमके अनुसार सभी लौकिक गवानयनादि कार्य भी वेदार्थ हो जाएँगे।

इस प्रसंगमें और भी दोष है कि जैसे अग्निकी धूमके साथ व्याप्ति नहीं है, वैसे उपादेय वेदार्थकी उद्देश्य कार्यरूपके साथ व्याप्ति न होनेके कारण, अकार्यमें भी वेदका प्रामाण्य निरस्त नहीं होगा।

शंका—यदि द्वितीय पक्षको मानें कि जो वेदार्थ होता है वह कार्यरूप ही होता है। इस पक्षमें जो धर्म है, वह चोदना लक्षण है—ऐसा वचन-विन्यास होगा। उस वचनविन्यासमें अभ्युदय प्रयोजनको कहने वाला 'अर्थ' शब्द किसका विशेषण होगा? यदि कहो कि उपादेय जो चोदना लक्षण पदार्थ है, उसका होगा या उद्देश्य वेदार्थका विशेषण होगा।

उत्तर—तब प्रथम पक्षमें सभी वेदार्थ कार्यरुप होंगे और अर्थरुप भी होंगे। (अर्थात् सभी वेदार्थोंको उद्देश्यकर, कार्यत्व-अर्थत्व, दोनोंका विधान मानना होगा) अतः इस पक्षमें श्येनादि नियोगका भी अर्थत्व हो जाएगा। (यह अनिष्ट है, क्योंकि वह अनर्थ है)

'अथ उद्देश्य वेदार्थ' इत्यादिसे। इस पक्षमें यह अर्थ होता है कि, जो अभ्युदयात्मक वेदार्थ है, वह कार्यरुप है। इससे श्येनादि नियोगोंका फल निषिद्ध होनेसे, अनभ्युदय रूप है, उसमें कार्यता नहीं होगी।

शंका—मत होवे। उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्येनादि विधि वाक्यों की भी 'लिङ्' प्रत्ययसे कार्यता ज्ञात होती है। श्येनयागकी कार्यताका निषेध कर सकते हैं, नियोगका नहीं कर सकते। क्योंकि वह कार्यैकस्वभाव है। (अर्थात् अवश्यकर्तव्य होना उसका स्वभाव है)

वाक्यस्य कार्यार्थत्वाऽभावात् सिद्धार्थतैव वक्तव्या स्यात, न च तथा संभवति, विधिप्रत्यययोगात्। सिद्धे चार्थे व्युत्पत्तिविरहादप्रामाण्यमेव श्येनादिवाक्यानां स्यात्।

अथ पूर्वसूत्राद्वेदार्थपरं धर्मपदमनुषज्य 'चोदनालक्षणो वेदार्थः' इत्येकं वाक्यम्, 'अर्थो धर्मः' इत्यपरं वाक्यम्। तदिदं स्वप्रज्ञाविलसितमात्रम्, अनुषङ्गवाक्यभेदयोर्विना फलमाश्रयणात्। अप्रतिज्ञातस्य च धर्मस्य लक्षणमसङ्गतम्।

अथ प्रतिज्ञातस्यैव वेदार्थस्य कार्यत्वसिद्धये धर्मत्वमुच्यते? किं कार्य एव धर्मरूपो वेदार्थः, स एव जिज्ञास्यो नान्यः[1], तथा चेत्[2]? य एव जिज्ञास्यो धर्मः, तस्यैव सूत्राक्षराविनाशेन जिज्ञासा प्रतिज्ञातव्येति वेदार्थप्रतिज्ञावचनमनर्थकम्।

अथ त्वर्थशब्दमनादृत्य यो वेदार्थः, स कार्यरूप इत्युच्यते? ततोऽर्थपदमनर्थकं वस्तुमात्रपर्यायमनुवादकं स्यात्। अनर्थव्युदासार्थता चास्य भाष्यकारेणोक्ता, तस्माद्विशेषणमेवैतत्। विशेषणत्वे चाभ्युदयरूपस्य वेदार्थस्य कार्यत्वाभिधानादनभ्यु-

---

उसे कार्य न माननेपर, श्येन वाक्य कार्यार्थक नहीं होगा, किन्तु सिद्धार्थ परक ही कहना होगा।

उत्तर—ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि 'यजेत्' इसके विधि प्रत्यय होनेसे इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि उस पक्षमें श्येनादि वाक्य सिद्धार्थपरक होंगे। उनमें शक्तिग्रह न होनेसे 'श्येन' वाक्योंका अप्रामाण्य सिद्ध होगा।

शंका—यदि कहें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस पूर्व सूत्रसे वेदार्थपरक धर्म पदका अनुषंग (पूर्वत्र श्रुतस्य उत्तरत्रानुसन्धानमनुषङ्गः') करके 'चोदनालक्षणो वेदार्थः' यह एक वाक्य है। 'अर्थो धर्मः' यह दूसरा वाक्य है। इस पक्षमें कोई दोष नहीं है, अतः ऐसा ही व्याख्यान माना जाए?

उत्तर—यह बुद्धिका चमत्कार मात्र है। क्योंकि इस व्याख्यामें एक अनुषङ्ग दोष है, इसका कोई फल नहीं। दूसरा वाक्यभेद दोष है, इसका भी कोई फल नहीं। इसलिए यह व्याख्यान असंगत है। जिस धर्म लक्षणकी प्रतिज्ञा नहीं की, उसका लक्षण कहना असंगत है। (क्योंकि प्रतिज्ञातका ही लक्षण किया जाता है, औरोंका नहीं)

शंका—यदि कहें—प्रतिज्ञात जो वेदार्थ है, उसके कार्यत्व सिद्धिके लिए 'धर्मत्व' कहा जाता है;

उत्तर—क्या कार्यरूप जो धर्म है, वेदार्थ, उसीका ही विचार होना चाहिए, सभीका नहीं? (अर्थात् सभीका विचार होना चाहिए) इस प्रकार जो विचारका विषय है धर्म, उसीके सूत्र-अक्षरोंका, विना रद्दो-बदल किए, जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। अतः प्राभाकर मीमांसकोंका वेदार्थ प्रतिज्ञा वचन निरर्थक होगा।

शंका—यदि माना जाए—'अर्थ' शब्दको छोड़कर, जो वेदार्थ है, वह कार्यरूप है, ऐसा कहें तो, इस पक्षमें कोई दोष न होगा।

उत्तर—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अर्थपद अनर्थक होगा या वस्तुमात्रका पर्याय बनकर अनुवादक होगा। और फिर भाष्यकार शबर स्वामीने अर्थपदके प्रति, अनर्थकी निवृत्तिके लिए अर्थ शब्द है, ऐसा कहा है। (यह भाष्य सन्दर्भ है 'अनर्थो धर्म उक्तो माभूदित्यर्थग्रहणम्' (शाबरभाष्य, पृ० १८-१९) इसलिए अर्थ शब्द विशेषण ही है, ऐसा माननेपर अभ्युदयरूप

१—न सर्वः, इति 'क' पुस्तके पाठः। २—तथाचेति 'क' पुस्तके पाठः।

दयरूपस्य वेदार्थस्य कार्यत्वं न स्यादिति सर्वस्य वेदस्य कार्य एव प्रामाण्यमिति नियमो न स्यात्। ततश्च 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा' इत्यादीनामात्मस्वरूपपरत्वं न निराकर्तव्यमित्यास्तां तावत्। तस्माद्धर्मस्वरूप-प्रमाणप्रतिपादनार्थमेवेदं सूत्रम्।

धर्मविषये प्रमाणविचारः

तदिह धर्मं विषयीकृत्य चिन्त्यते? किमस्य न किंचित् प्रमाणमस्ति[1]? किं वा प्रत्यक्षादिकमेव प्रमाणम्[2]? उत चोदनैव[3]? अथ वा विकल्पः[4]? अथ वा समुच्चयः[5]? इति। तत्र शब्दस्य प्रमाणान्तरप्राप्तप्रापकत्वेन स्वयमप्रमाणत्वात् प्रत्यक्षादीनां चाऽसामर्थ्यादप्रमाणको धर्म इत्येकः पक्षः। प्रत्यक्षादिगम्य एवेत्येकः पक्षः। योगिनां प्रत्यक्षगम्यः, अर्वाचीनानां तु चोदनागम्य इत्यपरः। जगद्वैचित्र्यार्थापत्त्या किमप्यदृष्टमस्तीति सामान्येन प्रसिद्धो धर्मश्चोदनयाऽग्निहोत्रादिविशेषरूपेण गम्यते। तस्मात्समुच्चय इति पक्षान्तरम्। चोदनैव, सा च प्रमाणमेवेति सिद्धान्तः।

वेदार्थका ही कार्यत्व सिद्ध होगा। अनभ्युदयरूप वेदार्थका कार्यत्व नहीं सिद्ध होगा। इसलिए सभी वेदोंका कार्यमें ही प्रामाण्य है, यह नियम आपको अभिमत है, वह नहीं बनेगा। इस स्थितिमें 'अविनाशी वा अरे अयमात्म।' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों की आत्मस्वरूप-परकताका खण्डन करना असंगत है। अब इस विषयका उपसंहार करते हैं—'तस्माद्धर्म' इत्यादि से। इसलिए 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' यह सूत्र, धर्मका स्वरूप और प्रमाण, इन दोनोका प्रातिपादन करनेके लिए ही है।

अब विचार करनेके लिए धर्म प्रमाणके सम्बन्धमें संशय करते हैं—'तदिह' इत्यादि से। इस सूत्रमें धर्म विषयको लेकर यह विचार है कि क्या इस धर्ममें कोई प्रमाण नहीं है[1]? अर्थात् धर्म अप्रमाणक है? दूसरा पक्ष है कि क्या धर्ममें प्रत्यक्षादिक ही प्रमाण हैं[2]? तीसरा पक्ष है—क्या चोदना ही प्रमाण है[3]? अथवा विकल्प हैं[4]? योगियोंका धर्ममें प्रत्यक्ष प्रमाण है, अस्मदादिके प्रति विधिवाक्य प्रमाण है, इस पक्षमें धर्ममें प्रत्यक्ष भी प्रमाण है। योगियोंकी दृष्टिसे और अस्मदादि चर्म-चक्षुवालोंके लिए चोदना ही प्रमाण है। इसे शास्त्रीय परिभाषामें व्यवस्थित विकल्प कहते हैं। अथवा यहाँ प्रमाणोंका समुच्चय है[5]? इसका यह अभिप्राय है—सामान्य अनुमानसे या अर्थापत्तिसे जगतकी विचित्रताका कोई कारण होना चाहिए, यह सामान्य रूपसे ज्ञान होता है। उसीका विशेष रूपसे विधिवाक्यके द्वारा ज्ञान होता है। कहे गए इन पक्षोंमें विधिवाक्य ही प्रमाण है, विधिवाक्य प्रमाण ही है, यह अयोग व्यावृत्ति है। यही सिद्धान्त है। (इसीकी ग्रन्थकारने दो प्रकारसे अवधारणकी प्रतिज्ञा की है।)

---

१ इनमें प्रथम पक्षका यह अभिप्राय है कि प्रमेय धर्ममें कोई प्रमाण है कि नहीं? ऐसी शंका करके, इसमें कोइ प्रमाण नहीं है, यह पहिला पक्ष स्थिर किया है। इसमें जो शब्द प्रमाण है—वह प्रत्यक्षादिक प्रमाणान्तरसे जो ज्ञात हैं—उसीका बोधक होता है। अतः शब्द स्वयं प्रमाण नहीं। धर्मके अयोग्य (अतीन्द्रिय) होनेसे, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष मूलक होनेसे अनुमानादि भी धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकते, इसलिए धर्ममें कोई प्रमाण नहीं, यह प्रथम पक्ष है।

२ दूसरे पक्षका उपपादन करते हैं कि यागादि जो धर्म हैं, वह क्रियारूप होनेके कारण, प्रत्यक्ष-प्रमाण गम्य ही है। यह दूसरा पक्ष है।

भाष्यमतेन प्रथमपादार्थस्य संग्रहेण निरूपणम्—

तदिह चोदनैव प्रमाणम्, सा च प्रमाणमेवेत्यवधारणद्वयं प्रतिज्ञायते। निमित्तसूत्रे तु प्रथमद्वितीयसूत्रमात्रालोचनया 'वेदो धर्ममूलम्' (गौ० धर्म० सू० १।१।१)

इत्यादिवदुपदेशशास्त्रताशङ्का मा भूदिति, परीक्षाशास्त्रमेवेदमिति* ज्ञापयितुं परीक्षाप्रतिज्ञानम्। यद्यपि चोपरितनव्यापारादेव§ परीक्षाशास्त्रत्वं गम्यते, तथापि वक्ष्यमाणमेव श्रोतृबुद्धिसमाधानाय कीर्तितम्।

प्रत्यक्षसूत्रे तु प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनत्वाद् भविष्यति धर्मे प्रामाण्याऽसंभवात्, तत्पूर्वकत्वेनेतरेषामप्यप्रामाण्यात् प्रमाणान्तर-नियम-विकल्प-समुच्चयनिराकरणाच्चोद-

---

३—अब रहा तीसरा पक्ष यही सिद्धान्त है। 'चोदनैव प्रमाणम्' चोदना ही प्रमाण है। यहाँ एवकारका अर्थ है—अन्य योगका व्यवच्छेद। और विधिवाक्य प्रमाण ही है, यह अयोग व्यवच्छेद है। इस प्रकार दो प्रतिज्ञाएं इस द्वितीय सूत्रमें की गई हैं।

निमित्त सूत्रमें अर्थात् तृतीय सूत्रमें यह कहा गया है, कि प्रथम द्वितीय सूत्रोंको देखनेसे यह ज्ञात होता है कि 'वेदो धर्म मूलम्'=धर्मका ज्ञापक है वेद। अतः मन्वादिशास्त्रोंके समान यह भी उपदेश शास्त्र है, ऐसी यदि किसीको शंका हो, तो उसके निवारणके लिए यह परीक्षा शास्त्र ही है। साधक—बाधक युक्तियोंके द्वारा यहाँ परीक्षा करते हैं, अतः यह उपदेश शास्त्र नहीं, इसी बातको बतानेके लिए इस सूत्रमें परीक्षाकी प्रतिज्ञाकी गई है।

शंका—यद्यपि ऊपरके विचारोंका पर्यालोचन करनेसे यह ज्ञात होता है कि यह परीक्षा शास्त्र है। उपदेश शास्त्र नहीं, तब यह प्रतिज्ञा क्यों की गई ?

उत्तर—आगे धर्मका विचार आरम्भ करेंगे, इस बातकी ओर श्रोताओंकी बुद्धि एकाग्र करनेके लिए सूत्रकार ने प्रतिज्ञाकी है।

प्रत्यक्ष सूत्रमें जो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रसिद्ध है, वह विद्यमान विषयका ही उपलम्भक (ग्राहक) होता है। धर्म तो भविष्यमें होनेवाला है। उसमें प्रत्यक्षका प्रामाण्य सम्भव नहीं। और प्रत्यक्ष पूर्वक होनेके कारण अनुमानादिका भी प्रामाण्य नहीं हो सकता। इससे दूसरे प्रमाण और उन प्रमाणोंका नियम, विकल्प या समुच्चय नहीं बन सकता। अतः प्रत्यक्षादिकोंके निराकरणसे 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्'=चोदना ही धर्ममें प्रमाण है, यह अर्थ प्रत्यक्ष सूत्रसे सिद्ध होता है।

---

४. चौथा पक्ष है विकल्प। वह इस प्रकार है कि योगी जन अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं। अतः योगियोंको धर्म भी प्रत्यक्ष गम्य ही है। अस्मदादिकोंको धर्मका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं होता, किन्तु 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादि विधि वाक्यसे ही होता है। अर्थात् अग्निहोत्र आदि विशेषरूपसे धर्म हैं, यह विधिवाक्यसे ही जाना जाता है। इसलिए विकल्प है।

५. अब समुच्चय पक्षका उपपादन करते हैं—इसका यह आशय है कि 'जो कार्य होता है, वह सकारण होता है ऐसी व्याप्ति है। जैसे जगतमें कोई राजा है, कोई भिखारी है, कोई रोगी है, कोई स्वस्थ है, इत्यादि विचित्रता दिखाई देती है। इस वैचित्र्यका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वह दृष्ट नहीं हो सकता, इसलिए अदृष्ट है। यह अर्थापत्तिसे सामान्यतया प्रतीत होता है। क्योंकि जो सामान्य होता है, वह विशेषसे युक्त ही होता है। 'निर्विशेषं न सामान्यम्' ऐसा न्याय है। अर्थात् विना विशेषके सामान्य नहीं होता। अतः अग्निहोत्रादि ही धर्म हैं, यह विशेष चोदना (विधिवाक्य) से ही ज्ञात होता है। अतः प्रमाणोंका समुच्चय है।

* परीक्षाशास्त्रमिदमिति 'ख' पुस्तके पाठः। § व्यवहारादेवेति 'ख' पुस्तके पाठः।

नैवेत्ययमर्थः सिद्ध्यति ।

औत्पत्तिकसूत्रे तु स्वतःप्रामाण्यम्, अर्थान्यथात्व–कारणदोषज्ञानाभ्यामप्रामाण्यमित्याश्रित्याग्निहोत्रादिचोदनाभ्योऽसंदिग्धज्ञानोत्पत्तेः स्वतःप्रामाण्यं प्राप्तम्। न चापवादकमर्थान्यथात्वज्ञानं साक्षादस्ति। नापि कारणदोषज्ञानम्, पुरुषाश्रयत्वाच्छब्ददोषाणाम्। पदपदार्थसंबन्धस्याऽकृत्रिमत्वात् तद्द्वारेण पुरुषानुप्रवेशाभावाच्चोदनानामिति स्थिते—

'शब्दस्यैवानित्यत्वात् कुतः सम्बन्धनित्यता' इत्याक्षिप्य, शब्दस्य नित्यतया शब्दाधिकरणे सम्बन्धनित्यत्वे समाहिते, मा भूत् पदपदार्थसम्बन्धद्वारेण पुरुषानुप्रवेशः, वाक्यवाक्यार्थयोस्तु लोके संबन्धादर्शनान्निर्मूलोऽग्निहोत्रादिवाक्यार्थप्रत्यय इत्यतो व्यामोहः सामयिको वा। अतो न वाक्यार्थे वेदस्य प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, पदार्थानां संबन्धग्रहणम्, समयं चानपेक्षमाणानामेव वाक्यार्थे प्रामाण्यं संभवतीति तद्भूताधिकरणेन प्रतिपादिते।

पुनर्वेदानां वाक्यात्मकत्वात् काठकादिसमाख्यानाच्च पौरुषेयत्वात् तद्द्वारेण

(अब पंचम सूत्रका अभिप्रय बताते हैं कि प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः होता है। उसमें कारण दोष या बाधक ज्ञानसे अप्रामाण्य होता है, यह मानकर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादि विधि वाक्योंसे असन्दिग्ध ज्ञान उत्पन्न होनेके कारण, स्वतः प्रामाण्य प्राप्त हुआ। इसका बाधक अर्थान्यथात्व ज्ञान साक्षात् नहीं है, 'नेदं रजतं' की तरह। और कारण दोष ज्ञान भी नहीं है, शब्दके दोष पुरुषाश्रित होनेके कारण। अतः पदपदार्थका सम्बन्ध अकृत्रिम (नित्य) होता है। नित्य होनेसे सम्बन्धके द्वारा पुरुषका प्रवेश विधि वाक्योंमें नहीं। इसलिए विधिवाक्य प्रमाण हैं, यह औत्पत्तिक (पंचम) सूत्रमें सिद्ध किया गया है।

इसपर यह शंका होती है कि सम्बन्ध दो में रहता है। प्रकृतमें सम्बन्धके दो सम्बन्धी हैं शब्द और अर्थ। इनमें शब्दके अनित्य होनेसे, सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? यह आक्षेप करके, छठे अधिकरणमें शब्द नित्य है, अतः पद पदार्थका सम्बन्ध भी नित्य होता है, इस प्रकार शब्दको नित्य सिद्ध किया है।

शंका—पद-पदार्थ सम्बन्धके नित्य होनेसे उसके द्वारा पुरुषका अनुप्रवेश न होवे, तथापि वाक्य वाक्यार्थका सम्बन्ध लोकमें देखा नहीं जाता। इसलिए अग्नि होत्रादि वाक्यार्थ ज्ञान निर्मूल है, अतः वह भ्रमात्मक है? या सांकेतिक है? इसलिए वाक्यार्थमें वेदका प्रामाण्य नहीं है, ऐसी शंका करके पदार्थोंका सम्बन्ध ग्रहण और संकेतकी अपेक्षाके विना ही वाक्यार्थ हो जाता है, अतः वाक्यार्थ रूप धर्ममें विधिवाक्य प्रमाण है, इसका निरूपण 'तद्भूताधिकरण (सप्तमाधिकरण) में किया गया है।

(अब रहा पुरुषका ग्रन्थकी रचना द्वारा साक्षात् सम्बन्ध। उसका निषेध करनेके लिए वेदापौरुषेयाधिकरणकी प्रवृत्ति है। उस अधिकरणमें यह विचार किया गया है) कि वेद तो वाक्य समुदाय रूप हैं। और काठक, कालापक आदि उनकी संज्ञा भी है इसलिए वेद पौरुषेय है। अतः रचना द्वारा शब्दमें दोष सम्बन्धकी शंका करके, उसका समाधान किया है कि वेद

दोपसंस्पर्शमाशङ्क्य—स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तुरनुमानासंभवात्, समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्तत्वादपौरुषेया वेदाः इति, तदेकदेशानां चोदनानां सिद्धं प्रामाण्यमित्येवं समस्तः प्रथमः पादश्चोदनासूत्रप्रतिज्ञातार्थोपपादनेन तस्यैव परिकरः। सोऽयं भाष्यकारानुसारेण पादार्थोऽनुक्रान्तः। वृत्तिकारमतं तु पश्चादनुक्रमिष्यामः। प्रकृतमनुसरामः—प्रतिज्ञातं तावच्चोदनैव प्रमाणम्, सा च प्रमाणमेवेति।

धर्मस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणागम्यत्वनिरूपणम्

ननु प्रत्यक्षादेरन्यानपेक्षं प्रामाण्यं संभवतीति तस्यैव धर्मे प्रामाण्यम्, शब्दस्य तु सर्वदैव प्रमाणान्तरप्रमितविषयत्वान्न तदनपेक्षं प्रामाण्यं संभवतीति। उच्यते—प्रत्यक्षं तावत्संयुक्तविषयत्वेन विद्यमानोपलम्भनत्वाद्भविष्यति धर्मे न समर्थम्।

यद्यपि गोदोहनादिद्रव्यम्, यागादिक्रिया, नीचैस्त्वादिगुणश्च, फलसाधनत्वाद् धर्मशब्देनोच्यते नाऽपूर्वादय इति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यते, तथापि तेषां फलसाधनरूपेण

पौरुषेय नहीं हैं। क्योंकि यदि पौरुषेय होता तो गुरु शिष्य परम्परासे उसके कर्ताका, स्मरण होता 'यदि स्यात्स्मर्येत्, न स्मर्यते' यदि वेदका कर्ता पुरुष होता, तो उसकी अध्येतृ परम्परासे स्मरण अवश्य होता, नहीं होता हैं, अतः योग्यानुपलब्धिसे निरस्त कर्ताका अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्ताका अभाव निश्चित होनेपर, 'वेदः सकर्तृकः, वाक्यत्वात्, भारतादिवत्' इस प्रकारके अनुमानकी भी सिद्धि नहीं होती। बाधित विषय होनेके कारण। (इत्यादि विषय आगे कहे जाएंगे)

और सुनिए—जो समाख्या पौरुषेयत्वकी सिद्धिके लिए कही गई है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह प्रवचनको लेकर उपपन्न होती है। (अर्थात् कठ आदि महर्षियोंने बड़ी लगनसे इस वेदका अध्यापन कार्य सम्पन्न किया है) अतः वेद अपौरुषेय है। और वेदके एक देश (अंश) हैं विधिवाक्य। इनका भी अपौरुषेयत्व सिद्ध होनेसे स्वतः प्रामाण्य है। इस प्रकार समस्त प्रथम पाद, चोदना सूत्रसे प्रतिज्ञात जो अर्थ है—(विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण है) उसका प्रतिपादन करता है। यह चोदना सूत्रका परिकर है। इस प्रकार भाष्यकारके मतानुसार संक्षेपमें प्रथम पादका वर्णन किया गया है। वृत्तिकारके मतका आगे निरूपण करेंगे। इसलिए सिद्ध हुआ कि 'चोदनैव प्रमाणम्'=चोदना ही प्रमाण है। वह प्रमाण ही है। इस प्रकार प्रकृत अर्थका उपसंहार करते हैं 'प्रकृतमनुसरामः' इति।

शंका—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य अन्यापेक्ष नहीं होता, इसलिए प्रत्यक्षादिक ही धर्ममें प्रमाण हैं। शब्द तो सर्वदा प्रमाणान्तरसे ज्ञात वस्तुको ही विषय करता है। इसलिए प्रमाणान्तर सापेक्ष ही प्रामाण्य है। प्रमाणान्तरानपेक्ष प्रामाण्य नहीं।

उत्तर—प्रत्यक्ष संयुक्त विषयक होता है (अर्थात् इन्द्रियका जिस विषयके साथ संयोगादि सन्निकर्ष हो उसीका ग्राहक होता है) इस कारणसे विद्यमान अर्थका ही वह ग्रहण करता है। धर्म तो भावी है (आगे होने वाला है और इन्द्रिय सन्निकर्षके अयोग्य भी है) इसलिए आगे होनेवाले धर्मका ग्रहण करनेमें प्रत्यक्ष असमर्थ है। (अतः धर्ममें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता)

यद्यपि (गोदोहनेन पशुकामस्य' इस वाक्यसे विहित 'गोदोहन' पात्र है ('गौः दुह्यतेऽस्मिन्निति गोदोहनम्' इस व्युत्पत्तिसे, जिस पात्रमें दूध दुहा जाता है, उसे 'गोदोहन' कहते हैं)

धर्मत्वात् फलस्य च जन्मान्तरादिभावित्वाद् धर्मस्वरूपेण प्रत्यक्षविषयत्वं न सम्भवति, तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानादिकमपि न प्रमाणम्।

भावनाबजलं तु योगिप्रत्यक्षं भविष्यत्यपि धर्मे समर्थमिति मनोरथमात्रम्। भावना ह्यनुभूतगोचरनियतानुभूतेष्वेव निश्चयरूपां स्मृतिं जनयेत्। न च सात्र प्रमाणं स्मृतित्वादेव, नतरां प्रत्यक्षमनिन्द्रियजत्वात्।

नेन्द्रियजत्वं प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तु कल्पनापोढत्वमितिचेत्? सुतरां धर्मस्याऽ-

---

गोदोहनादि द्रव्य है। यागादि क्रिया हैं, और नीचैस्त्वादि गुण हैं। ये भी फलके साधन होनेके कारण धर्म शब्दसे कहे जाते हैं। अपूर्व आदि नहीं। इस प्रकार अर्थ शब्दका व्याख्यान श्रेयस्कर भाष्य (शाबरभाष्य) में कहा जाएगा।

शंका—गो दोहनादि द्रव्य, नीचैस्त्वादि गुण, यागादि क्रिया, ये सब क्रमशः द्रव्यत्व-रूपसे, गुणत्व रूपसे, यागादि क्रियाके रूपसे प्रत्यक्षके विषय होते ही हैं, ये धर्म कैसे?

उत्तर—श्रेयका साधन होनेसे ये धर्म हैं। यह वेदसे ही ज्ञात होता है। और स्वर्गादि फल तो जन्मान्तरमें होनेवाला है, इसलिए ये सब धर्मत्व रूपसे प्रत्यक्षके विषय नहीं होते। अतएव प्रत्यक्ष पूर्वक होनेसे अनुमान आदिक भी इसमें प्रमाण नहीं होते ❀

धर्मके सम्बन्धमें बौद्धोंका यह कहना है, कि योगियोंका प्रत्यक्ष विषय धर्म होता है। क्यों कि प्रत्यक्षका लक्षण है—'भावनाबलजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' =भावनाके बलसे होनेवाले ज्ञानको योगज प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुभूत पदार्थका पुनः पुनः अनुसन्धान भावना है। उसके बलसे होने वाला योगीप्रत्यक्ष भी भविष्यत धर्ममें प्रमाण होता है। यह बौद्धोंका कथन मनोरथ मात्र है। अर्थात् युक्ति युक्त नहीं, क्यों कि भावना अनुभूत पदार्थोंकी ही निश्चयरुप स्मृतिको उत्पन्न करती है। यह स्मृति-रुप होनेके कारण प्रमाण ही नहीं। प्रत्यक्ष होना तो दूर रहा। क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य-ज्ञान नहीं है। इसलिए योगज प्रत्यक्ष भी धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता।

शंका—इन्द्रिय सन्निकर्षसे होनेवाला प्रत्यक्ष है, ऐसा हम (बौद्ध) नहीं मानते। अर्थात् इन्द्रिय जन्यत्व प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है, अपितु कल्पनापोढत्व ही प्रत्यक्षका लक्षण है। इसका यह अर्थ है, कि कल्पना = जात्यादि योजना, उससे जो शून्य है, अर्थात् कल्पनाशून्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। यही बौद्धमतमें वास्तविक प्रत्यक्ष है। तदनन्तर भावी सविकल्पक प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्षाभास है। क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान प्राथमिक है। कल्पनापोढभी है। अतः धर्म निर्विकल्पक प्रत्क्षका विषय हो सकता है। तब कैसे कहते हो, धर्म प्रत्यक्षका विषय नहीं होता।

❀ उक्त अर्थका स्पष्टीकरण वार्तिकमें किया गया है। यथा—

द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते। तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥

श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते। ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥ (श्लोकवा०)

द्रव्य, गुण, क्रिया आदिको धर्म माना जाएगा, क्योंकि ये इन्द्रियके विषय होते हैं, द्रव्यत्व, गुणत्व, क्रियात्व रुपसे। किन्तु ये उस रुपसे धर्म नहीं, अपितु श्रेयः साधनत्व (फलसाधनत्व) रुपसे धर्म हैं, यह सब वेदसे ही मालूम होता है। क्योंकि फल स्वर्गादि जन्मान्तर भावी हैं। इसलिए ये प्रत्यक्षके विषय नहीं होते

प्रत्यक्षत्वं फलसाधनरूपस्याविकल्पग्रहणासंभवात्। तस्मादनिमित्तं प्रत्यक्षम्। तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानाद्यपि।

काश्यपीयाः पुनः प्रातिभज्ञानमृषीणां धर्मे प्रवर्तत इत्याहुः, तत्तु लिङ्गाद्याभासजत्वात् प्रमाणमेव न भवति, किं पुनर्धर्मे। शब्दस्य तु बुद्धिजनकत्वादसत्यपवादे युक्तं प्रामाण्यम्।

ननु न बुद्धिजननमात्रात् प्रामाण्यं युक्तम्, अयथार्थेष्वपि वाक्येषु बुद्धिजननाविशेषात्। सत्यम्, तत्र तु कारणदोषबाधकप्रत्ययाभ्यां युक्तमप्रामाण्यम्, वेदे तु तदभावात् स्वतः प्राप्तं प्रामाण्यमनपोदितं भवति।

उत्तर—धर्मका लक्षण हमने किया है। फलसाधनत्व। यह प्रत्यक्षका विषय नहीं है, क्यों कि फल साधनत्व सविकल्पक ज्ञानका ही विषय होता है। क्यों कि उसमें विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध मालूम होता है। उसका प्रत्यक्ष होना सुतरां असम्भव है। इसलिए प्रत्यक्ष निमित्त नहीं धर्ममें तत्पूर्वक होनेसे अनुमानादि भी धर्ममें प्रमाण नहीं।

शंका—इस विषयमें वैशेषिक लोग कहते हैं। कि ऋषियोंका जो प्रातिभज्ञान होता है, 'श्वस्ते भ्राता आगमिष्यति' 'सोमयाजी-अस्य पुत्रो भविता' इत्यादिक ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। इसीसे धर्मका ज्ञान होता है। अतः ऋषियोंका प्रातिभ ज्ञान धर्ममें प्रमाण है; ऐसा इसमतका उपन्यास करते हैं 'काश्यपीयाः' इत्यादिसे।

उत्तर—यह प्रातिभ ज्ञान लिङ्गादि आभाससे उत्पन्न होता है, इसलिए यह प्रमाण ही नहीं होता। धर्ममें प्रमाण होना तो दूररहा। (अर्थात् प्रातिभ ज्ञानका धर्ममें प्रमाण होना सर्वथा असम्भव है) शब्द तो धर्म विषयक ज्ञानको उत्पन्न करता है, इसलिए वेदवाक्यका स्वतः प्रामाण्य है। उसका अपवादक बाधक ज्ञान या कारण दोष ज्ञान है नहीं; अतः वेद वाक्य ही धर्ममें प्रमाण है, प्रत्यक्षादि नहीं, यह सिद्धान्त है।

शंका—शब्द अर्थात् वाक्य किसी अर्थका ज्ञान करनेसे ही प्रमाण होता है, यह नहीं कह सकते। यदि ऐसा होगा तो 'इदंरजतम्' (यह चान्दी है) ऐसा अनाप्तपुरुषसे उच्चरित वाक्यसे भी अर्थज्ञान होता है, उसका भी प्रामाण्य हो जाएगा।

उत्तर—ठीक कहते हैं, किन्तु अनाप्तोच्चरित वाक्यसे जो ज्ञान होता है, उसका कारण-दोष ज्ञानसे या बाधक ज्ञानसे अप्रामाण्य होना युक्त है। इसलिए पौरुषेय वाक्यके आप्तोच्चरित होनेसे उसका प्रामाण्य है। और अनाप्तोच्चरित होनेसे अप्रामाण्य है। वेद वाक्योंमें कारण दोष नहीं है। वेद अपौरुषेय है, इसलिए कर्तृ दोषकी सम्भावना भी नहीं है। बाधक ज्ञान भी नहीं। इसलिए उक्त दोनों दोषोंके अभावके कारण वेद वाक्यसे जो ज्ञान होता है। वह अबाधित रहता है। अतः वेद वाक्य धर्ममें प्रमाण है। ❀

❀ शंका—शब्द प्रामाण्यका आक्षेप होने पर शब्द प्रमाण है, यह सिद्धकरना प्रकृतमें पर्याप्त है। सभी ज्ञानोंके प्रामाण्य अप्रामाण्यके विचारकी क्या आवश्यकता है ? उत्तर—प्रत्येक प्रमाणके शंका समाधान करनेमें गौरव है। सभी ज्ञानोंको लेकर स्वतः प्रामाण्य, परतः अप्रामाण्य सिद्धकरने पर लाघव है। अतः सभी ज्ञानोंको लेकर प्रामाण्य विचार किया गया है। विद्वानोंने यों कहा है—

'सामान्यानुगता शक्तिः या काचन निरुपिता। तदन्वितो विशेषोऽपि तद्द्वारव्यपदेशभाक्॥
(देखें कारिका चोदना सूत्र)

प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वविचारः

कथं पुनः प्रामाण्यस्य स्वतः प्राप्तिः ? तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते—किं प्रामाण्यमप्रामाण्यं चोभयं स्वत एवावगम्यते ? अथ वाऽन्यतरदपि स्वभावेनाऽनिरूपितं कारणगुणदोषप्रत्ययाभ्यामवगम्यते ? आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतोऽवगम्यते प्रामाण्यं तु कारणगुणज्ञानात् संवादज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाद्वाऽवधार्यते ? उत प्रामाण्यं स्वतः प्राप्तं सदर्थान्यथात्वकारणदोषज्ञानाभ्यामवगम्यमानेनाऽप्रामाण्येनाऽपोद्यते ? इति ।

तत्र सर्वकारणानां स्वकार्यशक्तेः स्वाभाविकत्वादुभयमपि ज्ञानस्य स्वरसादेवावगम्यत इति केचित्[१] तदयुक्तम्—न हि ज्ञानं स्वविषयस्य तथात्वमतथात्वं च युगपच्छक्नोति वेदयितुम्, विरोधात् ।

अथ कापि ज्ञानव्यक्तिः स्वप्रामाण्यं स्वतो बोधयति काप्यप्रामाण्यमित्युच्यते, तथापि न युक्तम्—कारणान्तरनिरपेक्षस्य ज्ञानस्यैवोपलम्भहेतुत्वे किं क ज्ञाने भवतीति न शक्यं विवेक्तुम् । अतो द्वयमपि स्वस्वभावेनानिरूपितं कारणगुणदोषज्ञानाभ्याम-

---

यह शंका है कि प्रामाण्यका स्वतस्त्व कैसे होता है ? संशयको छोड़कर सभी ज्ञानोंको लेकर यह विचार है । (यहाँ चार पक्ष हैं, उनमें प्रथम पक्ष सांख्यका है—) प्रामाण्य—अप्रामाण्य दोनोंका स्वतः ज्ञान होता है, यह उनका सिद्धान्त है । (नैयायिकोंका पक्ष है कि) प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों स्वभावसे अनिरुपित होकर, अर्थात् स्वतः न होकर कारण गुण ज्ञान तथा कारण दोष ज्ञानसे अवगत होते हैं । अर्थात् दोनों परतः होते हैं । इसीको 'अथवा' इत्यादिसे कहा है । तीसरा पक्ष है कि अप्रामाण्य स्वतः अवगत होता है, प्रामाण्य तो कारण गुण ज्ञान, संवादज्ञान तथा अर्थ क्रियाज्ञानके द्वारा निश्चित होता है । (यह बौद्धोंका मत है) अब सिद्धान्त कहते हैं कि प्रामाण्य स्वतः प्राप्त होकर, बाधक ज्ञान या कारणदोष ज्ञानसे अवगत अप्रामाण्यसे बाधित हो जाता है । इन चारों पक्षोंका क्रमशः निराकरण करनेके लिए प्रथम सांख्यमतका उपन्यास करते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

प्रथम—पक्ष—सांख्य सत्कार्य वादोका हैं । उनका कहना है कि कारण मात्रमें अपना कार्य उत्पन्न करनेका सामर्थ्य स्वभावतः विद्यमान है । जैसे माष (उरद) पित्त-कफ दोनों परस्पर विरुद्धको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार दोनों ज्ञानके कार्य होनेके कारण, स्वभावसे ही अवगत होते हैं । (क्योंकि कार्यका जो कारण है, उससे भिन्न दूसरे कारणका अन्वेषण करना अयुक्त है । इसलिए ज्ञानका प्रामाण्य-अप्रामाण्य. दोनों स्वतः होते हैं, यह सांख्यका पक्ष है) जो 'इतिकेचित्' से कहा है ।

इसका निराकरण—'तदयुक्तं' से करते हैं । कहते हैं कि दोनोंका स्वतस्त्व ठीक नहीं, क्यों कि ज्ञान अपने विषयका अबाधितत्त्व, बाधितत्त्व-दोनोंका युगपत् बोध नहीं करा सकता भाव-अभाव होनेसे दोनोंका विरोध है ।

शंका—यदि कहा जाएकि कोई ज्ञानव्यक्ति प्रामाण्यका स्वतः बोधन कराता है, दूसरा ज्ञानव्यक्ति अप्रामाण्यका बोधन कराता है । तब क्या विरोध है ।

उत्तर—यह कथन भी उपयुक्त है । क्यों कि ज्ञान अपने कारणको छोड़कर, उपलम्भका कारण होता है । ऐसी परिस्थितिमें किस ज्ञानमें प्रामाण्य है किसमें अप्रामाण्य है इसका विवेचन अशक्य है । इसलिए दोनोंको स्वतः नहीं मान सकते ।

वगम्यत इत्यपरे। तदप्यपेशलम्—एवं हि गुणदोषावधारणात् प्रागन्यतरेणाप्याकारेणार्थ-

इसी अरुचिके कारण तार्किकोंके प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों स्वतः नहीं होते; किन्तु कारण गुण ज्ञान, कारण दोष-ज्ञान इन दोनोंमें से किसीसे मालूम होते हैं। अतः दोनोको परतः मानना चाहिए इसीका निराकरण करते हैं—'तदप्यपेशलम्' इत्यादिसे। यह पक्ष भी सुन्दर नहीं, क्योंकि जब ज्ञान होता है, तो उस समय न गुण है न दोष ज्ञान है। इसके निश्चयके पूर्व ज्ञानको प्रमाण भी नहीं कह सकते। अप्रमाण भी नहीं कह सकते। अर्थात् ज्ञान निःस्वभाव हो जाएगा*।

(क्यों कि ज्ञान दो प्रकारमें विभक्त है—प्रमा एवं भ्रम। जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तो न प्रमा होती है, न भ्रम होता है। इसलिए ज्ञान स्वरूपतः सिद्ध न होनेसे स्वभाव-शून्य हो जाएगा। अतः तार्किक मत ठीक नहीं)

* प्रमाण सामान्यको लेकर उनका प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है, तथा स्वतः गृहीत होता है। अथवा प्रामाण्य परतः उत्पन्न होता हैं और परतः गृहीत होता हैं, यह विचार किया गया है। प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा गृहीत होता है, ऐसा कहने वालोंका यह अभिप्राय है कि जिस सामग्रीसे ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्रीसे प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। ज्ञानोत्पादक सामग्रीसे ही प्रामाण्मकी उत्पत्ति होती है, दूसरेसे नहीं। इससे यह लक्षण सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पादक सामग्री जन्यत्व उत्पत्तिमें स्वतस्त्व है। इसी प्रकार जिस सामग्रीसे ज्ञान गृहीत होता है, इसीसे प्रामाण्य भी गृहीत होता है, दूसरेसे नहीं। इससे ज्ञानग्राहक सामग्रीसे ही प्रामाण्यका भी ग्रहण हो जाता है। यथा='ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्' इति।

इसी प्रकार परतस्त्व वादीका कहना है कि जिस सामग्रीसे ज्ञान उत्पन्न होता है उससे प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दूसरी सामग्रीसे उत्पन्न होता है। अर्थात् गुणसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है, दोषसे अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। इस मतमें ज्ञानोत्पादक सामग्रीसे भिन्न सामग्रीसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है। यथा='ज्ञानोत्पादकसामग्रीभिन्न-सामग्री-जन्यत्वं उत्पत्तौ परतस्त्वम्' इति।

इसी प्रकार जिस सामग्रीसे ज्ञानका ग्रहण होता है, उससे प्रामाण्यका ग्रहण नहीं होता, किन्तु इससे भिन्न सामग्रीसे प्रामाण्यका ग्रहण होता है। अर्थात् ज्ञान—ग्राहक सामग्री भिन्न है। प्रामाण्य ग्राहक सामग्री भिन्न है। यथा=ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञप्तौ परतस्त्वम्' इति। यह दोनों मतोंके अभिप्रायका संक्षेप है। इसमें परतः प्रामाण्य पूर्व पक्ष है और स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त है।

प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। उसकी उत्पत्ति स्वतस्त्वमें कारण-दोष अपवाद होता है। उसके रहनेसे प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होता। अतः कारण—दोष उत्पत्ति स्वतस्त्वमें बाधक है। इसीप्रकार ज्ञप्ति स्वतस्त्व का अपवाद है बाध। 'यह रजत है' इस ज्ञानका 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञानसे पूर्वज्ञानका बाध होनेपर, उसमें प्रामाण्य गृहीत नहीं होता। अर्थात् कारण दोषके रहनेसे उत्पत्ति स्वतस्त्व नहीं होता। बाधक—ज्ञान रहनेसे ज्ञप्तिमें स्वतस्त्व नहीं होता। इन दोनोंके न होनेसे प्रामाण्य उत्पन्न होता है और गृहीत भी होता है। उक्त अर्थका प्रतिपादक यह वार्तिक है—

तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। अर्थान्यथात्वहेतुत्थ-दोषज्ञानादपोद्यते॥

द्रष्टव्य चोदना सूत्र, का० ५३

मनवगमयद्विज्ञानं निरस्वभावं स्यात्। तस्मादप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं तु संवादज्ञाना-दिभिरित्येतदेव युक्तम्।

तथा हि—न ज्ञानमुत्पन्नमित्येतावताऽर्थतथात्वावधारणं युक्तम्, व्यभिचारादनि-श्चयाच्च, अप्रामाण्यमेव तस्यां वेलायां प्राप्तम्। पश्चात् कारणगुणज्ञानात्संवादज्ञानादर्थ-क्रियाज्ञानाद्वा प्रामाण्यावगमादपोद्यते। शब्दे चाप्तप्रणीतत्वं गुणः, न च वेदे तदस्ति, अपौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'शृणोत ग्रावाणः!' इत्येव-मादीनामुन्मत्तप्रलपितकल्पत्वात्, अप्रत्ययिततरप्रणीतत्वादप्रामाण्यमेव वेदानामिति प्राप्ते-

अभिधीयते—परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ॥ ७ ॥

इसलिए (बौद्ध कहता है कि) अप्रामाण्य स्वतः होता है। प्रामाण्य संवाद ज्ञान आदिसे होता है (मूलमें आदि पदसे गुण ज्ञान तथा अर्थक्रिया ज्ञानको भी लेना चाहिए। इनसे प्रामाण्यका ग्रहण होता है) ऐसा कहना ही युक्त है। ज्ञान उत्पन्न हुआ, इतनेसे अर्थतथात्व (प्रामाण्य) का निश्चय नहीं होता, क्यों कि व्यभिचार देखा जाता है। जैसे 'इदं रजतं' यह ज्ञान हुआ, किन्तु रजतकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए व्यभिचार स्पष्ट है। इसी प्रकार पुरोवर्ती पदार्थमें दोनो धर्मियोंमें रहने वाले साधारण धर्म ऊंचाई आदिको देखकर, स्थाणु है ? कि पुरुष है ? यह अनिश्चय (संशय) होता है। यदि उत्पन्न ज्ञान प्रमाण होकर ही उत्पन्न हुआ है, तो व्यभिचार तथा अनिश्चय (संशय) दोनोंसे उस समय अप्रामाण्य ही प्राप्त होगा। ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् कारण गुण ज्ञान या संवाद ज्ञान या अर्थक्रियाज्ञानसे प्रामाण्यका ग्रहण होने पर, प्रथमतः प्राप्त अप्रामाण्य अपोदित (बाधित) होता है। शब्दमें आप्तप्रणीतत्व गुण है❀। वेदमें तो आप्त प्रणीतत्व गुण है नहीं, उसके अपौरुषेयत्व स्वीकार करनेसे। इसलिए प्रामाण्य स्वतः नहीं होता।

और सुनिए—वेदमें अनाप्त प्रणीतत्त्व दोष भी है। जैसे 'वनस्पतयः सत्रमासत'=बड़े-बड़े वृक्षोंने सत्र-याग किया। और 'शृणोत ग्रावाणः'=हे पत्थरो! सुनो, इत्यादि उन्मत्त प्रलापके समान है। अतः अत्यन्त अविश्वस्त पुरुषप्रणीत होनेसे वेदका अप्रामाण्य ही होना चाहिए। इसप्रकार बौद्धमतसे पूर्व पक्ष प्राप्त हुआ।

'अभिधीयते' § से सिद्धान्त कहते हैं, कि प्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है, परतः नहीं। अन्यथा अनवस्था दोष होगा। श्लोकार्थ—ज्ञानका प्रामाण्य परापेक्ष=ज्ञानान्तरकी अपेक्षा करेगा। वह भी तो ज्ञान है। उसका भी प्रामाण्य ज्ञानान्तरके अधीन मानना पड़ेगा। अतः प्रामाण्य किसी भी ज्ञानमें अपनी सत्ताको प्राप्त नहीं करेगा। अर्थात् किसी ज्ञानका भी प्रामाण्य नहीं होगा। इसलिए मूलका उच्छेद करने वाले पक्षको कौन बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार करेगा ? कोई नहीं।

❀ यथार्थ वक्ताको आप्त करते हैं। तदुच्चरितत्त्व ही गुण है।

§ 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते' इस श्लोकमें पूर्वार्धसे ज्ञानके हेतुओंका प्रामाण्यमें भी व्यापार है, यह बताया गया है। उत्तरार्धसे उसमें दूसरी सामग्रीका अभाव हेतु बताया गया है। अन्येन=ज्ञान सामग्री भिन्नसे। श्लोकमें स्वशब्द आत्मीय वाची है। अर्थ स्पष्ट है।

यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षेत, ततः कारण - गुण - संवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि - स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणेऽपरमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति, न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेव सर्वत्र उत्सीदेत्[1]।

अथ—अर्थक्रियाज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति चेत्? को विशेषः? अव्यभिचार इति चेत्? न, स्वप्नावस्थायामसत्यप्युदकाहरणेऽर्थक्रियाविज्ञानदर्शनात्।

अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया, तच्चाव्यभिचार्येव। न हि कचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्ति। सत्यमेतत्, नतु तेन पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्याध्यवसानं संभवति-अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्। तस्मात् स्वतः प्रामाण्यं प्राप्तमर्थोन्य-

---

(उक्त पद्यका यह संक्षेपसे अर्थ कहा गया है। उसीकी 'यदिहि' इत्यादिसे स्वयं ग्रन्थकार व्याख्या करते हैं=) सभी ज्ञान अपने विषयका प्रामाण्य निश्चय करनेमें स्वयं असमर्थ होकर, दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेंगे तो, कारण गुण ज्ञान, सम्वाद ज्ञान, अर्थ क्रिया ज्ञान भी अपने विषय भूत गुणादिका निश्चय करनेमें दूसरेकी अपेक्षा करेंगे। वैसे दूसरा ज्ञान भी अपने प्रामाण्यके निश्चयके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा करेगा। इस प्रकार कोई अर्थ हजारों जन्ममें भी निश्चित नहीं हो सकेगा। अतः प्रामाण्य ही समाप्त हो जाएगा (अतः अनवस्था भयसे ज्ञानको स्वतः प्रामाण्य मानना आवश्यक है, यह सिद्धान्त है)

शंका—(प्रामाण्य परतः गृहीत होता है, इसमें संवाद ज्ञान या अर्थक्रिया ज्ञान कारण है। यहाँ अनवस्था दोषका परिहार करनेके लिए अर्थक्रिया ज्ञानको स्वतः प्रमाण मानते हैं। अर्थक्रिया कहते हैं प्रयोजनको। इसलिए अर्थक्रिया ज्ञानके स्वतः प्रमाण होनेसे अनवस्था दोष नहीं। इसमें मीमांसक पूछते हैं कि) अर्थक्रिया ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, दूसरा ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता, इनमें क्या विशेषता है?

उत्तर—अव्यभिचार ही कारण है। जैसे 'इदं रजतम्' ज्ञानमें व्यभिचार होता है, वैसे अर्थक्रिया ज्ञानमें व्यभिचार नहीं होता। शंका-अर्थक्रिया स्वयं फलरूप है। उसके होने पर अप्रामाण्य शंकाका अवकाश नहीं रहता। यदि ऐसा कहें, तो? उत्तर—नहीं, अर्थक्रिया ज्ञानमें भी व्यभिचार देखा जाता है। जैसे स्वप्नावस्थामें उदकाहरण नहीं है। फिर भी जलको लाना इस अर्थ क्रियाका ज्ञान होता है। इसलिए वहाँ भी शुक्तिमें 'इदं रजतं' इस ज्ञानके समान; उदकाहरण न होनेपर भी ज्ञान होता है।

शंका—सुख ज्ञान ही अर्थक्रिया है। और वह सुख ज्ञान अव्यभिचारी है। सुख होने पर ही सुखज्ञान होता है। विना सुखके सुखज्ञान नहीं होता इसलिए सुखज्ञान अव्यभिचारी है। उससे प्रामाण्यका निश्चय हो सकता है।

उत्तर—यह ठीक है, विना सुखके सुख ज्ञान नहीं होता। एतावता पूर्व ज्ञानका अर्थात् सुखजनक ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्नावस्थामें प्रियाके आलिंगन आदि ज्ञानसे सुख होता है। उस सुखका ज्ञान भी होता है। किन्तु उससे प्रिया-संगम ज्ञानका प्रामाण्य निश्चय नहीं कर सकते। स्वप्नमें प्रिया-संगम मिथ्या होनेके कारण, वह ज्ञान अप्रमाण है। इसका कहीं

---

१. प्रामाण्यमेवोत्सीदेदिति 'क' पुस्तके पाठः।

थात्वकारणदोषज्ञानाभ्यामपोद्यत इत्यवश्यमङ्गीकरणीयम्। एवं च शब्देऽनाप्तपुरुषसंस्पर्शकृतत्वाद् दोषाणामपौरुषेये वेदे तदभावात्, साक्षाच्चार्थान्यथात्वज्ञानाभावादनपोदितं प्रामाण्यं भवति। पौरुषेयवचनानि तु पुरुषबुद्धिप्रभवत्वाद् भ्रान्त्या विप्रलिप्सया वा प्रयुक्तानि मूलदोषेण दुष्टत्वादयथार्थानि भवन्तीति वैषम्यम्।

शब्दस्यानुमाने-अन्तर्भावशङ्का

केचित्त्वाहुः—न लोकेऽपि शब्दस्याऽयथार्थत्वमस्ति, तदभावात्। न हि लोके शाब्दं प्रमाणमस्ति, वक्त्रभिप्रायानुमापकत्वात् पुरुषवचसाम्। तेनानुमानस्यैवायं व्यभिचारो न शाब्दस्य। न वा तस्यापि विवेकाग्रहणादलिङ्गे लिङ्गव्यवहारप्रवृत्तिः। यदि

भी स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। अतः ज्ञानका जो स्वतः प्रामाण्य होता है, वह बाधक ज्ञान या कारण दोष ज्ञानसे बाधित होता है, यह अवश्य मानना होगा

अब उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं—'एवं च' इत्यादिसे। इस प्रकार प्रामाण्यका स्वतस्त्व सिद्ध होने पर, स्वतः प्राप्त प्रामाण्यका कारण दोष ज्ञान या बाधक ज्ञानसे बाध होता है। प्रकृतमें शब्दसे अनाप्त पुरुष प्रणीतत्व ही दोष है। वेद तो अपौरुषेय है। उसमें पुरुष दोषोंके असंभव होनेके कारण, अबाधित प्रामाण्य सिद्ध होता है। पौरुषेय वाक्य तो पुरुष बुद्धिसे निर्गत होनेके कारण, भ्रान्ति, विप्रलिप्सा (धोखा देना) आदिसे प्रयुक्त होनेके कारण मूलदोषसे अर्थात् पुरुष बुद्धिरुप दोषसे दूषित होनेसे अयथार्थ होते हैं। यह वेदवाक्य और पौरुषेय वाक्यमें वैषम्य है।

(प्राभाकर मीमांसक लौकिक शब्दको प्रमाण नहीं मानते, किन्तु शास्त्रको प्रमाण मानते हैं। इसलिए उनका कहना है कि लोकमें शब्द प्रमाणका अप्रामाण्य अयथार्थत्व नहीं होता, क्योंकि शब्द प्रमाण नहीं है। इसी अभिप्रायसे शालिकनाथने यह शंका की है 'ननु अशास्त्रमपि शाब्दमस्ति लौकिकम्, तत् किमिति न लक्षितम् ?' इसका अर्थ है कि शास्त्रसे भिन्न होनेपर भी लौकिक शब्द प्रमाण है। उसका क्यों लक्षण नहीं किया ? ऐसी शंका करके, 'अत एव लौकिकस्य वचनस्यानुवादकतैव, अतएव लौकिके वचने न शाब्दं प्रमाणम्' अर्थात् लौकिक वाक्य अर्थ निश्चायक नहीं होते। क्योंकि लौकिक वाक्य अनृतभूयिष्ठ होते हैं। उनके अर्थ-व्यभिचारकी शंका होती हैं। अतः लौकिक वाक्य = रूप हेतुसे वक्ताके ज्ञानका अनुमान होता है। अन्वयका निश्चय होनेपर वाक्य अनुवादक होता है। इसलिए लोकमें शब्द प्रमाण नहीं है। उसीका निरास करनेके लिए 'केचित्' इत्यादि से कहते हैं। 'केचित्' पदसे प्राभाकर मतानुयायि शालिकनाथ अभिप्रेत हैं। उन्होंने प्रकरणपञ्चिकामें जो कहा है, इसीका अनुवाद करते हैं)

शंका—लोकमें शब्द प्रमाण नहीं है, क्योंकि पौरुषेण वाक्य वक्ताके अभिप्रायके अनुमापक होते हैं*। यह जो कहा जाता है कि अनुमानका ही यह व्यभिचार (अप्रामाण्य) है, शब्दका नहीं। (क्योंकि शब्दको प्राभाकर स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते) वास्तवमें विचार करनेपर यह अनुमानका भी दोष नहीं है। क्योंकि अनुमानकी भी—जो अलिंग है, उसमें—लिंग व्यवहारकी-सी प्रवृत्ति होती है। उसमें कारण है विवेकाग्रह। इसलिए विवेकाग्रहसे अलिंगसे भी व्यवहार होता है। अर्थात् प्रवृत्ति होती है।

---

* जैसे अनुमानका आकार इस प्रकार है—'देवदत्तः गोकर्मक–आनयनानुकूल-कृतीविषयक–अभिप्रायवान्, गामानय इत्यादिवाक्यप्रयोक्तृत्वात्, यज्ञदत्त वत्'। इस अनुमानमें देवदत्तको पक्षकर, वाक्य प्रयोक्तृत्वरूप हेतुसे वक्त्रभिप्रायरूप साध्यका अनुमान करते हैं।

तु शब्दस्यैवायं व्यभिचारोऽभ्युपेयते स्वाभाविकमेवाप्रामाण्यं स्यात्। न हि पुरुषदोषेण शब्दस्य दोषो भवति, यथावस्थितशब्दाभिव्यक्तिमात्रे पुरुषस्य व्यापारात्।

शङ्काया निरासः—

तदिदमसारम्—यदि लोके शाब्दं नास्ति तदा वेदेऽपि कथं तत्स्यात्? 'न ह्यभिप्रायानुमानक्षीणस्य शब्दस्यार्थं प्रति वाचकत्त्वे प्रमाणमस्ति' इत्युक्तं न्यायरत्नमालायाम्।

यच्च व्यभिचाराभ्युपगमे स्वाभाविकमप्रामाण्यं भवति, पुरुषदोषस्य शब्देऽनवतारादिति। स्यादेतदेवं यदि यदीयं यद्वाक्यम्, तत्स पुरुषोऽभिव्यञ्ज्यात्। तत्तु तेनैव क्रियते। वर्णा नित्याः, पदानि च, वाक्यानि तु पुरुषैरेव क्रियन्ते, पौरुषेयत्वादेव। यथाऽवस्थितानि व्यज्यमानानि वेदवाक्यवदपौरुषेयाण्येव स्युः। ततश्चवक्त्रभिप्रायानुमापकत्वमपि न स्यात्। तद्यथाध्येतृभिरभिव्यज्यमानानि वेदवाक्यानि नाध्येतृणामभिप्रायं सूचयन्ति, तथा पुरुषवाक्यान्यपि न सूचयेयुः। यदि हि व्यभिचाराशङ्कया लोके शब्दस्य

विपक्षमें बाधक बताते हैं—'यदि' इत्यादिसे। यदि शब्दको प्रमाण मानकर, उसका व्यभिचार माना जाए, तो शब्दका सर्वत्र अप्रामाण्य स्वाभाविक सिद्ध होगा। तब वेदका भी अप्रामाण्य सिद्ध हो जाएगा। अप्रामाण्य माननेपर यह दोष होगा, कि पुरुष यथा-अवस्थित शब्दको अभिव्यक्त करेगा। उसीमें पुरुषका व्यापार होगा। तब पुरुष दोषसे शब्दमें दोष नहीं आ सकता। (इसलिए शब्दका व्यभिचार अनुमानमें ही पर्यवसित होगा, क्योंकि शब्द प्रमाणका अनुमानमें अन्तर्भाव हो जाता है)

इसका निराकरण करते हैं—'तदिदम् असारम्' इत्यादिसे। इस कथनमें कोई सार नहीं। यदि लोकमें शब्द प्रमाण नहीं है, तो शब्द समुदायरूप वेदमें भी प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् नहीं होगा। इसी अभिप्रायको 'न्यायरत्नमाला' में कहते हैं, कि 'अभिप्राय अनुमानसे क्षीण-शक्ति जो शब्द है, वह अर्थका वाचक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं'।*

यह जो कहा गया है कि शब्दका व्यभिचार माननेपर अप्रामाण्य स्वाभाविक होगा, पुरुष दोषका शब्दमें सम्बन्ध न होनेके कारण, इसका निराकरण करते हैं—'स्यादेतत्' इत्यादिसे—

यह दोष तब सम्भव है, यदि जिसका जो वाक्य है, वह उस वाक्यको अभिव्यक्त करता। ऐसी तो बात है नहीं। क्योंकि वह वाक्य उसी पुरुषसे बनाया जाता है। सिद्धान्तमें वर्ण तो नित्य हैं। वर्णात्मक पद भी नित्य हैं। वाक्य तो नित्य नहीं हैं। वे तो पद-समुदाय रूप हैं। अर्थात् आनुपूर्वी (क्रम) विशिष्ट पदको वाक्य कहते हैं। वे पुरुषसे ही निर्मित होते हैं, इसलिए वे पौरुषेय हैं। यदि पुरुष वाक्योंको अभिव्यक्ति मात्र करता है, बनाता नहीं है, तो वे वाक्य, वेदवाक्योंके समान अपौरुषेय हो जाएँगे। इससे वक्ताके अभिप्रायका अनुमापकत्व भी सिद्ध नहीं होगा। इसमें दृष्टान्त है जैसे—अध्येता लोग वेद वाक्योंको अभिव्यक्त करते हैं; अतः वेदवाक्य पढ़नेवालोंके अभिप्रायको सूचित नहीं करते, वैसे ही पौरुषेय वाक्य भी वक्ताके अभिप्रायको सूचित नहीं कर सकते। (अतः लौकिक वाक्योंका अपौरुषेयत्व आपके मतमें अपरिहार्य होगा)

---

* अर्थात् वक्ताके अभिप्रायके अनुमानसे क्षीण जो शब्द है, वह अर्थका वाचक नहीं हो सकता। इसलिए पदार्थोपस्थिति नहीं होगी। वाक्यार्थरूप अनुमानका होना सुतरां असम्भव है। इत्यादिक। द्रष्टव्य न्यायरत्नमाला

प्रामाण्यं न सम्भवतीत्युच्यते ? तर्हि तद् वक्त्रभिप्रायानुमानेऽपि तुल्यम्, अन्यथासंविदानस्याप्यन्यथावाक्यरचनादर्शनात्।

किं च शब्दस्य चक्षुरादेरिव स्वसामर्थ्येन बोधकत्वाद् व्यभिचारेपि न बोधकत्वहानिः। लिङ्गस्याव्यभिचारिण एव गमकत्वमिति, व्यभिचारिणोलिङ्गत्वमनुपपन्नम्[1]।

अथ वक्तुराप्तत्वाद् व्यभिचारशङ्कां निवर्त्यानुमानम्? तथा सति शाब्दमेवार्थे प्रमाणवस्तु प्रतिबन्धिकायाः शङ्काया निरस्तत्वात्। अवश्यं हि बुद्धिविशेषमनुमित्सता प्रथमं पदार्थास्तेषां चान्वययोग्यतालोचयितव्या। ते चालोच्यमाना द्रागेव वाक्यार्थं बोधयन्तीति नानुमानं प्रतीक्षन्ते।

किञ्चानुमिते बुद्धिविशेषे पश्चादनुवादभूतं वाक्यं वाक्यार्थमवबोधयतीति वः

शंका––यदि कहा जाए कि व्यभिचारकी आशंकासे लोकमें शब्दका प्रामाण्य नहीं होता ?

उत्तर––अप्रामाण्य होना वक्ताके अभिप्रायका अनुमापक है। उस पक्षमें भी यह अवश्य होगा, अतः समान है। क्योंकि कोई मानव पदार्थको अन्य रूपसे जानता है और वाक्यको अन्य रूपसे कहता है। (जैसे सामने शुक्ति-शकलको देखता है। शुक्ति-शकलको जानता हुआ भी 'यह रजत है' ऐसा दूसरोंकी वंचनाके लिए कहता है। इसलिए वक्ताके अभिप्रायके अनुमान पक्षमें भी, शब्द प्रामाण्यका अनिवार्य-रूपसे व्यभिचार होगा)

और कहते हैं कि––जैसे चक्षु अपनी सामर्थ्यसे अर्थका बोधक होता है। उसका कहीं व्यभिचार होनेपर भी बोधकत्वकी हानि नहीं होती; (अर्थात् ज्ञापकता रहती ही है) वैसे शब्दमें सामर्थ्यके द्वारा अर्थबोधकता पक्षमें कहीं व्यभिचार (भ्रमात्मकता) होनेपर भी बोधकताकी हानि नहीं होती। शंका––व्यभिचार होनेपर भी वक्ताके अभिप्रायके अनुमानमें लिंग क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर––अनुमान स्थलमें यह नियम है कि अव्यभिचारी लिंग ही गमक (साध्यका अनुमापक) होता है, (व्यभिचारीकी अलिंगता उपपन्न है। अर्थात् व्यभिचारी लिंग नहीं होता।) अतः वक्ताके अभिप्रायका अनुमान करानेकी योग्यता न होनेसे, लिंगकी अनुमापकता नहीं बन सकती। (इसलिए शब्दको पृथक् प्रमाण ही मानना चाहिए)

शंका––यदि कहा जाए, वक्ताके आप्त होनेके कारण व्यभिचार शंकाको दूरकरके, शब्दके द्वारा वक्ताके अभिप्रायका अनुमान हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं है ?

उत्तर—ऐसा होनेपर शब्दका ही अर्थमें प्रामाण्य होवे, प्रतिबन्धक शंकाका निरास होनेके कारण। क्योंकि अभिप्राय विशेषका जो अनुमान करना चाहता है, उसे अनुमानके पहिले; पदार्थोंकी अन्वय योग्यता है या नहीं, ऐसा विचार करना चाहिए। इसका निश्चय होनेपर शीघ्र ही वाक्यार्थका बोध हो जाता है। फिर वाक्यार्थ बोधके लिए अनुमानकी अपेक्षा नहीं होती। (क्योंकि शब्दका प्रामाण्य पृथक् होता है। वह अपनी सामर्थ्यसे ही अर्थ बोधकताको साधता है)

शंका—अब प्राभाकर मतमें अनिष्टापत्ति दिखाते हैं––'किंच' से। शब्दसे बुद्धि (अभिप्राय) विशेषका अनुमान करनेके पश्चात्, वाक्य अनुवादक होकर, वाक्यार्थका बोधन करता है, यह आपका सिद्धान्त है। ऐसा माननेपर, जो अनाप्त ही आप्तबुद्धिसे गृहीत है, उसके वाक्यसे अयथार्थ

१. व्यभिचारिणोऽलिङ्गत्वमुपपन्नमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

सिद्धान्तः। ततश्च यो नामाऽनाप्त एवाप्तबुद्ध्या गृहीतस्तद्वाक्यादयथार्थमेव ज्ञानमुत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च दोषाधीनत्वादप्रामाण्यस्य वक्तृदोषाणाञ्च शब्दे संक्रान्त्यऽनभ्युपगमात्, स्वारसिकमेव शब्दे दुष्टत्वमापन्नमिति बलादप्रामाण्यं वेदस्य प्रसज्येत इत्यास्तां तावत्। तस्मादनाप्तवचसां सत्येवाप्रामाण्ये वक्तृदोषाधीनत्वाद्, वेदे च तदभावात् प्रामाण्यमेव वक्तव्यम्। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मः श्रेयस्कर इत्यर्थः। यदेव श्रेयस्साधनरूपं यागहोमादि, तदेव धर्म इत्युच्यते लोके, नापूर्वम्, अन्तःकरणवृत्त्यादि वा, लोकप्रसिद्धिविरहात्।

ज्ञान ही उत्पन्न हुआ, यह मानना होगा। इससे अप्रामाण्य दोषके अधीन होनेके कारण, वक्ताके दोषोंका शब्दमें संक्रमण (सम्बन्ध) न होनेके कारण, शब्दमें अनायास ही दूषण होगा। इससे वेदका अप्रमाण्य न चाहनेपर भी बलपूर्वक आपके मतमें आ जाएगा। अतः इसपर ज्यादा विचार नहीं करना चाहिए।

उक्त विचारका उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे। अनाप्तोच्चरित वाक्योंका वक्ताके दोषसे अप्रामाण्य सिद्ध होनेपर और वेदमें वक्ताके दोषका अभाव होनेके कारण, उसका अप्रामाण्य नहीं हो सकता। इसलिए वेदका प्रामाण्य ही कहना होगा। (अर्थात् वेदके अपौरुषेय होनेसे उसमें वक्तृ-दोषका होना असम्भव है। और वक्तृ-दोष न होनेसे वेदका प्रामाण्य स्वीकार करना ही होगा) इसलिए जो नोदना लक्षण धर्म है, वही श्रेयस्कर है, यह 'अर्थ' पदकी व्याख्या है।

अब धर्मके स्वरूपका निर्णय करते हैं, 'यदेव' इत्यादिसे। जो श्रेयका साधनरूप है याग, होम आदि वही धर्म है, यह लोकमें कहा जाता है। अपूर्व को या अन्तःकरण वृत्तिको धर्म नहीं कहते। लोकमें इनकी धर्मके अर्थमें प्रसिद्धि न होनेके कारण❀।

शंका—प्राभाकर मीमांसकोंका कहना है कि अपूर्व ही श्रेयका साधन है। (क्योंकि उसीसे कालान्तरमें स्वर्गादि फल होते हैं। याग साधन नहीं, क्योंकि याग तो क्षणिक है। वह फलोत्पत्ति-पर्यन्त या उसके भोग पर्यन्त नहीं रह सकता। इसलिए अपूर्व को ही श्रेयका साधन मानना चाहिए)

❀ ('नापूर्वमन्तःकरणवृत्यादि' वाक्यमें 'आदि' पद दिया है। इससे वासना आदिका ग्रहण नहीं होता। यहाँ यह समझने योग्य है, कि ग्रन्थकारने 'श्लोकवार्तिक' की व्याख्या 'न्याय रत्नाकर' में कहा है कि—सांख्यलोग अन्तः करणकी वृत्ति विशेषको धर्म कहते हैं। बौद्धोंका मत है कि एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानमें उत्पन्न होनेवाली वासना ही धर्म है। जैन लोग शरीरके आरम्भक परमाणुओंको धर्म कहते हैं। उन्हें वे 'पूरयन्ति गलन्तीति पुदगलाः' इस व्युत्पत्तिसे पुद्गल भी कहते हैं। वैशेषिक धर्मको आत्माका विशेष गुण मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक अपूर्वको धर्म मानते हैं। परन्तु इन सब निर्दिष्ट पदार्थोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग लोकमें नहीं होता। उक्त अर्थकी संगति इस वार्तिकसे लगती है—

अन्तःकरणवृत्यादौ वासनायाञ्च चेतसः। पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि ॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्। पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ॥

(द्रष्टव्य-श्लोकवार्तिक, द्वितीय सूत्र, का० १९५–१९६)

धर्मस्वरूपनिर्णयः अर्थपदसार्थक्यं च

नन्वपूर्वमेव श्रेयस्साधनम्? न, अवान्तरव्यापारमात्रत्वात्। तस्माद् यागादिरेव श्रेयस्साधनरूपेण धर्मः, तद्रूपाभावाच्च न द्रव्यकृतस्य धर्मतापत्तिः। चोदनालक्षणमात्रस्यशू धर्मत्वं माभूदित्यर्थशब्देन विशेष्यते।

चोदनाशब्देन च प्रवर्तकं निवर्तकं वाक्यमुच्यते, ततश्च निषेधवाक्यैः 'न हिंस्यात्' इत्यादिभिरनर्थत्वेन लक्ष्यमाणानां हिंसादीनामपि धर्मत्वं स्यात्। तद्व्यावृत्त्यर्थं य एवार्थरूपेण प्रवर्तकवाक्यैर्लक्ष्यते, तस्यैव धर्मत्वं वक्तुमर्थग्रहणम्।

भाष्ये च श्येनादिग्रहणं तत्साध्यहिंसादिलक्षणार्थम्। उपरिष्टात्—'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' इति विवरणात्।

उत्तर—'न' से कहते हैं—वह अपूर्व यागका अवान्तर व्यापार मात्र है। अतः यागादि ही श्रेयःसाधनके रूपसे धर्म हैं, अपूर्व नहीं। इसलिए तुरीय वर्णसे अनुष्ठित यागादि श्रेयःसाधन नहीं होते। यही कारण है कि उन्हें धर्मताकी भी प्राप्ति नहीं है।❀

('अब अर्थ' पदकी व्यावृत्ति करनेके लिए आगेका ग्रन्थ है 'चोदनाशब्देन' इत्यादि। 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' द्वितीय सूत्रमें सूत्रकारने 'धर्म' पदकी विशेषता बतानेके लिए 'अर्थ' पद विशेषताके रूपमें दिया है। 'चोदनालक्षणत्व' धर्मका लक्षण है।) यहाँ 'चोदना' शब्दसे प्रवर्तक तथा निवर्तक दोनों वाक्य कहे जाते हैं। (जैसे प्रवर्तक वाक्य यागादि धर्ममें प्रमाण हैं; वैसे ही 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' ये निवर्तक वाक्य अधर्ममें प्रमाण हैं। अतः 'चोदनालक्षणत्वं' मात्र धर्मका लक्षण है) ऐसा माननेपर 'न हिंस्यात्' इत्यादि निषेध वाक्योंसे जो हिंसा लक्षित होती है, उसका भी धर्मत्व होने लगेगा। अर्थात् अधर्ममें भी लक्षण चला जाएगा। अतः उसको व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पदका विशेषण देते हैं। अर्थरूपसे प्रवर्तक वाक्योंके द्वारा जो लक्षित होता है, वही धर्म है। उसे कहनेके लिए 'अर्थ' पदका ग्रहण है। (अर्थात् जो अर्थ श्रेयः साधन होकर चोदना लक्षण है, वही धर्म है। हिंसा आदि धर्म नहीं, क्योंकि वे अनर्थ हैं) 'कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्रः, इषुरित्येवमादिकः' इस भाष्यमें 'श्येनादि' शब्दसे श्येन साध्य हिंसादिको लक्षणासे समझना चाहिए। (क्योंकि श्येनादि स्वरूपसे अनर्थ नहीं, किन्तु स्वसाध्य हिंसा आदिके द्वारा अनर्थ हैं। श्येनादि ग्रहणका हिंसा तक अर्थ करना चाहिए। इसमें शंका-समाधान परक भाष्यका उद्धरण देते हैं कि) 'उपरिष्टात्' उपर्युक्त भाष्यसे यह समझना चाहिए। क्योंकि श्येन याग अनर्थका कारण होनेसे वह हिंसा है। अतः उसका निषेध किया गया है।

❀ यह अभिप्राय है कि यागसे स्वर्ग होता है। अतः याग करण है। जो करण है वह व्यापारवान् होता है। 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' यह करणका लक्षण है। याग क्षणिक होनेसे कालान्तर भावि स्वर्गका साधन नहीं बन सकता; अतः याग और स्वर्ग इन दोनोंके बीचमें अपूर्व नामक व्यापार माना जाता है। यों भाष्यकारने कहा है—'यागेनापूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेदिति'=यागसे अपूर्वको करके, स्वर्गको प्राप्त करे। वह अपूर्व यागसे जन्य है और स्वर्गका जनक भी है। इसलिए उसे अवान्तर व्यापार माननेसे भी यागकी करणता उपपन्न होती है। व्यापारसे व्यापारीकी अन्यथा सिद्धि नहीं होती।

प्राभाकरमतेन अर्थपदसार्थक्यवर्णनम्

केचित्तु—लक्षणां परिहरन्तः श्येनादिस्वरूपमेवार्थपदस्य व्यावर्त्यं मन्यन्ते। तेषामेव 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया[1] विज्ञायन्ते' इति विधेयत्वनिराकरणेन प्रतिषेधविषयत्वसमर्थनात्। कथं पुनस्तेषां विधेयत्वं निराक्रियते? तत्राहुः—यस्य हि विधिः स्वसिद्धयन्यथानुपपत्त्यानुष्ठानमाक्षिपति तद्विधेयमित्युच्यते। काम्येषु च कर्मसु कामनावशादेव प्रवृत्तिसिद्धेस्तत एव विधिः सिद्ध्यन्, अन्यथानुपपत्त्यभावान्नस्वयमनुष्ठानमाक्षिपति।

ꕥ

(प्राभाकर मीमांसक 'चोदना' सूत्रका व्याख्यान करते हुए यह मानते हैं कि श्येनादि यागमें चोदना लक्षणत्व प्रसक्त होता है, अतः श्येनादि स्वरूपकी निवृत्तिके लिए 'अर्थ' पद है। उनका यह अभिप्राय है कि 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' इत्यादि भाष्यसे, हिंसाके साधन श्येनादिकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद है। ऐसा माननेपर यह लाघव है कि इस मतमें लक्षणा नहीं करनी पड़ती। भाट्ट मतमें तो 'श्येन' शब्दका श्येन साध्य हिंसादि लक्षणासे अर्थ है, ऐसा माननेमें गौरव है। इसलिए श्येनादि स्वरूपकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद है, ऐसा कहते हैं। उसीका निरास करनेके लिए 'केचित्' इत्यादिसे अनुवाद करते हैं) यहाँ 'केचित्' से प्राभाकर मीमांसक समझने चाहिएँ। वे कहते हैं कि लक्षणाका परिहार करते हुए श्येन आदि स्वरूप ही 'अर्थ' पदका व्यावर्त्य है। क्योंकि—'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' (१।१।२ सू०) इत्यादि भाष्यसे श्येनादिके विधेयत्वका निरास कर, प्रतिषेधका विषय है, ऐसा समर्थन किया गया है। (अतः 'अर्थ' पद श्येनादि स्वरूपकी व्यावृत्तिके लिए है)

शंका—कैसे श्येनादि स्वरूपके विधेयत्वका निराकरण किया जाता है? समाधान—इस विषयमें वे कहते हैं, कि विधि स्वसिद्धि (नियोग सिद्धि) की अन्यथा अनुपपत्तिसे जिसके अनुष्ठानका आक्षेप करती है, वह विधेय कहलाता है। अतः काम्य कर्मोंमें कामना वशसे ही प्रवृत्ति सिद्ध होनेसे, उसीसे विधि सिद्ध होती है। इसलिए अन्यथा अनुपपत्तिके अभावके कारण स्वयं अनुष्ठानका आक्षेप नहीं करती§।

ꕥ इससे सिद्ध होता है कि श्येनादि शब्दसे श्येन साध्य हिंसादिको लक्षणासे ग्रहण करना चाहिए। इसलिए श्येनके भी चोदना लक्षण होनेसे, उसमें धर्मत्व प्रसक्त हुआ। उसकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद सार्थक है। यही अर्थ शंका समाधानसे भाष्यमें व्यक्त है। इसीको ग्रन्थकारने संक्षेपसे बताया है।

§ अतः श्येनादि स्वरूप ही यहाँ अनर्थ है। उसीका निषेध किया गया है। अर्थात् श्येनादि यागोंमें रागसे ही प्रवृत्ति होती है, विधिसे नहीं। नित्य–नैमित्तिक स्थलोंमें रागादिसे प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए विधि स्वयं ही अपने अनुष्ठानका आक्षेप करती है

१. कर्तव्याः, इति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।

ननु कर्तव्यताबोधनमेव प्रवर्तनम्, कर्तव्यता च वेदे यागस्य लिङैव बोधितेति कथमविधेयत्वम्? सत्यम्, न तु यागस्य कर्तव्यता लिङाभिधीयते, स्वार्थस्य कर्तव्यतां लिङभिधत्ते। यागश्च तस्य विषयः करणं च। सोऽयं कर्तव्यतात्मा नियोगोऽर्थोऽन्यथानुपपत्त्या स्वविषयस्य कर्तव्यतां बोधयन्ननुष्ठापक इत्युच्यते। श्येनादीनां तु रागादेवानुष्ठानसिद्धेः, न नियोगस्तेषामनुष्ठानमाक्षिपतीति, न तेषां विधेयत्वम्। असति च विधेयत्वे तेषां निषेधविषयत्वादनर्थत्वमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमर्थपदमिति।

तन्निरासः

तत्रेदं वक्तव्यम्—कस्मिन्नंशे तेषां व्यावृत्तिरिति। धर्मत्वे इति चेत्? न, तत्स्वरूपानभिधानात्। इदं हि सूत्रं वेदार्थस्य कार्यत्वप्रतिपादनार्थम्, न कर्मस्वरूपलक्षणार्थम्। यतः श्येनादीनां धर्मत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यर्थपदेन व्यावृत्तिः क्रियेत।

शंका—यों कहा जाय कि कर्तव्यता बोधन ही प्रवर्तन है। और यागकी कर्तव्यता ही वेदमें लिङ्ादिके द्वारा ज्ञात कराई जाती है। इस दशामें अविधेयता कैसे होगी?

उत्तर—ठीक है, लिङ्से यागादिकी कर्तव्यता नहीं कही जाती है। (लिङ्र्थ = वाच्य तो कार्य है) इसलिए स्वार्थकी कर्तव्यताको लिङ् शब्द कहता है। क्योंकि याग उसकी (अपूर्वकी) प्रतिपत्तिका कारण होनेसे विषय कहलाता है। अपूर्वकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण होनेसे करण भी होता है। इसलिए जिसका कर्तव्यता ही स्वरूप है, ऐसा नियोगरूप अर्थ, अन्यथा अनुपपत्तिसे, अपने विषय यागादिकी कर्तव्यताका बोधन कराते हुए, अनुष्ठापक कहलाता है। श्येनादिका तो अनुष्ठान रागसे ही सिद्ध हैं। इसलिये नियोग उन श्येनादिकोंके अनुष्ठाका आक्षेप नहीं करता। अतः श्येनादिकी विधेयता नहीं है। विधेयता न होनेसे वे निषेधके विषय होते हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। इससे श्येनादि स्वरूपकी अनर्थता सिद्ध होती है। उसकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद देना आवश्यक है। (इस प्रकार यह पूर्व पक्षका आक्षेप है)

इस मतका निराकरण 'तत्रेदं' से करते हैं। शंका— इस विषयमें यह कहना है कि किस अंशमें श्येनादिकी व्यावृत्ति है*। यदि धर्मत्वकी व्यावृत्ति है, अर्थात् श्येनादि धर्म नहीं होते, अतः उनके धर्मत्वकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद है, ऐसा कहें तो?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। 'अर्थ' पद धर्मकी व्यावृत्तिके लिए नहीं हो सकता, धर्मके स्वरूपका अभिधान न करनेके कारण। (अर्थात् पूर्वमें धर्मका स्वरूप यदि कहा गया होता, तो श्येनादिके धर्मत्वकी व्यावृत्ति सिद्ध हो सकती है, पर ऐसा तो है नहीं। इसीको स्पष्ट करते हैं 'इदं हि सूत्रं' इत्यादिसे। यह सूत्र वेदार्थकी कार्यरूपताका प्रतिपादन करनेके लिए है, धर्म स्वरूपके लक्षणके लिए नहीं। (यह आपका अभिप्राय है, यदि ऐसा है, तो) श्येनादिकी धर्मता न हो जाए, इसलिए 'अर्थ' पदसे श्येनादिकी व्यावृत्ति की जा सकती है।

---

* अर्थात् श्येनादि स्वरूपकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थपद' है यह जो कहा गया, उसमें ये दो प्रकारके विकल्प हैं—श्येनादिके धर्मत्वकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद है? या कार्यत्वकी व्यावृत्तिके लिए अर्थ पद है? इसी बातको 'कस्मिन्नंशे' इत्यादिसे कहा गया है।

यदि परं कार्यत्वव्यावृत्तिः स्यात्, सा चायुक्तेत्युक्तं प्राक्। भवतु वा वाक्यभेदाङ्गीकारेण धर्मलक्षणार्थमपि सूत्रम्, तथापि चोदनालक्षणपदेन कार्यात्मकमपूर्वमुद्दिश्य तस्य धर्मत्वमुच्यत इति वो मतम्। तत्र श्येनादियागस्य कः प्रसङ्गः? यद्व्यावृत्त्यर्थमर्थपदं स्यात्। न हि ज्योतिष्टोमादियागस्यापि धर्मत्वमस्ति, अपूर्वस्य धर्मत्वाभ्युपगमात्।

अथ श्येनाद्यपूर्वस्यैव धर्मत्वमर्थपदेन व्यावर्त्यते? ततो भाष्ये श्येनादिशब्देन कर्मनामधेयेन तत्साध्यमपूर्वं लक्ष्यत इति, अविशिष्टा लक्षणा स्यात्। यदि चापूर्वमेव प्रत्युदाहरणम्, ततो 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' इति भाष्यमसङ्गतं स्यात्। श्येनयागो वा तत्फलं वा हिंसा, नत्वपूर्वं कथंचिदपि हिंसापदास्पदम्। अस्मिंश्च कल्पे—'कथं पुनरसावनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते' इति चोद्यम्, 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते'

अब द्वितीय पक्ष उठाते हैं—'यदि परम्' इत्यादिसे। शंका—यदि कहें कि श्येनादिके कार्यत्वकी व्यावृत्ति की जाती है। जो अर्थात्मक वेदार्थ है, वह कार्यरूप है, ऐसा सूत्रका अर्थ माननेपर, श्येनादि यद्यपि वेदार्थ हैं, अर्थात्मक नहीं हैं, इसलिए कार्यत्व भी प्राप्त नहीं है, इस शंकाका परिहार पहिले करचुके हैं। यथा 'अथोद्देश्यवेदार्थविशेषणम् (अर्थपदम् ?) ततोऽयमर्थो भवति—योऽर्थात्मकोऽभ्युदयात्मको वेदार्थः सः कार्यरूपस्ततश्च श्येनादिनियोगानां निषिद्धफलत्वेन कार्यता न स्यात्। माभूदिति चेन्न, तेषामपि लिङा कार्यतावगमात्' इत्यादि पहिले कहा जा चुका है।

शंका—पूर्व सूत्रसे धर्म पदका अनुषंग करके, 'चोदनालक्षणो वेदार्थः' यह एक वाक्य है। 'अर्थो धर्मः' यह दूसरा वाक्य है। इस प्रकार जो कहा गया है उसे वाक्यभेद मानकर, यह सूत्र धर्म लक्षणके लिए भी होता है, यह मानलिया जाए ?

समाधान—वैसा होनेपर भी 'चोदनालक्षण' पदसे कार्यरूप अपूर्वको उद्देश्यकर, उसका धर्मत्व कहा जाता है, यह आपका मत है। इस प्रकरणमें श्येनादि यागका क्या प्रसंग है, जिसकी व्यावृत्तिके लिए 'अर्थ' पद दिया जाए ? प्रत्युत आपके मतमें अपूर्वको धर्म माननेके कारण, ज्योतिष्टोमादि यागकी भी धर्मता नहीं होती।

शंका—यदि कहा जाए—श्येन याग-जन्य अपूर्वकी धर्मता निवारणके लिए 'अर्थ' पद है।

समाधान—इस पक्षमें 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' इस भाष्यमें कर्म नामधेय श्येन शब्दसे लक्षणासे, श्येनादि साध्य अपूर्व, सिद्धान्तीको सम्मत है। तब श्येनादि शब्दसे श्येन साध्य अपूर्वको लक्षणासे आप मानते हैं तो, हमारे द्वारा की गई लक्षणाका खण्डन करके, आपने भी लक्षणाको स्वीकार किया। यह अविशिष्टा लक्षणा होगी। अर्थात् दोनोंके मतमें लक्षणा तुल्य है।

शंका—यदि कहो—अपूर्व ही प्रत्युदाहरण है। अर्थात् श्येन साध्य अपूर्व ही 'अर्थ' शब्दसे व्यावर्त्य (भिन्न) बताया गया है, तो आपके मतमें 'हिंसा हि सा सा च प्रतिषिद्धा' अर्थात् वह हिंसा है, अतः उसका प्रतिषेध किया गया है, यह भाष्य भी असंगत हो जाएगा। क्योंकि श्येन-याग को हिंसा कहिए या उसके फलको, पर अपूर्व तो किसी भी दशामें हिंसाका विषय नहीं हो सकता।

इस पक्षमें 'अस्मिश्च कल्पे' इत्यादिसे दूसरा दोष दिखाते हैं— श्येनापूर्वकी व्यावृत्तिकी जाती है। इस पक्षमें यह प्रश्न किया है कि 'कथं पुनरसावनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यत' इति। यह प्रश्न अपूर्व विषयक मानना होगा। इसी प्रकार 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्त' इति, इस भाष्यके

इति चोत्तरमपूर्वविषयं स्यात्। न च तस्य कर्तव्यत्वं शक्यते वारयितुं कार्यस्वभावत्वात्।

एवं च यागकर्तव्यतानिषेधार्थमिदं भाष्यमङ्गीकृत्य यत् तत्समाधानाय प्रयत्यते—'कर्तव्यताविषयो हि नियोगः', न पुनस्तस्य कर्तव्यतामाह' इति, तदपार्थकम्।

काम्येष्वपि विधिरेव प्रवर्तको न फलम्, तस्य विध्यधीनोत्पत्तिकत्वेन यागापेक्षाभावात्। विधिस्तु यागाधीननिष्पत्तित्वाद् यागमनुष्ठापयतीति युक्तम्।

काम्येष्वपि कर्मसु विधेरेव प्रवर्तकत्वमिति भाट्टसिद्धान्तवर्णनम्

यदि च विधिरप्रवर्तकः काम्येषु स्यात् इतिकर्तव्यताप्यविधेया स्यात्। तस्यामपि फलत एव प्रवृत्तिसिद्धेः, साङ्गप्रधानसाध्यत्वात् फलस्य। वक्ष्यति हि—'तद्युक्ते[1] तु

समान उत्तर भाष्य भी अपूर्व विषयक होगा। अर्थात् पूर्वोत्तर पक्षरूप दोनो भाष्य अपूर्व विषयक हो जाएंगे, किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि अपूर्व कार्य स्वभाव है। उसकी कर्तव्यताका कोई परिहार नहीं कर सकता।

और प्राभाकर मीमांसकों द्वारा सम्मत दूसरे सिद्धान्तका निराकरण करते हैं 'एवं च' से। 'नैव श्येनादयः' इत्यादि भाष्य श्येन-यागकी कर्तव्यताका निषेध परक है, ऐसा मानकर, उक्त अभिप्रायका समर्थन करनेके लिए यह प्रयास किया गया है कि 'कर्तव्यताविषयो हि नियोगः' इत्यादि। इसका तात्पर्य है कि कर्तव्यता विषय है नियोग का। अर्थात् अपूर्व है, किन्तु भाष्यकार उस नियोगकी कर्तव्यताको नहीं कहते हैं, अतः वह व्यर्थ है§।

(पूर्व पक्षमें यह कहा गया है, कि काम्यकर्मोंमें कामना वशसे ही प्रवृत्ति होती है, अतः विधि वहाँ अनुष्ठापक नहीं है। उसका निराकरण करते हैं) 'काम्येष्वपि' से काम्यकर्मोंमें भी विधि ही प्रवर्तक होती है, फल नहीं, क्योंकि फल विधिके द्वारा ही निष्पन्न होता है। वह यागकी अपेक्षा नहीं रखता। (अर्थात् विधि होनेसे ही स्वर्गका उत्पन्न होना सम्भव है, विधिके अभावमें ज्योतिष्टोमसे स्वर्ग उत्पत्तिकी सम्भावना कैसे हो सकती है ?) विधि तो यागाधीन निष्पत्ति होनेके कारण यागका अनुष्ठान कराती है यही युक्ति संगत है। (अर्थात् विधिको छोड़कर, विधि-जन्य रागमें प्रवर्तकता मानना उचित नहीं है।)

विपक्षमें बाधक बताते हैं, 'यदि च' इत्यादिसे। यदि विधि काम्यकर्मोंमें प्रवर्तक नहीं, फल प्रवर्तक है, तो सांग-प्रधान ही याग फल देता है, ऐसा नियम होनेके कारण, विधिको प्रवर्तक न माननेपर जैसे प्रधान याग विधेय नहीं होता, वैसे प्रधानकी अंगभूत इतिकर्तव्यताकी भी विधेयता नहीं होगी, क्योंकि उसमें भी फलसे ही प्रवृत्ति सिद्ध हो जाएगी। फलके सांगप्रधान साध्य होनेके कारण। इसी अभिप्रायको भगवान सूत्रकारने तृतीय अध्यायमें कहा है, कि 'तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वं चिकीर्षेति' (मीमांसा दर्शन; ३।७।९) उक्त सूत्रका यह अर्थ है कि, जो फल श्रवण है, वह 'तद्युक्ते'=पूर्वोक्तांगसे युक्त प्रधानरूप कर्मसे होता है। तस्मात्=इसलिए, 'सर्वचिकीर्षा=सभी

§ 'अपितु कोऽर्थः ? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः' इस भाष्यसे यागको भी कर्तव्य बताते हैं। सुखसम्पादकत्व सुखकारक सामग्रीमें रहता है, उसीका सुख सामग्री सम्पादनके कारण धनमें उपचार होता है। उसी प्रकार यागजन्य अपूर्वमें जो कर्तव्यता है, उसीका अपूर्व सम्पादक अपूर्वके कारण यागमें उपचार है, यह भाष्यका अभिप्राय है। उक्त भाष्यका ऐसा अभिप्राय व्यक्त करना सर्वथा व्यर्थ है।

१. अंगयुक्ते प्रधाने फलश्रुतिः, न केवले। तस्मात् सकलांगयुक्तं प्रधानानुष्ठानमिति।

फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा' इति। ततश्चाग्नीषोमीयहिंसाया अपि विध्यभावेन निषेधविषयत्वात्, तद्युक्तस्य ज्योतिष्टोमस्याप्यनर्थत्वापत्तेः, 'को अर्थः ? यो निश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः' इतिभाष्यानुपपत्तिः[1]।

ननु 'न हिंस्यात्' इति निषेधोऽनारभ्याधीतत्वात् पुरुषार्थः, तेनानेन पुरुषार्था एव हिंसाः प्रतिषेद्धव्याः, क्रत्वर्थनिषेधे हि सोऽपि क्रत्वर्थः स्यात्। अविशेषे त्वेकस्य प्रतिषेधविधेः क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वापत्त्या वैरूप्यं स्यात्। तस्मात्पुरुषार्थानामेव हिंसानामिह प्रतिषेधः, न क्रत्वर्थानामिति।

तदिदं बालसंमोहनम्। नह्यविशेषेणापि प्रतिषेधे वैरूप्यम्। यदि हि क्रत्वर्थत्व-पुरुषार्थत्वरूपं विशेषेणोद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियेत, ततः स्यादपि वैरूप्यम्, प्रतिषेध्योपस्थापितक्रतुपुरुषगोचरत्वात् प्रतिषेधस्य। यदा तु हिंसामात्रमुद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियते, तदास्य

कर्म, सभी अंगों सहित प्रधानसे होते हैं। इसलिए नित्य—नैमित्तिक, काम्य, सभी कर्मोंमें विधि ही प्रवर्तक है, ऐसा माननेपर, अग्निषोमीय हिंसाकी विधि न होगी। वह निषेधका विषय हो जाएगी। निषेधका विषय होनेसे अग्निषोमादि हिंसासे युक्त ज्योतिष्टोम भी अनर्थक हो जाएगा। इष्टापत्ति है, ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि 'कोऽर्थो यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिरिति' इस भाष्यका यह तात्पर्य है—अर्थ किसको कहते हैं? जो निःश्रेयसके लिए ज्योतिष्टोमादि हैं। इस उद्धरणसे ज्योतिष्टोमादिका निःश्रेयसार्थत्व कहा गया है, इसकी अनुपपत्ति होगी।

शंका—'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' यह वाक्य अनारभ्याधीत (किसी प्रकरणमें पठित नहीं) है; अतः यह निषेध पुरुषार्थ है। अर्थात् पुरुषका उपकारक है। इस विधिसे विहित पुरुषार्थ जो हिंसाएँ है, वे ही निषेध करनेके योग्य हैं। यदि माना जाए कि क्रत्वर्थ हिंसाका भी यह निषेध है, तो निषेध भी क्रत्वर्थ हो जाएगा। दोनोंमें कोई विशेषता न होनेसे एक ही प्रतिषेध विधिका क्रत्वर्थ होना तथा पुरुषार्थ होना इन दोनोंके होनेसे वैरूप्य होगा। (अर्थात एक ही निषेध उभयार्थक होनेसे अर्थ भी होगा, अनर्थ भी होगा) इस वैरूप्यके निवारणके लिए आपको कहना होगा कि 'न हिंस्यात्०' इस निषेधका पुरुषार्थ ही विषय है, क्रत्वर्थ नहीं*

उत्तर—यह बच्चोंको मोहमें डालनेके समान है। (अर्थात् यह कोई ठीक उत्तर नहीं) क्योंकि सामान्य प्रतिषेध 'न हिंस्यात्०' में भी विरूपता नहीं है। इस वैरूप्यका स्वीकार तब किया जा सकता है जब विशेष रूपसे क्रत्वर्थ हिंसा एवं पुरुषार्थ हिंसा इन दोनोंका नाम लेकर निषेध किया जाए। क्योंकि प्रतिषेध्यसे क्रतु-पुरुष दोनोंकी उपस्थिति होती है। जब हिंसा सामान्यको उद्देश्य कर, प्रतिषेध किया जाता है (वह विशेष रूपसे नहीं है) तब बताइए कैसे वैरूप्य

---

* इस प्रकार जो भोजनादिके लिए हिंसा है तथा जो शत्रुको मारनेके लिए हिंसा है, इन दोनोंका ही प्रतिषेध होगा। अग्निषोमीय हिंसा तो क्रतुकी उपकारक होनेसे क्रत्वर्थ है। पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए अग्निषोमीय हिंसाकी अनर्थकता नहीं है। फिर अग्निषोमादि हिंसासे युक्त ज्योतिष्टोमादिकी अनर्थकता तो दूरकी बात है। उपर्युक्त भाष्यका विरोध भी इस पक्षमें लागू नहीं होता। इसलिए भिन्न विषय होनेके कारण कोई विरोध नहीं।

१. भाष्यानुपपत्तेरिति 'ख' पुस्तके पाठः।

किं वैरूप्यम्? तद्यथा--या भोजनार्थं मांसोत्पादने हिंसा, या च वैरनिर्यातनार्थतया साक्षात् पुरुषार्था, तस्यामुभयस्यामविशेषेण प्रतिषिध्यमानायामपि नास्ति वैरूप्यम्, एवमिहापि। इतरथा तत्रापि भोजनाङ्गता, पुरुषार्थता च प्रतिषेधस्य स्यादिति वैरूप्यं स्यात्। तस्माद् यैव काचिद् येन केनापि प्रकारेण प्रसक्ता हिंसा सा सर्वा सामान्येन प्रतिषिध्यते। पुरुषार्थश्च प्रतिषेधोऽनारभ्याधीतत्वात्। तस्मादग्नीषोमीयहिंसाप्यसति विधेयत्वे प्रतिशेधगोचरः स्यात्। विधेयत्वे तु विधेर्विशेषविषयत्वात्, सामान्यविषयो निषेधस्तद्विरोधाद् हिंसान्तराण्यवलम्बते।

हिंसाविषये सांख्यमतं तत्खण्डनञ्च

ननु सत्यपि विधेयत्वे विधेः क्रत्वर्थत्वात्, प्रतिषेधस्य च पुरुषार्थत्वाद्विषयभेदेनाविरोधान्न बाधः। नहीदं विरुद्धं क्रतोर्हिंसया भवितव्यम्, पुरुषस्य तु तद्वर्जनेनेति।

होगा। इस प्रकार वैरूप्यके अभावको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं 'तद्यथा' से। जैसे कि जो भोजनके लिए लोकमें मांसोत्पादन रूप हिंसा होती है, वैसे वैर निकालने (बदला चुकाने) के लिए शत्रुको मारना-रूप जो हिंसा है, वह भी साक्षात् पुरुषार्थ है। इन दोनोंके उद्देश्य होनेपर भी कोई विरोध नहीं। इसी प्रकार अग्निषोमीय हिंसाका भी निषेध करनेपर वैरूप्य नहीं है। ऐसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। ऐसा न हो तो वहाँ भी भोजनांगता (भोजनका अंग होना) और पुरुषार्थता (फलार्थ होना) को लेकर प्रतिषेधका वैरूप्य होगा। उक्त अर्थका उपसंहार है 'तस्मात्' इत्यादिसे। अतः जिस किसी प्रकारसे प्रसक्त कोई भी हिंसा हो उसका सामान्य रूपसे निषेध किया जाता है। (अर्थात् सामान्य रूपसे हिंसा मात्रका निषेध है, विशेष रूपसे नहीं) और जो पुरुषार्थ 'न हिंस्यात्०' यह निषेध है, वह अनारभ्याधीत (सामान्य विधि) है। इसलिए अग्निषोमीय हिंसा भी विधेय न होनेसे, निषेध शास्त्रका विषय होगी। विधेय होनेपर तो विधि विशेष विषयक होनेसे सामान्यविषयक निषेध, विशेष हिंसाको छोड़कर, अन्यान्य हिंसाओंको विषय करेगा। (इस लिए वैरूप्य नहीं है। इसके अभावमें अग्निषोमीय हिंसायुक्त ज्योतिष्टोम धर्म होगा और उक्त भाष्यकी असंगति भी नहीं होगी।)

शंका—विधेय होनेपर भी विधि क्रत्वर्थ है। निषेध तो पुरुषार्थ है; इसलिए विषय भेद होनेसे कोई विरोध नहीं। अतः विशेषसे सामान्यका बाध नहीं होगा §। इसीका उपपादन करते हैं 'नहीदं विरुद्धम्' इत्यादि से। यह विरोध नहीं है कि क्रतुमें हिंसा होनी चाहिए और पुरुषको हिंसा छोड़नी चाहिए; (इसलिए यहाँ बाध नहीं है❀)

---

§ अर्थात् मध्यस्थ सांख्यकी यह शंका है कि जहाँ दोनों शास्त्रोंकी समान-विषयता होगी या विषय एक होगा, वहाँ विशेषसे सामान्यका बाध होता है, ऐसा कह सकते हैं। परन्तु प्रकृतमें तो विरोध है ही नहीं; क्योंकि सामान्य-शास्त्रका विषय है पुरुषार्थ और विशेष-शास्त्रका विषय है क्रत्वर्थ। अतः भिन्न विषय होनेसे कोई विरोध न होनेसे बाध भी नहीं होता।

❀ यहाँ प्रकाश व्याख्याकारने पिष्टपशु (आटेका पशु बनाकर किया जानेवाला) यागका समर्थन किया है। यह कर्मकाण्ड और मीमांसा शास्त्र इन दोनोंके विपरीत होनेके कारण उपादेय नहीं। द्रष्टव्य सुदर्शनाचार्यप्रणीत प्रकाश व्याख्या, पृ० १०४।

सत्यम्—अङ्गविधिमात्रालोचनायां नास्ति विरोधः, ज्योतिष्टोमविधिस्तु साङ्गं प्रधानं पुरुषस्य विदधत् पुरुषार्थहिंसानिषेधमग्नीषोमीयहिंसायामवतरन्तं निरुणद्धि। न ह्यग्नीषोमीयहिंसां वर्जयता ज्योतिष्टोमः शक्यतेऽनुष्ठातुम्। तस्मादस्ति विरोध इति सामान्यस्य बाधः। विधौ त्वप्रवर्तके सत्यग्नीषोमीयहिंसापि प्रतिषिद्ध्येत।

किमर्थं च श्येनस्य विधेयत्वं निराक्रियते? प्रतिषेधसिद्ध्यर्थमिति[1] चेत्? कः प्रतिषेधः? 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इति। नायं निषेधः श्येने प्रवर्तते, हिंसाविषयत्वात्। श्येनफलं च हिंसा, न श्येनः। तथा चोक्तम् 'यो हि हिंसितुमिच्छेत्तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः' इति।

इस सांख्योक्त आक्षेपका परिहार करते हैं—'सत्यम्' इत्यादि से। ठीक है, अङ्गविधि (अग्निषोमीयं पशुम लभेत) मात्रको देखनेपर विरोध नहीं है। अपितु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह ज्योतिष्टोम एक विधि है। यह सांग प्रधान यागका पुरुषके लिए विधान करती है। साथ ही पुरुषार्थ हिंसाके निषेधको, जो कि अग्निषोमीय पशुहिंसामें होनेवाला है, उसे रोक देती है। क्योंकि अग्निषोमीय हिंसाको छोड़कर, ज्योतिष्टोमको नहीं कर सकते, इसलिए विरोध है। यही कारण है कि विशेष शास्त्रसे सामान्य-शास्त्रका बाध (संकोच) होता है (अतः सांख्यमत ठीक नहीं)।

अब सिंहावलोकन न्यायसे प्राभाकर मतमें दोष देते हैं 'विधौ' इत्यादिसे। (आपके मतमें काम्यकर्मोंमें कामनासे प्रवृत्ति होती है) विधितो प्रवर्तक है नहीं। (तब अग्निषोम हिंसासे युक्त यागकी अनर्थ-जनकता प्राप्त होगी) अग्निषोमीय हिंसा भी प्रतिषेधका विषय हो जाएगी, (यह तो इष्ट नहीं, अतः विधिको ही प्रवर्तक मानना चाहिए। विधिको प्रवर्तक माननेपर अग्निषोमीय हिंसाका निषेध नहीं हो सकता)

शंका—फिर भाट्ट मीमांसक प्राभाकर मीमांसकसे पूछते हैं—'किमर्थं च' इत्यादिसे। 'नैव श्येनादयः कर्तव्याः' इत्यादि भाष्यसे श्येनादिकी विधि-विषयताका निराकरण करते हैं (किन्तु श्येनादिके फल हिंसाके विधेयत्वका निषेध नहीं करते, इसका क्या फल है बताइए?) यदि कहो कि श्येनादिकी प्रतिषेध सिद्धि ही इसका फल है, तो वह प्रतिषेध कौन सा है?

उत्तर—'न हिंस्यात्०' यह निषेध है। (इसकी सिद्धिके लिए श्येनादिके विधेयत्वका निराकरण करते हैं कि) यह निषेध श्येनमें प्रवृत्त नहीं होता, हिंसा विषय होनेके कारण। और फिर श्येन फल ही हिंसा है, श्येन याग नहीं, इसी अभिप्रायको भाष्यकारने कहा है 'जो हिंसा करना चाहता है उसका उपाय श्येनादि याग हैं, यह उनका उपदेश है' (अतः श्येन याग स्वरूपसे हिंसा नहीं है, इसलिए श्येनादिका विधान उचित सिद्ध होता है)

(शालिकनाथ मिश्रने उक्त भाष्यविरोधका परिहार करनेके लिए] 'बृहती-टीकामें' एक कल्पना की है। वह इस प्रकार है कि यदि श्येन-यागमें विधेयताका निराकरण न किया जाए तो श्येनकी फलभूत हिंसाका विधान न होगा। इसलिए हिंसाकी इष्टताका निषेध हिंसाकी विधेयताके निरासके अधीन है। हिंसाको विधेयताका निरास श्येनकी विधेयताके निरासके अधीन है। अतः विवश होकर कहना पड़ता है कि श्येनकी विधेयता=कर्तव्यता का निरास करते हैं। उसीका)

---

१. प्रतिषेधविध्यर्थमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

शालिकनाथेनोक्तस्यार्थस्यानुवादः

कश्चित्त्वाह—श्येनस्य कर्तव्यत्वे सति बलात्तत्फलमपि हिंसा कर्तव्या भवतीति न निषेद्धुं शक्येत, अतः फलकर्तव्यतानिरासार्थं श्येनकर्तव्यता बलान्निरस्यते इति। तदिदमसम्बद्धम् - यथैव हि श्येनापूर्वस्य कर्तव्यतायां सत्यामपि तत्साध्यफलस्य कर्तव्यता न प्रसज्यते, तथा यागस्य कर्तव्यत्वे सत्यपि रागप्राप्तस्य फलस्य नास्ति कर्तव्यतापत्तिः। तस्मादनर्थकं श्येनकर्तव्यतानिराकरणम्। तस्माद्धिंसैवात्र प्रत्युदाहरणम्।

सिंहावलोकनन्यायेन प्राभाकरोक्तार्थस्य दूषणम्

इदं चापरमेकदेशिनः प्रष्टव्याः—अर्थशब्देन किमुच्यत इति ? यदि श्रेयस्साधनम्, नित्यानां धर्मत्वं न स्यात्। अथ यन्निषिद्धफलं न भवति, तदर्थशब्देनोच्यते ? तथा सति नञर्थविषयस्यापूर्वस्य[1] धर्मत्वप्रसङ्गः, चोदनालक्षणत्वान्निषिद्धफलत्वाभावाच्च। भवत्विति चेत् ? न, लोकविरोधात्। यो हि हिंसायामुद्युक्तः प्रतिषेधवशान्निवर्तते, न तं

'कश्चित्त्वाह' से स्पष्टीकरण है। 'यहां कश्चित्' पदसे शालिकनाथ मिश्रको समझना चाहिए। श्येनके कर्तव्य होनेसे, बलात् उसकी फलरूप हिंसा भी कर्तव्य हो जाती है, अतः उसका निषेध नहीं कर सकते। इसलिए फल कर्तव्यके निरासके लिए, श्येन कर्तव्यताका विवशतापूर्वक निरास करना पड़ता है। इसी पक्षका खण्डन करते हैं 'तदिदमसम्बद्धम्' इत्यादिसे। अर्थात् उनका यह कथन असंगत है। जैसे श्येन-जन्य अपूर्वकी कर्तव्यता होनेपर भी, श्येन-साध्य फलरूप हिंसाकी कर्तव्यता नहीं प्राप्त होती है, वैसे ही याग कर्तव्य होने पर भी रागसे प्राप्त फलकी कर्तव्यता नहीं होती है। इसलिए श्येन-कर्तव्यताका निवारण व्यर्थ है। (भाष्यमें श्येन फल हिंसाकी ही विधेयताका निराकरण किया गया है। 'अर्थ' शब्दका प्रयोजन हिंसाकी व्यावृत्ति है। श्येन-याग नहीं। उपसंहार करते हैं कि) हिंसा ही यहां प्रत्युदाहरण है।

शंका—(अब सिद्धान्ती भाट्ट, प्राभाकर सिद्धान्तका खण्डन करते हैं 'इदं चापरम्' इत्यादिसे। एकदेशी प्राभाकरोंसे पूछना चाहिए कि 'अर्थ' शब्दसे आप क्या कहते हैं ? यदि कहें कि श्रेयका साधन है, तो नित्य-कर्मोंकी धर्मता सिद्ध न होगी। अर्थात् नित्य-कर्म अग्निहोत्रादि, श्रेयके साधन न होनेसे धर्म नहीं कहलावेंगे। (प्राभाकर मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि नित्य कर्म तो अवश्य करने चाहिएँ पर उनका कोई फल नहीं होता) यदि कहा जाए जिस कर्म-फलका निषेध नहीं होता, वह अर्थ शब्दसे कहा जाता है।

समाधान—ऐसा ठीक नहीं। ऐसा होनेपर सुरापान आदिकी निवृत्तिसे जो अपूर्व होता है, उसका कोई फल ही नहीं है, उस अपूर्वकी भी धर्मता होने लगेगी। क्योंकि उसमें विधिवाक्य ही प्रमाण है। और निषिद्ध फल न होनेसे भी उसे धर्म नहीं कह सकते।

शंका—उसकी भी धर्मता हो जाए, यह अभीष्ट ही है ? इसका निराकरण करते हैं 'न' से। (निषिद्ध सुरापान आदि निवृत्तिजन्य अपूर्व धर्म नहीं हो सकता) लोक विरोध होनेसे। जो मनुष्य हिंसामें तत्पर होकर, निषेधसे निवृत्त होता है, उसे कोई धर्मात्मा नहीं कहते बल्कि यह अधर्म (पाप) से हट गया है, इतना ही कहते हैं। उक्तार्थको विरोधी वचनसे प्रमाणित करते हैं 'तदाहुः' इत्यादिसे। 'परीक्षक विद्वानोंका यह कर्तव्य है कि उन्हें लोकसिद्ध पदार्थका ही लक्षण करना

१. न सुरां पिबेदित्यादि नञ्पदघटितवाक्यजन्यबोधेन जन्या या निवृत्तिस्तया निर्वाह्यस्य पण्डापूर्वस्य इत्यर्थः।

धार्मिक इत्याचक्षते किं त्वधर्मान्निवृत्त इत्येतावत् । तदाहुः—'लोकसिद्धस्य लक्षणं परीक्षकैर्वक्तव्यं न वृद्धयादिवत् परिभाषणम्' इति । आस्तां तावत् ।

॥ इति चोदनासूत्रम् ॥ २ ॥

चाहिए, न कि पारिभाषिकका । जैसे पाणिनि ने 'वृद्धिरादैच्' यह परिभाषा बनाई है, ऐसा नहीं करना चाहिए । (अर्थात् सुरापान आदिसे निवृत्त पुरुषको लोकमें धार्मिक नहीं कहते, ऐसे ही पारिभाषिक धर्मता को परिभाषा नहीं करनी चाहिए अपितु सूत्रकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए, जिससे अधर्मसे निवृत्त व्यक्तिकी धार्मिक संज्ञाकी प्राप्ति न हो । अतः इस 'चोदना' द्वितीय सूत्रमें 'अर्थ' पदसे हिंसाकी ही व्यावृत्ति की जाती है) बस कीजिए । चोदना सूत्र समाप्त हुआ ।

[अधिकरणसार—पूर्वोक्त द्वितीय सूत्रमें विचारका विषय धर्म कहा गया है, वही विषय है । इसमें संशय है कि उसके लक्षण एवं प्रमाण हैं या नहीं ? क्योंकि लक्षणसे लक्ष्यमें सम्भावना बुद्धि होती है । प्रमाणसे वस्तुका निश्चय होता है । पर लौकिक आकारसे शून्य धर्मका लक्षण नहीं बन सकता और प्रमाणके विषयमें शंका भी नहीं हो सकती । कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं है । अतः लक्षण-प्रमाणसे रहित धर्मका विचार नहीं हो सकता । यह पूर्व पक्ष है ।

सिद्धान्त है कि चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य भले ही धर्मका कोई लौकिक आकार न होता हो, तथापि विधिवाक्योंसे गम्य, श्रेयःसाधनतारूप लक्षण ही उसका आकार है । इस प्रकार लक्षण निश्चित होनेपर गम्य धर्ममें गमक वेद-वाक्य प्रमाण होता है । यहाँ 'अर्थो धर्मः' इतना कहनेपर घटादिमें धर्मलक्षणकी अतिव्याप्ति होगी; उसका वारण करनेके लिए 'चोदना लक्षणः' यह विशेषण देना आवश्यक है । अतः 'अर्थ' पद अनर्थ निवारणके लिए है । इसलिए 'अर्थत्वे सति चोदनालक्षणो धर्मः' यह लक्षण सूत्रकारने किया है । इससे सिद्ध है कि लक्षण और प्रमाणोंसे युक्त होनेके कारण धर्म विचार हो सकता है, अतः विचार करना चाहिए । यही सिद्धान्त का संक्षेपमें सार है ।

(इस प्रकार द्वितीय सूत्रका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

तृतीयं धर्मप्रामाणपरीक्ष्यताधिकरणम्

सू०—तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

अनेन सूत्रेण चोदनाख्यस्य निमित्तस्य परीक्षणमस्मिन् पादे वक्ष्यमाणम् 'अथातः शेषलक्षणम्' 'अथ विशेषलक्षणम्' इतिवत्सुखग्रहणार्थमनुकीर्त्यते ॥ ३ ॥

चतुर्थं धर्मे प्रत्यक्षस्याप्रामाण्याधिकरणम्

चोदनैवेत्यस्यार्थस्य साधनाय प्रत्यक्षादीनामनिमित्तत्वमुच्यते—

सू०—सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ ४ ॥

तस्य निमित्तपरीष्टिः* ॥ ३ ॥

इस सूत्रसे चोदना आख्या = नाम है जिसका ऐसे तस्य = विधिवाक्यरूप, निमित्तस्य = प्रमाणका, परीष्टिः = परीक्षा या परीक्षण इस पादमें किया जाएगा। अतः कहा गया है जैसे तृतीय अध्यायके आरम्भमें 'अथातः शेषलक्षणम्' (३।१।१) अर्थात् द्वितीयमें कर्म भेद निरूपणके बाद, तीसरे अध्यायमें, शेष = अंगत्वका लक्षण एवं उसमें प्रमाण आदि कहा जायगा, वैसे ही 'अथ विशेषलक्षणम्' (८।१।१) अर्थात् सातवें अध्यायमें सामान्य-अतिदेश सिद्ध होनेपर, विशेष लक्षण कहा जायगा। वैसे प्रकृतमें भी जानना चाहिए, जिससे जिज्ञासु शिष्य-वर्ग, प्रमाण परीक्षाको सुखपूर्वक समझ सके ॥ ३ ॥

(अधिकरणसार—तीसरे अधिकरणका विषय है धर्ममें प्रमाणकी परीक्षा करना। इसमें संशय है कि धर्ममें जो प्रमाण है उसकी परीक्षा करनी चाहिए या नहीं ? यहाँ पूर्व पक्ष है कि प्रमाणका उपदेश करनेसे प्रमेयका निश्चय स्वतः हो जाता है, प्रमाण-परीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं।

सिद्धान्त है, कि यहाँ प्रमाण परीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि यह तो विचार शास्त्र है। मन्वादि धर्म शास्त्रके समान कोई उपदेश शास्त्र तो है नहीं। अतः प्रमाण परीक्षा होनी ही चाहिए)

'चोदनैव' इत्यादिसे 'सत्संप्रयोगे' इत्यादि चौथे सूत्रका अवतरण करते हैं। (धर्ममें) चोदना = विधि वाक्य ही प्रमाण है, दूसरा नहीं है, इस अर्थको साधनेके लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अनिमित्तत्व (प्रमाण न होना) बताते हैं—सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ ४ ॥

सत्सम्प्रयोगे = सता = विद्यमान पदार्थके साथ, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंका, सम्प्रयोगे सति = संयोग (सन्निकर्ष) होनेपर, पुरुषस्य = पुरुषका, बुद्धिजन्म = जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तत् प्रत्यक्षम् = वही प्रत्यक्ष है। (वह प्रत्यक्ष धर्ममें) अनिमित्तम् = निमित्त या प्रमाण नहीं, (क्योंकि प्रत्यक्ष) विद्यमानोपलम्भकत्वात् = विद्यमान अर्थका ही ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

---

* परीक्षणं—परीष्टिः। अत्र ईक्षतेर्भावे क्तिन्, 'तितुत्रतथसिसुरकसेषु च' (३।२।९) इत्यनेनेटः प्रतिषेधे, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति शास्त्रेण धात्ववयवककारस्य लोपः। ततः ष्टुत्वेन 'परीष्टिः' इति ज्ञेयम्। स्त्र्यधिकारस्थत्वेऽपि 'परीक्षा' 'परीष्टिः' इति द्वयन्तु 'अर्थानुपलब्धेः' इति महाभाष्यप्रयोगानुसारेण ज्ञप्तिः, ज्ञपना, उपासना, उपास्तिः, इत्यादि वत्समाधेयम्, व्याकरणे कल्पनानां प्रयोगोपलम्भनिबन्धनत्वात्।

प्रत्यक्षं तावदिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यत्वेन विद्यमानोपलम्भनत्वाद् भविष्यति धर्मे न निमित्तम्। सत्संप्रयोगजन्यत्वमाभासेपि तुल्यत्वादलक्षणमिति नैयायिका दूषयन्ति, तत्तु लक्षणानभिधानाददूषणम्। नहीदं लक्षणं प्रत्यक्षस्य, किं त्वनिमित्तत्वकथनमात्रम्। तत्र हेतुः विद्यमानोपलम्भनत्वम् तत्साधनं च, सत्संप्रयोगजत्वम्। न हि सत्संप्रयोगजम-विद्यमानोपलम्भनं संभवति।

इन्द्रियार्थसंयोगजत्वं सुखादिज्ञानेष्वव्याप्तेरहेतुरिति चेत्? न तेषामपि मनस्संज्ञकेन्द्रियसंप्रयोगजत्वात्। मनस्सद्भावे च सुखादिज्ञानमेव प्रमाणम्, अपरोक्षा-

शंका—प्रत्यक्ष इन्द्रिय-अर्थ संयोगसे उत्पन्न होनेसे, एवं विद्यमान अर्थका ग्राहक होनेसे अनागत धर्ममें प्रमाण नहीं। सत्सम्प्रयोगजन्यत्व जैसा प्रत्यक्षमें है, वैसा प्रत्यक्षाभास (भ्रममें) भी है। समान होनेके कारण। अतः यह प्रत्यक्षका लक्षण नहीं हो सकता, ऐसे नैयायिक दोष देते हैं।

उत्तर—यहाँ प्रत्यक्षका लक्षण नहीं कर रहे हैं, इसलिए उक्त दोष यहाँ लागू नहीं होता। उक्तार्थको स्पष्ट करते हैं 'नहींदम्' इत्यादिसे। यह प्रत्यक्षका लक्षण नहीं करने जा रहे, किन्तु प्रत्यक्ष धर्ममें अनिमित्त है (अर्थात् धर्ममें प्रमाण नहीं) इस बातको बतानेके लिए यह सूत्र है। इसमें हेतु देते हैं 'विद्यमानोपलम्भनत्व'। अर्थात् विद्यमान अर्थका ही ग्रहण करता है प्रत्यक्ष। अतः विद्यमानोपलम्भनत्वका हेतु है सत्सम्प्रयोगजत्व। अर्थात् जो प्रमाण सत्सम्प्रयोगज नहीं है, वह अविद्यमान अर्थका ग्रहण नहीं करता। (अतः प्रत्यक्ष भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेसे, अविद्यमान वस्तुका ग्राहक नहीं होता§)

शंका—अब उक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोषका उद्भावन करते हैं यदि कहा जाए—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यत्व, विद्यमानोपलम्भनत्वका साधन है, तब इस हेतुके सुखादि प्रत्यक्षमें न जानेसे अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ चक्षुरादिका सन्निकर्ष नहीं है। इसलिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (संयोग) प्रत्यक्षका अहेतु है, अर्थात् हेतु नहीं बन सकता।

उत्तर—उक्त दोषका परिहार करते हैं 'न' से। इसमें हेतु देते हैं कि उन सुखादि प्रत्यक्षोंके भी मनःसंज्ञक इन्द्रियसन्निकर्षसे उत्पन्न होनेसे। (अर्थात् मनका सुखादिके साथ संयोग होनेसे उनका प्रत्यक्ष होता है। मन भी इन्द्रिय है। अतः सत्सम्प्रयोगजत्व सुखादि प्रत्यक्षमें भी रहेगा, इससे अव्याप्ति दोष लागू नहीं होता)

(शंका—आपने कहा है मन इन्द्रिय है, अतः मनः (संज्ञक इन्द्रियसन्निकर्षसे, सुखादि प्रत्यक्षके उत्पन्न होनेसे, अव्याप्तिका निवारण हुआ, पर मनके होनेमें क्या प्रमाण है?)

§ सूत्र एवं भाष्यके द्वारा इसमें तीन अनुमान किए गए हैं—

(क) प्रथम अनुमान है कि 'योगिप्रत्यक्षं धर्मे न प्रमाणम्, प्रत्यक्षत्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्-योगियोंका प्रत्यक्ष धर्ममें प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व होनेसे, अस्मदादिके प्रत्यक्ष की तरह।

(ख) 'प्रत्यक्षं धर्माधर्मगोत्ररम्, विद्यमानोपलम्भनत्वात् = प्रत्यक्ष धर्माधर्मको विषय नहीं करता, विद्यमानका ग्राहक होनेके कारण।

(ग) 'प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भकम्, वर्तमानेन्द्रियार्थसंयोगजन्यत्वात्। = प्रत्यक्ष विद्यमानअर्थका ही ग्रहण करता है, वर्तमान इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्षसे जन्य होनेके कारण। उपर्युक्त तीनों अनुमानोमें योगिप्रत्यक्ष ही पक्ष है। अस्मदादिका प्रत्यक्ष साध्यके साधनमें दृष्टान्त है, अतः दृष्टान्तासिद्धि या सिद्धसाधनता आदि दोष यहाँ नहीं दे सकते।

वभासज्ञानस्येन्द्रियाधीनतया रूपादिज्ञानेषु व्याप्तिदर्शनात् सुखादिविषयमपरोक्षज्ञानमिन्द्रियमनुमापयति। तत्र चक्षुरादीनामसम्भवात् तेभ्योऽन्यदवतिष्ठते।

मनःसाधनविषये प्राभाकरमतम्

अत्र कश्चित्—नित्यद्रव्यगतविशेषगुणत्वात्सुखादीनां द्रव्यान्तरसंयोगजत्वम्, पार्थिवपरमाणुगतरूपादीनामग्निसंयोगजत्वदर्शनात्। यच्च द्रव्यान्तरम्, तन्मन इत्याह।

तन्न युक्तम् शरीरं हि भोगायतनम्, किं[1] तस्य भोगायतनत्वमन्यत् तत्संयोगापेक्षसुखाद्युत्पत्तेः? अशितपीताद्याधारत्वाच्च न बहिः शरीरात्सुखाद्युत्पत्तिः। अतः शरीरसंयोगादेव सिद्धेर्न द्रव्यान्तरानुमानम्। किं च पार्थिवगुणानामेव द्रव्यान्तर-

---

उत्तर—मनके होनेमें सुखादि ज्ञान ही प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष ज्ञान है वह इन्द्रियजन्य होता है; जैसे रूपादि प्रत्यक्ष। वैसे सुखादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान भी इन्द्रियजन्य होगा। अपरोक्ष ज्ञान होनेके कारण। यहाँ व्याप्तिके द्वारा यह अनुमान है कि 'सुखादिसाक्षात्कारः करणजन्यः, साक्षात्कारत्वात्, रूपादिसाक्षात्कारवत्'। सुखादि साक्षात्कार कार्य है, इसका कोई करण होना चाहिए। जैसे रूप साक्षात्कार चक्षुरूप करणसे होता है। इसी प्रकार सुखादि साक्षात्कार भी कार्य होनेसे करण जन्य है। वह करण चक्षुरादि नहीं हो सकते, इसलिए चक्षुरादिसे भिन्न कोई करण सिद्ध होता है: (अतः सुखादि ज्ञान मनके सद्भावमें प्रमाण है)

(इस प्रकार मनको सिद्ध किया। अब प्राभाकर मीमांसकोंने जो मनको सिद्ध करनेका प्रकार बताया है, उसे कहते हैं—'कश्चित्' इत्यादिसे। यहाँ 'कश्चित्' पदसे शालिकनाथ मिश्रको समझना चाहिए। प्राभाकर मीमांसकोंने जिस रीतिसे मनको सिद्ध किया है, वह यह है =)

नित्य द्रव्यमें जो विशेष गुण होते हैं, वे द्रव्यान्तरके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। दृष्टान्त-जैसे पार्थिव परमाणुओंमें रूपादि विशेष गुण अग्नि संयोगसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मगत विशेष गुण सुखादिका भी द्रव्यान्तरके संयोगसे उत्पन्न होना नियत है। जो द्रव्यान्तर है, वही मन है।

उक्त मतका परिहार करते हैं—'तन्न युक्तम्' इत्यादिसे। ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि शरीर भोगका आयतन है। भोग नाम है सुख-दुःख साक्षात्कारका। आयतन कहते हैं अवच्छेदक को (अर्थात् जब भी आत्मामें सुखादि उत्पन्न होते हैं, तो शरीरावच्छेदसे ही होते हैं) शरीरका भोगायतनत्व यह है कि शरीर संयोगसे सुखादि उत्पन्न होते हैं। और शरीरातिरिक्त दूसरा कोई भोगायतन हो नहीं सकता। शरीर अन्न-पान आदिका आधार भी है, सुखादि शरीरसे बाहर उत्पन्न नहीं होते*। इसलिए शरीर संयोगसे ही सुख-दुःखादिकी उत्पत्ति सिद्ध होनेसे द्रव्यान्तरका अनुमान नहीं हो सकता।

और सुनिए—पार्थिव गुणोंकी उत्पत्तिमें द्रव्यान्तर संयोगकी अपेक्षा देखी जाती है, द्रव्य मात्र गुणोंकी नहीं। उसमें भी तेजका संयोग हो कारणरूपसे देखा गया है, द्रव्यमात्रका संयोग नहीं। इसलिए प्राभाकर मीमांसकोंके उपर्युक्त कथनानुसार मनकी सिद्धि नहीं होती। अतः सुखादि साक्षात्कार मनके विना नहीं हो सकता। इसलिए सुखादि साक्षात्कार ही मनका अनुमापक हेतु है।

---

* अर्थात् सुखादिकी उत्पत्तिके प्रति शरीरात्मसंयोग असमवायिकारण है, किन्तु सहकारी कारणत्व खान-पानादिका ही है। जहां सहकारी कारण रहते हैं, वहीं कार्य होता है। अन्न-पानादि सहकारी कारणोंका भी शरीरावच्छेदसे ही सम्भव होनेसे, शरीरके भीतर ही सुख-दुःखादि उत्पन्न होते हैं, शरीरसे बाहर नहीं।

१. किञ्चेति मुद्रित पुस्तके पाठः।

संयोगापेक्षा दृष्टा, न द्रव्यमात्रगुणानाम्। तेजस्संयोग एव च कारणतया दृष्टो न द्रव्यमात्रसंयोगः, तस्मान्नैवं मनस्सिद्धिरिति, सुखाद्यपरोक्षज्ञानमेव मनसो लिङ्गम्।

इन्द्रियलक्षणम्

किं पुनरिन्द्रियलक्षणं चक्षुरादिषु मनसि चानुस्यूतम्? उच्यते—यत् स्वसंप्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति, तदिन्द्रियमित्युच्यते। तच्च द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं पञ्चविधम्—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रात्मकम्। आन्तरं त्वेकं मनः। तत्राद्यानि चत्वारि च—पृथिव्यप्तेजोवायुप्रकृतीनीत्यक्षपाददर्शनवदभ्युपगम्यन्ते। श्रोत्रं त्वाकाशात्मकं तैरभ्युपगतम्। वयं तु 'दिशः श्रोत्रम्' इति दर्शनाद् दिग्भागमेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रमाचक्ष्महे। मनस्तु पृथिव्यादीनामेवान्यतमात्मकम्, तेभ्योऽन्यद्वा सर्वथा तावदस्ति मनः। तच्चात्मतद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते, न बाह्येषु रूपादिष्वित्यान्तरमित्युच्यते। रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते। एवमनुमानादिष्वपि लिङ्गादिसहायम्।

शंका—उक्त प्रकारसे यदि मन भी इन्द्रिय है, तो चक्षुरादि तथा मनमें अनुस्यूत इन्द्रियका लक्षण कहना काहिए, कोई लक्षण तो किया नहीं। यही आक्षेप है 'किंपुनरिन्द्रिय' इत्यादिसे।

समाधान—उत्तर देते हैं—जो संयुक्त विषयमें विषद अवभासको करता है (अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है) उसे इन्द्रिय कहते हैं§। अब विभाग करते हैं कि यह इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। आभ्यन्तरिक और बाह्य। बाह्य पांच प्रकारकी हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् एवं श्रोत्र। आभ्यन्तरिक एक ही इन्द्रिय है मन। वाह्य जो पाँच हैं, उनमें श्रोत्रको छोड़कर, शेष चारकी क्रमशः चार प्रकृतियां होती हैं। यथा घ्राण पार्थिव है। रसन जलीय है। चक्षु तैजस है। त्वक् वायवीय है। इस प्रकार ये अक्षपाद (न्याय) दर्शनकी तरह मानी जाती हैं। (अर्थात् मीमांसक और नैयायिकमें इन्द्रियोंके प्रश्नको लेकर कोई वैमत्य नहीं। दोनोंके मतमें बाह्येन्द्रियां भौतिक हैं, सांख्यकी तरह आहंकारिक नहीं) श्रोत्रेन्द्रियके सम्बन्धमें विशेषता बताते हैं कि नैयायिकोंने श्रोत्रको आकाशात्मक माना है। हम मीमांसक तो दिशाके विशेष भाग कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न प्रदेशको ही श्रोत्र मानते हैं। इसमें प्रमाण है श्रुति, क्योंकि 'अध्रिगुप्रैष' मंत्रमें 'दिशः श्रोत्रम्'‡ ऐसा कहा गया है।

अब मनके सम्बन्धमें कहते हैं कि मन पृथिवी आदि भूतोंमें से किसी एकका या उनसे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व हो, पर मन अवश्य है। उसका कार्य बताते हैं—वह आत्मा और उसके गुणोंके ग्रहणमें स्वतंत्ररूपसे प्रवृत्त होता है। वाह्य रूपादिमें स्वतंत्र नहीं। इसलिए वह आन्तरिक कहलाता है। रूपादि ज्ञानमें भी मन चक्षु आदिकी सहायतासे प्रवृत्त होता है। ऐसे ही अनुमानादिमें भी लिङ्गादिकी सहायता पाकर प्रवृत्त होता है।

शंका—(जैसे रूपादि ग्रहणमें चक्षु आदि करण होते हैं, वैसे मनकी करणरूपमें कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है?)

---

§ अर्थात् 'अपरोक्षज्ञान जनकत्वम् इन्द्रियत्वम्' यह इन्द्रियका लक्षण चक्षु आदिमें है, क्योंकि रूपादि विषयका प्रत्यक्षज्ञान चक्षु आदिसे होता है। वैसे मनसे भी सुखादि अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसलिए यही इन्द्रियका लक्षण है 'अर्थे' इस सप्तमीका अर्थ है विषयत्व।

‡ यहां दिशामें श्रोत्रका लय बताया गया है, अतः वही उपादान कारण है।

अन्यमनस्कस्य संयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्तेः। स्मृतावपि संस्कारपरतन्त्रं प्रवर्तते, न स्वतन्त्रम्।

नन्वनुमानादीनां मनोजन्यत्वात्, तेषां च भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्तेरिन्द्रियजन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वेनानैकान्तिकं स्यात्। न स्यात्—नहीन्द्रियजन्यत्वं हेतुः, किं त्विन्द्रियसंप्रयोगजत्वम्। न चानुमानेऽतीताया भविष्यन्त्या वा वृष्टेरनुमीयमानाया मनसा संप्रयोगोऽस्तीत्यव्यभिचारः। तदेवं प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानाद्यपि। न ह्यगृहीते धर्मे तेन सह कस्यचित्सम्बन्धग्रहणं संभवति। सादृश्यविषयकत्वाच्चोपमानं दूरभ्रष्टम्। अर्थापत्तिरपि धर्मेण विनानुपपद्यमानस्य कस्यचिददर्शनादसमर्था।

समाधान—अन्यमनस्क पुरुषको चक्षु आदि सन्निकर्ष होने पर भी रूपादि विषयक-ज्ञान नहीं होता। (जो रूपादिको जानना चाहता है, उसे रूपादिका ज्ञान होता है। इस अन्वय-व्यतिरेकसे रूपादि ग्रहणमें भी मनकी कारणता माननी आवश्यक है। अर्थात् मन रूपादि बाह्य विषयोंमें भी चक्षु आदिके अधीन होकर प्रवृत्त होता है। इसी अभिप्रायसे 'बहिः परतंत्रं मनः' ऐसा नैयायिकोने कहा है) इसी प्रकार स्मर्यमाण विषयके स्मरणमें मन संस्कार-परतंत्र होकर प्रवृत्त होता है, स्वतंत्र नहीं; ऐसा समझना चाहिए।

(अब यह विचार है कि इन्द्रिय सम्प्रयोगजन्यत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व, इन दोनोंमें समव्याप्ति है। इसका निरास करनेके लिए पूर्व पक्षी 'ननु' से शंका करता है) अनुमानादि प्रमाणोंके भी मनोजन्य होनेसे उनकी अतीत विषयमें तथा अनागत विषयमें भी प्रवृत्ति होती है। वहां (अतीतानुमानमें या भविष्यत विषयक अनुमानमें) इन्द्रियजन्यत्व है, विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं है, अतः पूर्वोक्त अनुमानमें व्यभिचार है।

समाधान—व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि इन्द्रियजत्व हेतु नहीं है, किन्तु इन्द्रिय सम्प्रयोगजत्व है। इसीको स्पष्ट करते हैं, 'न चानुमाने' इत्यादिसे। अतीत या अनागत वृष्टिकी अनुमानमें अनुमिति होती है। वहां मनके साथ सम्प्रयोग = सम्बन्ध है। अतः अनुमानमें व्यभिचार नहीं है। (जैसे नदीके प्रवाहसे अतीत वृष्टिका अनुमान होता हैं, एवं पिपीलिका अण्ड संचारसे अनागत वृष्टिका अनुमान होता है, पर प्रत्यक्ष विद्यमान मात्रका ही ग्राहक होता है, अतीत अनागतका नहीं) इसीका उपसंहार करते हैं 'तदेवं' से। इसप्रकार प्रत्यक्ष धर्ममें अनिमित्त है, (अर्थात् प्रमाण नहीं है) प्रत्यक्ष पूर्वक होनेसे अनुमान आदि भी धर्ममें प्रमाण नहीं, क्योंकि धर्मका ग्रहण नहीं होता (अर्थात् अगृहीत धर्मका किसीके साथ सम्बन्ध = व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं) इसी प्रकार सादृश्यको लेकर प्रवृत्त होनेवाला उपमान प्रमाण भी दूरसे ही निरस्त है।

शंका—तब अर्थापत्तिसे धर्मका ज्ञान सम्भव है? ऐसा कहें तो? उत्तर—नहीं कह सकते, क्योंकि धर्मके विना यदिकोई अर्थ अनुपपन्न हो तो, अर्थापत्तिसे उसकी कल्पना कर सकते हैं; पर ऐसा कोई अर्थ देखनेमें नहीं आता, इसलिए अर्थापत्ति भी धर्मका स्वरूप निश्चित करनेमें असमर्थ है। (अर्थात् उपमान भी धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्य अनुयोगी और प्रतियोगीकी अपेक्षा रखता है। विना इसके सादृश्यका ग्रहण नहीं होता, अतः उपमान भी धर्ममें प्रवृत्त नहीं होगा)

ननु जगद्वैचित्र्यमनुपपन्नम् ? न, स्वाभाविकत्वेनोपपत्तेः। यद्यपि तदनुपपत्त्या किञ्चिददृष्टं कल्प्येत तथापि को धर्मः, को वाधर्म इति विवेकाभावादवश्यं चोदनैवार्थनीया। सा चेदङ्गीकृता कृतमर्थापत्त्या, सामान्यतोदृष्टेन वा।

बौद्धमतेन शंका

ननु विकल्पनिमित्तं संबन्धग्रहणं तत्कथं प्रत्यक्षपूर्वकत्वम् ? सविकल्पकमप्यनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य जायमानमपरोक्षावभासत्वात् प्रत्यक्षमेवेत्यदोषः।

शंका—धर्मके विना जगतमें जो विचित्रता देखी जाती है, वह अनुपपन्न है (अर्थात् कोई सुखी, कोई दुखी, धनी, दरिद्र, विद्वान, ज्ञानी, अज्ञानी इत्यादि वैचित्र्य देखा जाता है। यह कार्य है। कार्य विना कारणके नहीं होता। इसलिए जगत् वैचित्र्यानुपपत्तिसे धर्मकी सिद्धि होती है; अतः अर्थापत्ति धर्ममें प्रमाण है)

उत्तर—नहीं, क्योंकि स्वभावसे जगद्वैचित्र्यकी सिद्धि होती है। यद्यपि जगद्वैचित्र्यके सिद्ध न होनेसे कुछ अदृष्ट कल्पित हो सकता है; तो भी कौन धर्म है, कौन अधर्म है, यह विवेचन न होनेसे अन्ततो गत्वा विधिवाक्यकी शरण लेनी ही पड़ेगी। जब मान लिया, विधि वाक्य ही धर्ममें प्रमाण है, तब अर्थापत्ति या सामान्यतो दृष्ट अनुमानकी क्या आवश्यकता है ?✽

(पूर्व प्रकरणमें प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे अनुमानादि भी प्रमाण नहीं हैं, यह कहा गया है। इसपर बौद्ध शंका करते हैं कि प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें विशेष्य विशेषणभावका अवगाहन नहीं होता, इसलिए उसे निर्विकल्पक कहते हैं। और जिसमें विशेष्य-विशेषण-भावका बोध होता है, वह सविकल्पक कहलाता है। बौद्ध निर्विकल्पकको ही प्रत्यक्ष मानते हैं। उसका विषय है स्वलक्षण। सविकल्पकको नहीं। क्योंकि वह निर्विकल्पकके बाद होता है। सविकल्पक निर्विकल्पकका कार्य भी है। अनुमान तो साध्य और साधन इन दोनों के कार्यकारण-भावरूप सम्बन्धको ग्रहण करते हुए होता है। सम्बन्धग्रहण सविकल्पसे ही होता है; निर्विकल्पसे नहीं। निर्विकल्पक तो स्वलक्षण मात्रका ग्राहक है। अतः अनुमानादि प्रत्यक्ष पूर्वक कैसे होंगे ? इस शंकाका) 'ननु' से उपन्यास करते हैं—सम्बन्धका ग्रहण विकल्पके निमित्तसे§ होता है। अतः यह प्रत्यक्षपूर्वक कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सविकल्पक भी प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि जिस पुरुषका इन्द्रिय व्यापार उपरत नहीं है; अर्थात् अनुपरत इन्द्रिय व्यापारवान् पुरुषको इन्द्रियार्थ सन्निकर्षसे ज्ञान होता है। वह अपरोक्ष है, अतः वह भी प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानादिमें जो प्रत्यक्षपूर्वकत्व कहा गया है, वह युक्त ही है, अतः कोई दोष नहीं।

✽ सामान्यतोदृष्ट अनुमानका यह आकार है—'जगद्वैचित्र्यं सकारणकम्, कार्यत्वात्, घटवदिति'। इसलिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान या अर्थापत्तिसे जगद्वैचित्र्यका कोई कारण है, वह धर्माधर्म है, यह विशेष निश्चय विधि-वाक्यसे ही करना होगा। इसलिए विधि-वाक्य ही धर्ममें प्रमाण है। प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाण नहीं, यह इसका तात्पर्य है।

§ यहाँ 'विकल्प' शब्दसे सविकल्पक ज्ञान तथा 'निमित्त' शब्दसे कारणको भी समझना चाहिए।

विकल्पश्चापरोक्षावभासश्चेति चित्रम्? अपरोक्षमिति हि स्वलक्षणमुच्यते। तद्विषयोऽवभासोऽपरोक्षावभासः। विकल्पस्त्वभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वान्न स्वलक्षणं स्पृशति। न ह्यभिलापः स्वलक्षणं स्पृशति। यदि स्पृशेदभिलापमात्रेणापि विनाक्षव्यापारमपरोक्षावभासः स्यात्, न चासावस्ति। तदुक्तम्—

'अन्यथैवाग्निसंयोगाद् दाहं दग्धो हि मन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रकाशते'॥ इति।

तस्मादभिलापस्तावन्न विशदाकारमवभासयन्ति, तत्समानविषया विकल्पा अपि।

बौद्ध पुनः शंका करते हैं—विकल्प भी कहते हो अपरोक्ष प्रकाश भी कहते हो, यह तो विचित्र बात है (अर्थात् विरोध है) अपरोक्ष तो स्वलक्षण ही कहा जाता है। तद्विषय = स्वलक्षण-विषयक जो अवभास = प्रकाश है, वही अपरोक्षावभास कहलाता है। विकल्प तो सविकल्पक ज्ञानको कहते हैं। अभिलाप = शब्दजन्य बोध या शाब्दबोध। उसमें भासमान एक संसर्ग है। उसके योग्य प्रतिभास है जिसका, उसीका नाम है विकल्प। वह स्वलक्षणको स्पर्श नहीं करता।॥ अभिलाप (शाब्दबोध) भी स्वलक्षणको विषय नहीं करता। (अर्थात् जब शाब्दबोध ही स्वलक्षण का ज्ञान नहीं करता, तब अभिलाप संसर्ग योग्य सविकल्पक कैसे स्वलक्षणका बोधक होगा?) यदि अभिलाप मात्रसे भी स्वलक्षणका बोधन करेगा तो, इन्द्रिय व्यापारके विना भी शब्दसे ही अपरोक्ष अवभास होने लगेगा। ऐसा तो होता नहीं। (उक्त अर्थको वृद्ध वचन द्वारा प्रमाणित करते हैं) 'तदुक्तम्' इत्यादि से। 'अग्निसे दग्ध पुरुष, जिस दाहका अनुभव करता है—अग्निसे दग्ध है, इस शब्दको सुनकर, उसके सामने दाहका दूसरा ही अर्थ प्रकाशित होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष दाहका दूसरा अर्थ है और 'दाह' शब्दसे दाहरूप दूसरा अर्थ प्रकाशित होता है' उक्तार्थं का उपसंहार करते हैं—'तस्मादिति' से। अभिलाप, विशद आकारोंका अपरोक्षत्व रूपसे भान नहीं कराते। इसी प्रकार उसके समान विषयवाले विकल्प (सविकल्पक ज्ञान) भी स्वलक्षणकी प्रतीति नहीं करा सकते।

उक्तार्थमें शंका करके समाधान करते हैं—'यस्त्वयम्' इत्यादि से। उन्मीलित नेत्र पुरुषका 'यह गौ है' ऐसा विकल्प है। इसका प्रकाश स्पष्ट है। वह सविकल्पकका प्रकाश नहीं है, अपितु

॥ अर्थात् शब्दसे प्रतिपादन योग्य विषय है, जिस प्रतिभासका, तद्रूप होनेके कारण। या अभिलाप समान विषयकत्व होनेके कारण। इसका यह आशय है कि जैसे शब्दसे संसर्ग ही विषय किया जाता है, स्वरूप नहीं, वैसे सविकल्पक भी स्वलक्षणको विषय नहीं करता। स्वलक्षण बौद्ध मतमें प्रसिद्ध है—'स्वं च तत् लक्षणं च स्वलक्षणम्। लक्षणम् आकारः। धर्मे स्वत्वं चासाधारणत्वम्। असाधारणधर्म इत्यर्थः। यही कारण है कि विकल्प स्वलक्षण नहीं होता। अतः धर्मकीर्तिने कहा है—

अशक्यसमयोह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषंगिणी॥

यस्त्वयं विस्फारिताक्षस्य—'गौरियम्' इति विकल्पो विशदावभासः स समानकालविशदावभासनिर्विकल्पकसंसर्गकृतः, तदभावेऽभिलापमात्रेऽनुमाने च विकल्पाकारप्रतिभासे वैशद्याभावात् । तस्मान्निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम् । तत्रैव हि विशदस्य स्वलक्षणस्यावभासः ।

मैवम्—उन्मीलितनेत्रस्य विकल्पोऽपि गौरयमित्यपरोक्षावभास एव प्रतीयते । न चासावन्यसंसर्गकृतः, प्रमाणाभावात् । अभिलापसंसर्गयोग्यस्यापि सामान्याकारस्याभिलापलिङ्गादिभिरवैशद्यम्, इन्द्रियैश्च वैशद्यमुपपद्यत एव । न ह्ययं परोक्षापरोक्षविभागो विषयकृतः, यदि हि तथा स्यात्, सर्वदैव सामान्यं परोक्षं स्यात्, स्वलक्षणं चापरोक्षं स्यात् । न चैवमस्ति, सामान्याकारस्यापि परोक्षापरोक्षविभागदर्शनात् ।

उसके अव्यवहित पूर्वकालमें जो निर्विकल्पक ज्ञान हुआ, उसीके सम्बन्धसे विशदावभास उसमें भासता है । (जैसे सांख्यमतमें अचेतन बुद्धि भी आत्म-सम्बन्धसे चेतनवत् भासित होती है, वैसे सविकल्पक अविशदावभास होनेपर भी, निर्विकल्पक प्रत्यक्षके सम्बन्धसे विशदावभासके समान ज्ञात होता है) 'तदभावे' इत्यादिसे विपक्षमें बाधक बताते हैं, कि यह विषय अनुमानादिमें स्पष्ट है । अनुमानमें या शब्दमें वैशद्य तो होता नहीं । किन्तु विकल्पाकारका प्रतिभास होता है । इसलिए निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष होता है । और इसीमें विशद स्वलक्षणका प्रकाश होता है* ।

(उपर्युक्त बौद्ध मतका निराकरण करते हैं भाट्ट मीमांसक 'मैवम्' इत्यादिसे) खुले नेत्रों वाले पुरुषको जो 'यह गौ है' ऐसा सविकल्पक ज्ञान होता है, वह भी विशदावभास होनेसे अपरोक्ष ज्ञान ही है । वह निर्विकल्पकके संसर्गसे होता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । शब्दसे जो ज्ञान होता है, वह सामान्य आकार वाली वस्तुको विषय करता है । उस सामान्य आकारके शब्द द्वारा या हेतुके द्वारा उत्पन्न होनेसे उसमें वैशद्य नहीं होता । और जो इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है; उसका वैशद्य होना सम्भव है ।

(यह लोकमें देखा जाता है कि घट प्रत्यक्ष होता है । पर्वतादिमें अग्नि अनुमेय होती है) यह परोक्ष तथा अपरोक्षका विभाग विषयकृत नहीं है । यदि विषयकृत होता तो विषयके स्वभावके सदा अव्यभिचारी होनेसे सामान्य सदा परोक्ष ही होता । और स्वलक्षण (व्यक्तिः) सदा अपरोक्ष ही होता, पर ऐसा है नहीं । (यहाँ परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है, इसलिए यह पूर्वोक्त विभाग है । सामान्य परोक्ष होता है स्वलक्षण अपरोक्ष होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है । किन्तु सामान्याकारका भी कभी प्रत्यक्ष होता है, कभी परोक्ष होता है, ऐसा विभाग देखा जाता है । इसीको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं 'तथाहि' इत्यादि से)

---

* इसी अर्थ को धर्मकीर्तिने कहा है—
'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् । विकल्पो वस्तुनिर्भासात् असंवादादुपप्लवः ॥
(न्या० बि०, पृ० १४,)

उक्त कारिकासे प्रत्यक्षका लक्षण कहा गया है, उसीका अर्थ है=प्रत्यक्ष यह लक्ष्य है । 'कल्पनापोढम्' इत्यादि उसका लक्षण है । कल्पनाका अर्थ है जाति, गुण, क्रिया आदिकी कल्पना । उससे युक्त ज्ञानको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं । यह लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नागका है । धर्मकीर्तिने उपर्युक्त कारिकामें 'अभ्रान्त' पद जोड़कर उसीको प्रत्यक्षका लक्षण माना है । और जिसमें जाति, गुण, क्रिया आदिकी कल्पना नहीं है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है । इसका विस्तार न्यायमंजरी के 'जगदभिभवधीरम्' इत्यादि पद्यमें देखना चाहिए ।

तथा हि— दूराच्छ्वेतं स्वलक्षणं पश्यन्ननिर्द्धारितगवाश्वजातिविशेषो ह्रेषाशब्दश्रवणादश्वत्वं तस्मिन्नेव स्वलक्षणेऽनुमिमानोऽपि परोक्षं बुध्यते। वदन्ति हि 'अश्वोप्ययं न चक्षुषा तथावभासते' इति प्रत्यासन्नस्तु वदति 'संप्रत्यश्वत्वमप्यस्य चक्षुषा पश्यामि, न पूर्वम्' इति। स्वलक्षणं तु प्रागपि विशदमेवेति सामान्यांशगत एवायं दूरसमीपवर्तिनः परोक्षापरोक्षविभागः, तस्मात्कारणकृतोऽयं विभागः।

एकस्मिन्नपि हि विषयेऽक्षैर्जायमानं विज्ञानमापरोक्ष्यं जनयति, लिङ्गादिजं तु नेति किं नोपपद्यते? ज्ञानजन्यो विषयगतः फलविशेषोऽयमापरोक्ष्यं नाम सर्वस्य संवेद्यः। यद्भावाभावाभ्यां लिङ्गाभ्यामक्षैः पश्यामि न पश्यामीति विस्फारिताक्षाणामेव व्यवहारः प्रवर्तते। अतोऽस्ति विकल्पस्यापि विशदावभासित्वमिति प्रत्यक्षत्वोपपत्तिः।

जैसे कि लोकमें यह देखा जाता है, कि कोई मानव दूरसे श्वेत वर्णके किसी व्यक्ति (अश्व) को देखकर, यह निर्णय नहीं करता कि यह गौ है या अश्व है। वह हिनहिनाहटको सुनकर, अश्वत्वका उस व्यक्तिमें अनुमान करता हुआ भी परोक्ष ही समझता है। इसलिए लोग कहा करते हैं, कि यह पुरोवर्ति वस्तु अश्व होते हुए भी चक्षुसे ऐसी नहीं भासती। और समीपमें जाकर वही व्यक्ति कहने लगता है, कि अब मैं इसका अश्वत्व भी नेत्रोंसे देखता हूँ। पहिले नहीं देखता था। इससे सिद्ध है कि पूर्वमें स्वलक्षण विशद होनेपर भी, सामान्यांशका ही, समीप या दूरमें रहनेवाले मनुष्यको, परोक्ष-अपरोक्ष विभाग होता है। अतः यह परोक्ष-अपरोक्षरूप विभाग कारणकृत है, विषयकृत नहीं।

इसी अर्थका काकुस्वरसे 'एकस्मिन्नपि' इत्यादिसे उपपादन करते हैं। एक विषयमें भी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान आपरोक्ष्यको उत्पन्न करता है। लिङ्गादिसे होनेवाला ज्ञान तो आपरोक्ष्यको उत्पन्न नहीं करता, ऐसा क्यों सिद्ध नहीं होता? अर्थात् यह उपपन्न होता है। अपरोक्षत्वको सब लोग मानते हैं। यह ज्ञानका फल है, ज्ञानसे जन्य है और विषयनिष्ठ है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसी बातको अन्वय-व्यतिरेकसे बताते हैं 'यदभावा०' इत्यादिसे। जिसके रहने या न रहनेरूप अन्वय-व्यतिरेकरूप लिंगोंसे मैं इन्द्रियोंसे देखता हूँ, जिसके न रहनेसे नहीं देखता हूँ, ऐसा व्यवहार खुले नेत्रों वाले पुरुषोंका होता है। इसलिए विकल्पकी भी विशद प्रकाशकता है ही। इससे सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला विकल्प (सविकल्पक) की भी प्रत्यक्षता सिद्ध होती है।

(वैयाकरण शिरोमणि भर्तृहरिका यह मत है, कि सभी ज्ञान सविकल्पक ही होते हैं, निर्विकल्पक नहीं। क्योंकि व्यवहार सविकल्पकसे ही सधता है, निर्विकल्पकसे नहीं। अतः निर्विकल्पकको नहीं मानना चाहिए। यह उनका पक्ष है। इस बातको उन्होंने वाक्यपदीयमें कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ (का० १२३)

इसका अर्थ है—कोई भी ज्ञान विना शब्दके नहीं भासता। शब्दसे अनुविद्ध = अनुगत ही ज्ञान भासित होता है। इसीको श्लोकवार्तिककी व्याख्या 'न्यायरत्नाकरमें' ग्रन्थकारने (पृ० सं० १४२ में) कहा है कि यह वैयाकरणोंका मत है इसीका 'केचित्तु' इत्यादिसे उपपादन करते हैं)

ज्ञानस्य सविकल्पकत्वोपन्यासनिरासौ

केचित्तु सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानम्, न निर्विकल्पकं नाम किञ्चिदस्तीति मन्यन्ते। तत्तु प्रतीतिविरुद्धम्। प्रतीमो हि वयमक्षसंनिपातानन्तरमविविक्तसामान्यविशेषविभागं संमुग्धवस्तुमात्रगोचरमालोचनज्ञानम्। तदभावे तु विकल्प एव न जायेत। विकल्पयता हि पूर्वानुभूतं जातिविशेषं सञ्ज्ञाविशेषं चानुस्मृत्य, तेन पुरःस्थितं वस्तु विकल्पयितव्यम्। न चार्थमदृष्टवतस्तत्स्मरणमाकस्मिकमेवोत्पद्यते[1]। तस्मादस्ति निर्विकल्पकमपि ज्ञानम्।

अद्वैतमतेन निर्विकल्पकस्य सन्मात्रविषयत्वनिरूपणम्

तच्च सन्मात्रविषयमिति केचित्। भेदस्य विकल्पवेद्यत्वादगृहीते च भेदे विशेषाणामग्रहणात्। किं चेतरेतराभावो भेदः, न चासौ प्रत्यक्षेण गृहीतुं शक्यते।

यहाँके 'चित्से' भर्तृहरि अभिप्रेत हैं। उन वैयाकरणोंने यह माना है कि सभी ज्ञान सविकल्पक (शब्दानुविद्ध) ही होते हैं। निर्विकल्पक नामकी कोई वस्तु नहीं है। उक्त मत प्रतीति-अनुभव विरुद्ध है। क्योंकि हम अनुभव करते हैं, कि इन्द्रिय सन्निकर्षके बाद सम्मुग्धाकार वस्तु मात्रका ज्ञान होता है❀, जिसमें सामान्य या विशेषका विभाग ग्रहण नहीं होता, उसे आलोचन ज्ञान कहते हैं। उसके विना अर्थात् निर्विकल्पक न होनेसे विकल्प (सविकल्पक) ज्ञान नहीं होगा। (क्योंकि विशिष्ट बुद्धिके प्रति विशेषण ज्ञान कारण होता है। कारणके बिना कार्य नहीं होता। इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान अवश्य मानना चाहिए। इसीका उपपादन करते हैं) 'विकल्पता हि' इत्यादि से। जो सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करता है पुरुष, वह पूर्वमें निर्विकल्पक ज्ञानसे अनुभूत जाति-विशेष तथा संज्ञा विशेषका स्मरण करके, पुरोवर्ती व्यक्तिका विकल्प करता है ('यह गोत्व विशिष्ट गौ है' 'यह गौ हैं' इत्यादिक (संज्ञाविशेषका स्मरण करके ही 'अयं गोपदवाच्यः' ऐसा विकल्प होता है) अतः इस अर्थको जिसने पूर्वमें नहीं देखा है, उसे उसका स्मरण अकस्मात् कैसे होगा? इसलिए सविकल्पक ज्ञानके पूर्वमें निर्विकल्पक ज्ञान भी अवश्य होता है। (अतः निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञानको मानना आवश्यक है)

(उपर्युक्त ग्रन्थसे निर्विकल्पक ज्ञानका समर्थन किया गया। अब अद्वैत वेदान्तके अनुयायी ज्ञानघनपादने तत्त्वशुद्धिमें पृ० ५, निर्विकल्पकका विषय सन्मात्र ब्रह्म है यह कहा है। उनका अभिप्राय है कि विशेषका ग्रहण सविकल्पकसे ही होता है। निर्विकल्पकसे नहीं। क्योंकि सविकल्पकमें विशेष्य, विशेषण और संसर्ग इन तीनोंका ग्रहण होता है। शुद्ध चैतन्य सन्मात्र ब्रह्मका सविकल्पकसे ग्रहण नहीं होता। अतः निर्विकल्पकका विषय है शुद्ध चैतन्य सन्मात्र) इसीको 'तच्च' इत्यादिसे कहते हैं। वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्रविषयक है, ऐसा केचित् = अद्वैतवेदान्ती ज्ञानघनपादका मत है। क्योंकि भेदका ग्रहण विकल्प (सविकल्पक) से होता है। जहाँ भेदका ग्रहण नहीं होता, वहाँ विशेषोंका भी ग्रहण नहीं हो सकता। इसी बातका 'किं च'

❀ इसका विशेष विवरण वार्तिकमें देखिए यथा—

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥
न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते। तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावगम्यते॥

१ 'उपपद्यत' इति 'क' पुस्तके पाठः।

नतरां निर्विकल्पकेन[1]। अतश्च 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० उ०, अ० ४) इत्यादिनिषेधानां प्रत्यक्षादिविरोधाभावात् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ०, ६।१।२) इत्यादिश्रुतिभिरद्वितीयं ब्रह्म सिद्धम्।

तन्निरासः

तदिदमतिसाहसम्—किं भवतो नीलपीतयोः, तिक्तमधुरयोः, शीतोष्णयोः, सुखदुःखयोश्चाविलक्षणा बुद्धिः ? यद्येवं नात्रोत्तरं वक्तव्यम्। न च सत्स्वरूपे सविकल्पेन विशेषग्रहणमिति वाच्यम्, अविकल्पेन विकल्पस्यापि विलक्षणस्योत्पत्त्यसम्भवात्।

यच्चावश्यमिदमस्माद्भिन्नमित्येवं विकल्पेनैव भेदो गृहीतव्यः, नाविकल्पेन तस्य

इत्यादिसे उपपादन करते हैं। इतरेतराभावको भेद कहते हैं। यह भेद प्रत्यक्ष (सविकल्पक) से गृहीत नहीं हो सकता। निर्विकल्पसे ग्रहण होना तो दूर है, यह तो स्वतः सिद्ध है। इसलिए 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियां हैं। इनसे ब्रह्ममें 'नाना' पदका वाच्य भेद निषिद्ध है। अतः इन निषेध वचनोंका प्रत्यक्षादिके साथ विरोध न होनेसे, यदि प्रत्यक्ष भेदका ग्रहण करता तो उक्त श्रुतियोंका प्रत्यक्षसे विरोध होता, पर ऐसा है नहीं। 'अत एव' एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ अद्वितीय ब्रह्मको सिद्ध करती हैं। (उस ब्रह्ममें सजातीय भेदके निषेधको 'एक' शब्द बताता हैं। 'अद्वितीय' शब्द विजातीय भेदको तथा 'एव' शब्द स्वगत भेदका निषेध करते हुए अद्वितीय ब्रह्मको सिद्ध करता है। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्षका सन्मात्र ब्रह्म ही विषय है, यह उनका मत है)

उक्त मतका निरास करते हैं 'तदिदमति०' इत्यादि से। सिद्धान्ती कहता है कि यह आपका अत्यन्त साहस है। क्या आप अद्वैतवेदान्ती नील और पीतकी, तिक्त और मधुरकी, शीत और उष्णकी तथा सुख दुःखकी अविलक्षण प्रतीति मानते हैं ? यदि मानते हैं तो आपको उत्तर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं§।

शंका—सद्रूप ब्रह्ममें सविकल्पक प्रत्यक्षसे विशेषका ग्रहण होता है, ऐसा नहीं कह सकते। उत्तर—निर्विकल्पकसे विलक्षण, विकल्प (सविकल्पक) का होना भी असम्भव है। (अर्थात् यदि निर्विकल्पक-सन्मात्रका ही ग्रहण करता है, तो उससे जायमान सविकल्पक भी सन्मात्रका ही ग्रहण करेगा। विशेषका ग्रहण नहीं करेगा। क्योंकि कारणसे विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, 'यच्च' इत्यादिसे कहते हैं कि 'इदमस्माद् भिन्नम्' यह इससे भिन्न है, ऐसा भेद अवश्य विकल्पसे ही गृहीत होता है। निर्विकल्पसे भेदका ग्रहण नहीं होता।

---

§ अर्थात् यदि परस्पर विरुद्ध नील—पीतादिकी भी अविलक्षण बुद्धि होती है, इन प्रतीतियोंमें कोई वैलक्षण्य नहीं है, तो बात यहीं समाप्त होगई। फिर और कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह तो लोक विरुद्ध है। लोकमें नील-पीतका वैलक्षण्य होता ही है। नीलकी दूसरी प्रतीति है, पीतकी दूसरी है।

१ अविकल्पकेनेति 'क' पुस्तके पाठः।

ग्रहणं सम्भवतीति। न ब्रूमो भेदस्य ग्रहणम्, किन्तु भिन्नानाम्। तेषामपि न भिन्नतया, किन्तु स्वरूपेण—यदन्यस्माद्भिन्नं नीलं पीतं वा तद् गृह्यत इति ब्रूमः। नहि नीलं पीतं वा भेदः, तयोर्हि धर्मो भेदः, तदग्रहेऽपि धर्मिणां ग्रहणं नानुपपन्नम्।

यदि च सन्मात्रं प्रत्यक्षेण गृह्यते न नीलं पीतं वा, ततो विकल्पेनापीदमस्माद्भिन्नमिति कथं भेदो गृह्येत? नहि सदेव सतो भिन्नमिति सम्भवति। तस्मान्नीलादिगुणानां पृथिव्यादिद्रव्याणां च प्रत्यक्षेण ग्रहणात् प्रपञ्चापलापः प्रत्यक्षविरुद्ध एव।

यदि तु पृथिव्यादिप्रपञ्चं नापह्नुमहे तद्धर्मं तु भेदमेवेति ब्रूयात्? तदप्यशक्यम्—नीलपीतयोरितरेतराभावस्य प्रत्यक्षानुपलब्धिसिद्धस्यापह्नवासम्भवात्। प्रत्यक्षाभावोऽपि

उत्तर—हम यह नहीं कहते कि भेदका ग्रहण होता है, किन्तु हमारा तो कहना है कि भिन्नका ग्रहण होता है। उसमें भी भिन्नतया नहीं, किन्तु स्वरूपसे होता है। नील पीतसे भिन्न है या पीत नीलसे भिन्न है, ऐसा गृहीत होता है। क्योंकि भेदके अनुयोगिरूप होनेसे नीलके ग्रहणसे पीत भेद भी गृहीत होता है।

शंका—तब कैसे कहते हैं भेद का ग्रहण नहीं हुआ? उत्तर—नील या पीतको भेद नहीं कहते, किन्तु उनका धर्म है भेद। अतः धर्मीभूत भेदका ग्रहण न होनेपर भी, धर्मी जो भेदके अनुयोगी नील—पीतादिक हैं, उनका ग्रहण अयुक्त नहीं। (अर्थात् धर्म ग्रहणके विना भी धर्मीका ग्रहण होता है)

अब विपक्षमें बाधक बताते हैं 'यदि च' इत्यादिसे। यदि अद्वैतवेदान्ती कहें—सन्मात्र ही प्रत्यक्षसे गृहीत होता है, नील या पीत नहीं, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप होता है, यह नियम है। निर्विकल्पकका जो कार्य है सविकल्पक, उसका भी वही कार्य है जो निर्विकल्पकका कार्य है। निर्विकल्पक सन्मात्रका ग्राहक है, इसलिए सविकल्पक भी सन्मात्रग्राहक होगा। तब यह इससे भिन्न है, इत्यादि ज्ञानमें स्वरूप या धर्मकेरूपमें भेदका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि सत् ही सत् से भिन्न नहीं होता। इसलिए नीलादि गुण तथा पृथिव्यादि द्रव्योंका प्रत्यक्षसे ग्रहण होनेसे, प्रपंचका अपलाप करना प्रत्यक्ष विरूद्ध ही है। (अतः निर्विकल्पक सन्मात्रग्राही है, यह नहीं कह सकते। निर्विकल्पक भी नील-पीतादिके स्वरूपका ग्रहण करता है, ऐसा मानना उचित है। और साथ हो प्रत्यक्षका विरोध होनेसे 'नेह नाना०' आदि श्रुतियोंका प्रपंचके कारण-भूत परमात्मामें नानात्वके निषेधमें तात्पर्य है)

शंका—यदि अद्वैतवादी कहें कि पृथिव्यादि प्रपंचका अपलाप हम नहीं करते, अपितु प्रपंचका धर्मरूप जो भेद है, उसको छिपाते हैं?

उत्तर—यह भी अशक्य है, क्योंकि नील और पीतका इतरेतराभावरूप भेद नैयायिक मतमें प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। मीमांसक मतमें अनुपलब्धि प्रमाणसे सिद्ध है। इसको छिपा नहीं सकते। क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल है, वैसे प्रत्यक्षाभाव—अनुपलब्धि भी और प्रमाणोंसे प्रबल है। (अतः अनुपलब्धि प्रमाणसे श्रुतिका बाध हो जाएगा)

विपक्षमें बाधक बताते हैं 'इतरथा' इत्यादि से। अनुपलब्धि अन्य प्रमाणोंसे यदि दुर्बल है तो, अनुपलब्धिसे शशकमें विषाणका अभाव-ज्ञान होनेपर, शशकमें विषाणित्वका भी अनुमान होने लगेगा, चतुष्पात्त्व हेतुसे। अनुमानका यह आकार है—'शशो विषाणी चतुष्पात्त्वात्, गोवत्' इति।

हि प्रत्यक्षवदेव प्रमाणान्तरेभ्यो बलीयान्, इतरथा शशे चतुष्पात्त्वाद्विषाणित्वमनुमीयेत, अतो भेदापलापो न सम्भवति।

यदि त्वितरेतराश्रयतया इतरेतराभावग्रहणस्यानवक्लृप्तेरविद्यामात्रनिमित्तं तदित्युच्यते ? तदपि—यदि भिन्नतया प्रतियोगिनमाश्रयं च गृहीत्वा, तत इतरेतराभावो गृह्येत, ततः स्यात्। नीलपीतयोस्त्वितरेतराभावानादरेण स्वरूपेण गृहीतयोः पश्चादितरेतराभावग्रहणे किमितरेतराश्रयत्वम्।

यदि तु द्वित्वमपह्नूयते न पृथिव्यादयः, तेषां च मिथो भेदः, तदपि प्रत्यक्षविरुद्धम्, सङ्ख्यायाः प्रत्यक्षत्वात्। सत्यपि प्रत्यक्षविरोधे तदुपमर्देन प्रवर्तमानस्तद्बाधेनैवाग-

---

इससे शशमें विषाणका अनुमान तो हुआ, पर शशका विषाण होता नहीं। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणान्तरसे बलवती है। उसीसे गृहीत भेदका 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुतिसे अपलाप नहीं हो सकता। अत: भेदका निराकरण संभव नहीं।

शंका—नीलसे पीतके भेद-ग्रहणमें पीतसे नीलका जो भेद-ग्रहण है, उसकी अपेक्षा है। इसी प्रकार पीतसे नीलके भेदग्रहणमें नीलसे पीतका जो भेद ग्रहण है, उसकी अपेक्षा है। इस पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष होनेसे, इतरेतराभावरूप भेदका ग्रहण असम्भव है। इस भेदग्रहणमें मात्र अविद्या ही निमित्त है। अर्थात् अविद्या ही इसका कारण है। भेदके आविद्यिक होनेसे वह मिथ्या है। तब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्रको विषय करता है, अत: कोई विरोध नहीं।

उत्तर देते हैं—'तदपि' इत्यादि से। भेद प्रतियोगी और अनुयोगी इन दोनोंके परस्पर भेदसे भिन्न है, ऐसा ज्ञान होनेपर, भेदका यदि ग्रहण होता है, तो उस पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष लागू होगा। पर ऐसा प्रकृतमें नहीं है। क्योंकि नील और पीत इन दोनोंके इतरेतराभावको ग्रहण न करके, अर्थात् इसकी विवक्षा न रखते हुए, नील-पीत दोनों स्वरूपसे गृहीत होते हैं। उसके पश्चात् इतरेतराभावके ग्रहणमें अन्योन्याश्रय दोष कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। और सुनिए—धर्म भेदरूप है, ऐसा एक पक्ष है। इसे धर्मभेद-वाद कहते हैं। दूसरा पक्ष है कि अनुयोगी स्वरूप ही भेद है। इसीको स्वरूप भेद-वाद कहते हैं। प्रकृतमें धर्मभेद-वादमें अन्योन्याश्रय दोष लग सकता है। स्वरूप-भेदवादमें अन्योन्याश्रय दोष कैसे सम्भव हो सकता है ? उसका आश्रय क्या है ?

शंका—यदि पूर्वपक्षी अद्वैतवादी कहें कि भले ही पृथिव्यादि प्रपंच रहे, तथा उसका परस्पर भेद भी रहे, इस विषयमें हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु प्रपंचमें जो द्वित्व है, हम उसका निषेध करते हैं। (अर्थात् द्वैत नहीं है, यह कहते हैं। द्वैतके अभावसे ही अद्वैत सिद्ध हो जाता है)

उत्तर—यह कथन भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। (क्योंकि जैसे भेदका अपलाप प्रत्यक्ष विरुद्ध है वैसे द्वित्वका अपह्नव भी प्रत्यक्ष विरुद्ध ही है। क्योंकि 'द्वौ घट-पटौ' इत्यादि स्थलमें घट और पट इन दोनोंमें) द्वित्व संख्या प्रत्यक्षसिद्ध है। (इसका अपलाप आप नहीं कर सकते। इसलिए द्वित्वका ही अपलाप करते हैं, यह पक्ष भी असंगत है)

शंका—पूर्व पक्षी कहता है कि 'घट-पटौ' यह प्रत्यक्ष द्वित्वको ग्रहण करता है। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' यह आगम द्वित्वाभाव=अद्वैतको कहता है; अत: प्रत्यक्षसे आगमका विरोध है। और आगम प्रत्यक्षसे प्रबल है। इसलिए विरोध होनेपर, आगम प्रत्यक्षका उपमर्दन करते हुए, अद्वैतका बोधन करेगा, यदि ऐसा कहें ?

मोऽद्वैतमवगमयतीति चेत् ? न, प्रवृत्त्यसम्भवात्। प्रत्यक्षं हि निरपेक्षं शीघ्रं जायमानं स्वविरुद्धस्यागमिकज्ञानस्य पदपदार्थसन्निध्यपेक्षायोग्यत्वन्यायालोचनसापेक्षतया विलम्बितप्रवृत्तेः प्रवृत्तिमेव निरुणद्धि।

किं चाशक्यमेव श्रुत्या प्रपञ्चस्यासत्त्वं बोद्धुम्। बुद्ध्यमाने हि श्रुतिरपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसती बोद्धव्या स्यात्। कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुद्ध्येत ? असत्त्वेन प्रतीयमाना न प्रमाणं स्यात्। प्रमाणत्वेऽव्यवस्थिते[1]—सत्तया प्रतीयमानायाः श्रुतेर्न मिथ्यात्वं शक्यं वक्तुम्। नह्येकस्यैव वस्तुनो युगपदेव सत्त्वमसत्त्वं च समुच्चित्य बोद्धुं शक्यम। अन्यतरोपमर्देन ह्यन्यतरद् बुद्धावारोहति। ततश्च श्रुतिरस्तीति चेत् ? न प्रपञ्चस्याभावः सम्भवति, श्रुतेरपि प्रपञ्चत्वात्। नास्ति चेच्छ्रुतिः ? प्रमाणाभावादेव न प्रपञ्चापलापः सम्भवति।

उत्तर—नहीं कह सकते। जिस विषयमें प्रत्यक्षके साथ आगमका विरोध है, वहाँ आगमकी प्रवृत्ति हो नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्यक्ष सब प्रमाणोंसे प्रबल है। और स्वयं निरपेक्ष है। दूसरे प्रमाण प्रत्यक्ष-सापेक्ष हैं। अतः निरपेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण शीघ्र प्रवृत्त होकर, स्व-विरोधी आगम जन्य ज्ञानकी उत्पत्तिको ही रोक देता है। इसमें यह कारण है कि आगम तो शब्दरूप है, अतः वह पद श्रवण, पदार्थोपस्थिति, सन्निधि, आकांक्षा, योग्यता तथा मीमांसोक्त न्याय-विचार आदि की अपेक्षा रखता है। अतः वहुसापेक्ष होनेके कारण, आगम विलम्बसे स्वप्रतिपाद्य विषयका ज्ञान कराता है। और शीघ्र उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष पहिले ही द्वित्वका ज्ञान कराता हुआ, द्वित्वाभावके बोधक आगमकी प्रवृत्तिको ही रोक देता है।

इसी विषयका उपपादन करते हैं 'किं च' इत्यादि से। और भी बात है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे प्रपंचके असत्त्व (मिथ्यात्व) का बोधन करना ही असम्भव है। क्योंकि श्रुति भी प्रपंचके अन्तर्गत होनेसे असती = मिथ्या होगी। (इसके मिथ्या होनेसे प्रपंचका मिथ्यात्व भी प्रामाणिक न होगा। यदि कहें मिथ्यात्व प्रमाणिक है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। इससे द्वैतापत्तिका निवारण कैसे कीजिएगा ?)

और सुनिए—श्रुतिसे ही श्रुतिका मिथ्यात्व कैसे जानिएगा ? क्योंकि असत्त्वरूपसे प्रतीयमान श्रुति प्रमाण कैसे होगी ? यदि प्रामाणिक मानते हैं, तो सद्रूपसे प्रतीयमान श्रुतिको मिथ्या नहीं कह सकते। शंका—एक ही वस्तुका एक कालमें सत्व-असत्व दोनों क्यों नहीं समझ सकते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि एकका विना बाध किए, दूसरा ज्ञानका विषय हो नहीं सकता। (अर्थात् सत्वको बाध कर; असत्त्व बुद्धिमें आता है। और असत्त्वका बाध करनेसे सत्त्व बुद्धिका विषय होता है, पर इनका परस्पर विरोध होनेसे सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता।)

शंका—यदि कहें श्रुति है, उसीके द्वारा हम प्रपंचको मिथ्या समझ सकते हैं, उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रपंचका अभाव तो सम्भव नहीं। श्रुति भी प्रपंचके अन्तर्गत है, अतः श्रुति नहीं है, यदि यह कहें तो भी प्रमाणके अभावमें प्रपंचका अपलाप सम्भव नहीं।

शंका—वेदान्ती पुनः कहते हैं कि ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है। उसमें किसी दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं। (श्रुतिको प्रमाण कहनेपर आप अनिष्टका आपादन करते हैं; अतः ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। उससे अतिरिक्त सब मिथ्या है)

---

१. प्रामाणत्वेत्ववस्थित इति 'क' पुस्तके पाठः।

ननु स्वयं प्रकाशं ब्रह्म किमस्यान्येन प्रमाणेन ? भवतु ब्रह्म स्वयं प्रकाशं, प्रपञ्चाभावस्य किमायातम् ? स हि प्रमाणमपेक्षत एव।

कथं चाविद्यमानस्य प्रपञ्चस्य प्रतिभासः ? अविद्ययेति चेत् ? कस्य पुनरियमविद्या ? जीवानामिति चेत् ? न, तेषामभावात्। भावे वा द्वैतप्रसङ्गः। ब्रह्मणि तु विशुद्धविद्यात्मके[1] निरवकाशैवाविद्या।

विद्यात्मकमपिब्रह्माविद्याशबलमिव भ्रान्त्यावगम्यत इति चेत् ? कस्येयं भ्रान्तिः ? यदि न कस्यचित्, सूक्तम् यदि[2] जीवानामिति चेत् ? न, तदभावात्। यदि ब्रह्मणः ? नास्य भ्रान्तिः सम्भवतीत्युक्तम्। यदि च विद्यारूपेप्यविद्या स्यात्, केनासावुच्छिद्येत ? ध्यानादिभिरिति चेत् ? न, तेषामप्यभावात्। भावे तु द्वैतापत्तिः। ब्रह्मणि तु सहावस्थानादविरुद्धाविद्या न तेनोच्छेत्तुं सा शक्या। ततश्चानिर्मोक्षप्रसङ्गः।

उत्तर—ब्रह्मको स्वयं प्रकाश होने दीजिए। प्रपंचाभावका क्या होगा ? वह तो प्रमाणकी अपेक्षा करता ही है। (इसलिए ब्रह्मको स्वयं प्रकाश माननेपर भी प्रपंचका अपलाप नहीं सिद्ध कर सकते। दूसरी बात है कि प्रत्यक्षमें विषय कारण होता है। क्योंकि विषयता-सम्बन्धसे प्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्येन विषय कारण होता है)

और यह बताइए कि अविद्यमान प्रपंचका भान कैसे होगा ? (पुनः अवान्तर शंका—जैसे 'शुक्तौ इदं रजतम्' इत्यादि स्थलमें आविद्यिक रजतकी उत्पत्ति होती है, यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है) इसी तरहसे प्रातिभासिक प्रपंचका अविद्यासे भान होता है, यदि ऐसा कहें, तो ? इसपर हम पूछते हैं कि यह अविद्या किसकी है ? यदि कहो कि जीवों की है, यह नहीं कह सकते, उनका अभाव होनेसे (अर्थात् जीव समवेत अविद्या भासमान प्रपंचका कारण है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्यों कि आप अद्वैतीके मतमें जीवोंके भी कल्पित होनेसे वे मिथ्या हैं) यदि जीवोंको सत्य मानते हैं, तो गले पादुकान्यायसे (गले पड़ न्यायसे) द्वैतकी आपत्ति होगी। यदि कहो कि अविद्या ब्रह्ममें है, तो, यह भी नहीं कह सकते। विशुद्ध विज्ञान ही जिसका स्वरूप है, उसमें अविद्याको अवकाश कैसे मिलेगा। (इसलिए यह कहना कि अविद्यासे प्रपंचका भान होता है, सर्वथा असंगत है)

शंका—वेदान्ती फिर कहते हैं कि—विशुद्ध ब्रह्म तो चैतन्यस्वरूप है, अतः उससे अविद्याका सम्बन्ध परमार्थरूपसे नहीं है। तब भी ब्रह्म भ्रान्तिसे अविद्या चित्रित की तरह ज्ञात होता है; इसलिए कोई दोष नहीं है।

उत्तर—तो यह भ्रान्ति किसकी है ? यदि कहो किसीकी नहीं है, तो अच्छी बात है। (अर्थात् भ्रान्ति है, किन्तु वह किसीमें नहीं रहती, इसी बातको आपने प्रश्रय दिया) यदि कहा जाए जीवों की है, तो यह भी नहीं कह सकते। क्यों कि आपके मतमें ब्रह्मसे भिन्न जीव तो है ही नहीं। यदि कहें कि ब्रह्मकी वह भ्रान्ति है, तो उसकी भ्रान्ति हो नहीं सकती। यह पूर्व ग्रन्थमें कह चुके हैं।

शंका—मीमांसक वेदान्तीसे पूछते हैं कि चैतन्यात्मक ब्रह्ममें अविद्या रहेगी तो वह किससे नष्ट होगी। यदि वेदान्ती कहें कि ध्यानादिसे अविद्याका नाश होता है। (अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या-सम्बन्धसे अपनेको अशुद्ध जीव मानता है। उसकी यह अविद्या या भ्रान्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन से निवृत्त होती है। अविद्या निवृत्तिके अनन्तर शुद्ध ब्रह्म ही है)

१. विज्ञानात्मक इति 'क' पुस्तके पाठः। २. 'क' पुस्तके 'यदि' शब्दो नास्ति।

तस्माद् ब्रह्मणः प्रशंसार्थैरस्थायित्वेन प्रपञ्चस्यासत्त्वमुपचरद्भिरौपनिषदैर्वादैस्तदनुसारिभिश्चेतिहासपुराणैर्भ्रान्तानां वाक्यतात्पर्यमजानानां न्यायाभियोगशून्यानां प्रलापोऽयमद्वैतवाद इत्युपेक्षणीयः। तत् सिद्धमविकल्पस्य प्रत्यक्षस्य विशेषविषयत्वम्।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषये बौद्धमतम्, तन्निराकरणं च

अपरे तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकमिच्छन्ति। तदपि प्रतीतिविरुद्धम्। प्रतीयते हि संमुग्धाकारं वस्तु सहसैव, यत् पश्चाज्जातिद्रव्यगुणक्रियानामभिः पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते—गौरयम्, दण्डयम्, शुक्लोऽयम्, गच्छत्ययम्, डित्थोऽयम्, इति। तत्र निर्विकल्पमनेकाकारं वस्तु संमुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकं त्वेकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति।

उत्तर—श्रवणादि भी तो आपके मतमें नहीं है। क्यों कि वे भी मिथ्या हैं। मिथ्याभूत ध्यानादिसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि मिथ्या पदार्थोंका कार्यकारित्व नहीं होता। यदि हों तो उससे द्वैतापत्ति होगी। ब्रह्ममें सदा रहनेसे अविद्याका उससे विरोध नहीं है। दोनोंके साथ-साथ रहनेसे अविरुद्ध अविद्याका ध्यानादिसे उच्छेद नहीं हो सकता। इसलिए आपके पक्षमें मोक्षका होना सर्वथा असम्भव है।

उक्तार्थका उपसंहार करते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे। इसलिए 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्य ब्रह्मकी प्रशंसाके प्रतिपादक हैं। अस्थायी होनेसे प्रपंचका असत्त्व उपचारसे कहा गया है। जैसे उपनिषद्-वाद अद्वैतके प्रतिपादक नहीं है; वैसे ही इतिहास-पुराण-वादोंसे भी जो भ्रान्त हैं और जो वाक्य तात्पर्यको नहीं जानते, मीमांसोक्त न्यायोंके संस्कारोंसे शून्य हैं, ऐसे भ्रान्त लोगोंका, यह अद्वैतवाद प्रलापमात्र है। अतः यह उपेक्षणीय है। उक्त विचारसे सम्पन्न अर्थका उपसंहार करते हैं 'तत्सिद्धम्' इत्यादिसे। यह सिद्ध हुआ कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्र-विषयक ही नहीं होता। वह विशेष-विषयक भी होता है। (यह ध्यान देने योग्य है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सामान्य या विशेष रूपसे वस्तुका ग्रहण नहीं करता। उसकी आधारभूत वस्तुको ग्रहण करता है। अतः विशेष्य-विशेषणभावका ग्राहक नहीं हो सकता।)

(बौद्ध निर्विकल्पकको प्रत्यक्ष मानता है। वह स्वलक्षणको ही ग्रहण करता है। यह मीमांसा-सिद्धान्तके विपरीत है। और निर्विकल्पक सन्मात्रका ग्रहण करता है, यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धांत भी विरुद्ध होनेसे इन दोनोंका पहिले निराकरण किया गया है। अब स्वलक्षण मात्रको निर्विकल्पक ग्रहण करता है, इस बौद्ध मतका खण्डन करनेके लिए 'अपरे तु' इत्यादिसे अनुवाद करते हैं=)

यहाँ 'अपरेतु' से विज्ञानवादी धर्मकीर्ति बौद्ध अभिप्रेत हैं। वे कहते हैं कि निर्विकल्पस्वलक्षण मात्रको विषय करता है। उक्त मतका निरास करते हैं 'तदपि' इत्यादिसे। यह कथन भी अनुभव विरुद्ध है। इन्द्रिय सन्निकर्ष होनेके बाद ही, विशेष्य-विशेषण-भावसे रहित सम्मुग्धाकार वस्तु प्रतीत होती है। इसमें वार्तिकका प्रमाण दे चुके हैं। उसके पश्चात् जातिको लेकर 'यह गौ है' द्रव्यको लेकर 'यह दण्डी है' गुणको लेकर 'यह शुक्ल है' क्रियाको लेकर 'यह जाता है, और नामको लेकर 'यह डित्थ है,' इस प्रकार इन पाँच प्रकारोंसे सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। उसमें निर्विकल्पक सम्मुग्धाकार वस्तुको ग्रहण करता है, जिसमें अनेक आकार होते हैं। इसके पश्चात जात्यादि एक एक आकारको लेकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे सविकल्पक ज्ञान होता है। (अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानमें

प्रत्यभिज्ञाविषये बौद्धमतम्

ननु षष्ठोऽपि विकल्पोस्ति—तदेवेदमिति, तत्कथं पञ्चधा विकल्प इत्युच्यते? न त्वयं जातिविकल्पः, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा हीयम्। न संज्ञाविकल्पः, अनवगतसंज्ञानामपि भावात्। तिर्यञ्चोऽपि ह्यद्य जाता स्वमातरं प्रथममुपलभ्य क्षणान्तरे पुनरुपलभमानाः सैवेयमिति शब्दानुवेधशून्यमेव प्रत्यभिजानन्ति, तस्मादियं षष्ठी कल्पनेति पञ्चविधत्वानुपपत्तिः।

तन्निरासः

उच्यते—इयमेवास्माभिर्नामकल्पनेत्युच्यते। तथा हि—डित्थोऽयमिति तावद् गौरयमितिवत् गवात्मना डित्थात्मना वस्तु विकल्प्यते, न दण्डीतिवत् तत्संबन्धितया, मत्वर्थानुपादानात्। तत्र न डित्थशब्दो जातिवदर्थस्यात्मा, अत्यन्तभिन्नत्वात्। यतस्तेनैवार्थोऽनुरज्येत। तदेतदेवं विज्ञेयम्—डित्थशब्देन तद्वाच्यं पूर्वावगतं डित्थमुपस्थाप्य तदात्मना पुरस्स्थितोऽर्थो विकल्प्यते—डित्थोऽयमिति।

किमुक्तं भवति? योऽसावस्माकं डित्थः, सोयं पुरस्स्थितः, नान्य इति। सेऽयं व्यक्तिप्रत्यभिज्ञैव पञ्चमी कल्पना। सा च शब्दविदां नामरूपितैव भवतीति नामविकल्पनेति व्यवह्रियते। एतेन यदाहुः—'डित्थोऽयमित्यशब्दाकारस्यार्थस्य शब्दाकारेण

विवेकरहित सम्मुखाकार पदार्थ गृहीत होता है। सविकल्पकमें तो यह जातिका अंश है, यह व्यक्तिका अंश है, यह उनका सम्बन्ध है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न आकारसे विवेचन कर, विकल्पका ग्रहण होता है)

शंका—आपने पाँच प्रकारसे विकल्पका वर्णन किया, यह ठीक नहीं। 'वही यह है' ऐसा छठा विकल्प भी होता है, जिसे 'प्रत्यभिज्ञा'* विकल्प कहते हैं। तब कैसे कहा कि पाँच ही विकल्प हैं, इसीका उपपादन करते हैं। उसे जातिविकल्प नहीं कह सकते, 'सोऽयम्' यह तो व्यक्तिकी प्रत्यभिज्ञा हो रही है। संज्ञाविकल्प भी नहीं कह सकते, क्योंकि जिनकी संज्ञा या नाम मालूम नहीं, ऐसे भी प्राणी होते हैं। जैसे पशु आदि आज पैदा हुए, अपनी माताको पहिले देखकर, दूसरे क्षणमें उसको पुनः देखकर, 'यह वही है' ऐसे शब्द सम्बन्धके विना ही प्रत्यभिज्ञान करते हैं। इसलिए छठी कल्पना है। अतः पांच प्रकार जो कहे गए हैं, वे अयुक्त हैं।

उत्तर—इसीको हम लोग नाम कल्पना कहते हैं। वह इस प्रकार है कि 'यह डित्थ' (काठका हाथी) है, ऐसा वस्तुका विकल्प किया जाता है। इसी प्रकार 'यह गौ है' इसे भी प्रकृतमें वैसे ही समझना चाहिए। 'यह दण्डवान् है' ऐसे वह सम्बन्धीके रूपमें ग्रहण नहीं होता। मत्वर्थका उपादान न होने से उसमें डित्थ शब्द जातिकी तरह अर्थकी आत्मा (स्वरूप) नहीं हो सकता, अत्यन्त भिन्न होनेसे, जिससे कि वह अर्थ डित्थ शब्दसे सम्बद्ध होता, ऐसा तो है नहीं। अतः इस बातको ऐसे समझना चाहिए—डित्थ शब्दसे उसके वाच्य पूर्वमें ज्ञात डित्थका उपस्थापन कर, उसी रूपसे अर्थात् डित्थके रूपसे पुरोवर्ती वस्तुका विकल्प होता है। जैसेकि यह डित्थ है, दूसरा नहीं।

प्रश्न—इससे क्या कहा गया है? उत्तर—जो हम लोगोंका डित्थ है, वही पुरोवर्ती है, दूसरा नहीं, यह व्यक्तिकी प्रत्यभिज्ञा ही पाँचवीं कल्पना है। उसके नामसे रूपित (सम्बद्ध) होनेसे, वैयाकरण इसे नामकल्पना कहते हैं। (इसलिए यह छठा विकल्प नहीं है) इससे 'यह डित्थ है'

---

* 'प्रतीपं—आभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। अथवा तत्ता-इदन्ता-अवगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा।

विकल्पनादप्रमाणं सविकल्पकम्' इति, तदपि निरस्तम्। न ह्यत्र शब्दाकारेणार्थः प्रतीयते, किं तु पूर्वावगतार्थस्मरणमात्रे शब्दस्य व्यापारः, तेन च स्मृतेनार्थेन तादात्म्येन पुरस्स्थितार्थविकल्पनात। आह च—

'यदा तु, यादृशः पिण्डः पूर्वं शब्दात् प्रतीयते।
तादृशस्मरणे हेतुः शब्दस्तत्र यथार्थता॥' इति।

तस्मान्नामविकल्पेऽपि जात्यादिवन्नास्त्यतद्रूपारोपः।

किं पुनर्जात्यादिभिर्विकल्प्यते ? द्रव्यम्। किं पुनरिदं द्रव्यं नाम ? पृथिव्युदकतेजोवायुप्रभृति।

द्रव्यविषये बौद्धमतेन पूर्वपक्षः

ननु रूपादिव्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम न किञ्चिदुपलभामहे। न च तस्योपलम्भकमस्ति, चक्षुरादीनां रूपादिष्वेवोपक्षीणत्वात्। गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-संघातः पृथिवी। रस-रूप-स्पर्श-संघात आपः। रूप-स्पर्श-संघातस्तेजः, शब्द-स्पर्श-संघातो वायुः, एवं रूपादिसंघातभेदादेव पृथिव्यादिविभागः, न द्रव्यं नाम किञ्चिदिति सौगताः।

ऐसे शब्दाकार अर्थका शब्दाकारसे विकल्प होनेके कारण, 'यह डित्थ है' इत्यादि सविकल्पक ज्ञान अप्रमाण है, यह निरस्त हुआ। यहां 'डित्थोऽयं' इस स्थलमें शब्दाकारसे अर्थकी प्रतीति नहीं होती; किन्तु पूर्वमें अवगत अर्थके स्मरण मात्रमें शब्दका व्यापार है। उससे स्मृतिके विषय अर्थके तादात्म्यसे पुरोवर्ती वस्तुका विकल्प होता है। इसी अभिप्रायको श्लोकवार्तिकमें, कुमारिलभट्टने कहा है 'यदातु यादृशः' इत्यादि। (प्रत्यक्ष सूत्र, का० २२६) अर्थात् शाब्दबोध होनेके पूर्व, प्रत्यक्ष कालमें जैसा पिण्ड दिखाई देता है, उसका जब शब्दसे स्मरण होता है, तो उसमें शब्द प्रमाण होता है, (अर्थ-स्मरण कालमें नहीं। अर्थात् शक्ति ग्रह कालमें शब्दसे इस अर्थका स्मरण होता है। तथा उसके पूर्व कालमें यादृश अर्थका शब्द स्मारक होता है, वह शब्द अर्थमें अपने स्वरूपका आरोप नहीं कराता; इत्यादि 'न्यायरत्नमालामें' इस आशयका स्पष्ट रूपसे उपपादन किया गया है) इसलिए नाम विकल्पमें भी जात्यादिकी तरह अतद्रूपका अध्यास नहीं होता। (अतः शब्द और अर्थमें तादात्म्याध्यास नहीं है। इससे अर्थका मिथ्यात्व नहीं है।)

प्रश्न है कि जाति आदिसे किसका विकल्प होता है ? उत्तर है कि द्रव्यका। शंका—द्रव्य किसे कहते हैं ? उत्तर—पृथ्वी, जल-तेज-वायु प्रभृतिको। यहां 'ननु' से बौद्धकी शंका है, कि रूपादिसे अतिरिक्त द्रव्य नहीं है; क्योंकि उसकी प्रतीति नहीं होती। और रूपादिकी प्रतीतिसे ही सभीकी उपपत्ति है। इसलिए रूपादिसे अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। और जो चक्षुरादि पाँच इन्द्रियां हैं, वे रूपादिके ग्रहणमें उपक्षीण (चरितार्थ) हैं। (इसलिए द्रव्यको ग्रहण* करने वाली छठी कोई बाह्य इन्द्रिय नहीं।)

गन्ध, रूप, रस, स्पर्श संघातको पृथ्वी कहते हैं। रस रूप, स्पर्श संघातको जल कहते हैं। रूप, स्पर्श संघातको तेज कहते हैं। शब्द, स्पर्श संघातको वायु कहते हैं। इस प्रकार रूपादि संघातके भेदसे ही यह पृथ्वी है, यह जल है, यह तेज है, यह वायु है इत्यादि विभाग सिद्ध होता है। अतः द्रव्य कोई वस्तु नहीं, ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं।

---

* क्षीणानि चक्षुरादीनि रूपादिष्वेव पञ्चसु। न षष्ठमिन्द्रियं तस्य ग्राहकं विद्यते बहिः॥
चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिके ग्रहणमें ही क्षीण हो गईं, अतः द्रव्यका ग्रहण करनेके लिए छठी इन्द्रिय बाहर कोई नहीं।

तन्निरासः

तदयुक्तम्—आगमापायिषु रूपादिषु यदनुयायिप्रत्यभिज्ञा जायते तद् द्रव्यम्। दर्शन-स्पर्शनाभ्यां चास्य ग्रहणम् प्रत्यभिज्ञा च—यथा बदरफलं श्यामावस्थायां रक्तावस्थायां च यथा वा घट-पिण्ड-कपालावस्थासु मृद्द्रव्यम्। अस्ति हि तत्र पिण्डावस्थाभेदे श्यामरक्तरूपभेदेऽपि द्रव्यप्रत्यभिज्ञा—मृदियं पिण्डावस्थामपहाय घटावस्था संजाता, श्यामिमानं च त्यक्त्वा पक्वासत्यरुणिमानं गृहीतवती। अनन्तरं घटावस्थामपहाय कपालिका जातेति। एवं तन्तुपटाद्यवस्थास्वपि द्रष्टव्यम्।

तर्कमतेन अवयविनो द्रव्यान्तरस्योत्पत्तिरिति शङ्कानिरासौ

ननु तन्तुपटादिषु द्रव्यान्तरोत्पत्तिरेवाभिमता, अन्यथा ह्यवयव्यपलापः स्यात्। नावयविनमपह्नुमहे, द्रव्यान्तरोत्पत्तिं तु नेच्छामः, प्रतिपत्त्यभावात्। तन्तव एव हि संयोगविशेषादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, अवयवी च भवन्ति, तादृशाश्च पटजातिं स्थौल्यं च

उक्त मतका निरास करते हैं 'तदयुक्तम्' इत्यादिसे। द्रव्य है क्योंकि रूपादिकी उत्पत्ति तथा विनाश होते हैं। वे आगमापायी हैं। उनमें अनुयायी = सर्वानुगत प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे द्रव्य सिद्ध होता है। उसका दर्शन चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शन त्वगिन्द्रिय इन दोनोंसे द्रव्यका ग्रहण होता है। (यह नैयायिकोंके समान ही है) प्रत्यभिज्ञा यह है जैसे बेर-फल श्यामावस्था तथा रक्तावस्थामें समान है। (अर्थात् अनुगत द्रव्य है। यहाँ श्याम रक्त-रूपका भेद होने पर भी 'तदेवेदं' यह वही बदर फल है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए श्याम गुणको छोड़कर, पकनेपर लाल हो गया, ऐसे रूप भेद होने पर भी द्रव्य अनुस्यूत है)

और सुनिए—घट, पिण्ड, कपाल आदि अवस्थामें मृत् द्रव्य है। मृत्पिण्डादि अवस्था भेद होनेपर, एवं पकनेसे पूर्व श्याम, पकनेके पश्चात् रक्त-रूपादि अवस्था भेद होनेपर भी 'मृदियं' यह मिट्टी है, ऐसी द्रव्यकी प्रत्यभिज्ञा होती है। यह भी ज्ञान होता है कि यह मृत्तिका पिण्डावस्थाको छोड़कर घटावस्थाको प्राप्त हुई। श्यामरूपताको छोड़कर, पककर रक्तवर्णताको प्राप्त किया। तदनन्तर घटावस्थाको छोड़कर, कपाल हो गई। (ऐसी प्रत्यभिज्ञा निर्बाध है। इससे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त रूपादिका भेद होनेपर भी द्रव्य अनुस्यूत रहता है)

इसी प्रकार तन्तु और पटादि अवस्थाका भेद होनेपर भी, यह वही पट है, ऐसी द्रव्यकी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह जानना चाहिए।

(कार्य और कारणका भेद मानने वाले तार्किक 'ननु' इत्यादिसे शंका करते हैं। उनका आशय है कि न्याय मतमें समवायिकारणमें कार्य उत्पन्न होता है, जैसे कपालमें घट, तन्तुओंमें पट, इत्यादि। अतः कारणमें कार्य समवाय सम्बन्धसे रहता है। यदि कारण और कार्यका अभेद माना जाए, तो कारणमें कार्य कैसे रहेगा ? आश्रय-आश्रयिभाव भेदमें होता है) अतः यन्तुओंमें पटादिरूप द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होनी चाहिए, नहीं तो अवयविका निषेध हो जाएगा।

उत्तर—मीमांसक कहते है कि हम अवयविका निषेध नहीं करते और द्रव्यान्तरकी उत्पत्तिको भी नहीं चाहते। प्रतीति न होनेके कारण। तन्तु ही संयोग विशेषसे विशिष्ट होकर, एक द्रव्यताको प्राप्त होते हैं और अवयवी भी होते हैं। वे पटत्व जाति तथा स्थूलताको धारण करते हुए यह एक पट है तथा स्थूल है ऐसे बुद्धिसे ग्रहण किए जाते हैं। लोग भी वैसा ही समझते हैं। अतः द्रव्य

विभ्रत एकपटद्रव्य[1]स्थूलबुद्ध्या गृह्यन्त इति लौकिकी प्रतिपत्तिः। अतो न द्रव्यस्य कदाचिदागमोऽपायो वा घटपटगवाश्वशुक्लरक्ताद्यवस्थानामेवागमापायौ। आह च—

'आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद्धर्मि यत्र च ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद्भवेत्॥' इति॥

तथा 'यादृशमस्माभिरभिहितं द्रव्यम्, तादृशस्यैव हि सर्वस्य गुण एव भिद्यते, न स्वरूपम्' इति। तत्सिद्धं द्रव्यम्। तच्च जात्यादिभिः पञ्चधा सविकल्पकेन विभज्यते। अतः सविकल्पकमपि प्रत्यक्षम्। तत्पूर्वकं चानुमानादीति, सिद्धं तेषामप्यनिमित्तत्वमिति।

॥ इति प्रत्यक्षसूत्रम्॥४॥

(मृदादि) की कभी भी उत्पत्ति और अपाय—विनाश नहीं होता; (किन्तु रूपादि तथा आकारके उत्पाद—विनाश होते हैं) अतः घट, पट, गौ, अश्व आदि आकृति तथा शुक्ल, रक्त आदिरूपा अवस्थाओंके ही उत्पत्ति और विनाश होते हैं। जैसे कुमारिलभट्टने कहा है—'उत्पत्ति विनाशरूप धर्मोंमें जो अनुयायी = अनुस्यूत धर्मी है। जैसे श्याम, रक्त आदि रूपोंमें एवं पिण्ड कपाल आदि आकृतियोंमें अनुस्यूत मृद्द्रव्य धर्मी हैं। जहां धर्म ग्रहणके पहिले जिस विषयका ज्ञान होता है, वही धर्मी या द्रव्य§ है। जैसे द्रव्यको हम लोगोंने कहा है, उसका गुण ही भिन्न होता है, स्वरूप भिन्न नहीं होता, इस प्रकार द्रव्य सिद्ध हुआ। और वह जाति आदिसे पाँच प्रकारसे सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा विभक्त होता है। अतः सविकल्पक भी प्रत्यक्ष ही है। 'अपि' शब्दसे निर्विकल्पक भी प्रत्यक्ष है। सविकल्पकको लेकर ही अनुमानादि भी होते हैं। जब प्रत्यक्ष धर्मका ग्राहक नहीं होता, तो अनुमानादि भी धर्मके ग्राहक नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ कि विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण है, प्रत्यक्षादि नहीं।

(अधिकरणसार—इस अधिकरणका विषय है धर्म। यहाँ यह संशय है कि धर्म प्रत्यक्षादिसे भी ज्ञान होता है या विधि वाक्यसे हो। पूर्व पक्ष है—प्रत्यक्षादि प्रमाणके रूपमें प्रसिद्ध हैं। प्रमाणका कार्य है प्रमेयका ज्ञान कराना। धर्म तो प्रमेय है, अतः प्रत्यक्षादिसे भी उसका ज्ञान हो सकता है।)

सिद्धान्त है कि धर्म प्रत्यक्षका विषय नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान तथा सम्बद्ध विषयको ही ग्रहण करता है। धर्म तो अनागत है; अतः वह प्रत्यक्षका विषय नहीं। प्रत्यक्षका विषय न होनेसे प्रत्यक्ष मूलक अनुमानादि भी कारण नहीं हो सकते। इसलिए परिशेषात् विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण है। इसीसे धर्मका ज्ञान होता है, अन्य किसी प्रमाणसे नहीं।

(इस प्रकार यहाँ तक प्रत्यक्ष सूत्रका श्रीचन्द्रप्रभानामक हिन्दीरूपान्तर समाप्त हुआ ४)

---

§ द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, का० १५२। इसका विवेचन न्यायरत्नाकरमें पार्थसारथि मिश्रने उक्त श्लोककी व्याख्यामें अत्यन्त विस्तारसे किया है। विशेष जिज्ञासुको वहीं देखना चाहिए। महाभाष्यकारने भी पश्पशाह्निकमें इस बातका समर्थन किया है।

१. 'क' पुस्तके 'द्रव्येति नास्ति।'

पञ्चमं धर्मे वेदप्रामाण्याधिकरणम्

सू०-औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशः, अव्यतिरेकश्चार्थेनुपलब्धे तत्प्रमाणम्, बादरायणस्य, अनपेक्षत्वात् ॥५॥

उक्तं प्रत्यक्षादीनामनिमित्तत्वम्। तत एव तन्मूलपुरुषवचनस्याप्यनिमित्तत्वम्। एवं तर्हि शब्दस्य सर्वत्र प्रमाणान्तरापेक्षयैव प्रामाण्यदर्शनात्, तदभावे तस्याप्यप्रामाण्याद्-भावगम्यत्वमेवायातं धर्मस्येत्याशङ्कानिराकरणाय चोदनायाः प्रामाण्यमुच्यते। सत्यम्—लोके प्रमाणान्तरमूलानां प्रामाण्यम्, अतन्मूलानां चाप्रामाण्यं दृश्यते। न त्वेवमपि सापेक्षं प्रामाण्यम्, किं तु स्वत एव। अनाप्तवाक्यस्य त्वप्रामाण्यम्, न मूलविरहात्, किं तु

औत्पत्तिकः = नित्य, शब्दस्य = शब्दका, अर्थेन = अर्थके साथ, सम्बन्धः = शाब्दबोधके लिए उपयोगी, प्रत्याय्य-प्रत्यायकभावरूप सम्बन्ध। तु = शब्द शब्द प्रमाण नहीं है, इस पूर्व पक्षके निरासके लिए है। अर्थात् शब्दार्थका सम्बन्ध अनादि है, नित्य है। तस्य = उस अग्निहोत्रादि-लक्षण धर्मका ज्ञानं = ज्ञापक है। ज्ञान शब्दसे करणमें ल्युट् है। इसका अर्थ है—ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। उपदेशः = विधिवाक्य, रूप जो विशिष्ट वाक्य है। अर्थात् साध्य-साधन—इतिकर्तव्यता, इन तीनोंसे विशिष्ट प्रवृत्तिका बोधक, लिङादि घटित जो प्रवर्तक वाक्य है, वही धर्ममें प्रमाण है। अनुपलब्धेऽर्थे = अज्ञातार्थमें अव्यतिरेकः = व्यतिरेक बाधको कहते हैं, अव्यतिरेक—अबाधित, चकार = असन्दिग्धका सूचक है। एवं च अनधिगत, अबाधित, असन्दिग्धार्थ विषय जो ज्ञान तत् = उसको, प्रमाणम् = प्रमाण कहते हैं। 'तस्माद्दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति' ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम्॥ (श्लोक, वा०, चो० सू०' का० ८०) इससे प्रमाण लक्षण कहा गया है। (इसका विवेचन आगे किया जाएगा। इस प्रमाणका जो प्रामाण्य है अर्थतथात्वरूप (अबाधि-तार्थकत्वरूपप्रामाण्य) अनपेक्षत्वात् = वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। (क्योंकि मीमांसक प्रामाण्य स्वतः मानते हैं, इसीसे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है) बादरायणस्य = यह बादरायण को भी अभिमत है। अर्थात् शब्दार्थका सम्बन्ध नित्य है, धर्ममें विधिवाक्य ही प्रमाण है; प्रमाण का जो लक्षण किया है, उसका प्रामाण्य स्वतः है, परतः नहीं। ये सब बातें महर्षि बादरायणको भी अभिप्रेत हैं)

चौथे सूत्रमें प्रत्यक्षादि धर्ममें अनिमित्त (प्रमाण नहीं) हैं, यह कह चुके हैं। इससे पौरुषेय वाक्यका जो मूल है प्रत्यक्षादि उसका भी अनिमित्तत्व कहा गया है (अर्थात् प्रत्यक्षादि मूलक पुरुष वचन भी प्रमाण नहीं हैं) ऐसा होनेपर, शब्द तो सर्वत्र प्रमाणान्तर सापेक्ष होकर ही प्रमाण होता है। अतः प्रत्यक्षादिके अभावमें शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकता। (अर्थात् धर्म और अधर्मका ज्ञान प्रमाणके द्वारा नहीं हो सकता) इससे सिद्ध है कि धर्म अनुपलब्धि प्रमाणगम्य है। इस शंकाका निराकरण करनेके लिए विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण है, यह कहा जाता है। (अर्थात् द्वितीय सूत्रमें 'विधिवाक्य ही प्रमाण है' 'विधि प्रमाण ही है' इस द्वितीय प्रतिज्ञाका समर्थन करनेके लिए यह सूत्र है) 'सत्यं' से इसे अंगीकार करते हैं। क्योंकि लोकमें जिनके प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर मूलमें हैं, उनका प्रामाण्य होता है, जिनके प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर मूलमें नहीं है, उनका अप्रामाण्य देखा जाता है। ऐसा होनेपर भी प्रामाण्य सापेक्ष नहीं है किन्तु स्वतः ही गृहीत होता है।

दुष्टमूलतया शब्दस्य दुष्टत्वात्स्वाभाविकस्य प्रामाण्यस्यापवादात् ।

वेदस्यापौरुषेयत्व कथनम्

अपौरुषेये तु वेदे यद्यप्याप्तप्रणीतत्वं नास्ति, तथापि प्रामाण्यस्य तदपेक्षाभावात् अनाप्तस्पर्शनिमित्तदोषाभावाच्चानपोदितं प्रामाण्यं भवति। त्रेधा ह्यत्र पुरुषानुप्रवेशः—पदपदार्थसंबन्धद्वारेण, वाक्यवाक्यार्थ सम्बन्धद्वारेण, ग्रन्थस्यैव वा भारतादिवत् पौरुषेयत्वात् । न त्वेतत् त्रयमप्यस्ति—पदपदार्थसंबन्धस्य नित्यत्वमत्रौत्पत्तिकशब्देनोक्तम् । वाक्यार्थस्य च पदार्थमूलत्वम्, वेदस्य चापौरुषेयत्वमुपरिष्टाद्वक्ष्यते ।

सामान्यतः प्रमालक्षणकथनम्

न च साक्षाद्बाधकमस्तीति अव्यतिरेकशब्देनोच्यते । अनुपलब्धार्थत्वाच्च नानुवादलक्षणमप्रामाण्यमस्तीति—'अर्थेऽनुपलब्धे' इत्यनेनोक्तम्। एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोष-बाधकज्ञान-रहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम् ।

अनाप्तवाक्यका अप्रामाण्य होता है, मूल न होनेसे। किन्तु मूलमें दोष होनेसे (अर्थात् अनाप्तपुरुष द्वारा उच्चरित होनेसे) शब्द सदोष होता है । इसलिए स्वाभाविक प्रामाण्यका अपवाद = बाध होता है । अपौरुषेय वेदमें यद्यपि आप्तप्रणीतत्व गुण नहीं है तथापि उसके प्रामाण्यके प्रति आप्तप्रणीतत्वरूप गुणकी अपेक्षा नहीं है । दूसरी बात है कि उसमें अनाप्तपुरुषके सम्बन्धसे होनेवाला दोष भी नहीं है । इसलिए वेदका प्रामाण्य अबाधित होता है । वेदमें पुरुषका तीन प्रकारसे प्रवेश सम्भव है । प्रथम पद-पदार्थ सम्बन्धके द्वारा पुरुषकर्ता सिद्ध हो सकता है । दूसरा वाक्य-वाक्यार्थ-सम्बन्ध द्वारा पुरुषका प्रवेश सम्भव है। तीसरा ग्रन्थ रचनाके द्वारा पुरुषका प्रवेश होता है । महाभारतादिकी तरह पौरुषेय होनेसे । पर इन तीनोंका भी होना सम्भव नहीं, क्योंकि पद-पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है; यह औत्पत्तिक सूत्रमें कहा गया है । (शब्दार्थका सम्बन्ध संकेत लक्षण नहीं है, अतः वेदमें कारण दोषका अभाव है) वाक्यार्थका पदार्थ ही मूल है, पद नहीं, यह अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है । (यह तद्भूताधिकरणमें कहा जाएगा) वेदका अपौरुषेयत्व आगे आठवें अधिकरणमें कहा जाएगा । (इसलिए विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण ही है यह अयोगव्यवच्छेदसे सिद्ध किया)

(भगवान सूत्रकार प्रमाण सामान्यका लक्षण करते हैं) सूत्रमें जो 'अव्यतिरेक' शब्द दिया है उससे यह कहा गया है कि वेदजन्य ज्ञान अबाधित विषय है; अर्थात् उसका कोई साक्षात् बाधक नहीं है । 'अर्थेऽनुपलब्धे' इस विशेषणसे अज्ञात अर्थमें प्रमाण होता है, ज्ञातमें नहीं, क्योंकि ज्ञात अर्थका अनुवाद होता है; इसलिए 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस विशेषणसे प्रमाणमें अनुवादरूप अप्रामाण्य नहीं है, अज्ञात अर्थका ज्ञापक होनेके कारण । 'चकार' से असन्दिग्धार्थ कहा गया है, अतः यह अर्थ 'च' कारसे सूचित होता है । उक्त सूत्रका पुंजीभूत वाक्यार्थ बताते हैं—'एतच्च' इत्यादिसे । 'औत्पत्तिक, अव्यतिरेक, अर्थेऽनुपलब्धे,' इन तीन विशेषणोंसे भगवान सूत्रकारने प्रमाणका लक्षण सूचित किया है । वह इस प्रकार है—जिसमें कारण दोष नहीं है; अर्थात् निर्दोष कारण जन्य है । और जिसका बाधकज्ञान नहीं है, अर्थात् जिसका दूसरे ज्ञानसे बाध नहीं होता, और जो दूसरेसे अज्ञात है, ऐसे अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार कारण दोषरहित,

प्राभाकरमतेन प्रमालक्षणं तद्दूषणं च

नन्वेवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात्। तस्मात् 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणम्। स्मृतिव्यतिरिक्ता च प्रतीतिरनुभूतिः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमभिधीयते। मात्रग्रहणं च संस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजस्य प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसङ्गेनाप्रामाण्यं मा प्रसाङ्क्षीदित्येवमर्थम्। तदेवम्—संस्कारातिरिक्तकारणजन्यं ज्ञानं प्रमाणमित्युक्तं भवति।

तदिदं स्वप्नदर्शने तावदव्यापकम्, संस्कारमात्रजस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपे, कर्तरि च प्रामाण्यमिष्टं भवताम्।

बाधकज्ञानरहित, अगृहीत अर्थग्राहि अर्थात् अज्ञातार्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहा है। इसी अर्थको सूत्रकारने ऊपर निर्दिष्ट विशेषणोंसे बताया है।

शंका—(आपने कहा, कि अज्ञात अर्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाणका लक्षण, धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीय तृतीय क्षणके ज्ञानमें नहीं आता, क्योंकि प्रथम ज्ञानका विषय ही द्वितीय तृतीय आदि उत्तर ज्ञानका भी है, अतः उक्त लक्षणकी अव्याप्ति है। और इससे द्वितीय आदि ज्ञान अप्रमाण हो जाएंगे) इसीको कहते हैं नन्वेवं' से। इस प्रकार लक्षण माननेपर धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीय आदि ज्ञानोंके पूर्वगृहीतार्थ विषयक होनेसे अप्रामाण्य॥ होगा। अतः अनुभूति ही प्रमाण है, ऐसा प्रमाणका लक्षण करना चाहिए§। और जो स्मृतिसे भिन्न ज्ञान है उसे अनुभूति या अनुभव कहते हैं। संस्कार मात्रजन्यज्ञानको स्मृति कहते हैं। (यदि संस्कारसे जन्यज्ञान को स्मृति कहा जाए तो 'यह वही देवदत्त' ऐसी प्रत्यभिज्ञाका प्रत्यक्ष होता है। इस ज्ञानमें तत्तांश और इदन्तांश दोनों भासित होते हैं। उन दोनोंका आश्रय धर्मी एक है। इसलिए कहा जाता है 'तत्तेदन्तावगाहिज्ञानं प्रत्यभिज्ञा' इसमें इदन्तांशमें प्रत्यक्ष है। तत्तांशमें स्मरण हैं) चक्षुरिन्द्रिय संस्कार सहित होकर तत्तांशको भी ग्रहण कर लेती है। इसलिए संस्कार जन्यत्व प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षमें भी है। इससे तो स्मृतिका लक्षण उसमें चला जाएगा और उसका अप्रामाण्य होगा, इस दोषके

॥ अर्थात् उनका प्रामाण्य सिद्ध होगा। धारावाहिक ज्ञान उसे कहते हैं, जहाँ ज्ञान घटादिक एक विषयको लेकर चिरकालतक निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। उसमें प्रथम ज्ञानका विषय घटादि ही उत्तर ज्ञानोंमें अनुस्यूत रहता है। वह तो ज्ञात ही है। अतः गृहीतार्थ ग्राही ज्ञान प्रमाण है, यह लक्षण उपयुक्त नहीं।

§ प्रभाकर मिश्रके शिष्य शलिक नाथने अनुभूति को ही प्रमाण सामान्यका लक्षण माना है। जैसे—
अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृति पुनः। पूर्व विज्ञान संस्कार माजजं ज्ञान मुच्यते॥
न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वं प्रतिपत्तेरपेक्षणात्। (प्रकरणपंचिका प्रकरण का० ५।१।२)

इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकोंने ज्ञानको दो भागोंमें विभक्त किया है, अनुभव और स्मृति। भ्रमको वे नहीं मानते। इसलिए अनुभवके लक्षणमें वे 'यथार्थ' विशेषण नहीं देते। इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

अथ स्मर्तव्यापेक्षयैव स्मृतेः स्मृतित्वं तद्विषयसंस्कारजत्वात्, स्वरूपकर्त्रपेक्षया त्वनुभूतिरेव, अतः सिद्ध्यति प्रामाण्यमित्युच्यते ? एवं तर्हि मात्रग्रहणमनर्थकम्, प्रत्यभिज्ञानस्यापि पूर्वानुभूतांशापेक्षयैव स्मृतित्वात्। तत्र चाप्रामाण्यमिष्टमेव। यत्र त्वंशे प्रामाण्यम्, तत्रानुभूतिरेव सा।

निवारणके लिए 'मात्र' पद दिया गया है*। इस प्राभाकरोक्तार्थका सिद्धान्ती भाट्ट संग्रह करते हैं 'तदेवम्' से। तुम्हारे इस कथनसे तो सिद्ध हुआ कि संस्कारसे अतिरिक्त कारणसे जन्य ज्ञान प्रमाण है। (और साथ ही संस्कार मात्र जन्य ज्ञान अप्रमाण है, यह भी सिद्ध हुआ, अतः उक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष देकर खण्डन करते हैं) 'तदिदम्' से।

यह अनुभूतिका लक्षण स्वाप्नदर्शन = ज्ञानमें अव्याप्त है। (स्वाप्न ज्ञान भी संस्कार मात्रसे जन्य है। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि सभी ज्ञानोंमें प्राभाकर मीमांसक त्रिपुटीको मानते हैं। ये तीन हैं—घटादि विषयरूपसे मासते हैं। आत्मा ज्ञानका आश्रय होकर भासता है। ज्ञान स्वयं प्रकाश होनेसे स्वरूपसे भासता है। अर्थात् ज्ञान विषयरूपसे घटादिको और आश्रयरूपसे आत्माको प्रकाशित करता हुआ, अपनेको भी प्रकाशित करता है। प्राभाकर मतमें चाहे अनुभव हो चाहे स्मरण हो, सभी ज्ञानोंमें 'घटमहं जानामि' = मैं घटको जानता हूँ, 'घटमहं स्मरामि' = मैं घटका स्मरण करता हूँ, ऐसे ही ज्ञान होते हैं। 'अयं घटः, अयं पटः' इत्याकारक ज्ञान उनके मतमें नहीं होते। अतः उनके मतमें ज्ञान स्वयं प्रकाश है। वह ज्ञानांशमें और आश्रयरूप कर्ताके अंशमें प्रमाण होता है तथा प्रत्यक्ष भी होता है, यह उनका सिद्धान्त है) इसके अनुसार जो संस्कार मात्रसे स्वप्नमें ज्ञान होता है स्मरणात्मक, उसमें ज्ञानांश तथा कर्ता अंशमें आप (प्राभाकरों) को प्रामाण्य और प्रत्यक्षता इष्ट है (किन्तु उनमें आपका लक्षण नहीं जाता) इसलिए आपका लक्षण स्वाप्न ज्ञानमें अव्याप्त है। अतः अनुभूतिको प्रमाण सामान्यका लक्षण नहीं कह सकते)

शंका—उपर्युक्त अव्याप्ति दोषके निवारणके लिए यदि ऐसा लक्षण किया जाए कि—स्मर्तव्य विषयकी अपेक्षासे स्मरण है, क्योंकि यह उस विषयके संस्कारसे उत्पन्न होता है (अर्थात् विषयको लेकर ही स्मरण कहलाता है) किन्तु स्वरूप और कर्ताको लेकर अनुभूति ही है। इसलिए ज्ञानांश और कर्त्रंशमें प्रामाण्य सिद्ध होता है (अतः अव्याप्ति दोष नहीं है)

उत्तर—तो इस प्रकार कहने पर पूर्वोक्त दोषका निवारण होता है (अर्थात् स्वरूप और कर्त्रंशमें तो प्रामाण्य सिद्ध होता है) किन्तु आपने स्मृति लक्षणमें 'मात्र' विशेषण दिया है। उसका प्रयोजन है प्रत्यभिज्ञामें अप्रामाण्यका वारण। उक्त प्रकार माननेपर प्रत्यभिज्ञा भी पूर्वानुभूत विषयको लेकर स्मृति हो जाएगी। उसमें अप्रामाण्य इष्ट ही है। जिस अंशमें प्रामाण्य है—स्वरूप और कर्ताके अंशमें वहाँ अनुभूति ही है (अतः यह न्याय यहाँ लागू होता है कि 'एकं सन्वित्सतः अपरं प्रच्यवते' एकको मिलाने पर दूसरा अलग हो जाता है। दूसरेको मिलानेपर दूसरा अलग हो जाता है, इस दोषका आप निवारण नहीं कर सकते)

* प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष संस्कारसहित चक्षु इन्द्रियसे होती है, केवल संस्कारसे नहीं। अतः स्मृतिका लक्षण हुआ 'संस्कारमात्रजन्यत्व' और 'स्मृति भिन्नत्वे सति ज्ञानत्व' यह अनुभवका लक्षण है। अतः प्राभाकर मीमांसकोंने धारावाहिक द्वितीय आदि ज्ञानोमें अव्याप्तिका वारण करनेके लिए, ऐसा प्रमाणका लक्षण किया है। वे अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं।

किं चानुवादानाम्— 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीम्' इत्यादीनामपि संस्कारमात्रजत्वाभावात् प्रामाण्यं स्यात्। भवतु इति चेत् ? न, लोकविरोधात्। तथा लौकिकमपि वाक्यं वक्तृज्ञानानुमितेऽर्थेऽनुवादकतया प्रवर्तमानं प्रमाणं स्यात्। न चैतदिष्टं भवताम्। असंनिकृष्टग्रहणमनुवादानां शास्त्रत्वनिवृत्त्यर्थमित्यङ्गीकरणात्।

अथानपेक्षं प्रमाणम् यत्स्वविषये प्रमाणान्तरं नापेक्षते—तत् प्रमाणम्। अनुवादानां तु पुरोवादसापेक्षत्वादप्रामाण्यमिति ? एवं तर्हि लौकिकं वाक्यमप्यनुमितेऽर्थे प्रवर्तमानमनुमानस्य शङ्कानिराकरणमात्रौपयिकत्वादर्थप्रतिपादने तदपेक्षाभावात् प्रमाणं स्यात्।

(सिद्धान्ती कहता है, कि अनुभूतिको प्रमाण माननेपर स्वाप्न ज्ञानमें स्वरूप और कर्ता इन दोनोंमें प्रमाण होनेके कारण अव्याप्ति दोष है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु अनुवादके प्रामाण्यकी आपत्ति होनेसे प्रमाण लक्षणकी अतिव्याप्ति है, उसीको कहते हैं) 'किंच' इत्यादि से। और भी बात है कि 'जो इस प्रकार जानता हुआ पौर्णमासी याग करता है' इत्यादि अनुवादक वाक्योंका भी आपके मतमें प्रामाण्य होने लगेगा। क्योंकि संस्कार मात्र जन्य ज्ञानको आप अप्रमाण मानते हैं। अनुवाद तो संस्कारमात्र जन्य नहीं हैं, अतः अनुवाद भी प्रमाण होने लगेगा।

यदि प्राभाकर मीमांसक कहें—अनुवादका भी प्रामाण्य हो जाए, क्या दोष है ? तो ऐसा नहीं कह सकते, लोकविरोध होनेसे। दूसरी बात है—प्राभाकर मतमें वक्ताके ज्ञानसे अनुमित अर्थके अनुवादरूपसे लौकिक वाक्य प्रवृत्त होता है। वह भी आपके मतमें प्रमाण होनेसे लगेगा। इसे इष्टापत्ति कह नहीं सकते, क्योंकि शास्त्र-प्रमाणका आरम्भ करके, 'शास्त्रं शब्दविज्ञानात्-असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' = पद ज्ञानसे असन्निकृष्टार्थ विषयक बुद्धि होती है, भाष्यमें ऐसा शास्त्रका लक्षण किया। उक्त लक्षण लौकिक वाक्यमें नहीं घटता। और अनुवादकी शास्त्रता न हो जाए, इसी अर्थको बतानेके लिए शास्त्र लक्षणमें 'असन्निकृष्ट' विशेषण दिया है॥।

शंका—अब प्रमाणका दूसरा लक्षण करते हैं, 'अथ' इत्यादिसे। इसका यह अभिप्राय है कि अनपेक्ष प्रमाण होता है। अर्थात् जो वाक्य अपने विषयमें दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता वही प्रमाण है। अनुवादमें तो अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनुवाद पुरोवादकी अपेक्षा रखता है। निरपेक्षको हमने प्रमाण कहा है, इसलिए अनुवादका प्रामाण्य नहीं होता। अतः प्रमाणका यही लक्षण है कि 'यत्स्वविषये प्रमाणान्तरं नापेक्षते तत् प्रमाणम्' इति।

उत्तर—इस प्रकार दूसरा लक्षण करने पर आपके मतमें लौकिक वाक्य भी प्रमाण होने लगेगा। क्योंकि अनुमित अर्थमें प्रवर्तमान अनुमानकी शंका निवारणके लिए उपयोगी होनेके कारण, अर्थके प्रतिपादनमें उसकी अपेक्षा नहीं है। (अतः 'घटमानय' इत्यादि वाक्य प्रमाण होने लगेगा) वैसे ही अनुमानका प्रामाण्य आपके मतमें नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि अनुमान अपने विषयका

॥ अर्थात् शास्त्र लक्षणमें 'असन्निकृष्ट' पदसे अनुवाद प्रमाण नहीं होता, ऐसा शाबर भाष्यमें कहा है। अतः अनुवादका प्रामाण्य नहीं हो सकता। यथा 'असन्निकृष्ट इति किमिदम् ? प्रमाणान्तरेण अप्रतीत इति' असन्निकृष्टसे क्या कहा गया है ? उत्तर—प्रमाणान्तरसे जो अज्ञात है, वही कहा गया है। अतः अनुवादके प्रामाण्य होनेसे आपका वचन भाष्यसे विरुद्ध होगा। आपके ग्रन्थ 'बृहती टीका' का भी विरोध है। इसलिए 'अनुभूतित्वं' प्रमाणका लक्षण नहीं बन सकता। अर्थात् अनुभूतिको प्रमाण नहीं कह सकते।

तथानुमानस्य प्रामाण्यं न स्यात्। तद्धि नियमग्रहणमपेक्षते। न च गृहीतमर्थं मात्रयाप्यधिकं गृह्णातीति भवतां दर्शनम्। पीतशङ्खज्ञानमप्यनुभूतित्वात् प्रमाणं स्यात्। इष्टमेवेति वदतो लोकविरोधः। तस्माद् 'यथार्थमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम्' इति वक्तव्यम्। धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्।

ज्ञान करानेके लिए व्याप्ति (नियम) ग्रहणकी अपेक्षा रखता है। (व्याप्तिके बिना अनुमानका होना असम्भव है। व्याप्ति - ग्रह भी भूयः सहचार दर्शनसे होता है। इसलिए अनुमान प्रत्यक्ष सापेक्ष होनेसे प्रमाण नहीं होगा) और आपका कहना है कि अनुमान ज्ञात अग्निरूप अर्थको ज्योंका त्यों ग्रहण कराता है, न न्यून न अधिक॥। तब 'पीतः शंखः' इस ज्ञानमें अतिव्याप्ति होगी। शंख पीत है, यह ज्ञान है। अनुभव होनेसे यह दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता; अतः यह ज्ञान भी प्रमाण हो जाएगा। यदि कहो पीत शंख ज्ञानका प्रमाण होना हमको इष्ट है, तो ऐसा मानने पर आपको लोकविरोध होगा। (इसलिए अनुभूतिको प्रमाण नहीं कह सकते अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष होनेके कारण) अतः उचित हो यदि अगृहीतार्थग्राहि ज्ञानको प्रमाण कहा जाए। (अर्थात् असन्दिग्ध, अनधिगत, अबाधित अर्थ विषयक ज्ञानको प्रमाण कहना चाहिए)

शंका—(यदि अगृहीतार्थग्राहि ज्ञानको प्रमाण माना जाए तो) धारावाहिक स्थलमें द्वितीय आदि ज्ञान प्रथम ज्ञानसे गृहीत अर्थको ही ग्रहण करते हैं। अतः उनका भी प्रामाण्य होना युक्त न होगा। (इससे तो अव्याप्ति दोष लगेगा) उत्तर—धारावाहिक स्थलमें उत्तरोत्तर ज्ञानका एक ही घटादि विषय होता है, किन्तु उसके साथ विशेषणके रूपमें कालसम्बन्ध भी भासता है (अर्थात् प्रथमक्षण विशिष्ट घट प्रथम ज्ञानका विषय है, द्वितीयक्षण विशिष्ट घट द्वितीय ज्ञानका, इस प्रकार पूर्वज्ञानसे अगृहीत कालान्तर सम्बन्धका ग्रहण होनेके कारण द्वितीय, आदि ज्ञानोंमें प्रामाण्य सिद्ध होता है। (यह ध्यान रहे कि भाट्ट मतमें काल प्रत्यक्ष है। वैशेषिकादिकी तरह अप्रत्यक्ष नहीं है। इस क्षणमें मैंने घटको जाना है)

शंका—उपर्युक्त प्रकारसे कालभेद ग्रहण करके, अव्याप्तिका वारण नहीं कर सकते, क्योंकि कालभेद अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उसका परामर्श नहीं होता, यदि ऐसा कहें, तो ?

॥ इस प्रकार आपके मतमें अनुमानका प्रामाण्य नहीं होगा। अतएव शालिकनाथ मिश्रने प्रकरण पञ्चिकामें इस आशयकी शंका करके समाधान किया है—यथा'नन्वेवं सम्बन्धनियमावसायसमय एव यावद्धूमादिभावितया वह्न्यादिसम्बन्धस्यावगतत्वात् धूमादिसत्तानिश्चयात्, अधिकं निश्चेतव्यं नावशिष्यते' इति—अनुमानमप्रमाणं स्यात्। सत्यम्। स्यात् यदि अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं स्यात्। अनुभूतिस्तु प्रमाणमित्युक्तमिति युक्तमेवानुमानस्य प्रामाण्यम्' (प्रकारण पंचिका, पृ. सं. २०५) अर्थात् व्याप्ति ग्रहणके समय ही सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निका सद्भाव निश्चित हो जाता है। अनुमानका कोई विषय नहीं रहता, अतः अनुमान अप्रमाण है। उत्तर—यह ठीक होता यदि अज्ञातार्थ-ज्ञापकको प्रमाण कहते, यह तो कहा नहीं। कहा तो यह गया है कि अनुभूति ही प्रमाण है। इसलिए अनुमान प्रमाण है यह संगत है।

स्वमतेन कालप्रत्यक्षनिरूपणम्

सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति चेत् ? अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां प्रियः। यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोपरतः सोऽनन्तरक्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति। तथा हि—किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति—अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।

ननु यथार्थतापि चेत् प्रमाणलक्षणम्, उष्णजलज्ञानमप्रमाणं स्यात्। इष्टमेवैतत्। ननु लोकविरोधः स्यात् ? स्याद् यद्ययथार्थतां जानन्त एव लौकिकाः प्रामाण्यं मन्वीरन्। ते तु यथार्थतामेवैतस्य मन्यमानाः प्रामाण्यमभ्रान्तत्वं च मन्यन्ते। ये त्वयथार्थतां जानन्ति, ते नैव प्रामाण्यं मन्यन्ते, नाप्यभ्रान्तताम्, तस्मान्नास्ति विरोधः।

उत्तर—ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले आप बड़े नासमझ हैं। अर्थात् मूर्ख हैं। जिस व्यक्तिने समान विषयक विज्ञान धारासे बहुत देरतक 'अयं घटः, अयं घटः' इत्याकारक ज्ञानसे घटका अनुभव करके उस ज्ञान-परम्पराको छोड़ दिया है, वह उत्तर क्षणमें सम्बन्धिके रूपमें अर्थका स्मरण करता है। (उक्त काल परामर्शका उपपादन करते हैं) यहाँ घट था, ऐसा पूछनेपर कोई उत्तर देता है कि इस क्षणमें मैंने घटको देखा। इसी प्रकार प्रातः कालसे लेकर, अभीतक मैंने घटको देखा। काल विशेषका ग्रहण न होनेपर ऐसा कैसे कहेगा। अतः काल-भेदका परामर्श होता है। अधिककालकी* प्रतीति होनेसे उत्तर ज्ञानोंमें अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व होनेके कारण प्रामाण्य सिद्ध ही है।

शंका—यथार्थत्व यदि प्रमाणका लक्षण है तो ऐसा माननेपर 'जल उष्ण है' इत्याकारक ज्ञान अप्रमाण होगा। (क्योंकि जल तो शीत होता है, उसमें उष्णता नहीं होती) उत्तर—'उष्णं जलं' यह ज्ञान अप्रमाण है, ऐसा तो हमें इष्ट ही है। शंका—इससे लोक विरोध होगा, क्योंकि 'उष्णं जलं' यह ज्ञान प्रमाण है, इसीसे लोगोंकी प्रवृत्ति होती है। 'उष्ण जल' ज्ञानको अप्रमाण माननेपर तो कोई प्रवृत्त नहीं होगा, अतः लोक विरोध स्पष्ट है)

उत्तर—लोक विरोध तब होता, जब लोग 'उष्णं जलं' इस ज्ञानको अयथार्थ जानकर, प्रमाण कहते, ऐसा तो है नहीं। लोग इस ज्ञानको यथार्थ मानकर ही प्रामाण्यका निश्चय करते हैं और इसे अभ्रान्त भी मानते हैं। और जो लोग 'उष्णं जलं' इस ज्ञानको अयथार्थ जानते हैं, वे इसे प्रमाण नहीं मानते। इसी प्रकार वे इसे अभ्रान्त भी नहीं मानते। इसलिए लोक विरोध नहीं है।

(सिद्धान्ती भाट्ट मीमांसकोंने अपने लक्षणमें लोक-विरोधका परिहार किया। इसे देखकर प्रतिवादी प्रभाकर मिश्र भी 'अनुभूतिः प्रमाणम्' अपने उक्त लक्षणमें लोक विरोधका परिहार करनेके लिए कहते हैं) 'पीतः शंखः' इत्यादि। वे ऐसा मानते हैं, कि पीत-शंख ज्ञानमें भी स्मृतित्वके अभिमानसे तथा अनुभूतित्वके अज्ञानसे अप्रामाण्य है। इसलिए हमारे मतमें भी 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इस लक्षणमें न कोई दोष है, न लोक-विरोध है।

---

* कालके विषयमें यह वृद्ध वचन है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते' अर्थात् संसारमें ऐसा कोई ज्ञान नहीं जहाँ काल भासित न होता हो। काल छः इन्द्रियोंसे वेद्य है। इसका विवेचन आगे शब्दनित्यत्वाधिकरणमें किया जाएगा।

पीतशङ्खज्ञानस्यापि स्मृतित्वाभिमानादनुभूतित्वापरिज्ञानादप्रामाण्यं मन्यन्ते, अतोऽस्माकमपि नास्ति विरोध इति चेत् ? तदयुक्तम् —न हि लौकिकाः शुक्तिरजतज्ञानेऽपि स्मृतित्वं मन्यन्ते। नतरां पीतशङ्खज्ञाने। तस्मात्सूक्तम् —'अर्थेऽनुपलब्धे' इति।

वृत्तिकारस्त्वन्यथेमं वर्णयाञ्चकारेत्येवमादिनोपवर्षमतेन। 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्येवमादिसूत्रत्रयमन्यथाकृत्वा[1] व्याचष्टे भाष्यकारः, तत्र निमित्तसूत्रेण तावत् प्रतिज्ञातस्य चोदनाप्रामाण्यस्य परीक्षापदेशेन स्वतःप्रामाण्यं हेतुरित्युच्यते।

उत्तर—यह ठीक नहीं। शुक्तिमें यह रजत है, ऐसा ज्ञान होता है। इस रजत ज्ञानको लोग स्मृति नहीं मानते। साथ ही 'शंख पीत है' इस ज्ञानमें स्मृतित्व भी नहीं मानते। (अर्थात् पीत शंख ज्ञानमें स्मृतिका अभिमान न होनेसे, लोक विरोध ज्योंका त्यों बना रहेगा और अनुभूति ज्ञान है, प्रामाण्य नहीं, उक्त विषयका उपसंहार करते हैं) 'तस्मादिति'से। (अगृहीतग्राहिज्ञान प्रमाण है, यहाँसे आरम्भ कर, 'नन्वेवं धारावाहिकेषु' इत्यन्त तक जो आक्षेप किए हैं, उनका उक्त रीतिसे समाधान हो गया) इसलिए ठीक ही कहा है 'अर्थेऽनुपलब्धे' इत्यादि।

(अबतक ग्रन्थकारने भाष्यकारने जो व्याख्या की है, उसे बताया है। भाष्यकारने 'वृत्तिकारस्तु' इत्यादिसे जो कहा है, ग्रन्थकार भी उसीको बताते हैं 'वृत्तिकारस्तु' इत्यादि से। आगे वृत्तिकार भगवान उपवर्षाचार्यके मतसे उक्त 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्यादि तीनों सूत्रोंकी क्रमशः व्याख्या करते हैं) यहां 'तु' शब्द भाष्यकी व्याख्यासे वृत्तिकारकी व्याख्यामें विलक्षणता है, यह बतानेके लिए है। 'इदं' पदसे उक्त तीनों सूत्रोंका उपवर्षाचार्यके मतसे व्याख्यान किया। 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्यादि सूत्रको अन्यथा करके भाष्यकारने उसकी व्याख्या की है❀।

❀ यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि भाष्यकार 'तस्यनिमित्तपरीष्टिः' इत्यादि तीनों सूत्रोंका अपनी रीतिसे व्याख्यान करके वृत्तिकारके व्याख्यानका वर्णन करते हैं, कि यह किस प्रयोजनके लिए है ? यदि कहा जाए कि भाष्य मतमें दोष दिखानेके लिए है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्यों कि भाष्य तो समीचीन अर्थको कहता है। और फिर यहाँ वृत्तिकारका नाम क्यों लिया गया ? तथा अर्थान्तर कथनके बिना क्या नहीं सिद्ध हो सकता ? इत्यादि प्रश्न को बृहती पृ० ४८, मद्रास संस्करणमें देखना चाहिए। इसका संक्षेपमें उत्तर है कि यहाँ दोनों बातें हैं। अर्थात् उक्त मतमें दोष देना और जिसका भाष्यकारने वर्णन नहीं किया, उस प्रमेयको कहना। वहाँ दोष यह है कि 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' में 'नञ्'का अध्याहार करना है। अपेक्षित अर्थान्तरका प्रतिपादन है—निरालम्बनवादादिका निराकरण करना। और वृत्तिकार उपवर्षाचार्यने प्रत्यक्षादि छः प्रमाण तथा अन्यान्य पदार्थोंका भी उपपादन किया है; जो प्रकृतमें विवक्षित हैं, एवं भाष्यकारकी व्याख्यामें नहीं हैं, उन्हींका निरूपण यहाँ करना है। वह इस प्रकार है—प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-आगम-अर्थापत्ति-तथा अनुपलब्धि इन छः प्रमाणोंका वर्णन करना। प्रामाण्यका स्वतस्त्व सिद्ध करना। लौकिक वाक्यके प्रामाण्यमें वक्ताके ज्ञानकी अपेक्षा है, वेदमें वक्ता न होनेसे उसकी अपेक्षा नहीं है—ये दोनों बातें 'अनपेक्षत्वात्' इस सूत्रके अवयवसे कही गई है; किन्तु वार्तिककारने चोदनासूत्रमें ही इसका निरूपण किया है। औत्पत्तिक

१. अष्टधा कृत्वेति पाठान्तरम्।

प्रसिद्धानि हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि, तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि प्रसिद्धमेव। न च प्रसिद्धस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यमन्येन परीक्षितव्यम्, स्वत एव तस्य स्वविषयोपस्थापनसामर्थ्यात्। यदि च परीक्ष्येत ततो येन परीक्ष्येत, तस्याप्यन्येन परीक्ष्येत तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था स्यात्। तस्मात्प्रसिद्धत्वात् प्रमाणस्य[1] चोदनापि प्रमाणमिति।

ननु न ज्ञानमुत्पन्नमित्येवार्थतथात्वमध्यवसातुं शक्यम्। प्रसिद्धतरस्यापि प्रत्यक्षस्यायथार्थस्योत्पत्तिदर्शनात्। यथा—शुक्तिकायां रजतमिति प्रत्यक्षमेवायथार्थम्। न, शुक्तिकायां रजतज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वात्।

(तत्र = तीनों सूत्रोंमें निमित्त सूत्रोंमें नञ्का अध्याहार करके व्याख्यान करें। निमित्तकी परीक्षा नहीं होनी चाहिए। जो प्रतिज्ञा की गई है, विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण है अर्थात् निमित्त सूत्रसे प्रतिज्ञात, विधिप्रामाण्य-परीक्षाके व्याजसे स्वतः प्रामाण्य ही हेतु है, यह कहा गया है) प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध हैं, अर्थात् वे स्वतः प्रमाण हैं, यह सिद्ध है। उन्हींके अन्तर्गत शास्त्र है, अतः शास्त्र भी स्वतः प्रमाण ही है। और इस स्वतः सिद्ध प्रमाण-शास्त्रके प्रामाण्यकी दूसरेसे परीक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह स्वयं ही अपने विषयको उपस्थित करनेकी योग्यता रखता है। यदि परीक्षा करें तो उसका भी प्रामाण्य दूसरे से सिद्ध करना होगा। उसका भी दूसरे से। इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए प्रसिद्ध होनेके कारण, विधिवाक्य भी प्रमाण ही है। उसका प्रामाण्य भी स्वतः सिद्ध है।

शंका—ज्ञान उत्पन्न हुआ, इतनेसे अर्थतथात्व = यथार्थत्वरूप प्रामाण्यका निश्चय नहीं कर सकते, क्योंकि अत्यन्त प्रसिद्ध प्रत्यक्ष अयथार्थ उत्पन्न होते हुए देखा गया है। जैसे 'सीपीमें यह चान्दी है' यह प्रत्यक्ष है। यह अयथार्थ भी है। (इसे यथार्थ नहीं कह सकते, अतः व्यभिचारी प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण कैसे हो सकता है ?)

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। शुक्तिमें 'इदं रजतं'से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षाभास है। (जो प्रत्यक्ष होता है, वह अयथार्थ नहीं होता, इसलिए जो व्यभिचारी नहीं है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। शुक्तिमें रजत ज्ञानका तो 'यह रजत नहीं है, इत्याकारक ज्ञानसे बाध हो जाता है। अतः यह प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है।)

सूत्रमें ही निरालम्बनवादका निरास करके, बाह्यार्थवादकी स्थापना की है। शून्यवाद भी विज्ञानवादका एकदेशी है, बाह्यार्थ स्थापनासे शून्यवादीका पक्ष भी खण्डित हो जाता है। स्फोटवादका भी यहाँ निरास किया है। वर्णको ही पद तथा आकृति = जातिको ही शब्दार्थ सिद्ध किया है। इससे बौद्धाभिमत तुच्छ अन्यापोहका खण्डन किया है। फिर वनवादमें वनादिकी तरह अवयवी नहीं है, इस शंकाका निरासकर, वेद-प्रामाण्य सिद्ध किया है। सम्बन्धकर्ताके रूपमें ईश्वरका भी निराकरण करके, सम्बन्धाक्षेपका परिहार किया है। फिर चित्राक्षेप अग्निहोत्र आदि वाक्योंका प्रामाण्य आत्मवादसे सिद्ध किया है। इस प्रकार वेद प्रामाण्यकी सिद्धिके लिए यह उपर्युक्त अर्थोंका वृत्तिकारने संग्रह किया है—

तदेवं षोडशाप्यर्थाः सूत्र औत्पत्तिकादिके। प्रामाण्यस्य प्रसिद्ध्यर्थं चोदनाया निरूपिताः॥

(मीमांसा बालप्रकाश, पृ० सं० ७)

१. प्रामाण्यस्येति 'क' पुस्तके पाठः।

वृत्तिकारमतेन प्रत्यक्षलक्षणवर्णनम्

किं पुनराभासासंकीर्णं प्रत्यक्षलक्षणम्? तद्दर्शयति—'तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्' यदाभासं विज्ञानं, तेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे यद्विज्ञानं तत् सत्प्रत्यक्षम्। तत्सतोर्व्यत्ययादाभासाऽसंकरसिद्धिः। तदिति चाव्ययं तृतीयान्तं तेनेत्यर्थे।

शंका

नन्वसत्यपि व्यत्यये नास्ति संकरः—'इन्द्रियसंप्रयोगजं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्येतावदेव वक्तव्यम्। न हि शुक्तिकायां रजतज्ञानमिन्द्रियसंप्रयोगजम्। किं तर्हि? इन्द्रियसंप्रयोगाच्छुक्तिशकलं रजतसाधारणेन भास्वरत्वादिरूपेण गृहीतम्, असाधारणं तु शुक्तिकात्वमिन्द्रियदौर्वल्यादगृहीतम्, अनन्तरं च संस्कारोद्बोधाद्रजतं स्मृतम्, ततः स्मृतरजतात्मना शुक्तिव्यक्तिर्दोषवशाद् गृह्यते, अतो नेन्द्रियसंप्रयोगजं रजतविज्ञानमिति नातिप्रसङ्गः।

अब प्रश्न है कि—आभाससे असंकीर्ण प्रत्यक्षका क्या लक्षण है? वृत्तिकार आभाससे असंकीर्ण प्रत्यक्षका लक्षण सूत्रसे सिद्ध करते हैं 'तत्सम्प्रयोगे०' इत्यादि से। वृत्तिकारने यथा श्रुत-सूत्रमें प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं है, ऐसा निश्चय करके, सूत्रमें 'तत्' 'सत्' दोनो शब्दोंका व्यत्यास = रद्दोबदल करके, आभाससे असंकीर्ण लक्षण स्थिर किया है। यहाँ 'तत्' पद अव्यय है, तृतीयान्त है। इसका अर्थ हुआ तेन = उस विषयसे इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होनेपर, जो ज्ञान उत्पन्न होता हैं, वह 'सत्प्रत्यक्ष' है*।

शंका—विना व्यत्यासके भी लक्षणमें सांकर्य नहीं है। इन्द्रिय सन्निकर्षसे जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है, इतना ही कहना चाहिए। तब आभासमें यह लक्षण नहीं जाएगा; क्योंकि शुक्तिकामें जो रजतका ज्ञान होता है, वह रजत-चक्षुके सन्निकर्षसे नहीं होता। तब क्या है?

उत्तर—इन्द्रिय सन्निकर्षसे शुक्ति-शकल जो रजत साधारण भास्वरत्व, वह उसी सामान्य धर्मसे गृहीत हुआ। (अर्थात् शुक्ति रजत दोनोंका साधारण जो भास्वरत्व धर्म है, वह उसी रूपसे गृहीत हुआ) शुक्तिमें जो असाधारण धर्म शुक्तिकात्व है, उसका इन्द्रिय दौर्बल्यसे ग्रहण नहीं हुआ। उसके पश्चात् संस्कार उद्बुद्ध हुआ। तब रजतका स्मरण हुआ। तदनन्तर स्मृत रजतके रूपमें शुक्ति व्यक्ति दोषसे गृहीत हुई। शुक्तिमें रजतज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्षसे तो हुआ नहीं, अतः पूर्वोक्त दोष यहाँ लागू नहीं होता।

---

* अर्थात् जिस विषयको लेकर ज्ञान होता है, उसी विषयके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर, जो पुरुषोंको ज्ञान होता है, वही सत् प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे रजतके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होनेपर रजतका ज्ञान होता है। वह सत्प्रत्यक्ष है। ज्ञानका विषय है रजत। चक्षुका शुक्तिके साथ संयोग है। इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं अपितु प्रत्यक्षाभास है। 'व्यत्यय' नाम है व्यत्यास या परिवर्तन का। अतः सूत्रमें 'तत्' 'सत्' का व्यत्यास करनेपर, प्रत्यक्षाभाससे असंकीर्ण अर्थकी सिद्धि होती है।

प्राणाद्यास्तीन्द्रियसंप्रयोगजत्वमिति, तद्व्यावृत्यर्थं तत्संप्रयोगजत्वमिति विशेषणं वक्तव्यमिति चेत् ? तन्न, न हीह यथाकथञ्चित्संप्रयोगजन्यत्वं लक्षणम्, किं तु साक्षात्तज्जन्यत्वम्। यदि च यथाकथञ्चिदित्याश्रीयेत, ततो विशेषणे सत्यप्यतिव्याप्तिमल्लक्षणं स्यात्। आरादग्निमध्यक्षयतो यदौष्ण्यविषयमनुमानम्, तदपि प्रत्यक्षं स्यात्, प्रणाड्येन्द्रिसंप्रयोगजत्वात् संप्रयुक्तविषयत्वाच्च। अस्ति ह्यौष्ण्यस्येन्द्रियसंप्रयोगः संयुक्तसमवायलक्षणः। तस्मादवश्यं साक्षात्संप्रयोगजत्वं लक्षणमित्यङ्गीकर्तव्यम्। अतः शुक्तिरजतवेदनेपि व्यभिचाराभावादनर्थकस्तत्सतोर्व्यत्ययः।

तन्निरासः

सत्यम्—साक्षात्संप्रयोगजत्वं लक्षणम्। सत्यं च शुक्तिरजतज्ञानेपि नातिप्रसङ्गः, पीतशङ्खद्विचन्द्रादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः स्यात्, साक्षात्संप्रयोगजत्वात्। अपि च स्मृतेन रजताकारेण यत् संनिहितस्य शुक्तिशकलस्य तादात्म्यग्रहणम्, तदनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य

शंका—(शुक्ति शकलमें 'इदं' रूपसे प्रत्यक्ष होता है। वह इन्द्रिय सन्निकर्षसे ही हुआ। शुक्ति शकलका प्रत्यक्ष होनेपर रजतका स्मरण हुआ, इसलिए शुक्ति शकल ज्ञानके द्वारा रजत ज्ञानमें) परम्परासे इन्द्रियसन्निकर्ष जन्यत्व है। अतः शुक्ति रजत ज्ञानमें प्रत्यक्ष लक्षणकी अतिव्याप्ति निवारणके लिए 'तत्सम्प्रयोगे०' इस सूत्रोक्त प्रत्यक्ष लक्षणमें 'तत्सम्प्रयोगजत्व' विशेषण देना, चाहिए, यदि ऐसा कहें ?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। प्रत्यक्षमें साक्षात् सम्प्रयोगजत्व ही लक्षण विवक्षित है। परम्परासे तत् सम्प्रयोगजत्व लक्षण विवक्षित नहीं। इसीलिए रजत ज्ञानमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है। यदि कहा जाए—जिस किसी प्रकारसे सम्प्रयोगजत्व होना ही चाहिए तो, ऐसा माननेपर 'तत् सम्प्रयोगे सत्प्रत्यक्षम्' ऐसा विशेषण देनेपर भी लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष रह ही जाएगा। इसे उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं 'आरात्०' इत्यादि से। दूरसे अग्निका प्रत्यक्ष होनेपर, अग्निमें उष्णताका अनुमान होता है। वह अनुमान भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। अनुमानका यह स्वरूप है—'अग्निरुष्णः, अग्नित्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्' इति। इस प्रकार अनुमानकी विषय उष्णताका प्रत्यक्ष होने लगेगा। परम्परासे इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य होनेके कारण, इन्द्रिय संयुक्त है उष्णता। उसीको अनुमान विषय करता है। इन्द्रिय संयुक्तमें उष्णता समवायसे रहती है, अतः संयुक्तसमवायलक्षण सम्बन्ध इन्द्रियका, उष्णताके साथ है ही। इसलिए साक्षात्सम्प्रयोगजत्व सत् प्रत्यक्षका लक्षण है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए। इससे शुक्ति रजत ज्ञानमें भी व्यभिचार (अतिव्याप्ति) नहीं है। तथा अनुमानादिमें भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। अतः तत् और सत् दोनो शब्दोंका व्यत्यास व्यर्थ है, (यह पूर्व पक्षका संक्षेप है)

उत्तर—ठीक है, साक्षात्सम्प्रयोगजत्व ही सत् प्रत्यक्षका लक्षण है। सीपीमें 'यह रजत है' इस ज्ञानमें अतिव्याप्ति नहीं है, यह भी ठीक है। तथापि 'शंख पीत है' या अंगुलीसे नेत्र दबानेपर जो दो चन्द्रमाओंका ज्ञान होता है, इत्यादि स्थलोंमें अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि इनमें साक्षात् सम्प्रयोगजत्व है। और सुनिए—स्मृत रजताकारसे जिस सन्निहित शुक्ति शकलमें तादात्म्यका ग्रहण होता है- वह जिस पुरुषका इन्द्रिय व्यापार जारी है, वह साक्षात् सम्प्रयोगजन्य होनेसे प्रत्यक्ष ही है। अतः उसमें अतिव्याप्ति है ही। इसलिए प्रत्यक्षाभासकी निवृत्तिके लिए तत् सत्का व्यत्यास है, ऐसा ठीक ही कहा है।

भवत् साक्षात्संप्रयोगजमेवापरोक्षत्वात्। तस्मादाभासनिवृत्त्यर्थस्तत्सतोर्व्यत्यय इति सूक्तम्। भाष्ये त्वाभासप्रदर्शनार्थं शुक्तिकारजतज्ञानोदाहरणमित्यनवद्यम्।

प्रमाणतदाभासविवेकाक्षेपसमाधाने

तत्संप्रयोगजत्वातत्संप्रयोगजत्वे कथं विविच्येते ? उच्यते—ज्ञानस्वरसादेव विषयस्य तथात्वमध्यवसीयते, तदन्यथात्वं तु कारणदोषज्ञानात्, अर्थान्यथात्वज्ञानाद्वावगन्तव्यम्। अतो यत्र प्रयत्नेनान्विष्यमाणोऽपि कारणदोषः, बाधकज्ञानं वा नोपलभ्यते, तत्प्रमाणम्। इतरत्त्वप्रमाणम्। चोदनार्थज्ञानस्य तूभयाभावात् सिद्धं प्रामाण्यम्।

इत्यौत्पत्तिकसूत्रम्।

निरालम्बनवादस्य उपन्यास-निरासौ

'ननु सर्व एव निरालम्बनः' इत्यादिना पूर्वोक्तहेतुद्वयनिमित्तमिथ्यात्वाक्षेपेण शून्यवादी प्रत्यवतिष्ठते। तथा हि—यत्र कारणदोषज्ञानं बाधकज्ञानं वा तत्र मिथ्यात्वम्,

---

भाष्यमें प्रत्यक्षाभासका उदाहरण शुक्ति रजत ज्ञान दिया गया है। वह भी उपयुक्त रीतिसे होनेके कारण युक्त ही है (अर्थात् वृत्तिकारके पक्षमें कोई दोष नहीं है। अन्तर इतना है कि भाष्यकारने शुक्ति-रजत ज्ञानको प्रत्यक्षाभासका उदाहरण दिया है और वृत्तिकारने 'पीत-शंख' तथा द्विचन्द्र' ज्ञानको प्रत्यक्षाभासके उदाहरणके रूपमें प्रयुक्त किया है)

शंका—आप सिद्धान्तीने कहा है कि तत् सम्प्रयोग सत्प्रत्यक्ष है। अतत्सम्प्रयोग प्रत्यक्षाभास है। परन्तु यह सत्सम्प्रयोगजत्व यहाँ है, यहाँ नहीं है, इसका विवेक कैसे होगा ?

उत्तर—ज्ञानके स्वभावसे ही विषयका तथात्व = अबाधितत्त्व निश्चित होता है। विषयका अन्ययात्व तो कारण दोष ज्ञानसे अथवा अर्थान्यथात्वके ज्ञानसे होता है, ऐसा समझना चाहिए। (जैसे 'नदी तीरमें पाँच फल हैं' इस वाक्यको सुनकर, विना नदी तीर गए ही यह प्रतारणात्मक ज्ञान है, ऐसा अर्थान्यथात्व ज्ञात हो जाता है। शुक्ति-रजत-ज्ञान स्थलमें यह रजत नहीं है, इस बाधक ज्ञानसे अर्थान्यथात्व ज्ञात होता है) इसलिए जहाँ प्रयत्नसे खोजनेपर भी कारण दोष या बाधक ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, अतः वह प्रमाण है। जहाँ कारणदोष या बाधक ज्ञान है, वहाँ अप्रमाण है। प्रकृतमें वेद वाक्यसे जो धर्मका ज्ञान होता है, उसमें न कारण दोष है, अपौरुषेय होनेके कारण। न बाधक ज्ञान है, इसलिए अप्रामाण्यके हेतु कारणदोष या बाधक ज्ञानके न होनेसे चोदनार्थ ज्ञानका प्रामाण्य सिद्ध हुआ।

शंका—(भगवान भाष्यकारने 'ननुसर्व एव निरालम्बनः, स्वप्नवत्प्रत्ययः' इत्यादि भाष्यसे बाह्यार्थ शून्यवादी योगाचारके मतसे पूर्व पक्ष किया है। उसीका ग्रन्थकार वर्णन करते हैं। 'ननु' इत्यादि भाष्य है। उसका यह अर्थ है =) सभी प्रत्यय निरालम्बन = बाह्यालम्बन शून्य हैं। (क्योंकि स्वप्नमें जो ज्ञान होता है, वह बाह्य विषय शून्य है, ऐसा देखा जाता है) इत्यादिसे पूर्वमें अप्रामाण्यके प्रति दो हेतु कहे गए हैं,—कारण दोष ज्ञान तथा बाधक ज्ञान। इन दोनोसे ही अप्रामाण्य होता है। (इसलिए सभी ज्ञान अप्रमाण होते हैं, ऐसे आक्षेपके द्वारा शून्यवादी सामने आते हैं (यहां शून्यवादिसे योगाचारको समझना चाहिए, माध्यमिकको नहीं) उन्हींका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं—जिस ज्ञानमें कारण दोष ज्ञात है, या बाधक ज्ञात है, वही अप्रमाण होता है। जहां

अन्यत्र सत्यत्वमिति व्यवस्था नोपपद्यते, सर्वज्ञानानां मिथ्यात्वात्। सर्वमेव हि ज्ञानमात्मांशपर्यवसितमनादिवासनावशादात्मानमेव बाह्यतयाध्यवस्यन् मिथ्यैव।

कथं पुनरात्मांशपर्यवसायित्वं गम्यते? अनुमानात्, बाह्ये च प्रवृत्त्यसामर्थ्यात्। यथा चासामर्थ्यं तथा वक्ष्यामः। संप्रत्यनुमानमुच्यते—स्तम्भादिप्रत्ययाः स्वांशमेव बाह्यतयाध्यवस्यन्तो मिथ्याभूताः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत् शुक्तिकारजतादिप्रत्ययवच्च। स्वप्नादिप्रत्यया हि यथावगम्यमानबाह्यार्थाभावाद् देशान्तरकालान्तरवर्तिनां च संनिहितदेशकालतया प्रतिभासाऽसम्भवात्, क्वचित् कदाचिदप्यसम्भवतां स्वशिरश्छेदादीनां स्वप्ने प्रतिभासादवश्यं स्वात्मानमेव बहिर्वद् गृह्णन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अतस्तत्सामान्याज्जाग्रज्ज्ञानानामपि स्वांशपर्यवसायित्वान्मिथ्यात्वम्। इति प्राप्ते—

दोनों नहीं हैं, वहां प्रामाण्य होता है, यह आपकी व्यवस्था ठीक नहीं है। सभी ज्ञानोंके मिथ्या होनेके कारण। क्योंकि सभी ज्ञान आत्मांश (अपने स्वरूप ही) में पर्यवसित होकर, स्वस्वरूपके ही ग्राहक होते हैं। इसमें कारण है अनादि वासना। ज्ञान अपनेको ही बाह्यतया=पुरोवर्ती घटादिरूपसे निश्चय कराते हुए अप्रमाण ही है।

पुनः शंका—आपने कहा है ज्ञान आत्मांशमें पर्यवसन्न होता है, पर आप यह कैसे जानते हैं? उत्तर—अनुमानसे जानते हैं। ज्ञानके आत्मांश पर्यवसानमें हेतु बताते हैं, अनुमान तथा प्रत्यक्षसे बाह्य घटादिके ग्रहणमें सामर्थ्यका न होना (अर्थात् 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान बाह्यार्थके ग्रहणमें असमर्थ है, उसे आगे शून्यवाद प्रकरणमें स्पष्ट करेंगे) अब अनुमान कहते हैं—'स्तम्भादिप्रत्ययाः बाह्यालम्बनशून्याः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' इसमें स्तम्भादिज्ञान पक्ष है। वह स्वांशका पुरोवर्ती पदार्थके रूपमें भान कराते हुए मिथ्या (अप्रमाण) है; ज्ञान होनेके कारण। इसमें दृष्टान्त है स्वप्न प्रत्यय। इसका दूसरा दृष्टान्त है—शुक्तिमें रजत ज्ञान। इसीका उपपादन करते हैं 'स्वप्नादि' से। स्वप्नादि ज्ञानमें जैसे पदार्थ प्रतीत होते हैं। वैसे बाहरमें नहीं हैं। इसलिए स्वप्नदेशमें और स्वप्न कालमें जैसे पदार्थ ज्ञात होते हैं, वैसे न होने पर भी, देशान्तर या कालान्तरमें रहनेवाले पदार्थोंका सन्निहित देशमें या सन्निहितकालमें भान होना सम्भव नहीं। और कहीं कभी भी जो सम्भव नहीं ऐसे अपने शिरश्छेद आदिका स्वप्नमें भान होता है। इसलिए अवश्य ही स्वप्नादि ज्ञान अपनेको भी बाहरी पदार्थोंकी तरह ग्रहण कराता है, यह मानना होगा। अतः इसी सामान्यको लेकर, सभी ज्ञानोंका भी स्वात्मांशमें पर्यवसान होनेसे सभी जाग्रत ज्ञान मिथ्या होते हैं, (यह पूर्व पक्ष है। जब सभी ज्ञान स्वांशमें पर्यवसित होनेके कारण मिथ्या या अप्रमाण हैं, तब दो कारणोंसे ही कारण दोष ज्ञान और बाधज्ञानसे मिथ्यात्व होता है, यह व्यवस्था नहीं बन सकती) इस प्रकारका पूर्व-पक्ष प्राप्त होने पर—

अब सिद्धान्त कहते हैं—(बाह्यार्थ है, जो दृष्टान्त आपने दिया है, स्वप्नादिज्ञानोंका अर्थात् ज्ञान ही विषयाकारसे परिणत होकर, अपनेको ग्रहण करते हैं, यह जो आपने कहा था, यह ठीक नहीं❀

❀ यहां यह प्रश्न है कि मीमांसा दर्शन धर्माधर्मका विचार करनेके लिए प्रवृत्त है। इसमें बौद्ध मतका निरास किया गया है, इसकी क्या संगति है? इसका धर्म विचारमें कोई उपयोग नहीं।

अभिधीयते—न तावत्स्वप्नादिप्रत्ययाः स्वांशावलम्बनाः, तेऽपि बाह्यार्थमेवान्यथा सन्तमेवान्यथा गृह्णन्तीति वक्ष्यामः। भवतु वा तत्रात्मख्यानं नैतावता नीलादिप्रत्ययास्तथा भवितुमर्हन्ति, तत्र हि नीलमिदं पीतमिदं स्तम्भोयं घटोयमित्येवमिदमाकारास्पदीभूतं बाह्यं नीलादि प्रत्यक्षेणावगम्यमानं न शक्यमनुमानेनाऽपह्नोतुम्। आत्मग्राहित्वे ह्यहं नीलमिति स्यात्।

तदेवं प्रत्यक्षमेव बाह्यार्थमुपस्थाप्य तदपह्नवप्रवृत्तस्यानुमानस्योदयं निरुणद्धि।

क्योंकि) ये ज्ञान बाहर अन्यथा दृष्ट अर्थको अन्यथा ग्रहण करते हैं, इस विषयको शून्यवादमें कहेंगे। इसलिए स्वप्नादि ज्ञान अपनेको ग्रहण नहीं करते, किन्तु स्वातिरिक्त अर्थको ग्रहण कराते हैं। जो अन्यथा है उसे अन्य रूपसे ग्रहण कराते हैं, इसे आगे कहेंगे। (अबतक ज्ञान स्वाकारको ग्रहण करता है इसका निराकरण किया) तुष्यतु दुर्जन-न्यायसे यदि मान लिया जाए कि ज्ञान आत्मख्यान=अपने स्वरूपका ही ग्रहण करते हैं, तो इतना कहने मात्रसे नीलादि प्रत्यय स्वात्मांशका ग्रहण नहीं करा सकते। जाग्रत् अवस्थामें जो यह नील है, यह पीत है, यह स्तम्भ है, यह घट है,इत्यादि इदमाकारके विषय बाह्य नीलादि प्रत्यक्षसे जो ज्ञात होते हैं उनका आप अनुमानसे निषेध नहीं कर सकते। (अब पूर्वपक्षीके मतमें अनुपपत्ति दिखाते हैं कि) यदि ज्ञान नीलाकारसे अपनेको ग्रहण करता तो 'अहं नीलं' ऐसा अनुभव होने लगेगा। (क्योंकि आपके मतमें नीलादि ज्ञानसे अभिन्न हैं, इसलिए यह नील है, इत्यादिसे प्रत्यक्ष अपनेको ग्रहण नहीं कर सकता (उक्त विषयका उपसंहार करते हैं) 'तदेवं' से। तो पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञान अपनेको ग्रहण नहीं करता, किन्तु बाह्यार्थका उपस्थापन कराकर, उसके अपलापके लिए प्रवृत्त अनुमानकी उत्पत्तिको रोक देता है। (अर्थात् 'स्तम्भादिप्रत्यया मिथ्याभूताः, प्रत्ययत्वात्' यह अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित विषय है, इसलिए निरालम्बनत्वका अनुमान नहीं कर सकते)

इसका उत्तर है कि भाष्यकारने 'ननु सर्व एव०' इत्यादि भाष्यसे बाह्यार्थके सद्भावका प्रतिपादन किया है। क्योंकि सभी मीमांसाका विचार बाह्यार्थको लेकर ही होता है। पर बाह्यार्थको योगाचार और माध्यामिक नहीं मानते। योगाचार ज्ञानको तो मानते हैं, पर बाह्यार्थको नहीं मानते। शून्यवादी तो ज्ञानका भी अभाव कर देते हैं। यही इन दोनोंमें अन्तर है। और सिद्धान्तोंमें समानता है। अतः वार्तिकमें कहा है—

'तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं तुल्यं तावत् द्वयोरपि' तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं योगाचाराः समाश्रिताः।
तस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः॥ इति।

अतः बाह्यार्थके विना सिद्ध किए, मीमांसाका विचार संगत नहीं। इसलिए बौद्ध मतका निराकरण करके, बाह्यार्थको सिद्ध करना नितान्त आवश्यक है। इसीको वार्तिककारने कहा है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे पुण्यपापादि तत्फलम्। विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना॥ १॥
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः। वचन-व्यक्ति-भेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता॥ २॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलौक्यैहलौकिकः। सर्वमित्याद्यमुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु॥ ३॥
तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः। अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति॥ ४॥

(श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद)

स्वप्नादिषु तु बाधकेन ज्ञानान्तरेण बाह्यसद्भावनिराकरणाद् युज्येतात्मख्यातिः। न त्विह तथा बाधकमस्त्यन्यत् भवदुक्तादनुमानात्। न चानुमानमलं बाधितुमित्युक्तम्। दूषणसहस्रं चास्यानुमानस्य वार्तिके प्रपञ्चितमित्युपरम्यते।

॥ इति निरालम्बनवादः ॥

एवमनुमाने प्रत्यक्षविरोधेन निराकृते 'प्रत्यक्षस्य बहिः प्रवृत्तौ सामर्थ्यं नास्ति'

और सुनिए—स्वप्नादि प्रत्ययमें बाह्यार्थकी प्रतीति सम्भव नहीं, क्योंकि उसके बाधक जाग्रत प्रत्ययसे बाह्यार्थका निराकरण होनेसे, आत्मख्याति वहाँ बन सकती है। यहाँ प्रकृतमें जाग्रत् प्रत्ययका तो आपके अनुमानके अतिरिक्त और कोई बाधक नहीं; क्योंकि कहा गया है—अनुमान प्रत्यक्षका बाध नहीं कर सकता। और फिर इस अनुमानमें अनेक दोष वार्तिकमें कहे गए हैं❀। इसलिए विराम लेते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोधसे 'स्तम्भादि प्रत्ययाः मिथ्याभूताः' इस अनुमानका निराकरण होनेपर, 'प्रत्यक्षकी बाह्य वस्तुके ग्रहणमें सामर्थ्य नहीं है' इस प्रकारके पूर्वोक्त आक्षेपसे ही 'शून्यस्तु'

❀ अर्थात् वार्तिककारने पक्षादि दोषों द्वारा इस अनुमानका सर्वथा निरास किया है। यहाँ 'सहस्र' शब्द अनेक संख्याका वाचक है 'सहस्राक्षः की तरह। यहाँ निरालम्बन वादीके अनुमानमें 'प्रत्यय' यह पक्ष है। प्रत्यय सामान्यको पक्ष माननेपर सिद्धसाधनता दोष होगा और दृष्टान्त भी सिद्ध न होगा, इसलिए 'जाग्रत्' विशेषण दिया गया है। साध्य 'बाह्यानालम्बनत्व' है। और 'प्रत्ययत्व' हेतु है। यहाँ मीमांसककी दृष्टिसे प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवोंका उपन्यास है। इसमें विपक्ष न होनेसे व्यतिरेकका उपन्यास नहीं किया है। वार्तिकमें इस अनुमानको इस प्रकार दूषित किया है—

जो यहाँ 'प्रत्यय' शब्द पक्ष है, उसका विशेषण है निरालम्बनत्व। यहाँ जो विशेष्य और विशेषण है, उनका ज्ञान निरालम्बन है? या सालम्बन? प्रथम प्रकारमें पक्ष नहीं बन सकता अतः अनुमानमें पक्षका अभाव होगा। और सालम्बनत्व पक्षमें अप्रसिद्ध विशेषण होनेसे, अप्रसिद्धत्व दोष होगा। द्वितीय पक्षमें व्यभिचार दोष लगेगा। इसलिए प्रत्ययका निरालम्बनत्व सिद्ध नहीं हो सकता। और भी बात है कि प्रत्ययमें जो निरालम्बनत्व है, वह पक्षसे भिन्न है? कि अभिन्न? द्वितीय पक्षमें विशेषणत्व सम्भव नहीं। प्रथम पक्षमें भेदग्राहि ज्ञानके अप्रमाण होनेसे भेदसिद्ध नहीं होगा। अत्यन्त असत्की कल्पना होती नहीं। अन्यत्र प्रसिद्धका अन्यत्र निषेध होता है; अतः आपका निरालम्बनत्व आकाश कुसुमके समान अलीक है। इसका अनुमान नहीं हो सकता। क्योंकि अर्थ-क्रियाकारीको ही आप वस्तु मानते हैं। इसमें यदि अर्थक्रियाकारित्व है, तो यह भी सत् हो जाएगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा दोष, साध्य दोष, हेतु दोष, दृष्टान्त दोष आदि अनेक दोष 'अग्राह्यत्वाच्च भेदेन' इत्यादि वार्तिकसे ग्रन्थकारने दिखाए हैं। और पक्ष, प्रत्यय, शब्द, कर्म, भाव, कर्ता, करण आदि साधनमें निष्पन्न है, इस भाव, कर्ता, करण साधन पक्षमें स्ववचनका विरोध होगा। कर्म साधन पक्षमें सिद्ध साधन होगा—

'तथा प्रत्यय इत्येष कर्मभावादि वा वदेत्।
भावादिषु विरोधः स्यात् कर्म चेत् सिद्धसाधनम् ॥' (नि० वा०, का० ४१)

इत्येवं पूर्वोक्ताक्षेपेण—'शून्यस्तु' इत्यादिना स एव शून्यवादी पुनः प्रत्यवतिष्ठते। तदिहैवं चिन्त्यते—यदिदं नीलमिदं पीतमिदमिति नीलाद्याकारं वस्तु प्रथते तत् किं विज्ञानमेव तथा प्रथते ? किं वा बाह्यं वस्तु ? इति। तदर्थमिदं विचार्यते—किं विज्ञानं प्रत्यक्षम्, उतानुमेयमिति। प्रत्यक्षत्वे सति निराकारस्य प्रत्यक्षग्रहणायोगात्,

इत्यादि भाष्य ग्रन्थसे, वे ही शून्यवादी§ (निरालम्बन वादी) पुनः पूर्वपक्ष करते हैं। इस विचार प्रसंगमें 'शून्यस्तु' यह भाष्य है*। मीमांसक उन्हींके विचारोंको कहते हैं कि जो यह नील है, यह पीत है, ऐसे नीलादि आकारसे वस्तु प्रकाशित होती है, तो क्या इसमें ज्ञानका ही प्रत्यक्ष होता है या बाह्य वस्तु है ? इसके लिए यह भी विचार आवश्यक है, कि ज्ञान प्रत्यक्ष है अथवा अनुमेय है ? यदि ज्ञानका प्रत्यक्ष मानते हैं, तो निराकारका प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं होता। (ज्ञान तो निराकार है, उसे साकार मानना होगा, यह नील है, पीत है, इत्यादिमें) एक ही आकार गृहीत होता है

§ मीमांसा दर्शनमें बाह्यार्थकी स्थापना की गई है। इसके लिए भगवान भाष्यकार शबर स्वामीने वृत्तिकारके मतका निरूपण करते हुए पूर्वोक्त हेतुओंका आक्षेप किया और उक्त मतका निराकरण किया। यहाँ निरालम्बनवाद और शून्यवाद ये दोनों पक्ष विज्ञानवादी योगाचार के ही हैं। योगाचार महायान सम्प्रदायके अनुयायी हैं। इनके विज्ञानवादके दो रूप हैं एक निरालम्बनवाद दूसरा शून्यवाद। यह शून्यवाद प्रसिद्ध शून्यवादी माध्यमिक नहीं समझना चाहिए। निरालम्बनवाद और शून्यवाद, इन दोनोंमें कुछ अन्तर है। वह यह कि निरालम्बन वादमें बाह्य विषय नहीं है। और नीलादि जो ज्ञानगत आकार हैं, वे भी नहीं हैं। शून्यावाद पक्षमें तो ज्ञानगत नीलादि आकार हैं। इसीलिए ये निराकारवादी हैं। और निरालम्बन-वादी ज्ञानको निराकार मानते हैं। स्वयं कुमारिल भट्टजी ने निराकरण करते हुए इस विषयका प्रतिपादन किया है। यथा—

'स्वच्छस्य ज्ञानरूपस्य न हि भेदः स्वतोऽस्ति ते' इति। आपके मतमें ज्ञान स्वच्छ है। उसमें परस्पर भेद नहीं है। (श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, का० १८६) शून्यवादमें तो नीलादि आकार होनेसे वासनाका होना सम्भव है। कहनेका तात्पर्य है—निरालम्बनवाद और शून्यवाद विज्ञानवादके ही दो भेद हैं। अतः सर्वशून्यवाद यहाँ नहीं समझना चाहिए।

दूसरी बात है कि अबाधित प्रत्यक्षसे बाह्यार्थ घटादि सिद्ध होते हैं। इनके लिए जो सर्वशून्यवादी माध्यमिक कहते हैं कि अर्थाभावके कारण ज्ञान भी नहीं है, यह उनका कथन हेतुके निराससे ही निरस्त हो जाता है। भगवान शंकराचार्य भी शारीरिक भाष्यमें शाबर-भाष्यके इस विचारसे सहमत हैं।

* 'शून्यस्तु' इस भाष्यमें विशेष्यका निर्देश नहीं। इसलिए निराम्बनवादसे प्रत्ययका अनुषङ्ग होता है। इसका अर्थ है प्रत्यय शून्य ही हैं। अर्थात् बाह्य नीलादि अर्थ है ही नहीं। क्योंकि यह घट है, यह नील है, इत्यादिसे एक ही आकार मालूम पड़ता है, दो नहीं। पूर्वपक्षीके मतमें ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, इसलिए गृह्यमाण नीलादि आकार ज्ञान ही है। इसमें भिन्न अर्थ नहीं है। मीमांसकका सिद्धान्त है कि ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए उसका आकारसे ज्ञान होना सम्भव नहीं। बाह्य नीलादि पदार्थ अपने आकारसे भासते हैं। इसीके आधारपर ग्रन्थकार अपना विचार व्यक्त करते हैं।

साकारस्य[1] चैकस्यैव ग्रहणाद् गृह्यमाण आकारो ज्ञान एवावतिष्ठत इत्यर्थस्यागृह्यमाणत्वादसत्त्वमेव भवति। अनुमेयत्वे तु बाह्यार्थं विनानुमानासंभवाद् बाह्यार्थसिद्धिः।

तत्र—ज्ञानमेवैवमाकारमात्मना प्रथते, कुतः ?।
नाऽप्रत्यक्षस्य तस्यास्ति प्रमाणान्तरतो गतिः ॥ ८ ॥
संवेद्यत्वाच्च नीलादेर्ज्ञानाकारत्वनिश्चयः।
अर्थान्तरस्य च ग्राह्यलक्षणं न हि युज्यते ॥ ९ ॥

यो हि विज्ञानमप्रत्यक्षमिच्छति, तस्य ज्ञानमेव न सिध्येत्, प्रमाणान्तरासम्भवात्। अनुमानमिति चेत् ? न, लिङ्गाभावात्। न तावदर्थो लिङ्गम्, विनापि-

(दो नहीं। यदि दो होते तो एक ज्ञानका आकार, दूसरा अर्थका आकार ऐसा कह सकते थे; पर ऐसा है नहीं। इसलिए निराकार ज्ञान प्रत्यक्ष होनेके योग्य नहीं) अतः गृह्यमाण आकार विषयरूपसे परिणत ज्ञानमें रह जाता है। इसलिए अर्थका ग्रहण न होनेसे वह आकार ज्ञानका ही है, बाह्यार्थका नहीं। (इस प्रकार अर्थका असत्व ही सिद्ध होता है। ज्ञानकी बाह्य वस्तुके ग्रहण करनेमें सामर्थ्य न होनेके कारण, ज्ञान ही प्रत्यक्ष है)

अनुमेय पक्षमें तो अनुमापक कोई हेतु मानना होगा। लिंग-लिंगिभाव भेदमें होते हैं। अतः बाह्यार्थके विना अनुमान तो बन नहीं सकता। उसके लिए अनुमेय ज्ञानसे भिन्न कोई लिंग होना चाहिए। उससे अनुमेय पक्षमें बाह्यार्थकी सिद्धि होती है। इस प्रकार संक्षेपमें पूर्वोत्तर पक्षको कह कर, विस्तारसे प्रतिपादन करनेके लिए, दो श्लोकोंसे पूर्वपक्षका वर्णन करते हैं। श्लोकोंका अर्थ = तत्र = इस परिस्थितिमें, ज्ञान ही नीलादि आकारमें परिणत होकर, अपने रूपसे भासता है। उसमें कारण पूछते हैं—'कुतः प्रथते' इत्यादिसे। ज्ञान ही इस प्रकारसे भासता है, क्यों ? उत्तर है—यदि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अप्रत्यक्ष है, तो उसका प्रमाणान्तरसे भी ज्ञान नहीं हो सकता। 'गतिः' = ज्ञानार्थक है ॥ ८ ॥

नीलादिके संवेद्य होनेसे, नीलादि ज्ञानका ही आकार है, यह निश्चित है। अर्थात् नीलादि ज्ञानका विषय होता है, ऐसा नहीं कह सकते। बाह्य नीलादिका ग्राह्य लक्षण ग्राह्यत्व सिद्ध नहीं होता॥९॥ (क्योंकि ज्ञान आन्तर है, नीलादि बाहर हैं। इस कारणसे बाह्य नीलादिका ग्रहण नहीं होता, किन्तु ज्ञानका ही ग्रहण होता है। वह साकार है, अतएव प्रत्यक्ष है। ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य वस्तुका अस्तित्व नहीं। इस प्रकार संक्षेपसे वर्णन करके, स्वयं व्याख्या करते हैं—) 'यो हि' इत्यादि से। जो भाट्ट मीमांसक ज्ञानको अप्रत्यक्ष मानते हैं (अर्थात् अनुमेय कहते हैं) उनके मतमें ज्ञानकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी। ज्ञानके साधक दूसरे प्रमाणके असम्भव होनेसे। (क्योंकि ज्ञानका साधक प्रमाणान्तर ज्ञान ही होगा, उस ज्ञानकी सत्ता भी प्रमाणान्तरसे सिद्ध होगी। उसकी भी प्रमाणान्तरसे, इसप्रकार अनवस्था होगी। यदि कुछ दूर जाकर ज्ञानको स्वयं प्रत्यक्ष मानें तो प्रथम ज्ञानको ही प्रत्यक्ष मानना उचित होगा)

शंका—यदि ज्ञानका साधक प्रत्यक्ष नहीं होता, तो अनुमान प्रमाण हो सकता है, इसलिए ज्ञानकी सत्तामें अनुमान ही प्रमाण है। अनुमानसे ज्ञान सिद्ध हो जाएगा। अनवस्था नहीं होगी।

उत्तर—अनुपापक हेतु नहीं है। अनुमान स्थलमें अनुमापक हेतुका होना आवश्यक है। यहाँ ज्ञानका अनुमापक हेतु कोई बन नहीं सकता।

१. आकारस्येति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।

तेन सुषुप्त्याद्यवस्थायामर्थसद्भावाभ्युपगमात्। अर्थव्यवहारो लिङ्गम्—स हि कादाचित्कं कारणं कल्पयतीति चेत्? एवं तु प्रागव्यवहाराज्ज्ञानप्रतिभासो न स्यात्। अव्यवहरन्नपि घटं पश्यन् 'जानेऽहं घटम्' इति ज्ञानमनुसन्धत्ते, इति प्रतीतिसाक्षिकम्। अर्थधर्मो ज्ञानजन्मा लिङ्गमिति चेत्? न, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। अतीतानागतयोश्चार्थयोर्धर्माऽसम्भवादतीताद्यनुमाने ज्ञानसिद्धिर्न स्यात्, तस्मादवश्यं विज्ञानं प्रत्यक्षमेषितव्यम्। एवं च तस्यैवायमाकार इति निष्प्रमाणकोऽर्थः।

शंका—बाह्य पदार्थ ही ज्ञानका अनुमापक लिंग है?

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हेतु साध्यका अविनाभावी होता है। बिना साध्यके हेतु नहीं रह सकता। अतः व्यभिचार है। आप मीमांसकोंने बाह्य पदार्थको ज्ञानके बिना भी सुषुप्ति दशामें माना है। अर्थको तो आप मानते हैं, पर व्यभिचारी अर्थसे ज्ञानका अनुमान नहीं हो सकता।

शंका—अर्थ अनुमापक हेतु न हो, अर्थ व्यवहार तो हेतु बन सकता है। जैसे घट व्यवहार घट ज्ञानके बिना नहीं होता है। क्यों कि अर्थ व्यवहार तो कार्य है; वह कदाचित् होता है। वह कादाचित्क कारणकी ही कल्पना कराता है; अतः अर्थ व्यवहारसे ज्ञानका अनुमान हो सकता है।

उत्तर—इस प्रकार अर्थ व्यवहारसे ही ज्ञानका अनुमान होनेपर, अर्थ व्यवहारके पूर्वमें ज्ञानकी प्रतीनि नहीं होगी। क्योंकि व्यवहार न करते हुए भी घटको देखकर, 'मैं घटको जानता हूँ' ऐसा अनुसन्धान करता है। इसमें अनुभव ही साक्षी है। इसलिए ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। न कि अर्थ व्यवहारसे अनुमान करने योग्य है।

शंका—अर्थका धर्म ही ज्ञानका अनुमापक हेतु है§। क्योंकि ज्ञानजन्य विषयनिष्ठ ज्ञातता ज्ञानका अनुमान कराने वाला लिंग है (यहां अनुमानसे अर्थापत्तिको लेना चाहिए ऐसा भी एक मत है, जिसे स्मृत्यधिकरणमें वार्तिकारने बताया है)

उत्तर—यह नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं। और भी बात है कि यह अर्थ-धर्म वर्तमान स्थलमें सम्भव है, क्योंकि वहाँ विषय भी रहता है। जहाँ अतीत विषयका या अनागत विषयका ज्ञान होता है, वहाँ अर्थके न रहनेसे, ज्ञाततारूप धर्मके असम्भव होनेसे, अतीत आदि अनुमानमें ज्ञानकी सिद्धि नहीं होगी। इसलिए ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना चाहिए ज्ञानके प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर, नीलादि ज्ञानका ही आकार हैं। आन्तर ज्ञान ही बाह्य नीलादि आकारसे भासता है, यह मानना होगा। इसलिए प्रमाणके न होनेसे बाह्यार्थ स्वीकार नहीं कर सकते।

---

§ इसका यह आशय है कि ज्ञान होने पर घटादि विषयमें एक अतिशय उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जन्य है, अर्थमें रहता है। वह प्रत्यक्ष है, उसीसे ज्ञानका अनुमान होता है। अर्थका धर्म जो ज्ञान जन्य है, ज्ञातता वही लिंग है। यही ज्ञानका विषयके साथ विषय-विषयी भाव सम्बन्ध जोड़ने वाला है। ज्ञान-जन्य फलके आधारको विषय कहते हैं। विषय-निष्ठ फल-जनकको विषयी कहते हैं। यह ज्ञानका फल है। 'ज्ञातो घटः' यह अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार ज्ञान-जन्य विषयमें होने वाली ज्ञातता ज्ञानका अनुमान करानेमें लिंग होती है।

किं च वेद्यत्वादपि नीलादेर्ज्ञानाकारत्वम्, नह्यनात्मनो नीलस्य पीतवद् वेद्यता सम्भवति। यदि चार्थान्तरं नीलम्, ततोऽस्य किं लक्षणं वेद्यत्वम्? यद्यर्थत्वलक्षणं स्यात्, सर्वं सर्वस्य वेद्यं स्याद्, व्यवस्थाहेत्वभावात्। अथ हेतुत्वं व्यवस्थापकम्—य एवार्थो ज्ञानस्य हेतुः स एव वेद्यो नान्य इति चेत्? न, नेत्रादेरपि वेद्यत्वप्रसङ्गात्। सादृश्यं हेतुत्वं च विषयत्वम्, नीलार्थश्च नीलज्ञानेन सदृशो न नेत्रमिति चेत्? एवमपि समनन्तरप्रत्ययस्य हेतुत्वाद् विज्ञानत्वेन च सादृश्याद्विषयत्वं स्यात्।

उक्त अर्थमें दूसरे हेतुका उपन्यास करते हैं 'किंच' इत्यादिसे। यह नील है, इस अनुभवसे नीलादि वेद्य होनेके कारण, ज्ञानाकार ही हैं। क्योंकि जो वेद्य होता है, वह ज्ञानाकार ही होता है, यह व्याप्ति है। ऐसा न मानने पर नीलादिकी पीतादिके समान वेद्यता न होगी। (अर्थात् यदि नील ज्ञानाकार न हुआ तो, ज्ञानाकार पीतकी वेद्यताके समान नीलकी वेद्यता नहीं बन सकेगी। इसलिए नीलादिके वेद्य होनेसे ज्ञानाकारता नीलादिकी सिद्ध होती है) शंका—यदि नील अर्थान्तर है, तो उसकी वेद्यताका क्या स्वरूप है? उत्तर—अर्थ ही वेद्य है, यदि ऐसा कहें? तो सभी वस्तुएं सभीकी वेद्य होंगी। वेद्यताका व्यवस्थापक कोई हेतु न होनेके कारण। शंका—यदि कहो—कि ज्ञाननिरूपित हेतुता ही व्यवस्थापिका है। अर्थात् जो अर्थ नीलादि ज्ञानका उत्पादक है, वही उस ज्ञानका वेद्य होता है, दूसरा पदार्थ नहीं। इसप्रकार नील ज्ञानके प्रति नील ही कारण होनेसे, वही वेद्य होता है, दूसरा नहीं।

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि रूपादिज्ञानके प्रति नेत्र भी तो कारण हैं, अतः नेत्रादिकी भी वेद्यताका प्रसंग होने लगेगा।

शंका—केवल ज्ञानका हेतु ही उसका वेद्य होता है, दूसरा नहीं, इतना ही नहीं कहते हैं, इससे उपर्युक्त दोष लगेगा। हम तो जो ज्ञानके सदृश होकर कारण भी होता है, उसीको विषय कहते हैं। (अथवा इसे ऐसे कहा जा सकता है, कि सादृश्य और हेतुता ये दोनों वेद्यतामें कारण होते हैं) ऐसा मानने पर नेत्र और नील—दोनोंमें नील ज्ञानके प्रति हेतुता समान होगी, तो भी नीलादि अर्थ ही नील ज्ञानके सदृश हैं, नेत्र नहीं हैं। इससे नेत्र आदिकी विषयताका वारण हो जाता है। अतः सादृश्य और कारणता-दोनो ही वेद्यताके प्रयोजक हैं, यदि ऐसा कहें, तो?

उत्तर—इसप्रकार वेद्यताको प्रयोजक माननेपर समनन्तर प्रत्यय भी वेद्य होने लगेगा (इसका यह आशय है कि पहिले निर्विकल्पक ज्ञान होता है। उसीको समनन्तर प्रत्यय कहते हैं। वह सविकल्पक ज्ञानका कारण है) और ज्ञानत्व दोनोंमें सादृश्य—समान धर्म है। इससे निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञानका विषय होने लगेगा (यह तो आपको इष्ट नहीं है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान विशिष्ट अर्थको विषय करता है, निर्विकल्पक ज्ञानको नहीं)

शंका—उपर्युक्त वेद्यताके प्रयोजकमें असाधारण विषयका विशेषण दिया जाए। असाधारण विषयके आकारसे सादृश्य एवं कारणत्व, दोनों विवक्षित हैं। ज्ञानत्व तो सभी ज्ञानोंमें रहने वाला साधारण है। नीलादि आकार तो किन्हींका असाधारण है। असाधारण विषय नीलादि आकारसे सादृश्यको विषय कहते हैं। तब क्या दोष है?

अथाऽसाधारणेन विषयाकारेण सादृश्यं विषयलक्षणम्—ज्ञानत्वं हि सर्वज्ञानसाधारणं नीलाद्याकारस्तु केषांचिदेवाऽसाधारणस्तेन तदाकारेण सादृश्यं विषयत्वम् ? एवमपि धारावाहिकेषु पूर्वमुत्तरस्य विषयः स्यात् , उभयोर्नीलरूपत्वाद्धेतुत्वाच्च ।

स्यान्मतम्—न सादृश्यं विषयत्वं किन्तु यो ज्ञाने नीलाद्याकारविशेषसमर्पको हेतुः स विषयः, समनन्तरप्रत्ययस्तु न नीलाद्याकाराणां समर्पकः, तथा सति नीलज्ञानानन्तरं सर्वदैव नीलविज्ञानं स्यात् । तत्रैकस्मिन् सन्ताने नीलपीतादिविचित्राकारोदयो न स्यात् । कारणाऽवैलक्षण्ये कार्यवैलक्षण्यायोगात् । नीलपीतादिविचित्रार्थसंनिधिविशेषकृतश्चायं विचित्राकारोदय इत्यर्थस्यैव ग्राह्यत्वम् ।

ननु कार्यभूतज्ञानसमये कारणभूतस्यार्थस्य क्षणिकत्वेनाऽतीतत्वात् कथं प्रत्यक्षग्राह्यत्वम् ? एतदेवार्थस्य ग्राह्यत्वं यज्ज्ञानाकारार्पणक्षमहेतुत्वम् ।

यथाहुः— 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत् ? ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥' इति । (प्रमाणवार्तिक)

उत्तर—असाधारण रूपसे सादृश्य ही विषयताका प्रयोजक है, ऐसा माननेपर यह नील है, यह नील है, ऐसे धारावाहिक ज्ञान स्थलमें पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानका वेद्य = विषय होने लगेगा, क्योंकि दोनों नीलरूप हैं और कारण भी हैं (इसलिए भी ज्ञान ही विषयाकारसे भासता है; अतः बाह्य अर्थ निष्प्रमाणक है)

(अब बाह्यार्थ क्षणिक वादी सौत्रान्तिक मतसे शंका है कि) सादृश्य विषय नहीं है, किन्तु जो ज्ञानमें नीलादि आकार विशेषको समर्पित करता है और कारण भी है, वही विषय वेद्य होता है । समनन्तर प्रत्यय तो उत्तर ज्ञानमें नील आदि आकार विशेषोंका समर्पक नहीं है । ऐसा मानने पर एक बार नील ज्ञान होने पर, सर्वदाके लिए नील ज्ञान ही होता रहेगा । वहाँ एक ज्ञान सन्तानमें विज्ञान धारामें नील–पीत आदि विभिन्न आकारोंका उदय भी नहीं होगा । क्योंकि कारणमें विलक्षणता होनेपर, कार्यमें विलक्षणता होती है । कारणमें विलक्षणता न होनेपर, कार्यमें विलक्षणता नहीं होती । नील-पीत आदि विचित्र पदार्थोंकी सन्निधि विशेषसे यह ज्ञानभेद या विचित्र पदार्थोंका उदय सिद्ध होता है । इसलिए अर्थ ही ग्राह्य होता है ।

(मूलमें 'सन्निधि' पदसे इन्द्रियार्थका संयोग अभिप्रेत है । इसलिए बाह्य-पदार्थ अनुमेय हैं । यह सौत्रान्तिकके द्वारा 'स्यान्मतम्' से कहा गया है)

शंका—ज्ञानरूप कार्यके प्रति आपके मतमें क्षणिक पदार्थ ही कारण है । ज्ञानके पहिले उत्पन्न पदार्थ क्षणिक होनेसे नष्ट हो गया । और कार्यभूत ज्ञानके समयमें कारणरूप अर्थके क्षणिक होनेसे वह अतीत है, अर्थ वहाँ नहीं है । उसका प्रत्यक्षसे ग्रहण कैसे होगा ?

सौत्रान्तिक मतसे उत्तर—ज्ञान कालमें स्थितिमत्ता = वेद्यता नहीं है, अपितु जो पदार्थ ज्ञानमें अपने आकारका समर्पण करनेमें समर्थ है और करण भी है, वही ग्राह्य होता है । उक्तार्थका यह संग्रह श्लोक है 'भिन्नकालं' इत्यादि । श्लोकार्थ—भिन्नकालमें गृहीत होने वाले विषयकी वेद्यता कैसे होगी ? कहते हैं कि स्वाकारको ज्ञानमें अर्पण करनेमें समर्थ है तथा जो कारण भी है, उसीको ग्राह्य कहते हैं । इसलिए यही ठीक है (श्लोकके पूर्वार्धमें शंका है और उत्तरार्धमें समाधान स्पष्ट है)

यद्येवम् कस्यायमाकारो यो वर्तमानः प्रथते ? यदि ज्ञानस्यैव—तर्हि अर्थस्याप्रथमानस्य सद्भावे ज्ञानं प्रति हेतुत्वे च किं प्रमाणम् ? ज्ञानवैचित्र्यमेव, न हि तत्समनन्तरप्रत्ययमात्रात् संभवतीत्युक्तम्। एवं तर्ह्यनुमेयोर्थः कथं प्रत्यक्षग्राह्य इत्युच्यते ? एतदेव हि प्रत्यक्षग्राह्यत्वमर्थस्य यत् साक्षादाकारसमर्पणेन हेतुत्वम्, यस्तु परम्परया ज्ञानाकारसमर्पको हेतुश्च सोऽनुमेयः। तद्यथा—वह्निस्वलक्षणं धूमस्वलक्षणतद्दर्शनतद्विकल्पप्रणाड्या वह्निज्ञानं जनयदनुमेयम्। अत एव प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे, ज्ञानार्थयोर्भिन्नत्वात्। असति तादात्म्ये, तदुत्पत्तिनिबन्धन एव ज्ञानादर्थनिश्चयः। तत्र साक्षादुत्पत्तौ प्रत्यक्षं प्रणाड्या त्वनुमेयमिति[१] द्वे एव विधे। अत एव विषयसादृश्यमेव प्रामाण्यं तदधीनत्वादर्थविशेषव्यवस्थापनस्य। न हि ज्ञानमित्येव नीलवेदनं भवति, पीतादावपि तुल्यत्वात्। नीलिम्ना तु नीलवेदनसिद्धिः। यथाहुः—'न हि संवित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषादविशेषप्रसङ्गात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेत्' इति। तस्मात्साकारे विज्ञाने सिद्धमर्थस्य सत्त्वं ग्राह्यत्वलक्षणं[२] चेति सौत्रान्तिकाः।

शंका—यदि ऐसा है तो यह किसका आकार है ? जो वर्तमान होकर भासता है ? उत्तर-ज्ञानका है। शंका–तब अप्रकाशमान अर्थके होनेमें क्या प्रमाण है ? और वह ज्ञानके प्रति कारण है, इसमें भी क्या प्रमाण है ? उत्तर–ज्ञान वैचित्र्य ही है। (अर्थात् बाह्यार्थके सद्भावमें ज्ञानके प्रति कारण होनेमें यह नील है, यह पीत है, इत्यादि ज्ञानवैचित्र्य ही प्रमाण है) यह समनन्तर प्रत्ययसे (पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञानसे) नहीं हो सकता, यह पूर्वमें कह चुके हैं। शंका—यदि ऐसा है तो अर्थ तो अनुमेय हुआ। तब कैसे कहते हैं कि यह प्रत्यक्ष ग्राह्य है ? उत्तर—यही प्रत्यक्ष ग्राह्यता है अर्थकी जो साक्षात् आकारको समर्पण करते हुए हेतु है। जो परम्परासे ज्ञानमें स्व-आकारका समर्पण करते हुए हेतु है, वह अनुमेय होता है। इसीको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं 'तद्यथा' इत्यादि से। जैसे = वह्नि स्वलक्षणं = वह्नि व्यक्ति या वह्निका स्वरूप, धूम स्वलक्षणं = धूमव्यक्ति, तद्दर्शन = उसका पर्वत आदिमें दिखाई देना, तद् विकल्प = उसका विकल्प। अर्थात् धूम दर्शनके पश्चात् होनेवाला वह्निसे व्याप्य धूम है, तद्वान् यह पर्वत है, ऐसा ज्ञान। इस परम्परासे वह्नि ज्ञानको उत्पन्न कराते हुए वह्निव्यक्ति स्वलक्षणसे अनुमेय है; यह कहा जाता है। अत एव बौद्धोंके मतमें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। ज्ञान और अर्थ दोनोंके भिन्न होनेसे यह प्रमाण भेद है। ज्ञान और अर्थमें भेद होनेसे तादात्म्य नहीं है। अतः तदुत्पत्तिः = कार्य-कारण भाव ही निमित्त है, ज्ञानसे अर्थका निश्चय करानेमें। इसलिए साक्षात् ज्ञानोत्पत्तिमें प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। परम्परासे अनुमान है। ये दो ही प्रकार हैं। विषयसादृश्य ही प्रामाण्य है। वही अर्थ विशेषका व्यवस्थापक है। ज्ञान होनेसे ही नीलका वेदन नहीं होता। (यदि विषय सादृश्य प्रामाण्यका प्रयोजक न होता तो) पीतादिमें भी ज्ञानत्वके समान होनेसे व्यवस्था नहीं बनेगी। नीलसे तो नील ज्ञानकी सिद्धि होती है। (ज्ञानका नीलत्व भी नील विषय सादृश्य ही है। यही कारण है, कि ही नीलसादृश्यसे नीलज्ञान

---

१. अनुमेयमिति 'ख' पुस्तके पाठः। २. ग्राह्यलक्षणमिति 'क' पुस्तके पाठः।

योगाचारमुखेन—उक्तमतस्य खण्डनम्

अत्र वदामः—स्यादिदं ग्राह्यलक्षणं यद्यर्थस्याकारसमर्पकत्वे हेतुत्वे वा प्रमाणं स्यात्, न तु तदस्ति, समनन्तरप्रत्ययविशेषादेव विचित्राकारोदयसंभवात्। तथा हि—त्वयापि हि स्वप्नावस्थायामसत्यप्यर्थसंनिधौ ज्ञानवैचित्र्यदर्शनादवश्यं समनन्तरप्रत्ययकृतत्वमङ्गीकर्तव्यम्। एवं चेज्जाग्रत्प्रत्ययानामपि तथैवास्तु किमर्थग्रहणेन। अतो न हेतुत्वं ग्राह्यलक्षणम्।

अथ ज्ञाननिबन्धनो यत्रोपादानादिव्यवहारः, सविषय इत्युच्यते, तथा सति नीलज्ञानस्य नीलान्तर्गताः परमाणवो रसादयश्च विषयभावमश्नुवीरन्, उपादीयमानत्वात्।

अथ द्रव्यस्यैवोपादानं न गुणानां रसादीनाम्? एवं तर्हि रूपस्यापि विषयत्वं न स्यात्। किं च सुखार्थः सर्वो व्यवहारः, अतोऽनुभूते सुखे न कश्चित्सुखविषयो व्यवहारोऽस्ति। न च सम्भवति यतः सुखप्रतिबद्धव्यवहारानुगुण्यं तद्वित्तेः स्यात्, तथा घ्राणगृहीते गन्धे न कश्चिदुपादानादिव्यवहारोऽस्तीति कथं तस्य विषयत्वम्?

की निष्पत्ति होती है, इसीलिए विषयसादृश्य ही प्रामाण्य है) उक्तार्थमें प्रमाण देते हैं 'यथाहुः' इत्यादिसे। ज्ञानकी सत्तासे ही सभी जगहों पर विशेषता न होनेसे, यह नील ज्ञान है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ज्ञानत्व तो सर्वत्र समान है। इसलिए ज्ञान सत्तासे ही नीलादिका ज्ञान युक्त नहीं है। विषय ज्ञानको अपने आकारसे साकार बना देता है। इसका यह आशय है—विषय ज्ञानमें स्वाकारका समर्पण करता हुआ, अपने आकारसे उस ज्ञानको, स्व-समानाकार बनाकर, निरूपणके योग्य कर देता है। इस प्रकार विज्ञानके साकार होनेपर, अर्थकी सत्ता सिद्ध होती है। और वही ग्राह्य भी होता है। ऐसा सौत्रान्तिकोंका कहना है।

उपर्युक्त सौत्रान्तिक मतका निराकरण करते हैं 'अत्र वदामः' इत्यादिसे। यह जो कहा गया ग्राह्यका लक्षण, अर्थ आकारके समर्पणमें या कारण होनेमें यदि कोई प्रमाण होता तो यह वेद्यत्वका लक्षण बन सकता है। ऐसा तो है नहीं। क्योंकि विचित्र ज्ञानके उदयमें समनन्तर प्रत्यय ही कारण है (उसीसे नील-पीत आदि विचित्र ज्ञानोंका उदय होना सम्भव है, इसी अर्थका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं) आप सौत्रान्तिकको भी स्वप्नावस्थामें अर्थका सन्निधान न होनेपर भी, ज्ञानकी विचित्रताका दर्शन होनेसे अवश्य ही यह ज्ञानवैचित्र्य समनन्तर (निर्विकल्पक ज्ञान) प्रत्ययसे होता है, यह मानना होगा। इसी प्रकार जाग्रत अवस्थाके ज्ञानोंका भी वैचित्र्य समनन्तर प्रत्ययसे हो, अर्थ ग्रहणकी क्या आवश्यकता है? इसलिए कारणता वेद्यताका लक्षण नहीं।

शंका—यदि ज्ञानको लेकर उपादान = ग्रहण आदि व्यवहार जिसमें होता है, वही विषय है, ऐसा कहा जाए? (अर्थात् यह रजत है, ऐसा ज्ञान होनेपर, रजतका ग्रहणरूप व्यवहार होता है; इसलिए रजत ही विषय है)

उत्तर—वैसा माननेपर, नीलके अन्तर्गत परमाणु तथा उसके रसादि भी ज्ञानके विषय होने लगेंगे, क्योंकि उनका भी ग्रहण होता है।

ननु नोपादानमेव व्यवहारः शब्दप्रयोगस्यापि व्यवहारत्वात्, अतो नीलज्ञाननिबन्धनशब्दप्रयोगगोचरत्वान्नीलिम्नो विषयत्वम्, एवं सुखादेरपि। एवमप्युपादानस्यापि व्यवहारत्वात्तद्विषयभूतानां परमाणूनां विषयत्वापत्तिस्तदवस्थैव।

किं च न शब्दप्रयोगवशेन ज्ञानस्य विषयनिरूपणं शक्यं विपरीतत्वात्। अर्थसम्बद्धशब्दप्रयोगो हि लक्षणं न शब्दमात्रप्रयोगः, प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वमेव हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः, अतो यदर्थविषयं ज्ञानं शब्दो जनयति स तस्य वाच्यः, अतो ज्ञानविषयनिरूपणपूर्वकं शब्दविषयनिरूपणम्, तदधीने तु तस्मिन् दुरुत्तरमितरेतरा[1]श्रयमापद्येत।

ज्ञानजन्यातिशयभाक्त्वमेव ग्राह्यत्वमिति चेत्? नासावुपलभ्यते। न च संभवति भूतभविष्यतोरित्युक्तम्।

अथ यत्संप्रयुक्तेन्द्रियम्, ज्ञानं यदव्याप्तलिङ्गजं वा स विषय इति मतम्? ततो नेत्रज-

---

शंका—यदि कहा जाए द्रव्यका ही ग्रहण होता है, रसादि गुणोंका नहीं? उत्तर—ऐसा माननेपर, यह रूप है, इस ज्ञानका रूप भी विषय नहीं होगा। और सुनिए—सुखके लिए सभी व्यवहार हैं; अतः सुखका अनुभव होनेपर, सुख विषयक कोई व्यवहार नहीं होता। यह सम्भव नहीं, कि सुखसे सम्बद्ध व्यवहारकी जनकता उस ज्ञानकी भी हो सके। वैसे घ्राणेन्द्रियसे गृहीत गन्धमें कोई ग्रहण आदि व्यवहार नहीं होता तब उसकी विषयता कैसे होगी?

शंका—यदि कहा जाए ग्रहण ही व्यवहार है, दूसरा नहीं? उत्तर—शब्द प्रयोग भी व्यवहार है, तब नील ज्ञानको लेकर शब्द प्रयोगका विषय होनेसे, नीलको भी विषयता होने लगेगी। इसी प्रकार सुखादिको भी समझना चाहिए। इस प्रकार उपादान भी व्यवहार होनेसे उसके विषय परमाणुओंकी भी विषयतापत्ति ज्योंकी त्यों रह जाएगी। अर्थात् परमाणु भी विषय होने लगेंगे। (अर्थात् 'पारमार्थिकं सुखम्' इत्यादि शब्द प्रयोगरूप व्यवहारका विषय होनेसे सुखादिकी भी विषयता होगी) दूषणान्तर कहते हैं 'किंच' इत्यादिसे। केवल शब्द प्रयोगके द्वारा ही ज्ञानका विषय निरूपण करना सम्भव नहीं, विपरीत होनेके कारण। क्योंकि शब्द प्रयोग अर्थसे सम्बद्ध होता है। विषयके स्वरूपका प्रतिपादक जो शब्द प्रयोग है, वही विषयका लक्षण है। शब्द मात्र का प्रयोग नहीं। क्योंकि शब्द प्रत्यायक होता है, अर्थ प्रत्याय्य होता है। इसलिए प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव ही शब्दार्थका सम्बन्ध है। ज्ञान जिस अर्थको विषय करता है, शब्द उस ज्ञानका जनक होता है। इसलिए वही अर्थ उस शब्दका वाच्य है। इससे ज्ञानके विषयका निरूपण करनेसे शब्दके विषयका निरूपण हो जाता है। शब्द विषयके निरूपणसे ज्ञानका विषय निरूपित होता है। इस प्रकार अन्योअन्य अश्रय दोष दुरुत्तर=अनिवार्य होगा।

शंका—हम प्रकारान्तरसे ज्ञानके विषयका निरूपण करते हैं। ज्ञानसे जिस अर्थमें अतिशय होता है, वही ग्राह्य=विषय होता है। (अर्थात् ज्ञानसे जन्य अतिशयको प्राप्त करनेवाला विषय है 'ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वम्' इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं है) यदि ऐसा कहें तो? उत्तर—यह ज्ञानजन्य अतिशय उपलब्ध नहीं होता। और उक्त विषयता वर्तमान स्थलमें होगी, अतीत तथा अनागतमें नहीं होगी, यह पहिले कह चुके हैं।

---

१. दुरुत्तर इतरेतराश्रय इति 'ख' पुस्तके पाठः।

न्यस्य नीलज्ञानस्य स्पर्शो विषयः स्यात्। अस्ति च स्पर्शस्यापि रूपस्येव संयुक्तसमवाय-लक्षणः सम्बन्धो नेत्रेण। तथा गन्धलिङ्गस्य रसानुमानस्य रूपमपि विषयः स्यात्, रूपेणापि रसेनेव तस्य व्याप्तत्वात्। तस्माज्ज्ञानात्मकत्वमेव नीलादेर्विषयलक्षणमिति सिद्धं तादात्म्यम्।

सहोपलम्भनियमोऽपि ज्ञानार्थयोरनियमव्याप्तं भेदं व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या प्रतिषेधन्नभेदमुपस्थापयति। भिन्नानां घटपटादीनामनियतसहोपलम्भत्वात्। न चाऽसिद्धो वेद्योपलम्भसमये वित्तेरुपलम्भ इति वाच्यम्, उत्तरकालं सहैव ज्ञानेन विषयस्मरणदर्शनात्—'ज्ञातो घटः' इति। न चाननुभूतस्य स्मरणं सम्भवति, तस्मादुत्पत्तिवेलायामेव ज्ञानस्य प्रकाशनमङ्गीकर्तव्यम्। न च निराकारस्योपलब्धिरस्तीति सिद्धं ज्ञानात्मकत्वं

शंका—जिसके साथ इन्द्रिय संयोग होनेपर ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। घट ज्ञानका विषय है घट। इसी प्रकार व्याप्ति विशिष्ट लिंगसे लिंगी = साध्य (अग्नि) का जो ज्ञान होता है, अग्नि ही उस ज्ञानका विषय है, यदि ऐसा माना जाए ?

उत्तर—इससे पूर्वोक्त कथनके अनुसार नेत्रसे जन्य नील ज्ञानका स्पर्श भी विषय होने लगेगा। क्योंकि जैसे रूपका नेत्रके साथ संयुक्त समवाय लक्षण सम्बन्ध है वैसा स्पर्शके साथ भी है, इसलिए अतिप्रसंग होगा।

प्रत्यक्षमें दोष देकर अब अनुमानमें दोष दिखाते हैं 'तथा' से। जहाँ गन्धसे रसका अनुमान होता है, वहाँ गन्ध रसका व्याप्य है। अतः गन्ध लिंगक रसानुमानका रूप भी विषय होने लगेगा। रसके समान रूपकी भी व्याप्ति होनेके कारण (अर्थात् विषयताका अनुगत लक्षण कोई बन नहीं सकता, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष होनेके कारण) अतः नीलादिकी ज्ञानाकारता ही मानना उचित है। इससे नील और ज्ञान दोनोंका तादात्म्य (ऐक्य) सिद्ध हुआ है।

ज्ञान और अर्थ इन दोनोंके अभेदका उपपादन करते हैं 'सहोपलम्भ' आदि से। ज्ञान और अर्थ इन दोनोंके भेदका निषेध करते हुए योगाचार कहते हैं, कि सहोपलम्भ नियम भी अभेदका उपस्थापन करता है। इसका यह अभिप्राय है—जब ज्ञान है तब अर्थ उपलब्ध होता है। जब अर्थोपलम्भ होता है, तब ज्ञान है। इसलिए ज्ञान और उसका विषय—दोनोंकी कालभेदसे उपलब्धि नहीं होती, किन्तु ज्ञान कालमें ही विषयका उपलम्भ होता है। इसलिए ज्ञान और अर्थका सहोपलम्भ नियम सिद्ध है। वह व्यापक विरुद्धोपलब्धिसे भेदका निषेध करते हुए अभेदकी स्थापना करता है। (यथा जहाँ जहाँ भेद है वहाँ वहाँ सहोपलम्भका अनियम है। इसलिए अनियम व्याप्त है भेद। उस भेदका व्यापक है सहोपलम्भ नियमाभाव। उसके विरुद्ध है सहोपलम्भ-नियमाभावाभाव। अर्थात् सहोपलम्भ) उसकी उपलब्धिसे व्याप्य भेदका निरास होता है (अर्थात् ज्ञान और अर्थ इन दोनोंका अभेद प्राप्त होता है) अतः भिन्न घट पट आदिका नियमसे सहोपलम्भ नहीं होता, (ज्ञान और अर्थका तो नियमसे सहोपलम्भ होता है; अतः ज्ञान और अर्थका तादात्म्य ही होना चाहिए। सहोपलम्भ नियमसे भी ज्ञान और अर्थका तादात्म्य सिद्ध होता है) उक्त अनुमानमें हेतु असिद्ध है, क्योंकि विषयकी उपलब्धिके समयमें ज्ञानका उपलम्भ नहीं होता, ऐसा नहीं कह सकते। उत्तर कालमें ज्ञानके साथ 'घट ज्ञात हुआ' इस रूपसे विषय स्मरणका अनुभव होता ही है, क्योंकि जो अनुभूत नहीं है, उसका स्मरण नहीं होता। इसलिए उत्पत्ति कालमें ही ज्ञानका प्रकाशन अवश्य मानना चाहिए।

नीलादेः। अवश्यं च स्वप्नादिबोधे 'बन्ध्यासुतो याति' 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमि'त्यादौ चात्यन्तासम्भवाद्बाह्यस्य ज्ञानात्मकत्वमेवाकाराणामभ्युपगन्तव्यम्, तथा अन्यत्राप्यस्तु, तस्मान्न बाह्यमस्ति। इति प्राप्ते—

अभिधीयते—नीलादिवित्तेरात्मांशग्राहित्वं केन गृह्यते।
नात्मना नान्यसंवित्त्या सापि ह्यात्मावसायिनी ॥ १० ॥

अज्ञानस्थिरचित्रत्वबाह्यत्वादेरनात्मनः।
असतो वा सतो वापि कथं विज्ञानवेद्यता ॥ ११ ॥

विज्ञानवादी हि सर्वमेव विज्ञनमात्मानमेव गृह्णाति, नान्यत्। आत्मनैव च गृह्यते, नान्येन। तस्याप्यन्यस्य स्वात्मपर्यवसायित्वादिति वदति।

यथोक्तम्—'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते' ॥इति॥ (प्रमाणवार्तिक)

शंका—इससे निराकार ज्ञानकी उपलब्धि कैसे होगी ?

उत्तर—(ज्ञानका आकार मानना होगा, ज्ञानके साकार माननेपर, प्रकाशमान घटादि आकार ज्ञानके ही हैं, ज्ञानाकार ही विषय है, बाह्य तो है नहीं, अतः) नीलादि बाह्य पदार्थोंकी ज्ञानात्मकता (ज्ञानाकारता) सिद्ध ही है। अवश्य ही स्वप्नादि ज्ञानमें बाह्यार्थके बिना भी विषयका प्रकाश होता है। और 'बन्ध्यासुतो याति' 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतम्' इत्यादि स्थलोंमें भी बाह्यार्थके अत्यन्त असम्भव होनेसे बाह्य आकारोंकी ज्ञानात्मकता अवश्य माननी ही चाहिए। अतः अन्यत्र जाग्रत् प्रत्ययमें भी बाह्यार्थ ज्ञानात्मक हो है, बाह्य वस्तु नहीं है।

(ऐसा योगाचार द्वारा सौत्रान्तिक मतका खण्डन कराकर, ग्रन्थकार फिर स्वयं योगाचार मतका खण्डन करते हैं) 'अभिधोयते' इत्यादिसे। (आगे वक्ष्यमाण अर्थका संक्षेपसे दो श्लोकों द्वारा प्रतिपादन करते हैं) श्लोकार्थ—नीलादि ज्ञान बाह्य विषयका ही ग्रहण नहीं करता, किन्तु अपनेको भी पुरोवर्तितया ग्रहण कराता है। तब वह विषय किस ज्ञानसे गृहीत होता है ? ऐसा बौद्धसे प्रश्न है। अपनेसे गृहीत होता है, ऐसा कह नहीं सकते। दूसरे ज्ञानसे होता है यह भी नहीं। क्योंकि वह ज्ञान भी आत्मामें ही पर्यवसित होता है। और 'यह अज्ञात घट है' इत्यादि स्थलोंमें ज्ञानके विषय अज्ञानकी ज्ञानाकारता नहीं हो सकती, ज्ञान और अज्ञानमें परस्पर विरोध होनेके कारण। और 'तदेवेदं' = यह वही है, इत्यादि स्थलोंमें ज्ञानका विषय स्थायित्व नहीं हो सकता, क्यों कि ज्ञान क्षणिक है, अतः स्थायित्वका विरोध है। और समूहालम्बन ज्ञानमें चित्रता ही विषय है। नानाकार रूपा चित्रता ज्ञानका आकार नहीं हो सकती। ज्ञानका एक ही आकार है, अनेक तो हैं नहीं। दूसरे 'बाह्यमस्ति' बाहर है, इस ज्ञानमें बाह्यत्व विषय है; उसकी भी ज्ञानाकारता सम्भव नहीं। ज्ञान तो आन्तर है। और यह बाह्यत्व सत् है कि असत् ? इन दोनोकी आपके पक्षमें ज्ञान वेद्यता कैसे सम्भव है ? क्योंकि इन सबका ज्ञानाकार होना सम्भव नहीं। इस प्रकार संक्षेपसे उक्त अर्थ कहकर उसका विस्तार करते हैं—'विज्ञानवादी' इत्यादि से।

विज्ञानवादी यह कहता है कि सभी विज्ञान अपनेको ही ग्रहण करते हैं, दूसरेको नहीं। अपनेसे ही गृहीत होते हैं, दूसरेसे नहीं। क्योंकि उनका भी आत्मांशमें ही पर्यवसान होता है। इसी अर्थको धर्मकीर्तिके वचनसे पुष्ट करते हैं। जैसे कि कहा गया है—

तमेवं वादिनं प्रत्युच्यते—नीलज्ञानस्यात्मावसायित्वं नीलस्य च विज्ञानाकारत्वं केन ज्ञानेन गृह्यते ? न तावदात्मनैव। न हि नीलमिदमित्यत्र स्वात्मपर्यवसायित्वं नीलाकारस्य च ज्ञानात्मकत्वं प्रकाशते, नीलमात्रप्रकाशनात्। संवेद्यत्वग्राह्यलक्षणायोग-सहोपलम्भनियमादिलिङ्गनिमित्तकेन त्वनुमानेनैव तदवगन्तव्यम्। तदपि त्वनुमानमात्मांशग्राहि चेत् ? न ज्ञानान्तरस्य स्वात्मपर्यवसायितां ग्रहीतुमलम्।

अथानुमानं न स्वात्मांशग्राहि ? ततो नीलादिविज्ञानैः किमपराद्धम् ? येन तानीदङ्कारास्पदीभूतबाह्यनीलादिप्रकाशकत्वेनावभासमानान्यपि स्वात्मन्येवावरुध्यन्ते। न हि तदैतद्वक्तुं शक्यम्—नाऽनात्मनः संवेदनं ग्राह्यलक्षणं सहोपलम्भनियमो वा सम्भवतीति। सर्वेषामेवैतस्मिन्नेव भवदीयेऽनुमाने व्यभिचारात्। तत् खल्वात्मानमतिक्रम्य नीलादिवित्तेर्नीलाद्यात्मभूतस्वात्मांशावसायितां गृह्णातीत्यभ्युपगन्तव्यम्। तस्यापि स्वात्मपर्यवसायित्वे नीलबुद्धेस्तद्वशेन स्वात्मांशग्राहिता न सिध्येत्।

'बुद्धि दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करती (अर्थात् ज्ञानका अनुभाव्य दूसरा नहीं, किन्तु स्वरूप ही उसका विषय है) और उस बुद्धिका दूसरा अनुभव भी नहीं होता इसलिए ग्राह्य और ग्राहक दोनोके न होकेके कारण, बुद्धि स्वयं ही स्वरूपसे भासित होती है। अर्थात् स्वयं प्रकाश है। घटाद्याकारसे बाह्य विषय नहीं है, ऐसा जो कहता है, उसके प्रति उत्तर है कि नीलादि ज्ञानका आत्मावसायित्व किस ज्ञानसे गृहीत होता है ? और नीलकी ज्ञानाकारता किस ज्ञानसे गृहीत होती है ? यह तो कह नहीं सकते कि अपनेसे ही होती है। 'यह नील है' इस ज्ञानमें स्वात्मपर्यवसायिता तथा नीलाकार ज्ञानात्मक है, यह भासित नहीं होता। क्योंकि नील मात्रका ही प्रकाशन होता है। यह जो कहा गया है—वेद्यत्व हेतुसे नीलादि ज्ञानाकार हैं; यह ठीक नहीं, क्योंकि संवेद्यत्व ही ग्राह्यत्व है, यह हो नहीं सकता, विषय लक्षणके असम्भव होनेसे। और सहोपलम्भ नियमरूप लिंगके निमित्तसे जो अनुमान होता है, उसीसे स्वाकारका ग्रहण होता है। वह भी अनुमान स्वात्मांशको ही ग्रहण करता है, दूसरा ज्ञान भी स्वाकारको ही ग्रहण करता है, यह कह नहीं सकते।

शंका—यदि कहो अनुमान स्वात्मांशको ग्रहण नहीं करता, किन्तु दूसरे ज्ञानोंको स्वाकार ग्रहण कराता है, तो क्या दोष है ? उत्तर—तब नीलादि ज्ञानोंने क्या अपराध लिया है ? क्योंकि नीलादि ज्ञान भी पुरोवर्ति बाह्य नीलादिके प्रकाशक होनेपर भी स्वात्मांशके ही ग्राहक हैं; ऐसा क्यों कहा जाता है ? (अर्थात् नीलादि ज्ञान भी ज्ञान हैं। अनुमान भी ज्ञान है। ऐसा होनेपर भी अनुमान स्वांशको ग्रहण नहीं करता। नीलादि ज्ञान स्वांश मात्रका ही ग्रहण करते हैं, यह वैषम्य शिद्ध नहीं होता) यह नहीं कह सकते कि अनात्माका सहोपलम्भ नियम या संवेद्यतारूप लक्षण भी नहीं बन सकता, क्योंकि इन सभीका आप द्वारा उपन्यस्त अनुमानमें व्यभिचार होता है। इसलिए वह अनुमान ज्ञान स्वांशको छोड़कर, नीलादि ज्ञानका जो आकार है, उसीके ग्रहणमें चरितार्थ होता है, यह मानना होगा। उसका भी स्वाकार मात्रमें पर्यवसान माननेपर नीलादि ज्ञानका उस अनुमानके बलसे स्वात्मांशका ग्रहण सिद्ध नहीं हो सकता। उक्तार्थमें कुमारिल भट्टके वचनका प्रमाण देते हैं 'आह च' इत्यादि से। (श्लोक ऊपर देखिए) अर्थ = 'यह चैत्र है' इत्यादि

आह च—चैत्रादिप्रत्ययानां च निरालम्बनता यदि ।
धर्मभूता न गृह्येत साधनोत्थितया धिया ॥
ततो विषयनानात्वात् प्रतियोग्यनिराकृता ।
रूपात् सालम्बनप्राप्तिः सती केन निवार्यते ॥ इति ॥
(श्लोकवार्तिकम्, निरालम्बनवाद०, का० ६५)

किं चाज्ञानमित्यस्य ज्ञानस्य ज्ञानाभावो ग्राह्यो न च ज्ञानाभावस्य ज्ञानात्मता सम्भवति अत्यन्तविपरीतत्वात् । तथा—तदेवेदमिति ज्ञाने पूर्वापरकालाऽवस्थायित्वं प्रकाशते, न च क्षणिकस्य ज्ञानस्य स्थायित्वमात्मा सम्भवति । तथा—चित्रबुद्धौ नानाकाराणामवभासः, न चैकस्य ज्ञानस्य नानाकारता सम्भवति ।

नन्वर्थस्यापि स्थायित्वमेकस्य च नानाकारत्वं न सम्भवत्येव । सम्भवतु वा मा वा, ज्ञानात्मना तावन्न सम्भवति । तदसम्भवे चार्थाकारौ वा स्थायित्वचित्रत्वे स्याताम्, अत्यन्तासद्रूपे वा, द्वेधापि ज्ञानानात्मकयोर्ज्ञानेन ग्रहणात् सिद्धं नः समीहितम् ।

तथा बाह्यं नास्तीति निषेधयताऽवश्यं बाह्यं बुद्धावारोपयितव्यम्, ज्ञानातिरिक्तं च बाह्यम् । न च ज्ञानाकारता तस्य संभवति, तस्मादेवमादिसिद्धमर्थमवश्यं विज्ञानानामनात्मग्राहित्वं बलादभ्युपगन्तव्यम्, भवदीयानुमानार्थं च । तदेवं संविद्बलसिद्धस्य

ज्ञानोंकी धर्मभूता निरालम्बनता = स्वांश ग्राहकता, अनुमान के द्वारा गृहीत नहीं होती, स्वात्ममात्रकी ग्राहिका होनेसे । तब विषय नानात्वरूप हेतुसे प्रतियोगीका निराकरण न होनेसे सालम्बनताकी प्राप्तिका कोई निवारण नहीं कर सकता ।

(क्योंकि नीलादि ज्ञानका स्वात्मा ही विषय है । अर्थात् आपके अनुमानकी नीलादि ज्ञानमें रहनेवाली स्वात्म-ग्राहकता विषय है । ऐसे विषय भेद होनेके कारण ज्ञान भी निरालम्बन ही होगा । इन दोनों श्लोकोंका व्याख्यान पारथसारथि मिश्रने यों किया है—उक्त अनुमानके द्वारा निरालम्बनता यदि गृहीत होती, तो ज्ञानका सालम्बनत्व निराकृत हो सकता था, पर ऐसा तो नहीं है । इसलिए नीलादि ज्ञान स्वात्मांशके ग्राहक सिद्ध नहीं होते । इस प्रकार प्रथम श्लोककी व्याख्याकर द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हैं =)

'किंच' इत्यादिसे । 'अज्ञान है' इस ज्ञानका ज्ञानाभाव विषय है । ज्ञानाभाव ज्ञानका आकार कैसे बन सकता है ? क्योंकि इनमें तो अत्यन्त विरोध है । इसी प्रकार 'यह वही है' इस ज्ञानमें पूर्वापर कालमें वस्तुका स्थायित्व गृहीत होता है । वह स्थायित्व क्षणिक ज्ञानका आकार नहीं हो सकता । ऐसे ही चित्र (समूहालम्बन) बुद्धिमें घट-पट आदि नाना आकारोंका भान होता है । एक ज्ञानकी नानाकारता सम्भव नहीं ।

शंका—अर्थका स्थायित्व और एकका नानाकारत्व सम्भव नहीं । सम्भव हो या न हो, कहना इतना ही है कि ज्ञानात्मकता नहीं हो सकती । ज्ञानात्मकताके असम्भव होनेपर अर्थके आकार स्थायित्व और चित्रत्व होंगे या अत्यन्त असद्रूप होंगे । इन दोनों प्रकारोंमें भी जो ज्ञानके अंश नहीं है (स्थायित्व और चित्रत्व) उनका ज्ञानसे ग्रहण होनेके कारण हमारा अभीष्ट सिद्ध हो जाता है; (यह मीमांसकोंका उत्तर है)

बाह्यस्य सम्भवे वेद्यत्वादिभिर्नापह्नवः सम्भवति, बाह्यस्यैव हि तदा संवेद्यत्वं दर्शनबलादभ्युपगम्यते। प्रत्युतात्मन एव संवेद्यत्वं न सम्भवति—नीलादिवित्तीनाम् 'इदं नीलमिदं पीतम्, इत्यनात्मावभासित्वात् आत्मावभासित्वाऽभावात्।

अहंप्रत्ययस्तर्हि ज्ञानावलम्बनो भवतु, सोपि कर्त्रवलम्बनो न ज्ञानावलम्बन इत्यात्मवादे वक्ष्यामः। तथा ग्राह्यलक्षणमपि बाह्यस्यैव यत्किञ्चिदेष्टव्यम्। अन्यथा नीलादिवित्तीनां स्वांशपर्यवसायित्वसाधनार्थस्य त्वदीयानुमानस्य नीलादिवित्तिगतं स्वांशविषयत्वं ग्राह्यं न स्यात, स्थायित्वादयश्च तद्बुद्धीनाम्।

इसी प्रकार बाह्य विषय नहीं है, ऐसा निषेध करनेवालोंको अवश्य ही बाह्य विषयका बुद्धिमें आरोप करना होगा। और वह ज्ञानसे अतिरिक्त है। उसकी ज्ञानाकारता सम्भव नहीं। इसलिए उन स्थलोंमें स्थायित्व और चित्रत्व आदिकी ज्ञानविषयताकी सिद्धिके लिए अवश्य ही ज्ञान अपनेसे भिन्न बाह्य नीलादि पदार्थोंका ग्रहण कराता है, विवश होकर यह मानना होगा। और आपके अनुमानके लिए भी यह श्रेयस्कर होगा। (अर्थात् यदि ज्ञान अपनेसे भिन्नको ग्रहण नहीं करता, तो आपका अनुमान भी अपनेको ही ग्रहण करेगा, नीलादिको ज्ञानाकारसे नहीं बता सकेगा) तो इस प्रकार अनुभवके बलसे सिद्ध, बाह्य विषयके सम्भव होनेपर वेद्यत्व आदि हेतुओंसे बाह्य वस्तुका निषेध नहीं हो सकता। बाह्य वस्तुकी ही वेद्यता अनुभव बलसे मानी जाती है। नहीं तो आत्मनः = ज्ञानकी वेद्यता ही सम्भव नहीं। यह नील है, यह पीत है, इत्यादि ज्ञान अपनेसे भिन्न वस्तुको ही प्रकाशित करते हैं, अपनेको प्रकाशित नहीं कर सकते।

शंका—(ज्ञान बाह्य विषयको प्रकाशित करता है, अपनेको नहीं, यह ठीक नहीं। क्योंकि यह नील है, यह पीत है, इत्यादि ज्ञान बाह्यका प्रकाशक है, ऐसा माननेपर भी 'मैं' यह ज्ञान आत्माको प्रकाशित करता है; आत्माके ज्ञानरूप होनेके कारण। अतः) अहं प्रत्यय ज्ञानको ही विषय करे §।

उत्तर—वह भी कर्ताको विषय करता है, ज्ञानको नहीं, इसका विवेचन आत्मवाद प्रकरणमें किया जाएगा।

वैसे ग्राह्यके लक्षणके समान बाह्य विषयका भी कुछ लक्षण मानना होगा। नहीं तो नीलादि ज्ञान स्वांशको ही ग्रहण करते हैं इस अर्थको सिद्ध करनेके लिए, आप द्वारा कहे गए अनुमानकी, नीलादि ज्ञानके जो स्वांश हैं, उनकी विषयता नहीं बनेगी। और स्थायित्व विषयक ज्ञानके स्थायित्व आदि विषय नहीं बनेंगे। अतः स्थायित्व बुद्धिके या प्रत्यभिज्ञाके स्थायित्व आदि विषय नहीं हो सकते।

---

§. यहां ध्यान देने योग्य है कि भाट्ट मीमांसकोंके मतमें आत्मा ज्ञानसे भिन्न है। वे ज्ञानको आत्मा नहीं मानते; अतः मैं 'जानता हूँ' 'मैं जाता हूँ' इत्यादि स्थलोंमें 'अहं' पदसे कर्ताका ही परामर्श होता है; क्योंकि यदि अहमर्थ आत्मा नहीं है, तो आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होगा। अहमर्थ बुद्धिसे एवं परागर्थ = बाह्य विषयसे, प्रत्यगर्थ – ज्ञाता भिन्न होता है। इसलिए अहमर्थ ही ज्ञाता है। जैसे कि कहा है—

'ज्ञातुरन्यश्च विषयस्तस्य न स्यात्स्वभावतः। अहं प्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता नः सर्वदैव हि' ॥
'अहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्'। (श्लोकवार्तिक, आत्मवाद०, का० १२६)

तल्लक्षणं चेतरेषामुक्तदोषात् ज्ञानजन्यफलभागित्वमेवाश्रयितव्यम्। ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। तच्चफलमैन्द्रियकज्ञानजन्यमापरोक्ष्यम्, लिङ्गादिज्ञानजन्यन्तु पारोक्ष्यमित्युच्यते। अस्ति हि विषयाविषयविभागः, विषयेष्वपि परोक्षापरोक्षविभागः[1] सार्वजनीनः। न च फलमन्तरेणायं विभागः सम्भवतीति तदाश्रीयते। तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिध्यत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्।

अथ वा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति। न ह्यागन्तुककारणमन्तरेणात्मनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति। तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देनाभिधीयते।

अब मीमांसक स्वमतसे—विषय ही ग्राह्य है, इसका लक्षण करते हैं। क्योंकि पहिले कहे हुए 'सदृश्यत्वे सति हेतुत्वं विषयत्वम्' 'यत्सम्प्रयुक्तेन्द्रियजं ज्ञानं यदव्याप्लिगजं वा स विषयः' इत्यादि सब लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे दूषित हैं। अतः विषयत्वका लक्षण करते हैं, कि 'ज्ञानजन्य-फलभागित्व' ही विषयत्वका लक्षण है। ग्राह्यत्व भी वही है। उक्त लक्षणका उपपादन करते हैं 'ज्ञानक्रिया' इत्यादिसे। यहाँ दृष्टान्त है पाकादि। जैसे पाकसे कार्य भूत तण्डुलोंमें विक्लित्तिरूप फल उत्पन्न होता है; वैसे ही ज्ञानसे भी उसके कर्मभूत अर्थमें कुछ फल (अतिशय) उत्पन्न होता है। क्योंकि 'ज्ञान' क्रिया सकर्मिका है, अतः कर्ममें फलको उत्पन्न करना उसका स्वभाव है। और वह फल इन्द्रियजन्य ज्ञानसे होनेवाला अपरोक्ष है। लिंगादि ज्ञान द्वारा जन्य होनेसे वह परोक्ष कहलाता है (परोक्ष—अपरोक्ष प्रकाश विशेष हैं। और यह भी प्रसिद्ध है कि 'ज्ञातो घटः' इस स्थलमें घट ही ज्ञानका विषय है, पट नहीं) ऐसा विषय और अविषयका विभाग है। विषयोंमें भी कोई परोक्ष होता है, जैसे यह घट है। इन्द्रिय सन्निकर्ष होनेपर घटका प्रत्यक्ष होता है। धूम दर्शनसे वह्निज्ञान होनेपर, अग्नि परोक्ष कहलाती है। यह विभाग सकल लोकमें प्रसिद्ध है। नहीं तो फलके बिना यह परोक्ष्यापरोक्ष्य विभाग नहीं बन सकता। इसलिए फल माना जाता है। वही फल स्वयं कार्य होकर, कारणभूत ज्ञानकी कल्पना कराता है। इसलिए ज्ञान अप्रत्यक्ष सिद्ध होता है। (अर्थात् ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले पारोक्ष्य-अपरोक्ष्यरूप फलसे ज्ञानका अनुमान होता है; वही फल अतिशय ज्ञातता, प्राकट्य आदि शब्दोंसे कहा जाता है। अतः ज्ञान अनुमेय ही है प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार फलसे ज्ञानकी सिद्धि करके, ज्ञानके अनुमानके लिए प्रकारान्तरसे कहते हैं) 'अथवा' इत्यादिसे।

आत्मा कर्त्ता है; अर्थ तो कर्म है। इन दोनोंका परस्पर ज्ञानरूपी क्रियाके द्वारा ही व्याप्तृत्व और व्याप्यत्व सम्बन्ध होता है। (अर्थात् विषय तथा आत्माका व्याप्तृ—व्याप्यत्वरूप सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञानके द्वारा विषयको व्याप्त करता है; इसलिए आत्माका व्याप्तृत्व है। विषयका व्याप्यत्व है) यही सम्बन्ध मानस प्रत्यक्षसे गृहीत होता है। इसीसे ज्ञानकी कल्पना होती है। (यहाँ 'कल्पयति' से अनुमान या अर्थापत्तिको समझना चाहिए) इसमें हेतु बताते हैं, कि अर्थ आगन्तुक है। उसके प्रति आत्माका व्याप्तृत्व है; इसका भी कारण आगन्तुक होना चाहिए।

---

१. पारोक्ष्यापरोक्षविभागः, इति 'ख' पुस्तके पाठः।

येपि स्वप्रकाशां संविदमातिष्ठन्ते, तैरप्ययं सम्बन्धो मानसप्रत्यक्षगम्योऽवश्यमभ्युपगमनीयः। अन्यथा 'ज्ञातो मया घटः' इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते। यन्मात्रं हि प्रकाशितं तन्मात्रमेव व्यवहर्तुं शक्यते, नान्यत्।

इह च संविन्मात्रं स्वयं प्रकाशितम्, अर्थोपि तद्वशात्, (ज्ञान) सम्बन्धस्तु केन प्रकाशितः? सोपि तयैव संविदा प्रकाशते इति चेत्? न, तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्यानिष्पन्नत्वात्। प्रकाशकत्वमेव हि संविदो विषयेण सम्बन्धो नान्यः, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमानः सम्बन्धो न तया संविदा शक्यते विषयीकर्तुम्, विरम्य व्यापारासंभवात्। न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य, पुनः सम्बन्धं प्रकाशयितुमर्हति क्षणिकत्वात्।

वह जो कारण है उसीका लोकमें ज्ञान शब्दसे अभिधान किया जाता है। (अतः मैने घट ज्ञान लिया, मैं देवदत्तको जानता हूँ, इत्यादि स्थलोंमें भी धात्वर्थ ज्ञानकी ही कारणता होना उचित है)

शंका—(अब प्राभाकर शंका करते हैं, कि आपने कहा ज्ञान अनुमेय है। यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है, इसलिए ज्ञानको अनुमेय कहना उचित नहीं है)

उत्तर—जो ज्ञानको स्वप्रकाश मानते हैं; उनको भी उपर्युक्त मानस प्रत्यक्षसे ज्ञात व्याप्तृ-व्याप्यत्वरूप सम्बन्ध मानना पड़ेगा। नहीं तो 'मैंने घटको जान लिया है' इस अनुभवमें ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध या ज्ञाता और ज्ञेयका सम्बन्ध व्यवहार योग्य नहीं रह जाएगा। क्योंकि ज्ञानसे जितना प्रकाशित हुआ है, उतना ही व्यवहार कर सकते हैं, अधिक नहीं। (इसलिए स्वयं प्रकाशवादियोंको भी यह सम्बन्ध मानना ही होगा। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए, कि ज्ञान ही विषयको व्याप्त करता है, इस मतके अनुसार ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध कहा गया है। आत्मा ही ज्ञानके द्वारा विषयको व्याप्त करता है, इस मतके अनुसार ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध कहा गया है)

(अब उक्त सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष गम्य है, इस बातका उपपादन करते हैं) 'इह च' इत्यादि से। 'ज्ञातो घटः' इत्यादि स्थलमें, संविन्मात्र=ज्ञान मात्र स्वयं प्रकाशित है। अर्थ भी ज्ञान वशात् प्रकाशित है? विषयका ज्ञानके साथ जो सम्बन्ध है, वह किससे प्रकाशित है? वह भी उसी संवित्=ज्ञानसे प्रकाशित है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी उत्पत्ति अवस्थामें सम्बन्धकी उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानका विषयके साथ प्रकाशत्व ही सम्बन्ध है, दूसरा नहीं। अतः ज्ञान होनेपर, विषयका प्रकाश होता है। उसके अनन्तर उत्पद्यमान सम्बन्धको वह ज्ञान विषय नहीं कर सकता; क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म ये तीनों एक बार काम करके, दोबारा कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते 'शब्द-बुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्' यह न्याय है।

शंका—यों कहा जाए कि ज्ञान पहिले अर्थका प्रकाशन करता है, उसके बाद सम्बन्धको भी प्रकाशित करता है।

उत्तर—नहीं क्योंकि क्षणिक होनेके कारण। (अर्थात् प्रथम क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणमें रहता है, तृतीय क्षणमें नष्ट होता है। इसलिए क्षणिक ज्ञानसे सम्बन्धका प्रकाशन नहीं हो सकता)

अथ सम्बन्धोपि स्वयं प्रकाशत इति मन्येथाः ? नात्र प्रमाणमस्ति । तस्मान्मानसप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहात्मनः सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम् । अस्ति हि कोपि सम्बन्धोऽर्थेन सहात्मनो मानसप्रत्यक्षगम्यः सर्वजनीनः स ज्ञानस्य कल्पकः

अर्थगतो वा ज्ञानजन्योतिशयः कल्पयति ज्ञानम्, अवश्यमङ्गीकरणीयश्चायमतिशयस्त्रितयप्रतिभासवादिभिरपि । त्रितयं प्रतिभासत इति वदता ज्ञानज्ञेयज्ञातृषु त्रिष्वप्यनुगतं प्रकाश[1]पदवाच्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम । तत्र ज्ञानत्वं तावन्नाऽनुगतम्—तद्धि ज्ञाने

शंका—यदि कहा जाए सम्बन्ध भी स्वयं प्रकाशित होता है, ऐसा मानिए ? उत्तर—इसमें कोई प्रमाण नहीं। (सम्बन्ध - सम्बन्धी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता । न वह स्वयं प्रकाश है और न अन्य विषयक ज्ञानसे प्रकाशित होता है) इसलिए वह ज्ञातृ-ज्ञेयरूप सम्बन्ध या व्याप्तृ-व्याप्यत्वरूप सम्बन्ध मानस प्रत्यक्षसे गम्य हैं। अर्थके साथ आत्माका यह सम्बन्ध ही ज्ञानकी कल्पना कराता है । यही पक्ष निर्दोष होनेसे सुन्दर है ।

इसी बातको 'अस्ति हि' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—कोई सम्बन्ध है, जो अर्थके साथ आत्मा को जोड़ता है । वह मानस प्रत्यक्षका विषय है और सर्वलोक प्रसिद्ध है । वही ज्ञानका कल्पक है ।

उक्तार्थका ही प्रकारान्तरसे उपपादन करते हैं 'अर्थ' इत्यादिसे । विषय एवं इन्द्रिय सन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है । उसी ज्ञानसे अर्थमें कोई अतिशय उत्पन्न होता है (अर्थात् ज्ञानसे जो उत्पन्न हुआ अतिशय वह विषयगत होता है) वही अपने कारण-ज्ञानकी कल्पना कराता है❀ ।

'अवश्यमि' त्यादिसे । जो प्राभाकर ज्ञानमें त्रिपुटिका मान मानते हैं, उनको भी यह अतिशय अवश्य मानना होगा । क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता ये तीनों भासते हैं, ऐसा जो कहते हैं, उन्हें भी उक्त तीनोंमें अनुगत, प्रकाश पदसे कहने योग्य, उपर्युक्त अतिशय मानना होगा । क्योंकि इन तीनों

❀ यथा—'ज्ञानजन्योऽर्थगत: कश्चिदतिशय:, प्रकाशनभासनादिपर्यायपदवाच्य: । स च पाकजन्योदनादिगतातिशयवदनवगतेऽपि ज्ञाने शक्यतेऽवगन्तुम्, अतो ज्ञानस्य कल्पक:' इति । अर्थ स्पष्ट है । (द्रष्टव्य—न्यायरत्नाकर, पृ० ३१९) इसी अतिशयको 'ज्ञातता' भी कहते हैं । इसीसे ज्ञानकी कल्पना होती है ।

यह ध्यान देने योग्य है, कि नैयायिक, प्राभाकर, एवं वेदान्ती ज्ञानको प्रत्यक्ष एवं स्वप्रकाश मानते हैं । किन्तु भाट्टका यह सिद्धान्त है कि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु ज्ञाततासे उसकी कल्पना होती है । कुछ लोग इस कल्पनाको अनुमान समझते हैं और इसके लिए पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त आदिका उपन्यास करते हैं । शाबर-भाष्यमें भी इसके लिए अनुमान शब्दका प्रयोग किया गया है । वार्तिक कारने 'अनु पश्चान्मानमनुमानमर्थापत्तिः' ऐसा अर्थ वार्तिकके स्मृत्यधिकरणमें किया है । 'मानमेयोदय' कारने भी प्राकट्यनिरूपण-प्रसंगमें अर्थापत्तिको ज्ञानकी कल्पनामें प्रमाण माना है । यह वहाँका सन्दर्भ है—'बुद्धिपुनरर्थप्रकाशापरनामधेयप्राकट्यान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिगम्या' (द्रष्टव्य मानमेयोदय, पृ० २४८)

और 'प्रमाकरणं प्रमाणं' इसमें 'प्रमा' शब्दसे लक्षणावृत्तिके द्वारा उसका कार्य प्राकट्य कहा जाता है । प्राकट्य रूप प्रमाका करण होनेके कारण ज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं । इसलिए भाट्ट मीमांसक फलप्रमाणवादी कहलाते हैं ।

१. प्रकाशनमिति 'ख' पुस्तके पाठः ।

एव न ज्ञातृज्ञेययोः। ज्ञेयत्वमपि ज्ञेय एव न ज्ञातृज्ञानयोः। ज्ञातृत्वं ज्ञातर्येव न ज्ञानज्ञेययोः।

व्यवहारविषयत्वं प्रकाशमानत्वमिति चेत्? न, संविदि व्यवहाराभावाद्, विनष्टत्वात्। शब्दप्रयोगो व्यवहार इति चेत्? न, उक्तदोषत्वात्। तदवश्यं प्रकाशनभासनादिपर्यायो धर्मविशेषस्त्रिष्वप्यनुवृत्तो गोत्वमिव गोव्यक्तिष्वस्ति। स च धर्मो ज्ञातरि ज्ञेये च ज्ञानवशाज्जायते, ज्ञानस्य तु स्वाभाविकोऽग्नेरिवौष्ण्यमिति स्वप्रकाशं ज्ञानम्। इतरौ परप्रकाश्यावित्याश्रयणीयम्। तन्निमित्तं च विषयस्य विषयत्वम्। व्यवहारादीनां हि विषयलक्षणत्वं प्रागेव दूषितम्।

एकदेशिना तु—व्यवहारनिबन्धनविषयताङ्गीकरणे रजतवित्तेः शुक्तिका विषयः स्यात्, न चैवमिच्छन्ति। तदेवमविवादसिद्धेऽर्थगतेऽतिशये तेनैव ज्ञानस्यानुमानं पूर्वोक्तेन

का संज्ञानत्व ज्ञानमें ही रहता है, ज्ञाता और ज्ञेयमें नहीं। वैसे ज्ञेयत्व भी ज्ञेयमें ही रहता है, ज्ञान और ज्ञातामें नहीं। ज्ञातृत्व भी ज्ञातामें ही रहता है, ज्ञान और ज्ञेयमें नहीं। (कहनेका तात्पर्य है केवल हमें ही नहीं, अपितु त्रिपुटी प्रतिभासवादी प्राभाकरोंको भी, इन तीनोंमें अनुगत कोई धर्म मानना होगा; और वह अतिशय ही है)

शंका—व्यवहारका विषय होना, यही धर्म मानिए, अतिशयको मत मानिए। वही धर्मको प्रकाश मानता है। तब क्या दोष है?

उत्तर—नहीं, संवित् = ज्ञानमें व्यवहार नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो नष्ट हो गया है।

शंका—शब्द प्रयोग ही व्यवहार है, उसका विषय जैसे नष्ट घट भी होता है, वैसे विनष्ट ज्ञान भी शब्द प्रयोगका विषय होगा। इसलिए शब्द प्रयोगको ही व्यवहार माना जाए?

उत्तर—नहीं, उसमें दोष कह दिया गया है§। अतः अवश्य ही गो व्यक्तियोंमें गोत्वकी तरह ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता इन तीनोंमें अनुगत धर्म विशेष मानना होगा। जो प्रकाशन-भासन आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है। वह धर्म ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंमें ज्ञानसे उत्पन्न होता है। ज्ञानका तो वह स्वाभाविक धर्म है, जैसे अग्निकी उष्णता। इसलिए ज्ञान स्वप्रकाश है।

दूसरे दोनों—ज्ञेय और ज्ञाता पर प्रकाश्य होते हैं, ऐसा मानना होगा। उसीको लेकर विषयको भी विषयता = प्रकाश मानता सिद्ध होती है। व्यवहार आदिका विषयत्व लक्षण पहिले ही दूषित किया गया है।

(अब एक देशीय प्राभाकर मीमांसकके मतमें दोष देते हैं 'एक देशिनान्तु' इत्यादिसे) प्राभाकर मीमांसक विषयका लक्षण करते हैं, कि व्यवहारका विषय होना ही विषयत्व है 'व्यवहारभाक्त्वं विषयत्वम्'। यदि व्यवहारको लेकर ही विषयता है, ऐसा मानें तो, रजत ज्ञानका शुक्ति-खण्ड विषय होने लगेगा, पर वे ऐसा चाहते नहीं। उक्तार्थका उपसंहार करते हैं 'तदेवमित्यादिसे'। इस प्रकार निर्विवादसे सिद्ध जो घटादि विषयगत अतिशय है, उसीसे ज्ञानका

---

§ पूर्व ग्रन्थमें—शब्द प्रयोगके अनुसार ज्ञानका विषय निरूपण नहीं कर सकते, विपरीत होनेके कारण, ऐसा कहा गया है। यथा—'किञ्च न शब्दप्रयोगवशेन ज्ञानस्य विषयनिरूपणं शक्यं विपरीतत्वात्' इति।

वा मानसप्रत्यक्षगम्येन सम्बन्धेन सम्भवति। अतिक्रान्तदिवसगतदशत्वादिसंख्यावच्चाऽसतोर्भूतभविष्यतोरविद्यमानत्वेपि धर्मिणः प्रकाशनधर्मो जायत इति प्रमाणबलादभ्युपगम्यते। अतो न प्रत्यक्षत्वं संविदोऽभ्युपगन्तव्यम्।

विज्ञानवादखण्डनम्

न च प्रतीतिबलादपि प्रत्यक्षत्वम्—अर्थावभाससमये संविदः प्रतिभास एव नास्ति, नतरामापरोक्ष्यम्। एवं च सहोपलम्भस्यैवाऽभावात् तन्नियमो य उक्तः, स दूरापास्त इति प्रत्युक्तमेतत्—'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' इति।

यत्तु पश्चात् स्मरणस्य दर्शनाज्ज्ञानमपि प्रागनुभूतमिति तदप्यसिद्धम्—अर्थ एव हि तदा स्मर्यते, तत्स्मरणाच्च तदैवार्थव्याप्तिरात्मनो मनसावगम्यते, तद्वशाच्च तदाऽर्थे तावज्ज्ञानं कल्पयति। तस्य च ज्ञानस्येन्द्रियादिकारणाभावात् स्मृतित्वं निश्चित्य, स्मृतिकारणभूतं पूर्वज्ञानं तदैव कल्पयतीति नास्य स्मरणम्।

अनुमान होता है। या पूर्वमें कहेहुएके अनुसार, मानस प्रत्यक्षसे जो सम्बन्ध गम्य होता है, उसीसे ज्ञानका अनुमान सम्भव है।

शंका—ज्ञान-जन्य विषयनिष्ठ अतिशय, विषयके वर्तमान स्थलमें सम्भव है। जो अतीत विषय है और अनागत है, उन विषयोंके अब न रहने कारण, अतिशय कैसे बनेगा? अतः अतिशय पक्ष मानना ठीक नहीं।

उत्तर—जो दिन बीत चुके हैं, उनका दशत्वादि संख्याके समान, धर्मीके न रहनेपर भी, अनुभवरूप प्रमाणके बलसे उपर्युक्त अतिशय माना जाता है। अतः ज्ञानकी प्रत्यक्षता नहीं मान सकते।

शंका—ज्ञान प्रत्ययके रूपमें प्रतीत होता है, इसलिए ज्ञानके प्रकाशके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं। क्योंकि अर्थ प्रकाशके समय विषय मात्र ही प्रकाशित होता है, उस समय ज्ञानका भान ही नहीं होता। तब अपरोक्षत्वकी बात ही क्या है (अतः ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता।)

सिंहावलोकन न्यायसे विज्ञानवादीका पुनः निरास करनेके लिए सहोपलम्भ नियमका जो उपन्यास कहा गया है, वह दूरसे निरस्त है। इससे यह जो कहा गया था, कि नील और उस ज्ञानके ऐक्यका सम्पादन करनेके लिए जो हेतु कहा गया है—सहोपलम्भ नियम, वह सम्भव नहीं। अर्थात् सहोपलम्भ नियम भेदका साधक है, ऐक्यका नहीं, इसलिए वह हेतु निरस्त है)

शंका—बादमें स्मरण होनेसे, ज्ञान भी पूर्वानुभूत है? (अर्थात् स्मरणतो अनुभूतका ही होता है, अननुभूतका नहीं। 'मैंने घटको जान लिया है' इस स्थलमें घटके समान ज्ञानका भी स्मरण होता है। इसलिए ज्ञानका अनुभव भी प्राप्त है। अतः ज्ञान प्रत्यक्ष गम्य ही है। तब उसका अनुमान कैसे होगा?)

उत्तर—यह भी असिद्ध है। क्योंकि उस समय अर्थका ही स्मरण होता है। उसके स्मरणसे उसी समय आत्माका घटादि अर्थके साथ सम्बन्ध विशेष मनसे ज्ञात होता है। (वह सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष गम्य है, इसलिए अर्थका ही स्मरण होता है। यथा 'अनुभूतोऽयं मया स्मर्यमाणो घटः'—स्मर्यमाण घटका मैंने पहिले अनुभव किया है) इस प्रकारके ज्ञानकी कल्पना

इतश्च न नीलादेर्ज्ञानात्मकत्वम्, अनुमानादिषु विषयाकाराणां परोक्षत्वात्, ज्ञानस्य च सर्वत्र प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, न हि परोक्षापरोक्षयोरेकत्वं संभवति[1]। एवमत्यन्तासद्रूपत्वेनाभिमतस्य स्थायित्वादेः सद्रूपज्ञानात्मकत्वमत्यन्तासम्भाव्यम्। तथा भूतानुमानेषु भूतत्वमवभासते न च वर्तमानस्य ज्ञानस्य भूतत्वमात्मा संभवति।

भिन्नत्वेपि ग्राहकाद् ग्राह्यस्य ज्ञानमेवातीतमुत्तरस्य ग्राह्यं नार्थ इति चेत्? न, प्रामाणाभावात्। अत्र चातीतं त्रेधा विकल्प्य 'अतीतं यच्च विज्ञानम्' इत्यादिना दूषणमुक्तम्। उत्तरमपि त्रेधैव विकल्प्य 'द्व्याकारकल्पनायां च' इत्यादिना दूषणमुक्तमिति

कराता है। ऐसे विषयका ही स्मरण होता है, ज्ञानका नहीं, ऐसा क्यों? इन्द्रिय सन्निकर्ष न होनेके कारण. उस ज्ञानको स्मृति मानकर, उसके कारण भूत पूर्वानुभवकी कल्पनाकी जाती है। इसलिए ज्ञानका स्मरण नहीं होता (वह अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नहीं)

शंका—अनुमानादि स्थलमें अनुमेय विषयका आकार परोक्ष होता है, और आपके मतमें सर्वत्र ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। इसलिए परोक्षापरोक्ष, अनुमेय-अनुमान-दोनोंका ऐक्य तो सम्मव नहीं। उसी प्रकार प्रत्यक्ष स्थलमें भी नीलादिकी ज्ञानात्मकता सम्मव नहीं (क्योंकि अनुमानादिमें विषयाकार परोक्ष होता है)

उत्तर—परोक्ष-अपरोक्षका ऐक्य नहीं हो सकता। आपके मतमें अत्यन्त असद्रूपसे सम्मत स्थायित्व आदिका सद्रूप ज्ञानात्मक होना, अत्यन्त असम्भव है। इसी प्रकार अतीत = भूत विषयक अनुमान स्थलमें भूतत्व भासित होता है। वह भूतत्व वर्तमान ज्ञानका स्वरूप नहीं बन सकता। (अर्थात् ज्ञान और विषय दोनोंका ऐक्य नहीं हो सकता)

शंका—ग्राह्य-ग्राहक दोनोंमें भेद मानने पर भी ज्ञान भिन्न बाह्य नहीं है, किन्तु भूतानुमानादि स्थलमें अतीत ज्ञान ही उत्तरका ग्राहक है (अर्थात् पूर्वज्ञान ग्राह्य है, उत्तर ज्ञान ग्राहक है) इसलिए बाह्यार्थ नहीं है।

उत्तर—नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं। इस प्रसंगमें श्लोक वार्तिकमें अतीत ज्ञानके तीन विकल्प किए हैं—यह ग्राह्य है अथवा ग्राहक या दोनों है, ऐसे तीन बिकल्प करके—

'अतीतं यच्च विज्ञानं ग्राह्यत्वेन प्रकल्पितम्। तस्माद् ग्राहकरूपं वा ग्राह्यं वोभययापि वा'॥

(श्लोकवार्तिक, शून्यवाद प्रकरण, का० १६३-१६४)

फिर दूषण दिया है कि (अतीत और उत्तर दोनों विषयोंका ग्राहकरूप मानने पर ग्राह्य नहीं होगा। ग्राह्य मानने पर ग्राहक नहीं बनेगा। दोनोंके माननेपर परस्पर विरोध है) इसलिए ज्ञान और अर्थकी एकताका प्रतिपादन करनेवाला और ज्ञानकी प्रत्यक्षताका प्रतिपादन करतेवाला योगाचार मत अयुक्त है❀।

❀ मूलमें 'इदमपि वैभाषिक मतमयुक्तमेव' ऐसा पाठ है। यहां वैभाषिक पदका मुख्य अर्थ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वैभाषिक बाह्यार्थको मानता है। अतः वैभाषिक पदका योगाचार ही अर्थ समझना चाहिए, बौद्धत्व सादृश्यसे।

१. युक्तमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

विवेचनीयम्। तस्मादिदमपि वैभाषिकमतमयुक्तमेव। तस्माद्बाह्यार्थाकार एव नीलादिर्न ज्ञानाकारः।

कथं तर्हि स्वप्ने? तत्रापि बाह्यमेव देशकालान्तरगतमदृष्टोद्बोधितसंस्कारवशात् स्मर्यमाणं निद्रादूषितमनस्कतया भ्रान्त्या संनिहितदेशकालमिव मन्यते। विस्पष्टं चैतद-नन्तरदिवसानुभूतस्य स्वप्ने वर्तमानावभासदर्शनात्, अन्यत्रापि स्वप्ने तथाङ्गीकर्तुं युक्तम्। शिरश्छेदोऽप्यन्यत्रावगतः स्वसबन्धितया दोषवशादवगम्यते। सर्वत्र संसर्गमात्र-मसदेवावभासते। संसर्गिणस्तु सन्त एव। सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः। असत्ख्यातिवादिनस्तु संसर्गिणोऽप्यपलपन्तीति विशेषः। शुक्तिरजतवेदनेपि विद्यमानैव

अनागत भावी ज्ञानके भी तीन विकल्प करके = 'द्वयाकारकल्पनायां च' इत्यादिसे दोष कहा गया है, ऐसा विवेक करलेना चाहिए§। इसलिए नीलादि बाह्यार्थका ही आकार हैं, ज्ञानाकार नहीं।

शंका—तो स्वप्नमें वस्तु व्यवस्था कैसे होगी? (अर्थात् स्वप्नमें प्रतीयमान नीलादि बाह्य वस्तुका अकार नहीं हो सकते, क्योंकि स्वप्नमें बाह्य वस्तु है ही नहीं। अतः जैसे स्वप्नमें नीलादि ज्ञानका ही आकार हैं वैसे जाग्रद अवस्थामें भी ज्ञानाकार ही वस्तु क्यों न मानली जाए?)

उत्तर—स्वप्नमें भी देशान्तर या कलान्तरमें अदृष्टके द्वारा संस्कारोंका उद्बोधन होता है। कुछ स्मरण होता है। उससे मन निद्रारूप दोषसे दूषित हो जाता है। तब भ्रमसे लोग सन्निहित देश, सन्निहित कालकी तरह समझने लगते हैं। अतः वहाँ भी नीलादि बाह्य वस्तुएं अन्यत्र हैं। ज्ञानाकार नहीं। यह स्पष्ट है कि पूर्व दिनमें अनुभूत विषयका दूसरे दिन रात्रिमें स्वप्नावस्थामें वर्तमानके समान भान होता है। इसलिए दूसरे स्वप्नोंमें भी वैसा ही मानना उचित है। स्वप्नमें स्मर्यमाण सिरश्च्छेदन आदि, जो अन्यत्र देखा गया है, निद्रारूप दोषके कारण आत्म-सम्बन्धितया ज्ञात होता है।

अब अपने शास्त्रकी मर्यादा बताते हैं 'सर्वत्र' इत्यादि से। सभी स्थलोंमें विद्यमान पदार्थोंका ही सम्बन्धमात्र, असदेव = अविद्यमान हो भासता है। संसर्गि पदार्थ तो सन्तः = विद्यमान ही हैं। इसीको मीमांसकोने विपरीत ख्याति कहा है। (पदार्थोंका विपरीत रूपसे भान होनेके कारण। जैसे अजादिसे सम्बन्धित देखा गया शिरश्च्छेदन, आत्म सम्बन्धितया भासित होता है)

(असत्ख्यातिवादि = शून्य वादियोंका तो कहना है कि जैसे अविद्यमान संसर्ग ही भासित होता है, वैसे संसर्गि भी असत् ही भासित होते हैं। इन्हींके लिए मूलमें ग्रन्थकारने कहा है।) असत्ख्याति वादी तो संसर्गि (पदार्थों) का भी निषेध करते हैं। यही मीमांसक और शून्यवादी बौद्धोंमें अन्तर है।

'शुक्तिमें यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है। वह भी विद्यमान रजतमें रहने वाली रजतत्त्व जाति है। वह विद्यमान शुक्ति खण्डका स्वरूप न होने पर भी, दोषवशात् आत्मतया = रजताकारतया भासती है। (यहां भी रजतत्त्व ज्ञानाकार नहीं)

---

§ इस मूल ग्रन्थको समझनेके लिए वार्तिकके इस प्रकरणको ध्यानमें रखना चाहिए—
द्वयाकारकल्पनायां च परस्यात्मांश एव ते। प्रमापर्यवसानेन नाऽतीतो विषयो भवेत्॥
पूर्वग्राह्यसरूपत्वे ग्राहकत्वं प्रहीयते। ग्राहकाकारमात्रत्वे स्याद्विषयो नाऽसरूपतः॥
(श्लोकवार्तिक, शून्यवाद प्रकरण, का० १६८-१७६)

रजतत्त्वजातिर्विद्यमानस्यैव शुक्तिकाशकलस्यानात्मभूतैवात्मतयावगम्यते। तथा बन्ध्यासुतादिष्वपि विद्यमान एव सुतशब्दार्थो बन्ध्यान्विततया तत्पदसंनिधिदोषादवगम्यते।

यत्तु कैश्चिदेवमादपु तदाकारावभासमपह्नुत्य, विवेकाग्रहणमेव भ्रान्तिरित्युक्तम्, तत् संविद्विरोधादेवोपेक्षणीयम्। को हि नामाङ्गलिनिपीडितदृष्टिश्चन्द्रद्वित्वं न प्रकाशत इति ब्रूयात्। किं चैक एवायं चन्द्रो न द्वावित्येवं द्वित्वविवेकं चन्द्रस्य विस्पष्टमनुसंदधानस्य

इसी प्रकार—'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एषवन्ध्या सुतो याति शशश्रृंगधनुर्धरः'॥

इत्यादि स्थलोंमें भी विद्यमान ही सुत शब्दका अर्थ सम्बन्धसे अन्वित होकर भासता है। अतः 'बन्ध्यासुत' में बन्ध्या शब्द सन्निधिरूप दोषसे युक्त है। ('आदि' पदसे स्वप्नमें निद्रा दोष है। शुक्ति रजत ज्ञानमें चाकचिक्य दोष है, ऐसा समझना चाहिए*। इस प्रकार भ्रम स्थलोंमें ग्रन्थकार अपना सिद्धान्त स्थिर करके, प्राभाकर मीमांसकोंके मतका निराकरण करते हैं।

प्रभाकर मतमें 'यह रजत है' इत्यादि स्थलमें इदन्त्वेन शुक्तिका प्रत्यक्ष होता है। चाकचिक्यसे अदृष्टके द्वारा रजतका स्मरण होता है। और 'नेदं रजतं' से न ज्ञानका बाध होता है, न विषयका, किन्तु ज्ञान प्रवर्तित व्यवहारका बाध होता है। अतः प्रवृत्तिके प्रति उनके मतमें अनुभव तथा स्मरण दोनोंका विवेकाग्रह ही कारण है। इसीको वे लोग भ्रान्ति कहते हैं। क्योंकि वे सब ज्ञानोंको यथार्थ मानते हैं। इसका विवेचन 'नयवीथी' में किया गया है उसीका निरास करते हैं 'यत्तु' इत्यादिसे)

शंका—कोई (प्राभाकर मीमांसक) उपर्युक्त स्थलोंमें शुक्तिके रजतत्त्वाकारके भानका निषेध करके, विवेकाग्रहको ही भ्रान्ति कहते हैं।

उत्तर—यह उनकी व्यवस्था ठीक नहीं। क्योंकि अनुभवके विरुद्ध होनेसे यह मत उपेक्षाके योग्य है। और फिर कौन कहता है कि अंगुलीसे आँखको दबानेपर दो चन्द्रमा दिखाई नहीं देते। और एक ही चन्द्रमा है, दो नहीं हैं। इस प्रकार चन्द्रगत द्वित्वका स्पष्ट रूपसे अनुसन्धान करनेवाले पुरुषको, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो द्वित्वका भ्रम होता है, उसमें विवेकाग्रह ही निमित्त है, यह कैसे हो सकता है?

---

* बौद्ध असत्ख्याति वादी कहलाते हैं। मीमांसक विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति वादी हैं। इसी अर्थका वर्तिककारने निरालम्बनवादके निरास प्रसंगमें विशदरूपसे वर्णन किया है। यथा

स्वप्नादिप्रत्यये बाह्यं सर्वथा न हि नेष्यते। सर्वत्रालम्बनं बाह्यं देशकालान्यथात्मकम्॥
जन्मन्येकत्र भिन्ने वा तथा कालान्तरेऽपि वा। तद्देशो वान्यदेशो वा स्वप्नज्ञानस्य गोचरः॥
अलातचक्रेऽलातं स्याच्छीघ्रभ्रमणसंस्कृतम्। गन्धर्वनगरेऽभ्राणि पूर्वदृष्टं गृहादि च॥
पूर्वानुभूततोयं च रश्मितप्तोषरं तथा। मृगतोयस्य विज्ञाने कारणत्वेन कल्प्यते॥
द्रव्यान्तरे विषाणं च शशस्यात्मा च कारणम्। शशश्रृंगधियो मौण्ड्यं निषेधशिरसोऽस्य च॥
वस्त्वन्तरैकसंसृष्टः पदार्थः शून्यताधियः। कारणत्वं पदार्थानामसद्वाक्यार्थकल्पने॥
अत्यन्ताननुभूतोपि बुद्धया योऽर्थः प्रकल्प्यते। तस्योत्पत्तौ कथंचित्स्युः पृथिव्यादीनि कारणम्॥
(श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, का० १०७-११४)

चक्षुषा द्वित्वभ्रमो जायमानः कथं विवेकाग्रहणनिमित्तः स्यात्[1] ? एवमवगतदिक्कस्य दिग्भ्रमो नानिमित्तः सम्भवति ।

कथं पुनर्द्वित्वस्यावगमः ? न संस्मरणं तद्धेत्वभावात्[2] । न ग्रहणम्, अप्राप्तस्य चक्षुषा ग्रहणासम्भवात् । उच्यते—देशद्वयं नेत्रेण प्राप्तं चन्द्रश्च । तयोश्च संसर्गो दोषवशादवगम्यते । देशद्वयं[3] चन्द्रं च प्रतीत्य देशगतं द्वित्वं दोषवशाच्चन्द्रेऽध्यवस्यति । तथैव पित्तवर्त्तिपीतत्वं शङ्खस्वरूपं च चक्षुषा गृह्णन् दोषवशात् सम्बन्धं बुद्ध्यत इत्यवगन्तव्यम् ।

किं च यदि सम्यग्रजतबोधे तादात्म्यमवभासते, न शुक्तिरजतवेदने, ततोवभास्यभेदादवभासस्य वैलक्षण्यं प्रागेव बाधकादनुसन्धातुं शक्नुयात्, वैलक्षण्यावगमाच्च न प्रवर्तेत ।

इसी प्रकार जिस पुरुषको यह पूर्व दिशा है, ऐसे दिशाका ज्ञान हुआ है*, उसे भी दिग्भ्रम होता है । वहाँ भी विवेकाग्रह निमित्त नहीं है । अतः विवेकाग्रह भ्रान्तिका कारण नहीं हो सकता ।

शंका—द्वित्वादि भ्रमका यदि विवेकाग्रह कारण नहीं है, तब द्वित्वादि अनुभव कैसे होगा ? द्वित्वादिका स्मरण तो होता नहीं । उसका कोई कारण न होनेसे द्वित्वका ग्रहण (प्रत्यक्ष) भी नहीं होता, क्योंकि असन्निकृष्ट द्वित्वका चक्षुसे ग्रहण होना सम्भव नहीं । (यह विवेकाग्रह वादी प्राभाकरके मतमें ही उक्त दोष है)

अब सिद्धान्त बताते हैं—'उच्यते' इत्यादिसे । दोनों देश नेत्रसे सम्बद्ध हैं और चन्द्रमा भी उन दोनोंसे सम्बद्ध है । संसर्ग दोषके कारण ज्ञात होता है । दोनों देश और चन्द्रमाको जानकर, देशगत द्वित्वके दोषके कारण चन्द्रमामें उसका आरोप होता है (इसलिए विवेकाग्रह भ्रान्तिका कारण नहीं)

इसी प्रकार 'यह शंख पीत है' यहाँ भी पित्त द्रव्यमें रहनेवाला पित्तत्व चक्षुसे गृहीत होता है । और शंख-स्वरूप भी गृहीत होता है । तब पित्तदोषसे इन दोनोंके सम्बन्धको मनुष्य जानता है, ऐसा समझना चाहिए ।

उक्तार्थमें दूसरी युक्ति देते हैं 'किंच' इत्यादिसे । सत्य रजतके ज्ञानमें यदि तादात्म्यका भान होता है, तो शुक्ति-रजत ज्ञानमें तादात्म्यका भान नहीं होता । तब विषयका भेद होनेसे ज्ञानका भेद बाधक ज्ञानके पहिले ही नहीं जाना जा सकता । यदि कोई भेदको जानेगा तो रजतके ग्रहणमें वह प्रवृत्त नहीं होगा (होता तो है । इसलिए सत्य रजत ज्ञानके समान, शुक्ति-रजत ज्ञानमें भी रजतत्वका तादात्म्य दोषसे भान होता है । अतः विवेकाग्रह न होना, ही भ्रान्ति है)

(अब प्रकारान्तरसे प्राभाकरके मतमें विपरीतख्याति होने लगेगी, यह अनिष्टकी आपत्ति देते हैं) 'किंच' इत्यादिसे । और सुनिए—यदि रजतको चाहनेवाला शुक्तिके ग्रहणको अपना कार्य समझता है, तो अकार्यका कार्य रूपसे भान होनेके कारण, उसके मतमें विपरीत ख्याति होने

---

* अवगत दिक्कस्य = अवगता दिक् येन वह अवगत दिक्क है । अर्थात जिसे दिशाका ज्ञान है; यह अवगत दिक्क शब्दका अर्थ है । यह पुरुषका विशेषण है ।

१. सम्भवतीति 'क' पुस्तके पाठः ।

२. पूर्वमनुभवस्याभावादित्यर्थः । ३. देशद्वये इति 'ख' पुस्तके पाठः ।

किं च यदि रजतार्थी शुक्तेरुपादानं कार्यतयावगच्छेत्, ततोऽकार्यस्य कार्यतया भानाद्विपरीतख्यात्यापत्तिः। अथ नावगच्छेत्? न प्रवर्तेत, तत्कार्यावगमाधीनत्वात् प्रवृत्तेः।

अथ कार्यत्वानवगमेपि तत्कार्यावगतिसादृश्यात् प्रवृत्तिः? ततस्तत्कार्यत्वानवगमेनाकार्यावगतिसादृश्यमप्यस्तीति निवृत्तिरपि स्यात्, सादृश्ययोरविशेषात्। न चासति कारणे कारणसदृशं तत्कार्यं साधयितुमर्हति, मा सीषधच्छुक्तिका रजतकार्यमाभरणम्।

ननु व्रीहिकार्यमपूर्वं नीवाराः साधयन्ति? नैवम्, व्रीह्यंशा एव तत्र कार्यं कुर्वन्ति, ते च विकलाः सन्तोऽप्यशक्त्यवस्थायां तत्साधनत्वेन यथाशक्तिप्रयोगविधानादवगता[1] इति नाऽकारणात् तत्सदृशात् कार्योत्पत्तिः।

अथ त्वकार्यानवगतिरेव प्रवृत्तेः कारणम्? ततो बाह्या अपि वेदार्थे प्रवर्तेरन्, अकार्यत्वानवगमात्। अथ त्वकार्यमेव तेऽवगच्छेयुः? ततः कार्यस्याऽकार्यतयाऽवगमाद्वि-

लगेगी। यदि नहीं जानता है, तो शुक्ति-शकलके ग्रहणमें प्रवृत्त नहीं होगा। क्योंकि प्रवृत्तिके प्रति (प्राभाकर मतमें) कार्यताका ज्ञान कारण होता है (उसके न रहनेसे प्रवृति नहीं होगी)

शंका—यदि कहें कार्यताका ज्ञान न रहने पर भी कार्यता ज्ञानके सादृश्यसे प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानें तो क्या दोष हैं? उत्तर—यह नहीं कह सकते, क्योंकि कार्यताका ज्ञान न रहने पर, अकार्यता ज्ञानका सादृश्य तो है ही। तब निवृत्ति क्यों नहीं होगो? दोनों सादृश्योंके समान होनेके कारण जब कारण नहीं है, तो कारणके सदृश दूसरा पदार्थ उस कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता। अन्यथा रजतके कर्य आभूषण आदिको शुक्ति-शकल क्यों सिद्ध नहीं करता? (इसलिए कार्यत्व सादृश्य ज्ञानसे प्रवृत्तिका होना सम्भव नहीं)

(कारण सदृश दूसरा हेतु उस कर्यको नहीं सिद्ध करसकता, इस बातको सहन न करते हुए पुनः शंका करते हैं) 'ननु०व्रीहि०' इत्यादिसे। व्रीहि-जन्य अपूर्वरूप कार्यको नीवार (धान्य) सिद्ध करते हैं। अतः कारण सदृश दूसरा पदार्थ उस कार्यको नहीं कर सकता, यह कहना ठीक नहीं।

उत्तर—यह नहीं कह सकते, क्योंकि नीवारमें भी व्रीहिके अंश रहते हैं। वे ही वहाँ अपूर्वको उत्पन्न करते हैं, नीवार नहीं। वे ही व्रीह्यांश विकल होते हुए अशक्ति अवस्थामें भी, उस अपूर्वके साधनके रूपमें यथा शक्ति प्रयोगके विधानसे ज्ञात होते हैं। अतः जो कारण नहीं हैं, किन्तु कारणके सदृश हैं, उनसे अपूर्वरूप कार्य उत्पन्न होता है। (अर्थात् व्रीहिके अभावमें नीवारोंसे ही हवि बनाना चाहिए, यह शास्त्रसे ज्ञात होता है)

शंका—यदि कहा जाए अकार्यताको न जानना ही प्रवृत्तिका कारण है, (अतः यह अकार्य नहीं है, इस ज्ञानसे शुक्तिके ग्रहणमें प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिए कार्यता ज्ञानका सादृश्य प्रवृत्तिके प्रति कारण नहीं)

उत्तर—ऐसा होने पर बौद्ध आदि भी वेद प्रतिपाद्य यागादि अर्थमें प्रवृत्त होनें लगेंगे। क्योंकि उनको भी यागादि अकार्य ही हैं, यह निश्चय नहीं है; अकार्यताका अज्ञान होनेके कारण।

शंका—बौद्ध आदि भी वेदार्थको निश्चितरूपसे अकार्य ही जानते हैं (इसलिए उनकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती)

१. प्रयोगाभिधानादिति 'ख' पुस्तके पाठः।

परीतख्यातिरित्यास्तां तावत्। तस्मात्स्वप्नादिष्वपि बाह्यस्यैवान्यथाभूतस्यैवान्यथावभासात्[1] सिद्धं सर्वत्र बाह्यालम्बनत्वम्।

योगाचारोक्तानुमानस्य निरासः

अथ स्वप्नवत् प्रत्ययत्वात् स्तम्भादिज्ञानमन्यथाभूतमित्यनुमीयते[2] ? तदसत्, तथा सति प्रत्ययत्वाविशेषात् त्वदीयमप्यनुमानं मिथ्या स्यात्। मिथ्यात्वग्राहिणोऽनुमानस्याऽमिथ्यात्वे वा तत्रैव हेतोर्व्यभिचारः। तस्मात्सूक्तम्—'यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्यः' इति (शा० भा०)। तस्माद्व्यभिचारात् प्रत्यक्षं न परीक्षितव्यम्।

॥ इति शून्यवादः ॥

उत्तर—कार्यको अकार्य समझनेके कारण (गलेपतित न्यायसे) विपरीत ख्याति ही सिद्ध होगी, अतः बसकीजिए। अब उक्तार्थका उपसंहार करते हैं—इसलिए स्वप्नादिरूप भ्रम स्थलोंमें भी बाह्य वस्तु ही अन्यथा दृष्ट अन्यथा रूपसे भासित होती है, यह सिद्ध है। और भ्रम मात्रमें बाह्य विषय ही आलम्बन होता है, ज्ञान मात्र नहीं।

शंका—विज्ञानवादीने स्वपक्षके समर्थमें जिस अनुमानका उपन्यास किया था, वह इस प्रकार है—'स्तम्भादि प्रत्यय बाह्यालम्बन शून्य हैं, प्रत्ययत्व होनेसे, स्वप्न प्रत्ययकी तरह

उत्तर—यह असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने पर, आपके द्वारा उपन्यस्त अनुमानमें भी प्रत्ययत्व हेतु समान है। अतः आपका अनुमान भी अप्रमाण होगा।

शंका—यदि विज्ञान वादी बौद्ध कहें—मिथ्यात्वको सिद्ध करने वाला अनुमान मिथ्या नहीं है, तो क्या दोष है ?

उत्तर—आप द्वारा उपन्यस्त हेतुका आपके अनुमानमें न होना ही व्यभिचार है (इसी प्रसंगमें भाष्यसे उक्तार्थका समर्थन करते हैं) इसलिए भाष्य कारने ठीक ही कहा है कि 'जिस पुरुषकी करणेन्द्रिय दोषयुक्त है, उससे जन्य-ज्ञान मिथ्या होता है। और जहाँ 'यह मिथ्या है' ऐसा प्रत्यय होता है, वही असमीचीन (मिथ्या) प्रत्यय है, दूसरा नहीं। इसलिए व्यभिचार न होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणकी परीक्षा करना अनावश्यक है।

यह शून्यवाद खण्डन समाप्त हुआ।

(इस प्रकार प्रत्यक्ष खण्डका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

---

१. बाह्यस्यैवान्यथाभूतस्येति पाठो 'ख' पुस्तके नास्ति। २. अन्यथाज्ञानमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

प्रत्यक्षस्य सत्संप्रयोगजन्यत्वलक्षणेन लोकसिद्धेनाऽव्यभिचारमुक्त्वा, इदानीमनुमानादेरप्यव्यभिचारार्थं लोकसिद्धमेव लक्षणमाह 'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्श-

---

(भाष्यकारने प्रकरणानुसार अनुमानादिका भी लक्षण किया है। इसका कारण है कि भगवान सूत्रकारने 'सत्सम्प्रयोगे' इत्यादि सूत्रसे प्रत्यक्ष मात्रका लक्षण किया है। यह उपलक्षण है, ऐसा मानकर अनुमानादिका भी लक्षण भाष्यमें वर्णित है। ग्रन्थकार भी इस ग्रन्थमें सब प्रमाणोंका लक्षण करनेके लिए भाष्यमें कहे हुए अनुमान लक्षणका ही उपन्यास करते हैं 'अनुमानं' इत्यादिसे) अर्थ = जिस धूमरूप एक देशका व्याप्तिरूप सम्बन्ध महानसादिमें देखा गया है, उसे पर्वत आदिमें देखनेसे, दूसरा जो एक देश चक्षु आदिके असन्निकृष्ट, व्यापक साध्य विषयक ज्ञान है उसको अनुमान = अनुमिति कहते हैं॥

॥ भाष्यकार वृत्तिकार मतके निरूपण प्रसंगमें प्रत्यक्षका लक्षण कहकर, अनुमानका लक्षण करते हैं 'अनुमानम्' इत्यादिसे। इस भाष्य सन्दर्भको कुछ लोगोंने महर्षि जैमिनिका सूत्र मानकर व्याख्यान किया है, किन्तु यह उनका सूत्र न होकर भाष्य ही है। श्रीराम मिश्र द्वारा सम्पादित 'शास्त्रदीपिका' में 'अनुमानं'··· ···से लेकर 'बुद्धि:' के अन्तमें नं० ॥ ६ ॥ लगाया है। इसका अर्थ है उन्होंने इसे सूत्र माना है। इसी प्रकार गागाभट्ट जी ने भी 'भाट्टचिन्तामणि' पृ० ३० पर, 'इति सूत्रेणोक्तम्' ऐसा कहा है। शास्त्र-लक्षणमें भी गागाभट्टने सूत्र मानकर सूत्र शब्दसे ही व्यवहार किया है, परन्तु है यह मूल भाष्यका ही सन्दर्भ।

यहाँ अनुमान शब्द अनुमिति परक है। ज्ञात सम्बन्धस्य = इत्यादि उसका लक्षण है। 'ज्ञातसम्बन्ध' यह समस्त पद है। ज्ञात: सम्बन्धो येन = जिस पुरुषने दृष्टान्तमें व्याप्य और व्यापक दोनोंका व्याप्तिरूप सम्बन्ध जान लिया है, वह पुरुष ज्ञात सम्बन्ध है। उस पुरुषको एक देश व्याप्ति विशिष्ट हेतुके दर्शनसे चक्षु आदिके असन्निकृष्ट, दूसरे एक देशी, व्यापक वह्नि आदिरूप अर्थमें जो बुद्धि होती है, वह अनुमिति कहलाती है।

अथवा 'ज्ञात: सम्बन्धो यस्य स ज्ञातसम्बन्ध:' व्याप्य-व्यापकका सम्बन्ध महानस आदि सपक्षमें देखा गया है। उस महानसादिके धूमको पर्वत आदिमें देखनेसे दूसरे एकदेश अग्नि आदि विषयक बुद्धि। इस प्रकार 'ज्ञातसम्बन्ध' पदोमें दो प्रकारका समास हुआ। उसमें प्रमाता या एकदेशी यहाँ उपात्त नहीं है; इसलिए ज्ञातसम्बन्ध शब्दका दर्शनके विशेषण एकदेशके साथ अन्वय है। अर्थात् ज्ञातसम्बन्ध जो एकदेश है धूमादि, उसके पर्वतरूप पक्ष आदिमें दर्शनसे, चक्षु आदिका अविषयरूप जो अर्थ व्यापक अग्नि आदि, तद्विषयक जो बुद्धि उसे अनुमान कहते हैं—'ज्ञात: सम्बन्धो यस्यैकदेशस्य धूमाख्यस्य दर्शनादेकदेशान्तरे चक्षुराद्यसन्निकृष्टेऽर्थे या बुद्धि: तदनुमानमिति'

शंका—जैसे प्रमाता पुरुष या एक देशी महानस आदि दृष्टान्त, ये दोनों किसी शब्दसे उपात्त नहीं हैं, अत: ये दोनों समासार्थ नहीं हो सकते, वैसे एक देशी भी शब्दसे उपात्त नहीं है। यदि कहाजाए एकदेश शब्दसे उपात्त है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एकदेश शब्द दर्शनका विशेषण है, अत: वह अन्योपसर्जन है। इसलिए उसकी प्रधानता नहीं हो सकती। क्योंकि पदार्थ पदार्थसे अन्वित होता है, पदार्थतावच्छेदकसे नहीं। अर्थात् विशेषणसे नहीं।

नादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः'। यस्य यादृशस्य येन यादृशेन सह साक्षाद्वा प्रणाड्या वा यादृशः सम्बन्धः—संयोगः, समवायः, एकार्थसमवायः, कार्यकारणत्वम्, अन्यो वा[१]

उसीकी संगतिके लिए प्रत्यक्षका लोक सिद्ध सत्सम्प्रयोगजत्व लक्षण कहा है। उसमें व्यभिचार दोष नहीं है। अब अवसर संगतिसे अनुमानादिका भी व्यभिचार रहित लोक सिद्ध लक्षण करते हैं 'यस्य' इत्यादिसे। यस्य=जिस धूमका, यादृशस्य=अनुच्छिन्न मूलादि दृष्टान्तमें नियत है। जिस वह्निके साथ साक्षात् या परम्परासे जो सम्बन्ध होता है,

---

उत्तर—प्रधान भी सापेक्ष होनेपर दूसरेसे अन्वित होता है। इसलिए 'राजपुरुष शोभनः' और 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इत्यादिकी तरह सम्बन्ध होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं। अथवा 'ज्ञातश्चेति सम्बन्धश्चेति' कर्मधारय समास मानें तो कोई दोष नहीं। यहाँ सम्बन्ध शब्दसे व्याप्तिको लेना है। क्योंकि श्लोकवार्तिकके अनुमान प्रकरणमें 'व्याप्तिका लक्षण सम्बन्धका अंग होता है' ऐसा कहा गया है। यद्यपि सम्बन्ध दो में होता है; तथापि व्याप्य-लक्षण सम्बन्धकी सम्बन्धिमें ही समवेत व्याप्ति होती है। संयोगकी तरह यह उभय समवेत नहीं है। इसीलिए धूम ही गमक होता है। व्यापक वह्नि गम्य होती है। वार्तिकमें कहा है कि—

सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिंगधर्मस्य लिंगिना। व्याप्यस्य गमकत्वं तु व्यापकं गम्यमिष्यते॥
व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः। अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः॥
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणः॥ इति॥ (श्लोकवा०, अनुमान खण्ड)

ग्रन्थकारने भी 'नियतो ज्ञातः' इसे सम्बन्धका विशेषण मानकर, उक्तार्थको सूचित किया है। व्याख्या प्रसंगमें संयोगादिके कथनसे प्रायशः इस प्रकारका सम्बन्ध यहाँ वहाँ पर्यवसन्न होता है, यह अभिप्राय है। अतः 'सिद्धान्तचन्द्रिका' कारने ग्रन्थकारके ऊपर जो आक्षेप किया है, वह यहाँ लागू नहीं होता। इसलिए 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इस विशेषणसे ज्ञात ही सम्बन्ध अनुमानका अंग है।

'असन्निकृष्ट' पदसे यह कहा गया है, कि जिस रूपसे अनुमान करना चाहते हैं, उस रूपसे या उसके विपरीत रूपसे प्रमाणसे निर्णीत होने पर उसका वह पक्ष (साध्य) नहीं होता। इस पक्षाभासकी व्यावृत्तिके लिए 'असन्निकृष्ट' विशेषण दिया है। शास्त्रदीपिका कारने यादृश तादृश शब्दोंको हेतु साध्यके विशेषण के रूपमें कहा है। उसका यह अर्थ है कि दृष्टान्तमें जो हेतु साध्यका रूप देखा गया है, उससे कम नहीं होना चाहिए। इस अर्थको न्यायरत्नमालाके पृ० ७५ पर देखना चाहिए। वार्तिकमें अनुमान परिच्छेद का० १०–११ देखिए।

इस प्रकार भाष्यके आधारसे अनुमानका लक्षण करते हुए, वार्तिककारने विशेषणोंके द्वारा पक्ष दोष, हेतु दोष, दृष्टान्त दोष, साध्य दोष आदिका विस्तारसे वर्णन किया है। विशेष जिज्ञासुओंको 'श्लोकवार्तिक' का अनुमान परिच्छेद देखना चाहिए।

मानमेयोदयकारने तो 'व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम्' ऐसा अनुमानका लक्षण किया है। उसमें भी 'ज्ञातसम्बन्ध' विशेषणको लगाकर समन्वयात्मक अनुमान करना चाहिए।

१. तादात्म्यलक्षणः।

दृष्टान्तधर्मिषु नियतो ज्ञातः, तं तादृशं साध्यधर्मिषु दृष्टवतस्तस्मिंस्तादृशो तादृशसम्बन्धसम्बन्धिनि प्रबलेन प्रमाणेन ताद्रूप्यतद्विपर्ययाभ्यामपरिच्छिन्ने या बुद्धिः, सानुमानम्। यथा धूमस्यानुपरतोर्ध्वगमनस्याग्निसाहित्यं महानसादिषु नियतमुपलब्धवतः पर्वते तद्दर्शनादग्निज्ञानम्।

अनुमाने प्रामाकरमतम्

ननु नियमावधारणाधीनत्वे कथं ताद्रूप्येणापरिच्छिन्ने प्रवृत्तिः? ईदृशो हि नियमः—यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्राग्निः, यद्यद्रसवत्तत्तद्रूपवदिति। एवं चेत्? यावद्धूममग्निसद्भावोऽवगत एवेति नापरिच्छिन्नविषयत्वमनुमानस्य संभवतीति। अत एव चोद्या-

---

वह कहीं संयोग होता है, कहीं समवाय होता है, कहीं एकार्थसमवाय होता है, कहीं कार्य-कारण भाव होता है। या दूसरा (तादात्म्य) जो दृष्टान्तों (सपक्षों) में नियमसे ज्ञात हुआ है, उस हेतुको साध्यधर्मी पक्षमें देखकर, वह्निमें तादृश धूम सहकारी, काष्ठादिसे पैदा होनेवाले व्याप्यके साथ जो कार्य-कारणभावादि सम्बन्ध हैं, वैसे सम्बन्धिमें तद्वत्वेन या तदभाववत्वेन, प्रबल प्रमाणसे अज्ञात विषयमें जो बुद्धि होती है, वही अनुमान है§।

दृष्टान्त—जो विना विच्छेदके ऊपर उठ रहा है धूम, उसका महानसादि सपक्षोमें, अग्नि साहचर्य जिसने नियमसे ग्रहण किया है, उस पुरुषको पर्वतमें धूम दर्शनसे अग्निका ज्ञान होता है, यही अनुमान है।

शंका—अनुमानके प्रति नियमावधारण (व्याप्ति - निश्चय) को कारण माननेपर, ताद्रूप्येण = तद्वत्वेन = अग्निवत्वेन, प्रमाणान्तरसे अज्ञात वह्निमें अनुमानकी प्रवृत्ति कैसे होगी?

उत्तर—ऐसा नियम है कि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। जो जो रसवान् है, वह वह रूपवान् है। इति।

शंका—ऐसा माननेपर, जितने धूमके अधिकरण हैं, उन सभीमें अग्निका सद्भाव मालूम हो ही गया। इसलिए अनुमानकी अपरिच्छिन्न विषयता (अज्ञात विषयता) नहीं हो सकती।

उत्तर—इसी प्रश्नसे डरते हुए कुछ लोग (प्राभाकर मीमांसक) अनुमानको गृहीत-ग्राही मानते हैं। और कहते हैं, कि भाष्योक्त अनुमान लक्षणमें 'असन्निकृष्ट' पदका जो ग्रहण है, वह

---

§ अर्थात् यज्जातीय—एक धूम व्यक्तिको महानसादि दृष्टान्तोंमें देखकर, उस व्याप्तिके बलसे पर्वतमें धूमको देखकर, वहाँ वह्निका अनुमान होता है। उसमें सिद्धि प्रतिबन्धिका होती है। सिद्धि साध्य विनिश्चयको कहते हैं। यदि अनुमान कालमें 'पर्वतो वह्निमान' यह सिद्धिरूप अनिश्चय रहेगा तो, अनुमिति नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'पर्वतमें अग्नि नहीं है' ऐसे व्यतिरेक या साध्याभावका निश्चय होनेपर भी 'पर्वतो वह्निमान' यह अनुमिति नहीं होती। यह अर्थ भाष्यस्थ 'असन्निकृष्ट' पदसे कहा गया है। इस अभिप्रायका सूचक यह वार्तिक है। यथा—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्। ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्ययतोपि च॥
प्रमितस्य प्रमाणे हि नापेक्षा जायते पुनः। ताद्रूप्येण परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम्॥
वैपरीत्यपरिच्छिन्ने नावकाशः परस्य तु। इति। वार्तिकका अर्थ स्पष्ट है।

(श्लोकवार्तिक, अनुमान परिच्छेद, का० ७५–९५)

द्विभ्यतः केचिदसंनिकृष्टग्रहणं स्मरणाभिमाननिरासार्थं व्याचक्षते गृहीतग्राहित्वमेवानुमानस्य स्वीकुर्वाणाः। तथापि नाऽप्रामाण्यम्, नह्यगृहीतग्रहणं प्रमाणलक्षणम्। अनुभूतिर्हि तल्लक्षणम्। अनुमानं च गृहीतग्राहित्वेपि प्रत्युत्पन्नलिङ्गकारणजन्यत्वेन संस्कारमात्रजन्यत्वाभावादनुभूतिरेवेति युक्तमस्य प्रामाण्यम्।

अथ स्मृतिप्रमोषः कस्मान्नाश्रीयते? प्रत्युत्पन्नकारणसद्भावात्, संस्कारातिरिक्तकारणासद्भावेन हि 'इदं रजतम्' इत्यत्रानुभवरूपस्यापि रजतज्ञानस्य बलात् स्मृतित्वमाश्रित्य प्रमोषोऽङ्गीकृतः। अत्र तु लिङ्गस्यानुभवकारणस्य सद्भावादयुक्तं प्रतीतिसिद्धस्यानुभवरूपस्यापह्नवेन स्मृतिप्रमोषाङ्गीकरणमिति।

सोयमेषामकारणकत्रासः, तथा हि—यदि हि यावद्व्याप्यं व्यापकसद्भावोऽवगतः स्यात्ततो गृहीतग्राहित्वमाशङ्क्येतापि, न त्वेवमस्ति। महानसादिष्वेव हि दृष्टान्तधर्मिषु प्रागनुमानाद् धूमस्याग्निसाहित्यमवगतम्, न सर्वत्र, प्रमाणासंभवात्। यथा चासंभवस्तथा न्यायरत्नमालायामेव प्रपञ्चितम्।

स्मरणाभिमानके निरासके लिए है। 'अतः अनुमान गृहीत-ग्राहि होनेपर भी प्रमाण माना जाता है' ऐसी व्याख्या करते हैं। ऐसा होनेपर भी अनुमानका अप्रामाण्य नहीं है। क्योंकि अगृहीतार्थका ग्रहण (अर्थात् अज्ञातार्थका ज्ञापन) प्रमाणका लक्षण नहीं, किन्तु अनुभूति ही प्रमाणका लक्षण है। अनुमानके गृहीत-ग्राहि होनेपर भी, पक्षमें रहनेवाला जो प्रत्युत्पन्नलिङ्ग = वर्तमान लिङ्ग (हेतु) है, उसीसे जन्य होनेके कारण, अनुभूति हो है, क्योंकि संस्कार मात्र जन्यत्व स्मृतिका लक्षण है। वह अनुमानमें नहीं है। इसलिए अनुमान अनुभव ही है, अतः इसका प्रामाण्य युक्त ही है।

शंका—स्मृतिप्रमोष क्यों नहीं मान लिया जाता? (अर्थात् शुक्ति-रजत ज्ञान स्थलमें चाकचिक्यसे रजतका स्मरण होता है। उसमें तत्ताका जो स्मरण है, वह छूट जाता है। 'तद्रजतं' ऐसा स्मरण होना चाहिए, पर दोषके कारण उसका प्रमोष हो जाता है। इसीको स्मृति प्रमोष या प्रमुष्टतत्ताका स्मरण भी कहते हैं वैसे अनुमान स्थलमें भी स्मृति प्रमोष क्यों न माना जाए?)

उत्तर—'यह रजत है' इस स्थलमें रजत-ज्ञानके संस्कारसे अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है। इसलिए परिशेष न्यायसे अनुभवरूप रजत ज्ञानको स्मृति मानते हैं। वहाँ तत्ताका प्रमोष भी माना जाता है। प्रकृतमें तो धूमरूप हेतु, जो अनुभवका कारण है, उसके होनेसे, प्रतीति सिद्ध अनुभवत्वका निषेध करके, स्मृति-प्रमोष मानना उचित नहीं है।

उक्त प्राभाकर मतका निरास करते हैं 'सोऽयं' से। यह उनको बिना कारणके भय है। इसी बातका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं। यदि जितने व्याप्यके अधिकरण हैं, उनमें व्यापक (साध्य) का होना व्याप्तिग्रह-कालमें ही गृहीत हो जाए तो, गृहीत ग्राहित्वकी आशंका भी हो सकती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि महानसादि सपक्षोमें अनुमानके पहिले धूमका अग्नि साहचर्य ज्ञात है सर्वत्र नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं। जैसे प्रमाणका होना असम्भव है, वैसे न्यायरत्नमालामें विस्तारसे प्रतिपादित किया गया है*।

---

* यथा—'कश्चित्तु बहिरिन्द्रियविषयमेव नियममिच्छति। स हि मन्यते 'वह्निधूमयोः सम्बन्धो देशकालानवच्छिन्न एव प्रत्यक्षेणावगम्यत इति' इत्यादिनाशङ्क्य, 'अपिचैवं प्रत्यक्षानवगततत्कालसम्बन्धनियमविरुद्ध स्यान्यत्रानवगतस्य कालान्तरसम्बन्धस्यानुमानेन

दृष्टान्तधर्मिष्वेव बहुशोऽग्निसाहित्यमुपलब्धवतः अनग्नौ च क्वचिदपि प्रयत्नेनान्विष्यमाणे धूममदृष्टवतः साध्यधर्मिष्वग्निमत्ताज्ञानमुत्पद्यते ।

आह च 'साहित्ये मितदेशत्वात् प्रसिद्धे वह्निधूमयोः ।
व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्गमकत्वं प्रकल्प्यते' ॥ इति ॥
'धूमस्तु दृष्टिमात्रेण गमकः सहचारिणः' इति च ॥

ततश्चानुमित्सता न सर्वेषां धूमवतामग्निमत्तावगन्तव्या, नापि सर्वत्रानग्नौ धूमस्याभावः । भूयोऽग्निसाहित्यं व्यभिचारादर्शनमित्येतावदेवानुमानार्थिभिरभ्यर्थनीयम्, नाधिकं किञ्चित् । यत्त्विदं यत्र यत्र धूमः, तत्राग्निरिति ज्ञानं तदनुमानमेवेति तत्रैवोक्तम् ।

नन्वेवमप्यनेनैव सामान्यानुमानेन सर्वधूमवतामग्निमत्तावगतेति यत् पुनः पर्वतादिदेशविशेषेषु धूमदर्शनादग्न्यनुमानं तस्य गृहीतग्राहित्वं तदवस्थमेव स्यात् ? मैवम्,

---

सपक्षोंमें ही कई बार अग्निसाहचर्यका साक्षात्कार करने वाले, और अग्नि रहित देशमें कहीं भी प्रयत्नसे खोजने पर भी धूमको न देखनेवाले पुरुषको पर्वतादि पक्षोंमें अग्निका ज्ञान होता है । यों वार्तिक कारने कहा है 'साहित्ये' इत्यादिसे । अर्थ = अग्नि और धूम इन दोनोंके साहचर्यका जिनमें ज्ञान होता है, ऐसे वे प्रसिद्ध (महानस, पर्वत, चत्वर और गोष्ठ आदि) प्रदेश सीमित होते हैं । उनमें धूमका ज्ञान होनेपर, वह्न्यभाव प्रदेशमें धूमको न देखते हुए भी, धूम वह्निका अनुमापक है, ऐसी अन्वय-व्यतिरेकसे कल्पनाकी जाती है । और भी कहा है—धूम तो दर्शन मात्रसे ही सहचारी वह्निका अनुमापक होता है, अतः जो अनुमान करना चाहता है । उसे सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निमत्ताको जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं । और न ही सभी वह्नि अनधिकरणोंमें धूमाभावको जाननेकी ही आवश्यकता है ।

(अब व्याप्ति ज्ञानकी सामग्री बताते हैं कि) अनेक बार धूम और अग्निका साहचर्य तथा व्यभिचारका अदर्शन, इतना ही अनुमानार्थियोंको चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं । और यह जो कहा 'जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है' यह ज्ञान (जो पुनः पुनः दर्शनसे होता है) वह अनुमान ही है, ऐसा न्यायरत्नमालामें स्पष्ट किया गया है❀ ।

शंका—उक्त प्रकारसे अनुमानके द्वारा सामान्यतः सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निका सद्भाव ज्ञात हो गया । तब पर्वतादि देश विशेषोंमें धूमके दर्शनसे जो अग्निका अनुमान होता है, उसका गृहीतग्राहित्व ज्योंका त्यों बना रहा ।

❀ जैसेकि—'यस्त्वयं यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति भूयो दर्शनतोऽवगमः, स कथम् ? न ह्यसौ नास्ति, न चाप्रमाणम् सर्वदा सर्वेषां दृढत्वेन जायमानत्वात् । तदयं कस्मिंश्चित्प्रमाणेऽन्तर्भवतीति वक्तव्यम् ? उच्यते—आनुमानिकोऽयमवगमः, ज्ञातसम्बन्धस्योपजायमानत्वात् । परोक्षरूपत्वाच्च नैन्द्रियकः, साक्षात्कारित्वाभावात् संविद्विरोधाच्च । इति । (न्यायरत्नमाला पृ० ७४,) 'ग्रहणे गृहीतग्राहित्वमनुमानस्य दूरापास्तं स्यात्' 'अवगतमपि महानसादौ समान्यं देशान्तरकालान्तरादौ प्रत्यक्षेणेवानुमानेन प्रत्यभिज्ञायमानं भवति प्रमेयमिति न सिद्धसाध्यता' । द्रष्टव्य—न्यायरत्नमाला, व्याप्तिनिर्णय प्रकरण, पृ० ६४ । वार्तिककारने भी कहा है—
देशस्य पर्वतादेस्तु स्वरूपे पावकादृते । गृहीतेऽग्निविशिष्टस्य पुनर्ज्ञानं न दुष्यति ॥
तस्मादधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता । सा देशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता । इति ।
श्लोकवार्तिक, अनुमान खण्ड, का० ४६–४७

सामान्यविशेषभेदात्—सामान्येन हि धूमवतामग्निमत्तावगता, पर्वतादेस्तु देशविशेषस्य स्वरूपमपि प्रागनवगतम्, नतरामग्निमत्त्वम्।

यस्त्ववगतमेवेति मन्यते, तेन पर्वतस्वरूपमेव तावदप्राप्तं पर्वतसमीपस्थैः केन प्रमाणेनावगतमिति वक्तव्यम्। न प्रत्यक्षेण, नान्येन प्रमाणेन, न चानवगतपर्वतस्तस्याग्निमत्तामवधारयितुमलम्। यदि चेदानीतनं पर्वतस्याग्निमत्त्वं प्रागेवावगतं स्यात्, ततोऽग्न्यर्थी विनैव धूमदर्शनेनाग्नये पर्वतमारोहेत्। नह्यग्न्यर्थिनोऽवगतेऽग्नौ धूमदर्शनेनार्थः कश्चित्।

किं च धूमोपलक्षितस्य पर्वतादिदेशविशेषस्याग्निसंबन्धोवगत इति वदता धूमसंबन्धोप्यवगत इति वक्तव्यम्। नह्यज्ञातसंबन्धमुपलक्षणमुपलक्ष्यमुपलक्षयितुं क्षमम्।

अथ देशमात्रस्य धूमेनोपलक्षणं न देशविशेषस्य ? ततोग्निमत्त्वमपि तन्मात्रस्यावगतं न देशविशेषस्य, अतो लिङ्गलिङ्गिनोरविशेषात् 'लिङ्गस्यैव देशकालातिरेको न लिङ्गिनः' इति प्रलापमात्रम्।

अपि च यत्राग्नीन्धनसंयोगस्तत्र धूम इत्यनेन धूमोप्यवगत एवेति न किञ्चिदप्यवगन्तव्यमवशिष्यते धूमज्ञानेनेत्यलं बालजल्पितेन।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते; सामान्य और विशेषका भेद होनेके कारण। क्योंकि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है, इस सामान्यतः अनुमानसे, सभी धूमाधिरणोंमें अग्निका सद्भाव ज्ञात हो गया। 'यह पर्वत वह्निमान है' ऐसा व्याप्ति ज्ञानके समय विशेषरूपसे पर्वतमें अग्निका होना जानलिया। साथ ही पर्वतादि देश विशेषका स्वरूप भी ज्ञात नहीं हुआ। उस अवस्थामें पर्वतादिकी अग्निमत्ता सर्वथा ज्ञात नहीं होती।

और पर्वतमें अग्निका सद्भाव ज्ञात हो गया, ऐसा जो मानता है, उसे यह कहना होगा, कि पर्वतस्वरूप हो अप्राप्त है। तब पर्वतके समीपमें रहने वालोंको किस प्रमाणसे अग्नि सद्भाव ज्ञात हुआ ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं कह सकते। दूसरे प्रमाणसे भी नहीं। तब जिसने पर्वतको नहीं समझा है, वह व्यक्ति पर्वतमें अग्निसद्भावको नहीं जान सकता। अथवा यदि वर्तमान पर्वतमें अग्निसद्भाव पहिलेसे ज्ञात होता तो अग्निको चाहने वाला धूम दर्शनके बिना ही अग्निके लिए पर्वतपर पहुँच जाएगा। क्योंकि जो अग्नि तो चाहता है, उसे अग्नि प्राप्त होनेपर, धूमदर्शनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

इस पक्षमें दूसरा दोष देते हैं 'किंच' से। धूमसे उपलक्षित पर्वतादि देश विशेषमें अग्नि-सम्बन्ध ज्ञात है, ऐसा जो कहता है, उसे साथ ही यह भी कहना होगा कि धूम-सम्बन्ध भी जान लिया है। क्योंकि उपलक्षण (ज्ञापक) के सम्बन्धको जो नहीं जानता, अर्थात् अज्ञात सम्बन्धरूप उपलक्षणके द्वारा उसे उपलक्ष्यका बोध होना सम्भव नहीं।

शंका—धूम देश समान्यका उपलक्षण (ज्ञापक) होता है, देश विशेषका नहीं।

उत्तर—उससे देश सामान्यका ही अग्नि सम्बन्ध ज्ञात होगा, देश विशेषका नहीं। अतः यह जो कहा गया कि हेतु और साध्य दोनोंमें कोई विशेषता न होनेके कारण हेतुमें ही देश-काल-कृत विशेषता आती है, साध्यमें नहीं; यह उनका कहना प्रलाप मात्र है।

यदि चावगतमेवानुमानेनावगम्यते। ततः स्मरणमेव प्रमुषिततद्भावमनुमानज्ञानं स्यात्। न च प्रत्युत्पन्नकारणजत्वादस्मृतित्वम्, तदसिद्धेः—संबन्धिदर्शनं हि सदृशदर्शनवत् संस्कारमुद्बोधयेत्। क्लृप्तं हि तत्र तस्य कारणत्वम्। संस्कारश्चोद्बोधितः स्मृतिं जनयतीत्यविवादम्। स्मृतेश्च प्रमोषः शुक्तिकारजतादिवेदनेषु क्लृप्त एव। तदेवं क्लृप्तेनैव मार्गेण धूमादग्निज्ञानोत्पत्तौ को नामाक्लृप्तं लिङ्गस्य लिङ्गिज्ञानहेतुत्वं कल्पयेत्। कल्पनायां वा शुक्तावपि रजतवेदनस्यानुभवरूपत्वात्तदुपपत्तये दोषस्यैवानुभवहेतुत्वं कल्पनीयम्। अकल्पने त्वत्रापि स्मृतिप्रमोषादप्रामाण्यमेव स्यात्। तस्मादवश्यमगृहीतग्राहित्वमङ्गीकर्तव्यम्।

नन्वग्निविशेषस्यागृहीतसंबन्धस्याननुमेयत्वात्सामान्यमेवानुमेयम्, तच्च प्रागवगतमेवेति कथमगृहीतग्राहित्वम्?

यथाहुः—'विशेषेऽनुगमाभावः, सामान्ये सिद्धसाध्यता।
अनुमाभङ्गपङ्केस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः'॥ इति॥

और दोष देते हैं, 'अप्रिय' इत्यादि से। जहाँ अग्नि-ईन्धन संयोग है, वहाँ धूम है, इससे धूम भी मालूम होगया। अतः धूम ज्ञानसे जानने योग्य कोइ अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसलिये ऐसी बालकोंकी-सी बातें मत कीजिए।

शंका—इसके विपक्षसे बाधक युक्ति बताते हैं 'यदि' इत्यादि से। यदि ज्ञात विषयका ही अनुमानसे ज्ञान होता है, तो अनुमान-ज्ञान तत्तांशका प्रमोष माननेपर स्मरणात्मक होगा। इसमें हेतु है कि अनुमान संस्कार जन्य नहीं है, वल्कि प्रत्युत्पन्न हेतु, ज्ञानरूप कारणसे जन्य होनेके कारण स्मृति नहीं होगा।

उत्तर—यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे सदृश वस्तुका दर्शन संस्कारका उद्बोधक होता है, वैसे सम्बन्धिका दर्शन भी संस्कारका उद्बोधक होगा, क्योंकि सम्बन्धि दर्शन और संस्कार उद्बोधन इन दोनोंका कार्य-कारण भाव लोक सिद्ध है। इसलिए संस्कार उद्बुद्ध होकर, स्मृतिको उत्पन्न करता है, इस विषयमें कोई विवाद नहीं। स्मृतिमें तत्तांशका प्रमोष शुक्तिका-रजतज्ञानमें सिद्ध ही है। इस प्रकार क्लृप्त (निश्चित) मार्गके द्वारा ही धूमसे अग्नि ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर, कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो अनिश्चित साध्य-ज्ञानके हेतुत्वकी लिंगमें कल्पना करेगा। यदि कल्पना करेगा तो शुक्तिमें भी रजत ज्ञानका अनुभव होनेसे उसकी सिद्धिके लिये दोषको ही अनुभवके प्रति कारण मानना होगा। यदि कल्पना न करे तो स्मृति प्रमोषसे यहाँ भी अप्रामाण्य ही होगा। इसलिए अवश्य अनुमान अगृहीतग्राहि होता है, यह मानना चाहिए।

शंका—जिसका सम्बन्ध नहीं गृहीत है, ऐसे अग्नि विशेषका अनुमान न होनेसे, सामान्य ही अनुमेय है, ऐसा कहना होगा। यह तो पहिलेसे ही ज्ञात है। इसलिए अनुमान अगृहीतग्राहि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इसी बातको 'तत्त्वोपप्लवसिंह' (ग्रन्थ विशेष) के वचनसे प्रमाणित करते हैं—

अर्थ 'विशेषका अनुमान करनेमें अनुगम नहीं हो सकता, सामान्यका अनुमान माननेपर सिद्ध-साधन दोष लगेगा। इसलिए मदोन्मत्त मातंगके समान वादी, अनुमान खण्डनरूप कीचड़में धँस गए हैं'। इति।

नैष दोषः—अवगतस्यापि सामान्यस्य देशान्तरकालान्तरसंबन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् ह्युपपन्नं प्रमेयत्वम्।

इदं चापरमेकदेशिना वक्तव्यम्—केन प्रमाणेन धूदर्शनस्याग्निज्ञानहेतुत्वमवगम्यते? इति। तदानन्तर्यादिति चेत्? न, तस्य संस्कारद्वारेणाप्युपपत्तेः। अनुभवरूपत्वमनुपपन्नमिति चेत्? न, स्मरणस्यापि तत्परामर्शप्रमोपेणानुभवाभिमानोपपत्तेः। वस्तुतोऽनुभववत्वं त्वसिद्धमेव, तस्य प्रमाणाभावात। न ह्यग्निज्ञानस्यानुभवत्वे प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणमस्ति? अस्ति तु स्मृतिप्रमोपे[1]।

अथ स्मृतिप्रमोपे[2] बाधकं स्यात्, न चाग्निज्ञानस्य तदस्तीत्यतः न स्मृतिप्रमोष इति चेत्? न, स्मृतिप्रमोषस्याप्यबाधदर्शनात्। मणिप्रभादर्शिनी मणिबुद्धिस्तावत् स्मृतिप्रमोष एव, अन्यथा विपरीतख्यातिप्रसङ्गात्। अथ च प्रवृत्तस्य मणिलाभान्न बाधकमस्ति, तस्मात्स्मृतिरेवानुमानमित्यप्रामाण्यापत्तिः।

कथं च गृहीतग्राहित्वमनुमानस्य? अत्यन्तापरिदृष्टे देशे काले चाग्निरनुमीयते,

उत्तर—उपर्युक्त दोष नहीं है। क्योंकि अवगत सामान्यका भी देशान्तर कालान्तर सम्बन्ध जो पूर्वमें अगृहीत है, उसके ग्रहणसे प्रमेयत्वरूप प्रामाण्य उपपन्न होता है।

शंका—यह भी एकदेशीको बताना चाहिए कि धूम-दर्शन अग्निज्ञानका हेतु है, यह किस प्रमाणसे जाना है?

उत्तर—धूम दर्शनके अनन्तर, ऐसा कहें तो? यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि संस्कारके द्वारा भी धूम दर्शन अग्नि ज्ञानका हेतु है।

शंका—इस पक्षमें अनुमान ज्ञानकी अनुभव रूपता अनुपपन्न होगी?

उत्तर—नहीं, स्मरणमें भी तत्तांशके प्रमोषसे अनुभवका अभिमान हो सकता है। वास्तवमें तो विचार करनेपर अनुभवरूपता असिद्ध ही है, उसमें कोई प्रमाण न होनेके कारण। अग्निका ज्ञान अनुभव है, इसमें प्रत्यक्ष या दूसरा कोई प्रमाण नहीं। स्मृति-प्रमोष माननेपर तो उसमें प्रमाण है। (यह पहिले कह चुके हैं, कि संस्कारके द्वारा भी धूम दर्शन अग्नि ज्ञानका कारण होता है 'एकसम्बन्धिदर्शनमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस न्यायसे)

शंका—जहाँ बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है, वहींपर बाध होनेपर, स्मृति-प्रमोष माना जाता है। जैसे 'शुक्तिमें यह रजत है' इस ज्ञानमें स्मृति-प्रमोष है। वहाँ 'यह रजत नहीं है' यह बाधक ज्ञान है। प्रकृतमें 'पर्वतमें अग्नि नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान है ही नहीं। तब स्मृति-प्रमोष कैसे होगा, यदि ऐसा कहें तो?

उत्तर—नहीं कह सकते, स्मृति-प्रमोषका भी कहीं कहीं बाध नहीं होता। जैसे मणिप्रभा देखने वालेको मणि बुद्धि होती है। वहाँ स्मृति-प्रमोष ही है; नहीं तो विपरीतख्याति माननी पड़ेगी। और मणीके उपादानमें प्रवृत्त पुरुषको मणिकी प्राप्तिसे, 'यह मणि नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान नहीं होता। इसलिए अनुमान स्मृति ही है, ऐसा कहनेपर अनुमानका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इसी पक्षमें आक्षेप करते हैं—तब अनुमानका गृहीत ग्राहित्व कैसे होगा? क्योंकि अनुमानके

१. स्मृतिप्रमोषत्वे इति 'ख' पुस्तके पाठः। २. स्मृतिप्रमोषत्वे इति 'ख' पुस्तके पाठः।

स केन प्रमाणेन प्रागवगतः ? न प्रत्यक्षेण, तस्य विद्यमानोपलम्भनत्वात्। न चान्येन केनचित्। किञ्चाग्निधूमयोर्मिथः सम्बन्धो देशकालानवच्छिन्नः प्रत्यक्षेणावगत इत्येतावदेव भवान् ब्रवीति, न चैतावता देशान्तरकालान्तरसम्बन्धोऽग्नेरवगतो भवति। तस्मादगृहीतग्राह्येवानुमानम्।

किमत्रागृहीतम्? अग्निसामान्यं तावद् गृहीतमेव, पर्वतोपि प्रत्यक्षेणावगतः, अग्निविशिष्टस्तु पर्वतो न केनाप्यवगतः, इति सोऽनुमेयो भविष्यति। तत्र च प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सम्बन्धमात्रं प्रमेयमवशिष्यते। यथा 'दध्ना जुहोति' इति विशिष्टविषयोपि विधिर्विशेषणपरो भवति तथेहापि, विशिष्टविषयमेवानुमानम्। विशेषणविशेष्ययोस्तु प्राप्तत्वादिति, 'यजुर्युक्तंरथमध्वर्यवे ददाति' इतिवत्सम्बन्धविषयं भवतीति।

पहिले सर्वथा न देखे हुए देश और कालमें, अग्निका अनुमान होता है। वह अग्नि किस प्रमाणसे पहिले ज्ञात है ? प्रत्यक्षसे नहीं कह सकते, क्योंकि वह विद्यमानका ही उपलम्भक है। और दूसरे किसी प्रमाणसे भी नहीं।

और सुनिए—अग्नि और धूम इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध, देश-काल-दोनोसे अनवच्छिन्न प्रत्यक्षसे ज्ञात है, इतना ही आप कहते हैं। इससे अग्निका देशान्तर-कालान्तरके साथ सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता, इसलिए अनुमान अगृहीतका ही ग्रहण करता है।

शंका—अब यह बताइए कि 'पर्वतों वह्निमान्' इस स्थलमें क्या पहिले अगृहीत है, जिस कारणसे अनुमानको आप अगृहीत-ग्राहि ठहराते हैं ?

उत्तर=अग्नि सामान्य मालूम हो ही गई। पर्वत भी प्रत्यक्षसे जान लिया। अग्नि विशिष्ट पर्वत तो किसी प्रमाणसे भी अवगत नहीं हुआ। अर्थात् अग्नि विशिष्ट पर्वत ही अनुमेय हो सकता है। इसमें भी क्या प्राप्त है ? क्या अप्राप्त है ? इसका विवेचन ही 'प्राप्ताप्राप्तविवेक' है। इस न्यायसे सम्बन्धमात्र ही अवशेष रहता है। 'प्राप्ताप्राप्तयोर्मध्ये अप्राप्तमेव विधीयते' यह न्यायका स्वरूप है।

उक्तार्थको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं 'यथादध्ना' इत्यादिसे। दृष्टान्तका यह अर्थ है कि 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य पठित है। इससे दधिकरणत्व विशिष्ट होमका विधान होता है। यहाँ विधि दधि विशिष्ट होमका विधान करती है। होम तो 'अग्नि होत्रं जुहोति' से प्राप्त हो ही चुका है। विधि अप्राप्त दधि मात्रका विधान करती है, अतः यह गुणमात्र विधि है। इसी प्रकार 'पर्वतमें अग्नि है' इस स्थलमें भी वह्नि सामान्य और पर्वत—दोनों प्राप्त हैं। केवल विशेषण पर्वत-अग्नि सम्बन्ध ही अप्राप्त है। वही अनुमानका विषय है। विशेषण-विशेष्य दोनों प्राप्त होनेके कारण यही मानना उचित है।

इसी अर्थमें दूसरा दृष्टान्त देते हैं 'यजुर्युक्तं' से। (मंत्र मूलमें देखिए) यहाँपर यजुर्युक्त जो रथ और अध्वर्यु ये दोनों प्राप्त हैं। केवल सम्बन्ध मात्रका विधान होता है। (अर्थात् विशेषण विशेष्य दोनों प्राप्त होनेसे केवल सम्बन्ध ही इसका विषय होता है) इस प्रकार वह्नि और पर्वत का सम्बन्ध अप्राप्त है, उसीका विधान होनेसे अनुमान अगृहीत ग्राहि है। अतः अनुमानका प्रामाण्य युक्त ही है।

परार्थानुमानावयवनिरूपणम्

यस्तु प्रतिपन्नमर्थं परमनुमानेन प्रतिपिपादयिषति, तेन साधनं प्रयोक्तव्यम्। येन वाक्येन परस्यानुमानबुद्धिरुत्पद्यते तत् साधनमित्युच्यते।

'तच्च पञ्चतयं केचित्, द्वयमन्ये, वयं त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्' ॥

अक्षपादीयास्तावत्—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनैः पञ्चावयवं साधनं मन्यन्ते। अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञा, कृतकत्वादिति हेतुः, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादीत्युदाहरणम्, कृतकश्चशब्द इत्युपनयः, तस्मादनित्य इति निगमनम्।

अयं त्वतिविस्तरो गतार्थ इति मन्वानाः सौगता द्व्यवयवम्—उदाहरणोपनयात्मकं मन्यन्ते। स्मर्यमाणनियमं हि लिङ्गं साध्यधर्मिण्यनुसन्दधानस्य स्वयमेव लिङ्गिबुद्धिरुत्पद्यते, तेन यत्कृतकं तदनित्यमिति कृतकत्वस्यानित्यत्वेन व्याप्तिनियमं स्मारयित्वाकृतकश्चशब्द इत्युपनयमात्रे कृते शब्दस्यानित्यत्वमवगम्यत एवेति, कृतमवयवान्तरैः।

इस प्रकार स्वार्थानुमानका निरूपण करके, परार्थानुमान कहते हैं 'यस्तु' इतिसे। जो देवदत्त आदि, ज्ञात अर्थको अनुमान द्वारा दूसरेको समझाना चाहता है, उसे साधनका प्रयोग करना चाहिए।

शंका—साधन किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस वाक्यसे दूसरेको अनुमान बुद्धि होती है, उसे साधन या साधन वाक्य कहते हैं। नैयायिक पांच अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। बौद्ध दो मानते हैं-प्रतिज्ञा, हेतु। मोमांसक तीन मानते हैं—उदाहरण पर्यन्त। या उदाहरणसे लेकर तीन। श्लोकार्थ स्पष्ट है। नैयायिक पांच मानते हैं। यह गौतम सूत्र है-'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' (न्या० द० सू० १।१।३२) इस प्रकार वे साधनके पाँच अवयव मानते हैं। यथा—शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा वाक्य है। 'साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा'* यह उसका लक्षण है। 'कृतकत्वात्' यह हेतु है। 'पंचम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं हेतु'। जो कृतक = कार्य होता हैं, वह अनित्य देखा गया है, जैसे घटादि, यह उदाहरण है। शब्द कृतक (कार्य) होता है, यह उपनय वाक्य है। इसलिए यह अनित्य है, यह निगमन वाक्य है। (इस प्रकार अक्षपाद मतानुयायि नैयायिकोंने परार्थानुमानके पाँच अवयव माने हैं) यह बहुत विस्तृत है, गतार्थ भी है, यह मानकर बौद्धोंने उदाहरण, उपनय ये साधनके दो अवयव माने हैं। जिसके नियमका स्मरण होता है, उस लिङ्गको पक्षमें देखकर, स्वयं ही साध्यका अनुमान होता है, और जो कार्य है, वह अनित्य है, इस व्याप्ति नियमका स्मरण करते हुए शब्द अनित्य होता है, इस उपनय मात्रसे शब्दकी अनित्यता ज्ञात हो ही जाती है. फिर दूसरे अवयवोंकी क्या आवश्यकता है ? यह बौद्धोंका कहना है।

---

* प्रतिज्ञा वाक्यका परिष्कृत लक्षण यह है कि 'संयोग सम्बन्धेन साध्यप्रकारकपक्षविशेष्यक बोधजनकत्वे सति वाक्यत्वम्' यथा पर्वतो वह्निमानिति ।

स्वमतेन अवयवत्रैविध्यवर्णनम्, तत्रैव भाष्यवार्तिकमतेन समर्थनम्

एवं त्वत्यन्तसाकाङ्क्षमेव वाक्यं क्लेशगम्यार्थं भवतीति त्र्यवयवमेव युक्तम्—अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, यत्कृतकं तदनित्यम्, यथा घटादीत्येवमुदाहरणान्तं साधनं सर्वत्र वार्तिकारः प्रयुङ्क्ते।

अथ वा—यत् कृतकं तदनित्यम्, यथा घटादि कृतकश्च शब्दस्तस्मादनित्यः—इत्युदाहरणप्रभृति प्रयोक्तव्यम्। एवमप्यन्यूनाधिकमेव साधनम्। तथा च[1] 'यत् कर्म, तत् फलवद्, होमोपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यम्' इत्येव सर्वत्र भाष्यकारः प्रयुङ्क्ते।

हेत्वाभासनिरूपणम्

प्रतिज्ञादोषाः प्रत्यक्षविरोधादयोऽप्रसिद्धविशेषणत्वादयश्च वार्तिके प्रपञ्चिताः।

(अब ग्रन्थकार अपने मतको बताते हैं, क्योंकि अपना मत श्रेष्ठ होता है) इस विषयमें अनन्तरोक्त=अव्यवहित पूर्वमें कहे हुए बौद्ध मतमें दो अवयवोंको माननेपर वाक्य अत्यन्त साकांक्ष होता है। उससे विवक्षितार्थ क्लेशसे गम्य होता है, इस अरुचिको मनमें रखकर कहते हैं, कि साधनके तीन अवयव होने ही युक्त हैं। (उक्त अर्थका उदाहरण द्वारा वार्तिक वचनसे समर्थन करते हैं) शब्द अनित्य है, कार्य होनेके कारण' शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्' जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घटादिक। इस प्रकार उदाहरण पर्यन्त साधनका वार्तिककार सभी स्थलोंपर प्रयोग करते हैं। यह पहिला पक्ष है।

उदाहरण आदि द्वितीय पक्षको 'अथवा' से कहते हैं—या जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घटादि। शब्दकार्य होता है, इसलिए वह अनित्य है; इस प्रकार उदाहरणसे आरम्भ कर द्वितीय पक्ष समझना चाहिए। ऐसा माननेपर साधन वाक्यमें न कमी होती है न आधिक्य। (अर्थात् बौद्ध मतमें अवयव कम होनेसे विवक्षितार्थकी सिद्धि बड़ी कठिनाईसे होती है। न्यायमतमें अति विस्तार है। साथ ही प्रतिज्ञा और निगमन दोनों एक ही अर्थके बोधक हैं, अतः मीमांसक मत ही ठीक है)

अब भाष्यसे भी उक्तार्थका समर्थन करते हैं—भाष्यकारने भी द्वितीय अध्यायके, द्वितीय पादके 'इन्द्रियकामाधिकरण' में तीनों अवयवोंका ही सर्वत्र प्रयोग किया है। यथा—जो कर्म है, वह फलवान् है। होम भी कर्म है, उसे भी फलवान् होना चाहिए। इति।

इस प्रकार परार्थानुमानके तीन अवयवोंको बताकर, हेत्वाभासको कहते हैं 'प्रतिज्ञा दोषा'* इत्यादि से। अग्नि अनुष्ण है, इस प्रतिज्ञामें प्रत्यक्ष विरोध है। 'पर्वत कांचनमय वह्निमान है' इस

---

* प्रत्यक्षादिके विरोधसे तीनों रूपोंका बाध होनेके कारण, यह हेतु दोष हो है, प्रतिज्ञा दोष नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह सब रूपत्रयका ही बाध है। पक्ष विपर्ययके द्वारा पक्ष दोष कहा जाता है, साध्य विकलत्वादिकी तरह। दृष्टान्त दोष भी अप्रसिद्ध विशेषणत्वादि वार्तिकके निरालम्बनवादमें वर्णित हैं। यह सब अनुमान लक्षणमें, असन्निकृष्ट विशेषणसे प्रतिज्ञादि दोषोंका निरास है।

१. चेति सम्पातायातः।

असिद्धिः, अनैकान्तिकत्वम्, बाधकत्वम्, चेति त्रयो हेतुदोषाः[१]। तत्रासिद्धिः पञ्चधा। बुद्धो धर्माधर्मवेदी सर्वज्ञत्वादिति स्वरूपासिद्धिः[२]। न हि सर्वज्ञत्वस्वरूपं क्वचिदस्ति। वह्निरदाहकः शीतत्वादिति सम्बन्धासिद्धिः, शैत्यस्य वह्निसम्बन्धाभावात्।

नन्वेवं समुद्रवृद्धौ चन्द्रोदयस्य हेतुत्वं न स्यात्, उदयस्य समुद्रसम्बन्धाभावात्? एककालसम्बन्धादुभयोरदोषः

यदा तर्हि चन्द्रस्य नभोमध्ये स्थितिं दृष्ट्वा पञ्चदशनाडिकातिक्रान्ता समुद्रवृद्धिरनुमीयते, तदा कथम्? तत्रापि परम्परासंम्बन्धादुभयोरदोषः। न हि साक्षात्संबन्ध एव सर्वत्राश्रीयते। तद्धि येन साक्षात् प्रणाड्या वा केनापि संबन्धेन नियतम्, तत् तस्य

प्रतिज्ञामें अप्रसिद्ध विशेषणता दोष है, विशेषण 'कांचनमय वह्नि' अप्रसिद्ध होनेके कारण। इस प्रकार प्रतिज्ञा-दोष श्लोक वार्तिकके अनुमान प्रच्छेदमें 'प्रत्यक्षादेश्च षट्कस्य येनैवार्थोऽवधारितः' इत्यादिसे 'एवं च धर्मसम्बन्धबाधस्तावदुदाहृतः' इत्यन्तसे कहा गया है।

इस प्रकार प्रतिज्ञा दोषोंको बताकर हेत्वाभासका निरूपण करते हैं 'असिद्धि' इत्यादिसे। मीमांसक १—असिद्धि, २—अनैकान्तिकत्व, ३—बाधकत्व, ये तीन हेतु दोष मानते हैं। उनमें असिद्धि पांच प्रकारकी होती है—स्वरूपासिद्धि, सम्बन्धसिद्धि, व्यतिरेकासिद्धि, आश्रयासिद्धि, और व्याप्त्यसिद्धि।

१—बुद्ध धर्माधर्मको जानता है, सर्वज्ञ होनेसे 'बुद्धः धर्माधर्मवेदी, सर्वज्ञत्वादिति' यह स्वरूपासिद्धिका उदाहरण है। क्यों कि सर्वज्ञत्व स्वरूप कहीं है ही नहीं।

२—अग्नि दाहक नहीं है, शीत होनेसे 'अग्निरदाहकः, शीतत्वात्' यहाँ शैत्यका अग्निसे सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् पक्षमें हेतु नहीं है। इसीको सम्बन्धासिद्धि कहते हैं।

शंका—ऐसा माननेपर समुद्र वृद्धिमें चन्द्रोदयकी हेतुता नही होगी, क्योंकि चन्द्रोदयका सम्बन्ध चन्द्रमाके साथ है, समुद्रके साथ नहीं।

उत्तर—समुद्र वृद्धि और चन्द्रोदय दोनोंका एक कालमें होनारूप सम्बन्ध है। चन्द्रोदय अपने कालमें रहनेवाली समुद्र-वृद्धिका अनुमापक होता है; अतः कोई दोष नहीं।

शंका - उक्त रीतिसे दोषका निवारण होनेपर भी, जब चन्द्रमाकी आकाशमध्यमें स्थिति देखकर, पन्द्रह घड़ी पहिले समुद्र-वृद्धिका अनुमान होता है, तब वहाँ एक कालिकत्व सम्बन्ध कैसे होगा?

उत्तर—वहाँ भी परम्परासे सम्बन्ध है। (वह इस प्रकार है—'स्वाधिरणकालपूर्वकालावृत्तित्वम्' स्वं = नभोमध्य स्थिति, उसका अधिकरण काल है वर्तमान काल। उसका पूर्वकाल है चन्द्रोदय काल। तद्वृत्तित्व समुद्रवृद्धिमें होता है) इसलिए उक्त परम्परा सम्बन्धसे वहाँ भी अनुमान होता है। अतः कोई दोष नहीं। उक्तार्थका निरूपण करते हैं 'नहि' से। क्योंकि प्रत्येक स्थलमें साक्षात् सम्बन्धका ही आश्रय नहीं लिया जाता। जो साक्षात् या परम्परा सम्बन्धसे नियत (व्याप्त)

---

१. तस्मात्रेधाचतुर्धा वा हेत्वाभासा व्यवस्थिता। पञ्चधास्तार्किकाः प्राहुः केचिदाहुरप्रयोजकः ॥इति॥ भासर्वज्ञस्तु—'अनध्यवसित एव षष्ठः, इति मेने।

२. हेत्वभाववान पक्षः स्वरूपासिद्धिरिति न्यायमतम्। हेतुस्वरूपमेवासिद्धमितिमीमांसकमतम्।

तथैवानुमापकं भवतीति दर्शितमेवैतत्। तेन यादृशः संबन्धो हेतोर्वादिना दर्शितः, तदसिद्धौ दोषो भवति, नान्यथा।

गोशब्दः सास्नादिमद्वचनो गोशब्दत्वादिति व्यतिरेकासिद्धिः। नहि धर्मिव्यतिरेकेण गोशब्दत्वं नाम किञ्चिदस्ति। नित्यमाकाशमनवयवद्रव्यत्वादिति सौत्रान्तिकमाकाशाभाववादिनं प्रत्याश्रयासिद्धिः। वायुराकाशश्चाऽनित्यो मूर्तत्वादिति व्याप्त्यसिद्धिः, मूर्तत्वस्याकाशे व्याप्त्यभावादिति।

अनैकान्तिकत्वं द्विविधम्—सव्यभिचारं[1] सप्रतिसाधनत्वं च[2]। नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वादिति कर्मादिष्वनित्येष्वप्यमूर्तत्वस्य संभवाद् व्यभिचार्यमूर्तत्वम्। अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात्, प्रत्यक्षो वायुर्महत्वे सति स्पर्शवत्त्वादिति सप्रतिसाधनत्वादुभयमप्यनिर्णायकं संशयहेतुः, अगृह्यमाणबलाबलत्वादुभयोः।

होता है, वह उसका उसी रूपसे अनुमापक होता है, यह कह चुके हैं। इससे जैसा सम्बन्ध वादिने हेतुमें दिखाया, उसकी असिद्धिमें वह दोष होता है, अन्यथा नहीं।

३—जहाँ धर्मिको छोड़कर हेतु अलग नहीं है, वह व्यतिरेकासिद्धि है। यथा गो शब्द सास्नादिमानका वाचक है, गो शब्दत्व होनेसे 'गो शब्दः सास्नादिमद्वचनो गो शब्दत्वादिति' यहाँ पक्ष-हेतु होनों एक हो गए, इसीलिए व्यतिरेक या भेदकी असिद्धि है। धर्मिसे भिन्न गोशब्दत्व नामकी कोई वस्तु नहीं है।

४—जहाँ आश्रय ही असिद्ध होता हो, उसे आश्रयासिद्धि कहते हैं। 'आकाशं नित्यमनवयवद्रव्यत्वात्' यह अनुमान सौत्रान्तिक के प्रति है। वह आकाशको पृथक् नहीं मानता, किन्तु अभावरूप ही मानता है, अतः उनके मतमें आकाशरूप पक्षकी असिद्धि है।

५—पक्षैकदेशमें हेतुके न रहनेसे व्याप्त्यसिद्धि कहलाती है। यथा—'वाय्वाकाशावनित्यौ, मूर्तत्वात्' इति। यहाँ पक्षका एकदेश आकाश है, उसमें मूर्तत्वके न होनेसे यह व्याप्त्यसिद्धिका उदाहरण है। (इसीको नैयायिक भागासिद्धि कहते हैं। पक्षके एकदेशमें सम्बन्ध न रहे तो इसीको मीमांसक व्याप्त्यसिद्धि कहते हैं)

असिद्धिको बताकर अब अनैकान्तिकका निरूपण करते हैं। यह दो प्रकार है। सव्यभिचार और सप्रतिसाधन। यथा—शब्द नित्य है, अमूर्त होनेके कारण, 'शब्दोऽनित्यः अमूर्तत्वात्'। यहाँ जो अनित्य हैं कर्मादिक, उनमें भी अमूर्तत्व है, इसलिए यह अमूर्तत्व व्यभिचारी है। नित्यत्वको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। (इसीको नैयायिक साधारण अनैकान्तिक कहते हैं) अतः अमूर्तत्व व्यभिचारीका उदाहरण है। जहाँ दो हेतुओंमें बलाबलका निश्चय नहीं होता, वहाँ हेतु निर्णायक नहीं होते; बल्कि संशयका कारण बन जाते हैं। इसीको सप्रतिसाधन कहते हैं; जिसे नैयायिकोंने सत्प्रतिपक्ष कहा है। यथा—वायु अप्रत्यक्ष है, द्रव्य होते हुए, अरूप होनेके कारण—'वायुरप्रत्यक्षः द्रव्यत्वेसत्यरूपत्वात्'। (यहाँ द्रव्यत्वेसति-अरूपत्व हेतु है, अप्रत्यक्षत्व साध्य है) और दूसरा अनुमान है—वायु प्रत्यक्ष है, महत्वको लेते हुए, स्पर्शवान् होनेके कारण—'वायुः प्रत्यक्षः महत्वे सति स्पर्शवत्वात्'। यहाँ 'महत्वे सति स्पर्शवत्व' हेतु है। प्रत्यक्षत्व साध्य है। इन दोनों हेतुओंमें कौन प्रबल है, कौन

१. साधारणानैकान्तिक एव तार्किकाभिमतः सव्यभिचारपदेन मीमांसकैः व्यवह्रियते।
२. सप्रतिसाधने चेति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

सप्रतिसाधनविषये प्राभाकरमतम्, तन्निरासश्च

कश्चित्त्वाह[1]—न विरुद्धार्थं हेतुद्वयं तुल्यबलमेकत्रसम्भवति, तद्भावे वस्तुनि नित्यसंशयापत्तेः। द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वस्यापरोक्षावभासविरोधाद[2]प्रत्यक्षत्वमनुमापयितुमसामर्थ्याद् दौर्बल्यम्। स्पार्शनानुमानं त्वविरुद्धं बलवदिति न द्वयोस्तुल्यबलत्वम्। अतो नास्ति सप्रतिसाधनो हेतुरिति।

स वक्तव्यः—सव्यभिचारोपि तर्हि न संशयहेतुः स्यान्नित्यसंशयापत्तिप्रसङ्गादेव।

दुर्बल है, यह ज्ञान नहीं है, इसीलिए वायु प्रत्यक्ष है या नहीं ? यह संशय होता है❀।

शंका—सप्रतिसाधनके सम्बन्धमें प्राभाकर मतका उपन्यास करते हैं 'कश्चित्वाह' से। कोई (प्राभाकर) कहते हैं, कि दो हेतु जो परस्पर विरुद्धार्थके साधक हैं, समान बल वाले एक जगहमें नहीं हो सकते। ऐसा होनेपर वस्तुमें सर्वदा संशय ही बना रहेगा। जैसे इसका उदाहरण 'वायुरप्रत्यक्षः' इत्यादि ऊपर दे चुके हैं। 'द्रव्यत्वेसत्यरूपत्व' हेतु अप्रत्यक्षत्वका अनुमान करानेमें असमर्थ होनेसे दुर्बल है। उसका प्रत्यक्षके साथ साक्षात् विरोध होनेके कारण 'वायुः प्रत्यक्षः महत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' यह हेतु प्रबल है। इसका कोई विरोधी तो है नहीं, इसलिए उपर्युक्त दोनों हेतु तुल्य बल नहीं है। अतः सप्रतिसाधन नामक अनैकान्तिकका भेद है ही नहीं ?

उत्तर—उनसे यह कहना चाहिए कि यदि सप्रतिसाधनको संशयका हेतु नहीं मानोगे तो, सव्यभिचार भी संशयका हेतु नहीं होगा, इससे नित्य संशयका प्रसंग होने लगेगा।

❀ जो सव्यभिचार पहिले कहा है, जिसे नैयायिकोंने साधारण अनैकान्तिक माना हैं, वह भी संशयका कारण है। क्योंकि अनैकान्तिक निरूपणके प्रसंगमें वार्तिककारने संशयके तीन कारण बताए हैं—साधारण, असाधारण, विरुद्धाव्यभिचारी। क्रमशः इनका उदाहरण भी दिया है। साधारणका उदाहरण देनेके बाद 'भूमि नित्य है, गन्धवत्व होनेके कारण 'नित्या भूः गन्धवत्वात्' यहाँ स्वयं वार्तिककारने आशंका की है कि असाधारण धर्मकी उपलब्धिमें संशय नहीं होता। पुनः उसका समाधान किया है, कि निश्चयके प्रति सपक्षमें होना, विपक्षमें न होगा, ये दोनों निश्चयके अंग हैं 'सपक्षाश्रयः, विपक्षव्यतिरेकश्चेति द्वयं निश्चयांगम्' साधारणमें सपक्षव्यतिरेक अंग नहीं है, वहाँ भी हेतु रहता है। इसलिए वह भी संशयका हेतु है। असाधारण तो व्यतिरेक होनेपर भी जहाँ यह नहीं है वहाँ निश्चयके प्रति एक अंगका वैकल्य होनेके कारण, वह भी संशयका हेतु है। विरुद्धाव्यभिचारी, जो सप्रतिसाधन ऊपर कहा गया है, वही वार्तिकमें बताया गया है। इसप्रकार वार्तिकमें अनैकान्तिकके नैयायिकोंको तरह तीन भेद करनेपर भी ग्रन्थकारने अपनी बुद्धिसे अनैकान्तिकके दो भेद बताए हैं। इस विषयमें 'सिद्धान्तचन्द्रिका' कारने कहा है कि 'ग्रन्थकारने अपनी बुद्धिसे हेत्वाभासका जो वर्णन किया है, वह वार्तिक विरुद्ध है। क्यों ऐसा कहा है ? मैं इस बातको नहीं जनता हूँ—
'स्वबुद्धया ग्रन्थकारस्य यद्धेत्वाभासवर्णनम्। वार्तिकव्यतिरेकेण किमर्थं तन्न वेदम्यहम्' ॥ इति।
(सिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० ६६)

१. अस्य उपपादनं प्रकरणपंचिकायां 'अन्ये पुनः असत्प्रतिपक्षत्वमपि-अनुमानकारणमाहुः। इत्यादिरूपेण कृतमस्ति द्रष्टव्यम् पृ० २१३।

२. अपरोक्षावभासाविरोधादिति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

सत्यपि तस्य संशयहेतुत्वे प्रमाणान्तरेण निर्णयसंभवान्न नित्यसंशयापत्तिरिति चेत्? तर्हीहापि प्रमाणान्तरेण निर्णयसंभवाददोषः। तथा सति यत्प्रमाणान्तरविरुद्धं तस्य दुर्बलत्वात् इतरस्य बलीयस्त्वादतुल्यबलत्वमिति चेत्? केन चोक्तमुभयं तुल्यबलम्? इति, किं त्वगृह्यमाणबलाबलत्वमात्रम्।

तथा हि—यः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं वा नावधारयति, तस्योर्ध्वत्वं संशयहेतुर्भवति, निर्णीते त्वन्यतरस्मिन् रूपे संशयो निवर्तते। तथा यो वायोरपरोक्षावभासं नावधारितवान् तस्य पृथिव्यादिषु प्रत्यक्षत्वव्याप्तं स्पर्शवत्वं व्योमादिषु चाऽप्रत्यक्षत्वव्याप्तमरूपत्वं वायावुपलभमानस्य भवत्येव संशयः। स तु प्रमाणान्तरेण निर्णयेसति निवर्तत इत्यास्तां तावत्। तस्मात्सप्रतिसाधनत्वमपि सव्यभिचारवत्संशयहेतुः। तथा च भाष्यकारः—'यत्कर्म तत् फलवद् होमोपि कर्म तेनापि फलवता भवितव्यम्' इत्यस्य 'उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानां च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टमिति द्रव्यमपि फलवत्स्यात्' इति सप्रतिसाधनं ब्रुवन् सप्रतिसाधनत्वमपि दूषणमिति दर्शयति, तस्मात् सोपि संशयहेतुः।

शंका—सव्यभिचार संशयका कारण होनेपर भी दूसरे प्रमाणसे साध्यका निर्णय हो जाता है। उससे नित्य संशयकी आपत्तिका वारण हो जाएगा (सप्रतिसाधनमें तो कोई निर्णायक नहीं है?)

उत्तर—यहाँ भी दूसरे प्रमाणसे निर्णय होनेके कारण नित्य संशयापत्ति दोष नहीं है।

शंका—ऐसा होनेपर, जो हेतु प्रमाणान्तरसे विरुद्ध है, वह दुर्बल है, दूसरा प्रबल है, इसलिए तुल्यबलत्व नहीं है।

उत्तर—किसने कहा दोनों तुल्य-बल हैं? बल्कि दोनोंमें बलाबल गृहीत नहीं होता, यह कहा गया है। अगृह्यमाण बलाबलत्वका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं। जो मानव स्थाणुत्व या पुरुषत्वका निर्णय नहीं करता उसके लिए ऊर्ध्वताका दर्शन संशयका कारण होता है। किसी एक पक्षका निर्णय होनेपर संशय निवृत्त हो जाता है। वैसा प्रकृतमें भी समझिए। इसी प्रकार जिसने वायुके अपरोक्षावभासका निर्णय नहीं किया, उसे पृथिव्यादिमें प्रत्यक्षत्वके व्याप्य स्पर्शत्व एवं आकाशादिमें अप्रत्यक्षत्वके व्याप्य अरूपत्व, इन दोनोंको जो वायुमें देखता है, उसे वायु प्रत्यक्ष है या नहीं? यह संशय होता ही है। वहाँ प्रमाणान्तरसे महत्व समानाधिकरण स्पर्शत्व हेतु प्रबल है। अरूपत्व हेतु दुर्बल है; अतः उसका संशय निवृत्त होता है। इस कारणसे सप्रतिसाधन भी सव्यभिचारके समान संशयका कारण होता ही है। उक्तार्थको भाष्यकारके वचनसे प्रमाणित करते हैं 'तथा च' से। इन्द्रियाधिकरणमें भाष्यकार कहते हैं, कि जो कर्म है, वह फलवान् है। होम भी कर्म है, इसलिए उसे भी फलवान् होना चाहिए। इस बातको 'उपरते कर्मणि' इत्यादि भाष्यसे सप्रतिसाधनको कहते हुए, उसका दूषण भी बताते हैं। भाष्यार्थ=कर्म उपरत होनेपर द्रव्य तथा उनके संयोगोंका अर्थात् तन्तु और तन्तुसंयोगका पटरूप द्रव्यान्तर फल देखा गया है, अतः द्रव्य भी फलवान् होगा। इत्यादि। इससे सप्रतिसाधन भी संशयका हेतु है।

कुछ लोग असाधारणको भी अनैकान्तिक मानते हैं, उसका निराकरण करनेके लिए कहते हैं 'असाधारणं'। इति से। असाधारण तो पृथ्वीमें गन्ध देखा गया है, वह कहीं भी ज्ञानको उत्पन्न

असाधारणस्य संशयहेतुत्वनिरासः

असाधारणं तु गन्धवत्त्वं पृथिव्यां दृष्टं न क्वचिदपि बुद्धिमादधातीति न संशयहेतुः। सांधारणं हि द्वयोः साध्यतदभावयो दृष्टत्वादुभयत्राप्यनवस्थया बुद्धिमादधत् संशयहेतुरिति युक्तम्। तथा विरुद्धार्थव्याप्तमपि हेतुद्वयमेकत्र दृश्यमानं स्वव्यापकमेकस्मिन् धर्मिण्युपसंहरदेकस्य विरुद्धोभयरूपधर्मत्वासम्भवात् संशयं जनयति। न चैवम्भावोऽसाधारणस्य सम्भवतीति नायं संशयहेतुः।

बाधकस्य निरूपणम्

तथा बाधको नाम हेत्वाभासो यो विरुद्ध इति तार्किकैरभिधीयते। स च षड्विध इति केचित्—धर्मधर्म्युभयेषां स्वरूपस्य विशेषस्य[1] च बाधात्। चतुर्धेति केचित्—उभयबाधस्य धर्मधर्मिबाधान्तर्गतत्वात्। एकधेत्यपरे, सर्वथा समीहितधर्मविपर्ययसाधनत्वात्। इदमेव च युक्तम्[2], अवान्तरभेदस्यानुपयोगात्। यद्यवश्यमवान्तरभेदो

नहीं करता, इसलिए वह संशयका हेतु नहीं। साधारण तो ऐसा नहीं है; क्योंकि वह साध्य तथा उसका अभाव दोनोंके दृष्ट होनेके कारण दोनों स्थलोंमें अव्यवस्थासे ज्ञानको उत्पन्न कराता है; अतः वह संशयका हेतु है, यह ठीक ही कहा है।

इसी प्रकार विरुद्ध दोनों अर्थों (प्रत्यक्षत्व तथा अप्रत्यक्षत्व) में व्याप्त अरूपत्व विशिष्ट द्रव्यत्व हेतु और महत्व समानाधिकरण स्पर्शरूप हेतु दोनों एक जगहमें देखे जाते हैं, इसलिए दोनों हेतु स्व-व्यापक अर्थको एक धर्मीमें लाते हैं; अतः एकमें विरुद्ध उभय धर्मोंका होना सम्भव नहीं। अतः दोनों हेतु संशयको उत्पन्न करते हैं❀। असाधारणमें ऐसा नहीं होता, इसलिए वह संशयका हेतु नहीं।

अनैकान्तिकके समान बाधक भी हेत्वाभास होता है। साध्यविपरीत साधक हेतु ही बाधक कहलाता है। जिसको तार्किक 'विरुद्ध' कहते हैं। अब उसका विभाग करते हैं। कुछ विद्वानोंने इसके छः प्रकार माने हैं—१—धर्मस्वरूपबाध। २—धर्मीस्वरूपबाध। ३—धर्मविशेषबाध। ४—धर्मिविशेषबाध। ५—धर्म-धर्मि उभयस्वरूपबाध। ६—धर्म-धर्मि उभय विशेषबाध। इस प्रकार बाध के छः भेद होते हैं।

और कुछ लोगोंने=धर्म-धर्मि उभयस्वरूप बाध तथा धर्म-धर्मि उभय-विशेषबाधका क्रमशः धर्म-स्वरूपबाध तथा धर्मी स्वरूपबाधमें अन्तर्भाव करके, ४ प्रकार माने हैं। और दोनों प्रकारके बाध धर्म-धर्मीके अन्तर्गत होनेसे कुछ लोग एक ही मानते हैं। यहाँ 'अपरे' से ग्रन्थकार अपने पक्षको कहते हैं, क्योंकि सभी प्रकारसे समीहित धर्मका जो विपर्यय है, उसका साधन किया

❀ अर्थात् एकधर्म वायुमें अरूपत्व शिशिष्ट द्रव्यत्व अप्रत्यक्षत्वको लाता है और महत्वविशिष्ट स्पर्शरूपहेतु प्रत्यक्षत्वको लाता है, इसलिए दोनो धर्मतो धर्मीमें नहीं रह सकते, अतः वहाँ संशय उत्पन्न होता है)

१. विशेषणस्येति 'ख' पुस्तके पाठः।

२. ग्रन्थकारः बाधक एकविध एवेति मन्यते, तत्र युक्त्यभिधानात्। अर्धाङ्गीकारेण तु द्विविधेति कथनम्। वार्तिके तु मूलोक्तानां पक्षाणां संग्राहकमिदं पद्यम्—
'षोढा विरुद्धतामाहुश्चतुर्धा वैकधापि वा। श्रुत्यर्थोक्तस्य बाधायां प्रतिज्ञार्थस्य हेतुना॥' इति॥

वक्तव्यः, तर्हि द्वैविध्यमेव वक्तव्यम्, धर्मस्वरूपबाधनं तद्विशेषबाधनं चेति। न हि धर्मितद्विशेषबाधकत्वं नाम हेतोर्दूषणं सम्भवतीति स्वयमेव वार्तिककारेण—

'धर्मिस्वरूपबाधेन विरुद्धो योभिधीयते'। इत्यादिना दर्शितम्।

तथा हि—द्रव्यातिरिक्तः समवाय इहप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवदिति, अत्रेहप्रत्यय-हेतुत्वमसमवायत्वेन भेदेन च व्याप्तं संयोगे दृष्टम्, समवायस्यासमवायत्वं भेदं चापादयत् समवायधर्मिस्वरूपं तद्विशेषणं चैकत्वं बाधत इत्युदाहृतम्।

तदयुक्तम्—इहप्रत्ययहेतुत्वं हि समवाये धर्मिणि दृष्टं न वा? यद्यदृष्टम्, ततो असिद्धत्वान्न कस्यचिदपि साधकं बाधकं वा भवति, यदि दृष्टं तत्कथं अत्रैव दृश्यमानं तस्यैव बाधनं कुर्यात्? विरोधे हि सति बाधेत, न च तद्धर्मतया दृश्यमानस्य कथं चिदपि तेन विरोधः सम्भवति[1]।

ननु समवायत्वं बाधत इत्युक्तम्? यदि समवायत्वं नाम समवायधर्मिणोतिरिक्तम्, तद्बाधेपि न धर्मिस्वरूपं बाधितं स्यात्। अथ धर्म्येव तत्, न तस्य बाधकं सम्भवतीत्युक्तम्।

जाता है। यही पक्ष युक्तियुक्त है, अवान्तर भेदका कहीं उपयोग न होनेके कारण। यदि समझें कि अवश्य ही अवान्तर भेद कहना चाहिए, तो धर्मस्वरूप बाध और धर्मविशेष बाध ये दो ही प्रकार मानने चाहिएँ। धर्मि-तद्विशेषबाधन, यह हेतुका दूषण नहीं बनता, ऐसा ही वार्तिक-कारने प्रतिपादन किया है। 'धर्मिस्वरूप बाधसे जो विरुद्ध कहलाता है' इत्यादिसे दिखाया है❀। उसीका उपपादन करते हैं, कि समवाय द्रव्यसे अतिरिक्त है, 'इह' प्रत्ययका हेतु होनेसे। संयोगकी तरह—'समवायः द्रव्यातिरिक्तः, इहप्रत्ययहेतुत्वात्, संयोगवदिति'। यहाँ 'इह प्रत्ययहेतुत्व असम-वायत्वसे व्याप्त है तथा भेदसे भी व्याप्त है। यह संयोगमें देखा गया है। अतः यह समवायका असमवायत्व और भेद—दोनोंका आपादन करता हुआ, समवायरूपी धर्मी (पक्ष) स्वरूपका एवं समवायके विशेषण एकत्वका भी बाध कर देता है—ऐसा वार्तिकमें दर्शाया गया है।

यह ठीक नहीं, क्योंकि 'इहप्रत्ययहेतुत्व' समवायरूपी पक्षमें दृष्ट है या नहीं? ये दो विकल्प हैं। यदि माना जाए समवायरूपी धर्मीमें हेतु अदृष्ट है, तब वह असिद्ध होनेके कारण न किसीका साधक हो सकता है. न बाधक। यदि पहिला पक्ष माना जाए तो (अर्थात् समवायरूप धर्मीमें हेतु दृष्ट है, ऐसा माननेपर) उसका बाध कैसे होगा? क्योंकि विरोध होनेसे न बाध होता है। जो जिसके धर्मके रूपमें प्रतीत होता है उसका उसके साथ कभी भी विरोध नहीं हो सकता।

शंका—यदि कहा जाए समवायत्वका बाध होता है, (उसके आधार भूत समवायका नहीं, तो क्या दोष है?)

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि समवायत्व समवायरूपी धर्मीसे अलग यदि होता, तो उसका बाध होनेपर भी धर्मीका स्वरूप बाधित न होता।

शंका—यदि कहा जाए वह धर्मीका स्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं।

❀ यहाँ ध्यान देने योग्य है कि ऊपर उद्धृत वार्तिक सन्दर्भ श्लोकवार्तिकमें नहीं मिलता। सम्भव है 'बृहट्टीका' में हो; जिसे वार्तिककारने सर्वप्रथम रचा था।

१. विरोधो हि एक कालावच्छेदेन एकदेशावृत्तित्वलक्षण एव वक्तव्यः। स च तद्धर्मतया दृश्यमाने न सम्भवतीत्यर्थः।

तस्मान्न धर्मिस्वरूपबाधनं नाम हेतुदोषः क्वचित्सम्भवति, सर्वत्राद्दश्यमानस्यासत्त्वात्, दृश्यमानस्य चाविरोधात्। धर्मिविशेषणस्यैकत्वस्य कामं सम्भवति बाधः, न त्वेतद् दूषणम्। यदि खल्विहप्रत्ययहेतुत्वं समवायस्यैकत्वं विरुन्ध्यात्, ततो द्रव्यातिरेकं साधयतः किं हीयते ? न हि द्रव्यातिरेकसाधनकृतमेकत्वसाधनं यतः, तस्य दूषणत्वेन संभाव्येत। तस्माद्धर्मस्वरूपस्य तद्विशेषस्य च बाधनाद् द्विविधमेव बाधकम्। तत्र—नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति कृतकत्वमनित्यत्वेन व्याप्तत्वान्नित्यस्वरूपमेव बाधते।

यस्तु—स्वरूपमेव शब्दानामभिधेयं नार्थान्तरमित्येतमर्थं प्रतिपिपादयिषुस्तत्सिद्ध्यर्थमेवं प्रयुङ्क्ते—अगृहीतसंबन्धावस्थोपि शब्दः, स्वाभिधेयमर्थं प्रतिपादयति, विभक्तिमत्त्वाद्, गृहीतसंबन्धवदिति, तस्य धर्मविशेषविपर्ययसाधनो हेतुः, पश्चाद्धि संबन्धग्रहणादस्वरूपप्रतिपादनं दृष्टमिति तद्वदेव प्रागस्वरूपार्थत्वं तेनैव हेतुना प्रसज्येत। स्वरूपप्रतिपादने च बाधितेऽर्थप्रतिपादनमपि तद्धर्मस्वरूपं[1] बाधितमेव। नहि[2] प्राक् संबन्धग्रहादर्थान्तरप्रतिपत्तिः शक्यते वक्तुम्, प्रतीतिविरोधादेव।

बाधकस्य हेतोऽभीप्सितसाध्यासाधकत्वस्योपपादनम्

सर्वत्र यो हेतुर्यादृग्विशेषविशिष्टेन साध्येन दृष्टान्तधर्मिषु नियतः, स तादृग्वि-

---

उत्तर—इसमें दोष कह चुके हैं, वह उसका बाधक नहीं हो सकता। अतः धर्मीस्वरूप बाध नामका हेतु दोष कहीं नहीं होता। क्योंकि जो सभी स्थलोंमें अदृश्यमान है वह असत् होता है। जो दृश्यमान है, (उसका विरोध नहीं है। इसलिए इहप्रत्ययहेतुत्वरूप समवाय द्रव्यसे भिन्न है; उसीको सिद्ध करनेके लिए इहप्रत्ययहेतुत्व प्रयुक्त होता है। उससे यदि एकत्वका बाध होता तो कोई दोष नहीं। द्रव्यातिरेकके साधनसे एकत्वको सिद्धि नहीं होती। यदि ऐसा होता, तो यह दोष माना जा सकता था। अतः धर्मस्वरूप तथा तद्विशेषण एकत्वका बाध होनेके कारण, बाधक दो प्रकारका ही होता है। यथा—शब्द नित्य है, कार्य होनेके कारण 'शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति'। इस स्थलमें कार्यत्व अनित्यत्वका व्याप्य है; अतः वह नित्य स्वरूपको ही बाध लेता है।

अब धर्म विशेष बाधका उपपादन करते हैं 'यस्तु' से। जो वादी शब्दोंका स्वरूप ही वाच्य होता है, दूसरा अर्थ नहीं, इस अर्थके प्रतिपादनकी इच्छासे उसकी सिद्धिके लिए प्रयोग करता है, कि शब्द अगृहीत सम्बन्ध होनेपर भी स्ववाच्यार्थका प्रतिपादन करता है, विभक्तिमान् होनेके कारण, गृहीत सम्बन्ध शब्दकी तरह 'अगृहीत सम्बन्धावस्थोऽपि शब्दः, स्वाभिधेयमर्थं प्रतिपादयति, विभक्तिमत्वात्, गृहीतसम्बन्धवदिति'। यहाँ धर्म विशेषका जो विपर्यय है, उसका साधक यह हेतु है। बादमें शक्तिग्रहके द्वारा अस्वरूपका प्रतिपादन देखा गया है। अतः वैसे ही पहिले अस्वरूपार्थत्व उसी हेतुसे प्रसक्त होगा, क्योंकि स्वरूप प्रतिपादनका बाध होनेपर, अर्थप्रतिपादनरूप धर्मस्वरूप भी बाधित हो ही जाएगा। नहीं तो शक्तिग्रहके पहिले अर्थान्तरकी प्रतीति होती है यह नहीं कह सकते, प्रतीतिका विरोध होनेके कारण*।

अब बाधक हेतुका अभिमत जो साध्यका असाधकत्व है, उसका उपपादन करते हैं 'सर्वत्र'

---

* अर्थात् शब्दमें सामान्यरूपसे अर्थबोधकत्व रहनेपर भी शक्तिग्रहके पहिले अर्थ बोधकत्वरूप विशेष धर्मकी असिद्धिसे धर्म विशेषका बाध समझना चाहिए।

१. धर्मस्वरूपमिति 'क' पुस्तके पाठः। २. नापीति 'क ख' पुस्तकयोः पाठः।

शेषविशिष्टस्य साध्यस्य धर्मिणि[1] प्रमाणान्तरविरोधात् साधनासम्भवेन विपरीतं विशेषं नियमबलात्स्वयमेव बाधमानो निर्विशेषस्य च साध्यस्यासम्भवात् साध्यमेव न साधयति। यथा शरीरिचेतनकर्तृकत्वेन घटादिषु व्याप्तमुत्पत्तिमत्त्वं देहाङ्कुरादीनां चेतनकर्तृकत्वसाधनायोच्यमानं[2] शरीरिणश्चेतनस्यानुपलब्धिविरोधेन साधयितुमशक्यत्वादशरीरस्य तेनैव हेतुना घटादिवन्निवारणाद् विधाद्वयशून्यस्य चेतनस्यासम्भवाच्चेतनकर्तृकत्वमेवाङ्कुरादीनां न साधयति। तेन धर्मविशेषविरोधो हेतोः साध्यसिद्धिमेव निरुणद्धीति भवति दूषणम्। धर्मिविशेषविरोधस्तु साध्याविरोधित्वान्न दूषणम्। प्रत्युत सिद्धान्तान्तरदूषणत्वात् प्रतिवादिन एव निग्रहस्थानत्वाद् दूषणं तद्भवति न वादिनः।

यस्तु दृष्टान्तपरिदृष्टसाध्यविशेषविरोधसम्भवेपि तद्रहितं साध्यमात्रं हेतुः साधयत्येव, तच्च विशेषान्तरमाक्षिप्य सिध्यतीति वदति, तस्य—उष्णाग्निनियतस्तृणादिविकारो

से। जो हेतु यादृग् विशेषता विशिष्ट साध्यसे सपक्षोमें नियत है वह तादृश विशेषता विशिष्ट साध्यका, धर्मि (पक्षभूत शब्द) में प्रमाणान्तरके विरोधसे साधनमें असमर्थ होनेके कारण, स्वविरुद्ध विशेषका (अर्थात् अर्थ प्रतिपादकत्वका) व्याप्तिके बलसे स्वयं ही बाध करता है। किन्तु निर्विशेष साध्यके न होनेसे वह प्रतिज्ञात साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं 'यथा' इति से। जैसे देहांकुरादि पक्ष हैं, शरीरि चेतन कर्तृकत्व साध्य है, घटादि दृष्टान्त हैं। यहाँ घटादिमें शरीरिचेतनकर्तृकत्व तथा उत्पत्तिमत्व (कार्यत्व) के साथ व्याप्ति गृहीत है। देहांकुरादिमें शरीरी कर्ता उपलब्ध नहीं होता, इसलिए उसे सिद्ध नहीं कर सकते। उसी हेतुसे घटादिकी तरह अनुमानका निषेध होता है। अतः शरीरित्व, अशरीरित्वरूप दोनों प्रकारोंसे रहित चेतनके असम्भव होनेके कारण, अङ्कुरादिमें सामान्यरूपसे शरीरीचेतनकर्तृकत्वको सिद्ध नहीं कर सकता।

इससे धर्म विशेषका विरोध, हेतुकी साध्यसिद्धिको ही रोक देता है। इसीलिए वह दोष है। धर्मि विशेषका विरोध तो साध्यका विरोधी न होनेके कारण कोई दोष नहीं। बल्कि उसके दूसरे सिद्धान्तको दूषित करनेके कारण प्रतिवादीका ही निग्रहस्थान हो जाता है, इसलिए प्रतिवादीके मतमें दोष होता है, वादीके मतमें नहीं§।

जो हेतु दृष्टान्तमें देखे हुए साध्य विशेषका विरोध होनेपर भी विशेष रहित साध्य मात्रको सिद्ध करता है, वह भी दूसरे विशेषका आक्षेप कर, उसे सिद्ध करता है, ऐसा जो वादी कहता है, तो उसके मतमें उस हेतुके द्वारा उष्णाग्निसे व्याप्त तृणादि विकार, जो कि बर्फमें देखा जाता है,

---

§ अर्थात् जहां विशेषका आक्षेप नहीं होता, वहाँ उसके बाधित होनेपर भी प्रतिज्ञात अर्थका बाध नहीं होता। क्योंकि वादी यदि यह मानता है, कि प्रतिवादी इतने मात्रसे बाधक है, तो प्रकृतमें दूसरा सिद्धान्त दोष युक्त है. वह निग्रहस्थान हो जाएगा। यह सब विषय हेत्वाभास ग्रन्थोंमें देखना चाहिए। यथा—'अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः' (न्या० द० सू० ५।२।२३) अनिग्रह स्थान प्राप्तको निगृहीत करना 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रह स्थान कहलाता है।

१. साध्यधर्मिणीति 'ख' पुस्तके पाठः।

२. साधनतयोच्यमानमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

हिमे दृश्यमानः शैत्यप्रत्यक्षविरोधादौष्ण्यासम्भवेप्यनुष्णमेवाग्नि साधयेत्, तस्माद्धर्मिविशेषविपर्ययसाधनत्वं हेतोरदूषणमेव[१]।

उदाहरणं द्विविधम्—साधर्म्योदाहरणं वैधर्म्योदाहरणं च। साधर्म्यम्– लिङ्गमुद्दिश्य लिङ्गिन उपादानम—यो यो धूमवान्महानसादिः स सर्वोग्निमान् दृष्ट इति। सम्यगुक्ते च साधर्म्ये न वैधर्म्यं वक्तव्यं गतार्थत्वात्। यदा वक्तव्यमापतति, तदा लिङ्ग्यभावमुद्दिश्य लिङ्गाभावोपादानम् - यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति यथा तोयादिष्विति। यत्र भावेन भावः साध्यते तत्रैव विधिरूपं साधर्म्यम्, तत्प्रतिषेधरूपं च वैधर्म्यम्। यत्र तु मेघाभावादिना वृष्ट्याद्यभावः साध्यते, तत्र साधर्म्यमेव प्रतिषेधरूपम। यथा – यदा यत्र मेघोन्नतिर्नास्ति[२] तदा तत्र वृष्टिर्नास्तीति। वैधर्म्यं तु विधिरूपम्। यत्र वृष्टिरस्ति तत्र मेघोत्पत्तिरस्तीति। तेन यद्भिक्षुणोक्तम्—'प्रसज्यप्रतिषेधात्मकमेव वैधर्म्यम्' इति तदनादरणीयम्।

उसमें शैत्यका प्रत्यक्षसे विरोध है। उसमें उष्णता सम्भव नहीं। फिर भी अनुष्ण अग्निको ही वह हेतु सिद्ध करेगा। इसलिए धर्मि विशेषका जो विपर्यय साधन है, वह हेतुका दोष नहीं होता*।

हेतु दोषोंको बताकर उदाहरणका प्रतिपादन करते हैं 'उदाहरणं' इतिसे। उदाहरण दो प्रकारका होता है। साधर्म्य तथा वैधर्म्य। साधर्म्य कहते हैं लिंग (हेतु) को उद्देश्य करके, लिंगि (साध्य) को ग्रहण करना। उदाहरण जैसे—जो जो धूमवान् होते हैं महानसादिक वे सब अग्निमान देखे गए हैं। जहाँ ठीकसे साधर्म्यको कहदिया जाए, वहाँ वैधर्म्य कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, गतार्थ होनेके कारण। अर्थात् साधर्म्यको ठीक प्रकारसे कहने पर, अनुमिति उत्पन्न हो ही जाती है। वहाँ वैधर्म्य कहना अपेक्षित नहीं होता। यदि कहना चाहें तो लिंगि (साध्य) के अभावको उद्देश्य कर, लिंगाभावका ग्रहण करना चाहिए। जैसे जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है; यथा जलह्रद आदिकोंमें।

अब यह बताते हैं कि जहाँ भाव (पदार्थ) से भाव (पदार्थ) को साध्य मानते हैं, वहाँ विधिरूप साधर्म्य होता है और उसका प्रतिषेध रूप वैधर्म्य होता है। जहाँ मेघाभवसे वृष्टयादिके भावका अनुमान होता है, वहाँ साधर्म्य प्रतिषेध रूप ही होता है। उदाहरण जैसे—जहाँ मेघोत्पत्ति नहीं है, वहाँ उस समय वृष्टि भी नहीं होती। वैधर्म्य तो विधिरूप होता है। जहाँ वृष्टि है, वहाँ मेघोत्पत्ति है। इससे भिक्षु धर्मकीर्तिने न्याय बिन्दुमें कहा है—'वैधर्म्य प्रतिषेध रूप ही होता है' उनका यह कथन निरस्त हुआ।

---

* अर्थात् अग्निके सम्बन्धसे तृणादि भस्म होते हैं। यदि भस्म न भी हों तो कुछ रूप तो बदल ही जाता है। उनमें कुछ विकार होता है। बर्फमें उष्ण अग्निका होना सम्भव नहीं। अतः पूर्व पक्षीके मतमें शीताग्नि ही सिद्ध होगी। क्योंकि सपक्षमें दृष्ट विशेष, पक्षमें असम्भव होने पर भी हेतु साध्यका साधक होता है, ऐसा पूर्वपक्षीने माना है। अतः यह आपत्ति उनके मतमें है, सिद्धान्तमें नहीं।

१. अत्र मानमेयोदकारेण नारायणभट्टेन साध्यस्वरूपविरुद्धः, साध्यविशेषविपरीतविरुद्ध इति विरुद्धस्य द्वैविध्यं दर्शितम्। ग्रन्थकारस्तु-एक एव विरुद्ध इति मन्यते इति प्रागुपपादितमस्माभिः।

२. मेघोत्पत्तिरिति 'ख, ग' पुस्तकयोः पाठः।

साधर्म्याभासाश्च—साध्यविकलत्वादयः, वैधर्म्याभासाश्च—साध्याभाववैकल्यादयो वार्तिक एव द्रष्टव्या इति।

प्राभाकरव्याख्यानस्यानुवादनिरासौ

'तत्तु द्विविधम्' इति दृष्टस्वलक्षणविषयमेवानुमानमिति मन्वानान् निराकर्तुमदृष्टस्वलक्षणविषयमप्यनुमानं क्रियादिविषयमस्तीति दर्शयितुं द्वैविध्याभिधानम्। न हि क्रियास्वलक्षणं प्रत्यक्षेण कदाचिद् गृह्यते, पूर्वोत्तरदेशसंयोगविभागमात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, ताभ्यामेवागन्तुकाभ्यामागन्तुकं कारणमनुमीयते, तच्च क्रियेत्युच्यते।

(उदाहरण स्वरूपको बताकर वार्तिकमें कहे हुए उदाहरण दोषोंका दिग्दर्शन कराते हैं) 'साधर्म्य' इति से। दृष्टान्तमें जो साध्यका अभाव होता है, वह साधर्म्याभास है। जैसे 'वह्निमान् धूमात् जलह्रद वत्' यहाँ जल ह्रदमें साध्यरूप वह्नि कभी देखा नहीं गया, इसीलिए साध्य विकलत्व आदि यह साधर्म्याभासका उदाहरण है, । वैधर्म्याभासका उदाहरण है—साध्याभाव वैकल्प आदि। यथा—जहाँ वह्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, महानसकी तरह। इस स्थलमें महानसमें वह्न्यभावका वैकल्य होनेसे यह वैधर्म्याभासका उदाहरण है। यह सब श्लोकवार्तिकमें देखना चाहिए❀।

अब 'तत्तु द्विविधम्' इस भाष्यकी प्राभाकर मतसे व्याख्या करते हैं 'तत्तु' इति से। (प्रभाकरमिश्रने बृहती टीकामें उक्त भाष्यका अभिप्राय बताकर अपनी व्याख्याकी है कि) जो भाट्ट मीमांसक अनुमानको दृष्टस्वलक्षण विषयक ही मानता है, उसके मतका निराकरण करनेके लिए अदृष्टस्वलक्षण विषयक अनुमान, क्रियादि विषयक भी है, इसको बतानेके लिए अनुमानके दो भेद कहे गए हैं, क्योंकि क्रियाका स्वरूप प्रत्यक्षसे कभी भी गृहीत नहीं होता। पूर्व देशका विभाग, उत्तरदेशका संयोग मात्र ही प्रत्यक्षसे गृहीत होता है, क्रिया नहीं। (संयोग—विभाग तो गुण है, अतः उनका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है) आगन्तुक इन दोनोंसे ही आगन्तुक कारणका अनुमान होता है, वही क्रिया कही जाती है। (इसलिए संयोग-विभागके द्वारा क्रियाका अनुमान होता है। अदृष्ट क्रिया विषयक भी अनुमान है, इस अभिप्रायसे भाष्यमें अनुमानके दो प्रकार बताए गए हैं, यह प्रभाकरका तात्पर्य है)

❀ अर्थात् दृष्टान्तमें साध्यका न होना, हेतुका न होना, साध्य-हेतु दोनोंकी व्याप्तिका न होना, इत्यादि रूपसे वहाँ दृष्टान्ताभासका वर्णन किया है। वैधर्म्यके उदाहरणको भी वार्तिककारने बड़े विस्तारसे समझाया है। यथा—

'सहभावित्वदृष्ट्या तु यदा व्याप्तिं न लक्षयेत्। परः साधर्म्यदृष्टान्तात् तं च नापेक्षते यदा ॥
वक्ता वा सह भावित्वं शुद्धं तेन वदेद् यदा। विपरीतान्वयं वापि तत्समाधित्सया तदा ॥
पूर्वज्ञानोपमर्देन वैधर्म्येणेष्ट साधनम्। व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते॥
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते। धूमभावेऽग्निभावेन व्याप्तेऽग्निस्ततश्च्युतः ॥
अधूम एव विद्येतेत्येवं व्याप्यत्वमश्नुते। तस्माद्धूमेन साध्यत्वमग्नेः प्रार्थयते यदा ॥
तदानग्निरधूमेन व्याप्तो वाच्यो न चान्यथा। अनग्न्यधूमसाहित्ये व्याप्तेर्वापि विपर्यये ॥
न प्रस्तुतोपकारः स्यादन्यद्वापि प्रसाध्यते। यत्राप्यर्थस्य शून्यत्वं द्वाभ्यामेकेन वा भवेत् ॥
यदनित्यं तु तन्मूर्तमणुवद् बुद्धिवत् ख वत् ॥ इति ॥ (श्लोकवार्तिक, अनुमान परिच्छेद)

क्षणभंगवादस्य निरासः

ननु द्रव्यमेव कारणं स्यात्? न, तस्य प्रागपि[1] सद्भावात्। ननु क्षणान्तरेऽन्यद् द्रव्यं सर्वसंस्काराणां क्षणिकत्वात्, सादृश्यात्तु प्रत्यभिज्ञानम्। यदा समानदेशे पूर्वमुत्तरोत्तरमारभते तदा तिष्ठतीति लक्ष्यते। यदात्वनन्तरदेशेपूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरमारभते तदा गच्छतीति लक्ष्यते। दीपगमनवच्छायागमनवच्च सदृशापरापरक्षणाना-मुत्तरोत्तरदेशप्रारब्धानां गमनावभासनिमित्तत्वात् कृतं क्रियया। किं चानुत्पन्नस्य क्षणस्य क्रियाश्रयत्वायोगात्, उत्पन्नस्य च विनाशग्रस्तत्वात् कथं क्रियारम्भकत्वम्? यथाहुः--'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थिराणां कुतः क्रिया' इति[2]। तदिदं शब्दाधिकरणे निराकरिष्यामः। ततः स्थिरत्वे सति तन्मात्रेणानुपपत्तेः क्रियानुमानं युक्तमिति।

शंका—यहाँ द्रव्य भी कारण हो सकता है, (अतः संयोग विभागके द्वारा क्रियाकी कल्पना नहीं हो सकती) उत्तर—नहीं, द्रव्य कारण नहीं हो सकता, क्यों कि द्रव्य संयोग विभागके पूर्वमें भी रहता है (अतः द्रव्यको कारण नहीं कह सकते। क्रिया ही कारण है। उसका संयोग-विभागके द्वारा अनुमान उपपन्न होता है)

शंका—द्रव्य भी तो प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होता है, (अतः द्रव्य ही संयोग-विभागका कारण होगा, कर्म नहीं) उत्तर—सभी पदार्थोंके क्षणिक होनेपर भी उनके सादृश्यको लेकर प्रत्यभिज्ञा होती है, (अतः आगन्तुक द्रव्य ही कारण है)

शंका—पदार्थके क्षणिक होनेपर, तिष्ठति, गच्छति, आदि प्रतीति कैसे होगी?

उत्तर—जब समान देशमें पूर्व-पूर्व क्षण, उत्तर-उत्तर क्षणका आरम्भ करता है, तब 'तिष्ठति' कहा जाता है। जब अनन्तर देशमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तरको आरम्भ करता है, तो 'गच्छति' व्यवहार होता है। उक्त अर्थका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं—इसका यह आशय है, कि दीपकी ज्वाला तथा दीपके प्रकाशका प्रतिक्षण भेद होनेपर भी 'दीपो गच्छति' दीप जाता है, 'छाया गच्छति' छाया जाती है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सदृशके उत्तरोत्तर क्षणोंका गमनादि क्रियाके रूपमें भान होनेके कारण, अतिरिक्त क्रियाकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। और अनुत्पन्न जो क्षण है, वह तो क्रियाका आश्रय नहीं बन सकता। उत्पन्न तो विनाश ग्रस्त होनेसे नहीं है। वह क्रियाका आरम्भक कैसे होगा? नहीं हो सकता। इस अर्थको बौद्धोने यों कहा है—'जितने पदार्थ होते हैं, वे सब क्षणिक होते हैं। जो अस्थिर हैं, उनसे क्रिया कैसे हो सकती है?, अतः क्रियाका अनुमान नहीं होता। इसका शब्द नित्यत्वाधिकरणमें निरास करेंगे। द्रव्य तो स्थाई है, इतने मात्रसे काम नहीं चलेगा, इसलिए आगन्तुक संयोग-विभागसे क्रियाका अनुमान युक्त ही है*।

---

* इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए शालिकनाथजीने कहा है 'द्विविधमनुमानस्य प्रमेयम्, किञ्चिद्दृष्टस्वलक्षणम्, यथा वह्न्यादिकम्, किञ्चिचादृष्टस्वलक्षणम्, यथा कर्मादिकमिति'।

(प्रकरणपंचिका, अनुमान परिच्छेद, पृ० २१४)

१. समवायसम्बन्धेन क्रियां प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणमिति न शक्यते वक्तुम्, द्रव्यस्य स्वरूपतो यावद्द्रव्यभावित्वेन क्रियाया यावद्द्रव्यभावित्वप्रसंगात्।

२. 'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव सोच्यते'॥ इत्युत्तरार्धम्। द्रष्टव्य-तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां पृ० ११।

क्रियानुमानस्य निरासः

न युक्तम्—कार्यं हि कारणमात्रमपेक्षते, तच्चेह दृष्टमेवास्ति। प्रयत्नविशेषानन्तरं हि शरीरे देशसंयोगविभागाख्यं फलमुत्पद्यमानमुपलभ्यते[1]। अतः स एव निमित्तम्। तद्वदात्मशरीरसंयोगश्चासमवायि, शरीरं च समवायीति किमत्राऽदृष्टकारणानुमानेन ?

नन्वसमवायिकारणभूतस्य संयोगस्य स्वाश्रये, स्वाश्रयसमवेते वा कार्यम्, नान्यत्र, तन्तुसंयोगानामिव स्वाश्रयेषु तन्तुषु पटः, तन्तुतुरीसंयोगस्य वा पटतुरीसंयोगः। प्रयत्नवदात्मसंयोगस्त्वनेवंविधे व्योम्नि कथं संयोगमारभते ? अतः कारणान्तरं कल्पनीयमिति चेत् ? न तन्तुसंयोगः स्वाश्रय एव पटमारभते, पटस्य बहुतन्तुव्यापित्वात् संयोगानां च द्वयोर्द्वयोरेव वृत्तेः।

किं च शरज्यासंयोगान्नोदनाख्याद् युगपदेव शरे शरावयवेषु च सर्वेष्वन्तर्बहिर्वर्तिषु बहूनि कर्माण्युत्पद्यन्ते। तत्र येषामवयवानां ज्यासंयोगो नास्ति, तेष्वस्वाश्रयेषु स्वाश्रयासमवेतेषु च ज्यासंयोगः कर्मारभत इति व्यभिचारः। नहि ते संयोगाश्रयीभूते शरे समवेताः, शरस्यैव तेषु समवायात्।

उक्त मतका निराकरण करते हैं 'न युक्तम्' से। क्रियाका अनुमान युक्त नहीं है, क्यों कि कार्य-कारण मात्रकी अपेक्षा रखता है। यहाँ दृष्ट-कारण कर्म तो है ही, क्यों कि प्रयत्न विशेषके बाद शरीरमें देशका विभाग, देशका संयोगरूप फल उत्पन्न होता दिखाई देता है। अतः वही निमित्त है (क्यों कि कार्य सामान्यके प्रति समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण ये तीन होते हैं। उनमें संयोग-विभागका निमित्त कारण प्रयत्न ही है) असमवायिकारण तो प्रयत्नवान् जो आत्मा है उसका शरीरके साथ संयोग है। शरीर तो समवायि कारण है। इसलिए अदृष्ट-कारणके अनुमानका क्या प्रयोजन है ?

शंका—असमवायिकारण स्वाश्रयमें या स्वाश्रय समवेतमें कार्यको उत्पन्न करता है, अन्यत्र कपालादिमें नहीं। जैसे तन्तु संयोग स्वाश्रय तन्तुमें पटको उत्पन्न करता है। तन्तु-तुरी संयोगका पट-तुरी संयोग कार्य है। प्रयत्नवान् आत्मशरीर संयोग तो, जो उसका आश्रय नहीं, ऐसे आकाशमें संयोगको कैसे उत्पन्न करेगा ? इसलिए कारणान्तरकी कल्पना होनी चाहिए।

उत्तर—नहीं, तन्तु संयोग स्वाश्रय तन्तुमें ही पटको आरम्भ नहीं करते, क्यों कि पट तो अनेक तन्तुओंसे व्याप्त है। संयोग तो दोमें ही रहता है।

और सुनिए—शर और प्रत्यञ्चा इन दोनोंके संयोगसे नोदनरूप व्यापारसे एक ही समयमें शर तथा शरावयव सभी बाहर भीतर रहनेवालोंमें अनेक कर्म उत्पन्न होते हैं। उनमें जिन अवयवोंके साथ प्रत्यञ्चा-शर संयोग नहीं है, उनमें भी जो अपनेको आश्रय नहीं करते तथा स्वाश्रयमें जो समवेत नहीं हैं, उनमें भी प्रत्यञ्चा-संयोग कर्मको आरम्भ करता है, अतः व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि वे शरावयव संयोगके आधार शरमें समवेत नहीं हैं; बल्कि शर ही उन अवयवोंमें समवायसे रहता है।

---

१. उपलभ्यते ततः, इति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

किञ्च प्रयत्नवदात्मसंयोगानन्तरं युगपदेव हस्ते, प्रयत्नवदात्मसंयुक्ते, तत्संयुक्ते चाङ्गदे, अङ्गुलीयके च तल्लग्ने मणौ च कर्मोत्पद्यते, अथैवमादिषु न नोदनात् न प्रयत्नवदात्मसंयोगाद्वा कर्मोत्पत्तिः, किन्तु संयुक्तसंयोगादित्युच्यते, ज्यासंयुक्तावयवसंयोगात्तदनन्तरावयवे, तत्संयोगाच्च तदनन्तरे। तथात्मसंयोगाद्धस्ते, तत्संयोगादङ्गदे, तत्संयोगान्मणावपीति। एवं तर्ह्यत्रापि शक्यते वक्तुम्—प्रयत्नवदात्मसंयुक्तशरीराकाशसंयोगाच्छरीराकाशदेशविभागः, तत्संयोगाच्च तदनन्तरदेशसंयोग इति दृष्टेनैव संयोगेन संयोगविभागसिद्धेर्न कर्मकल्पनाऽवकल्पते।

किं च न संयोगस्यैवायं धर्मः, सर्वाण्येवाऽसमवायिकारणानि स्वाश्रये स्वाश्रयसमवेते वा कार्यमारभन्ते, नान्यत्र। ततश्च कर्माप्यसमवायिकारणत्वेनानुमीयमानं वियति विहङ्गमे चोभयत्रानुमीयेत्? न हि विहगकर्मणा वियति कार्यं सम्भवति, ततश्च वियत्यपि चलतीति बुद्धिः स्यात्। अतो नानुमेयं कर्म। किमिदानीं नास्त्येव क्रियातत्त्वम्? अस्ति, प्रत्यक्षावगमात्।

(अर्थात् सभी स्थलोंमें संयोगसे ही कर्म उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तत्संयुक्त संयोगसे भी कर्म उत्पन्न होता है। संयुक्तसंयोगसे संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं; अतः कर्म-कल्पना अयुक्त है) इसीको स्पष्ट करते हैं 'किं च' से। प्रयत्नवान् आत्माका शरीरसे संयोग होनेपर, एक ही समयमें हस्तसे संयुक्त अंगद (आभूषण विशेष) और अंगुलीयक, इन दोनोमें जड़ी हुइ मणिमें भी कर्म उत्पन्न होता है। (इसलिए प्रयत्नवदात्म संयोगसे ही कर्म होता है, यह बात नहीं)

शंका—ऐसे स्थलोमें प्रेरणासे क्रिया नहीं होती। या प्रयत्नवान् आत्म-शरीर संयोगसे भी क्रिया नहीं होती, किन्तु संयुक्त संयोगसे यदि कहोगे अर्थात् ज्यासंयुक्त अवयव संयोगसे उसके उनन्तर अवयवोंमें क्रिया होती है। शरीरात्मसंयुक्त, हस्तसंयुक्त तथा अंगद संयोगसे अंगद-मणिमें भी क्रिया होती है। इसलिए संयोगसे ही कर्म होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं।

इस प्रकार माननेपर तो यहाँ ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रयत्नवान्–आत्मसंयुक्त शरीराकाश संयोगसे, शरीराकाशादि देशका विभाग होता है। उस संयोगसे तदनन्तर देशका संयोग होता है। इस प्रकार दृष्ट संयोगसे ही संयोग और विभागकी सिद्धि होनेसे, कर्मकी कल्पना करना युक्त नहीं है।

(अब क्रिया कल्पनामें दोष बताते हैं) 'किं च' से। संयोग स्वाश्रय तथा स्वाश्रय समवेतमें कार्यको उत्पन्न करता है; अतः यह संयोगका ही धर्म नहीं, अपितु सभी असमवापि कारणोंका भी यही धर्म है। अतः समवायिकारण भी स्वाश्रयमें या स्वाश्रय समवेतमें कार्यको उत्पन्न करते हैं, अन्यत्र नहीं। (अतः संयोग-विभागके कारण रूपसे, जो क्रियाका अनुमान होता है, वह भी संयोग और विभागका असमवायि कारण ही मानना चाहिए)

उत्तर—यह ठीक नहीं है। ऐसा होनेपर असमवायिकारणत्वेन अनुमीयमान कर्मका भी आकाश तथा विहग, इन दोनोंमें अनुमान करना होगा, यह नहीं कह सकते। क्योंकि विहगके कर्मसे आकाशमें कार्य नहीं हो सकता। अन्यथा उससे आकाशमें भी 'आकाश चलता है' ऐसी बुद्धि होने लगेगी। इसलिए कर्म अनुमेय नहीं है।

शंका—क्या क्रिया नामक कोई तत्त्व है ही नहीं?

उत्तर—है, उसका प्रत्यक्षसे ज्ञान होनेके कारण।

ननु संयोगविभागातिरिक्तं न किञ्चिदत्र दृश्यते[1] ? दृश्यते हि सर्पति सर्पे भूमेः सर्पस्य च द्वयोर्मिथः संयोगविभागाऽविशेषेपि सर्पमेव चलतीति बुद्धिरालम्बते, न भूमिम्। अतोऽस्या बुद्धेरालम्बनमस्ति। सर्पे चलनं नाम तत्त्वम्। सद्भावाभावाभ्यां[2] सर्पभूम्योश्चलतिबुद्धेर्भावाभावावित्यङ्गीकार्यम्। न चेयमानुमानिकी संभवतीत्युक्तम्। तस्मान्नैवमभिप्रायमिदं भाष्यम्, किन्तु विशेषविषयं सामान्यविषयं चानुमानमित्यनुमानस्य विषयप्रपञ्चार्थम्।

येपि मन्यन्ते—'विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता' इति, । तेऽनेन निराक्रियन्ते, उभयोरपि विषयत्वोपपत्तेः[3] । यत्र विशेषस्यैवानुगमः, तत्र विशेषविषयत्वम्, सामान्यानुगमे तु सामान्यविषयत्वम्। न च सिद्धसाध्यत्वम्, देशान्तरकालान्तरसंबन्धस्याऽगृहीतस्य ग्रहणादिति प्रागेव वर्णितम्।

॥ इत्यनुमानपरिच्छेदः ॥

शंका—क्या संयोग—विभागके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ?

उत्तर—देखा गया हैं कि चलते हुए सर्पमें भूमि और सर्प इन दोनोंके परस्पर संयोग-विभागमें विशेषता न होनेपर भी, 'चलति' रूप प्रतीति सर्पको ही विषय करती है, पृथ्वीको नहीं। इसलिए इस बुद्धिका आलम्बन है सर्पमें चलन नामक तत्त्व, जिसके रहनेसे सर्पमें 'चलति' यह बुद्धि होती है। (इसलिए कर्मको मानना होगा और वह प्रत्यक्ष है)

अब अपने सिद्धान्तको बताते हैं 'न च' इत्यादिसे। सर्पमें 'चलति' बुद्धि क्रियाकी अनुमापिका नहीं होती, यह पहिले कह चुके हैं§। अतः इस भाष्यका दृष्ट स्वलक्षण ही अनुमान होता है, ऐसा मानने वाले प्राभाकर मीमांसकोंका निरास करनेके लिए अदृष्ट स्वलक्षण क्रियादि विषयक अनुमान भी होता है, इस बातको बतानेके लिए 'अनुमानं द्विविधम्' इत्यादि भाष्यहै। यह जो पूर्वमें कहा गया है कि उस भाष्यका यह अभिप्राय नहीं है, अपितु विशेष-विषय और सामान्य-विषयके भेदसे अनुमान दो प्रकारका है, वह तो अनुमानका विषय विवेचन करनेके लिए है।

भाष्य द्वारा अनुमान दो प्रकारका है, इस कथनका क्या प्रयोजन है ? ऐसा सन्देह होनेपर उसका प्रयोजन बताते हैं 'येऽपि' से। जो चार्वाक आदि अनुमानमें दोष देते हैं कि 'विशेषको अनुमानमें साध्य माननेपर अनुगमाभाव दोष है, (अर्थात् उसका अनुगम नहीं हो पाता) सामान्यको साध्य माननेपर सिद्धसाधनता दोष है' उनका निराकरण इससे किया जाता है।

सामान्य—विशेष दोनों अनुमानके विषय हो सकते हैं। जहाँ विशेषका ही अनुगम होता है, वहाँ विशेष-विषयता है। सामान्यका अनुगम होनेसे तो सामान्य-विषयता है, अतः सिद्ध-साधन-

---

§ 'न्यायरत्नाकरमें' कहा गया है, कि 'प्रत्यक्षसे ही कर्मका स्वरूप देखते हैं। उसके अनन्तर देवदत्त आदिकी देशान्तर प्राप्तिको जानते हैं। अतः कर्मस्वरूप नित्य अनुमेय नहीं, प्रत्यक्षसे प्रतीत होनेके कारण 'प्रत्यक्षेणैव हि दृष्टं कर्मस्वरूपं तदनन्तरं च देशान्तरप्राप्तिं देवदत्तादेरुपलभामहे। न हि नित्यानुमेयं कर्मस्वरूपम्, अपरोक्षेणैवावभासात्'।

---

१. दृश्यत इति क, ख पुस्तकयाः पाठो नास्ति। २. यद्मात्राभावाभ्यामिति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः। ३. विशेषत्वोपपत्तेरिति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।

शब्दपरिच्छेदः, तद्द्वैविध्यं च

'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' इति, विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यद्वाक्यार्थविज्ञानम्, तच्छाब्दं नाम प्रमाणम्। तत् लोकसिद्धत्वान्नपरीक्षितव्यम्। तच्च द्विविधम्—पौरुषेयम्, अपौरुषेयं चेति। तत्र पौरुषेयमाप्तवाक्यम्। अपौरुषेयं च वेदवाक्यम्। उभयमप्यनाप्तप्रणीतत्वदोषविरहात् स्वतश्च शब्दस्यादुष्टत्वात् प्रमाणम्।

दोष नहीं है। अनुमानमें देशान्तर कालान्तरका जो सम्बन्ध है, वह अगृहीत है उस अगृहीत सम्बन्धका ग्रहण होनेके कारण अगृहीतग्राहित्वरूप प्रामाण्यका पहिले ही समर्थन किया जा चुका है।

(इस प्रकार शास्त्रदीपिकाके अनुमानपरिच्छेदका श्री चन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्तहुआ।)

अब क्रम प्राप्त शब्दका निरूपण करते हैं 'शास्त्रम्' इत्यादि से। यहाँ प्रकरणसे प्रकृतमें उपयोगी होनेके कारण जिसे शास्त्र कहा है, उसे शब्दप्रमाण समझना चाहिए। शब्द जन्य ज्ञानसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके द्वारा असन्निकृष्ट वाक्यार्थ ज्ञानको जो उत्पन्न करता है, उसे शास्त्र (शब्द) कहते हैं। (इसलिए स्वयं ग्रन्थकारने शास्त्रके स्थान पर शब्दको रखकर, उक्त वाक्यका अर्थ किया हैं=) विज्ञात शब्दके द्वारा जो पदार्थको कहते हुए असन्निकृष्ट वाक्यार्थ विषयक ज्ञान होता है, उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। लोकसिद्ध होनेके कारण प्रत्यक्षकी तरह उसकी भी परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं॥।

॥ यहाँ शंका है कि प्रत्यक्ष लक्षणकी तरह व्यभिचार शंकाकी निवृत्तिके लिए शब्द मात्रका ही लक्षण करना चाहिए, शब्द प्रमाण विशेष शास्त्रका नहीं। क्योंकि सामान्य लक्षणके बिना विशेषका लक्षण नहीं हो सकता। और यह लक्षण शब्द मात्रमें साधारण है। यदि शास्त्रका लक्षण कहना है, तो जिस वाक्यसे प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है, उसीको शास्त्र कहना चाहिए

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते'॥ इति॥

यह शास्त्रका लक्षण है। यहाँ पुनः शंका है कि उक्त लक्षण मानने पर स्वरूपके प्रतिपादक 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्योंका शस्त्रत्व नहीं सिद्ध होगा।

उत्तर—परीक्षाके व्याजसे शब्द विशेष शास्त्रका ही लक्षण करना उचित है। क्योंकि चोदना, उपदेश आदि शब्दोंसे वे ही प्रस्तुत होते हैं। लौकिक वाक्योंका लक्षण वेदके प्रामाण्यमें या उसके अर्थ विचारमें उपयुक्त नहीं होता। शास्त्रका लक्षण करनेपर, उसके अर्थ निर्णयमें अत्यन्त उपयोगिता है। इसलिए शास्त्रका लक्षण यों कहना चाहिए=भाष्य वाक्यमें शब्दसे प्रवर्तक वाक्यको शास्त्र कहना चाहिए। 'अर्थ' पदसे धर्माधर्मको लेना चाहिए। उसका यह अर्थ है कि विधायक शब्द जन्य पदार्थ ज्ञानसे असन्निकृष्ट धर्मा-धर्म विषयक ज्ञानको शास्त्र कहना चाहिए—'विधायकशब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे धर्माऽधर्मलक्षणे विज्ञानं शास्त्रमिति'। ग्रन्थ कारने तो विशेष लक्षणका सामान्य लक्षणमें अन्तर्भाव कर, सामान्य लक्षणका ही वर्णन किया है। इसका यह तात्पर्य है कि यदि लोक और वेद दोनोंको सामान्यरूपसे दृष्टिमें रखकर, शब्द प्रमाणका लक्षण करें तो अनुमानसे शब्द प्रमाण पृथक् सिद्ध होगा और तभी वेदका प्रामाण्य स्थित हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इसी आवश्यको प्रकट करनेके लिए वार्तिककारने कहा है।

'तस्माल्लक्षणभेदेन यदि शब्दप्रमाणता। समालोके च वेदे च सिद्धा वेदप्रमाणता'॥ इति॥

तच्च पुनर्द्विविधम्—सिद्धार्थं विधायकं चेति। विधायकमपि द्विविधम्—उपदेश-कमतिदेशकं च। इत्थमिदं कर्तव्यमित्युपदेशः। यथालोके—दधिघृतसूपशाल्यादिभिर्देवदत्तो भोजयितव्य इति। वेदेपि—प्रयाजावघातादिप्रकारेण दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं कुर्यादिति। तद्वदिदं कर्तव्यमित्यतिदेशः। यथा लोके—देवदत्तवद् यज्ञदत्तो भोजयितव्य इति। वेदेपि सौर्येण कुर्याद् यथाग्नेयेनेति।

शब्दान्तरादिभिः, श्रुतिलिङ्गादिभिः, श्रुत्यर्थादिभिश्च विचित्रोयमुपदेशो भेद-विनि-

(इस प्रकार शब्दप्रमाणका लक्षण कहकर, उसका विभाग करते हैं) 'तच्च' से। वह शब्द प्रमाण दो प्रकारका है, पौरुषेय और अपौरुषेय भेद से। उनमें पौरुषेय आप्तवाक्य होता है। अपौरुषेय वाक्य वेदवाक्य है। इन दोनों वाक्योंमें अनाप्त प्रणीतस्वरूप दोष न होनेसे शब्द स्वतः निर्दोष होनेसे प्रमाण होता है। और वह वेदवाक्य पुनः दो प्रकारका है–सिद्धार्थ बोधक और विधायक। विधायक वाक्य भी दो प्रकारका है, एक उपदेशक, दूसरा अतिदेशक। 'इस कर्मको इस प्रकार करना चाहिए' यही उपदेश है। यथा—लोक व्यवहारमें कहा जाता है दही, घी, दाल, भात आदिसे देवदत्तको भोजन कराना चाहिए। इसी प्रकार वेदमें भी प्रयाजादि (जो आरादुपकारक = अदृष्टार्थ, अंग हैं। और) अवघातादि (सन्निपत्योपकारक) इन दो प्रकारके (अंगोंसे जो उपकार होता है उससे उपकृत) दर्शपूर्णमास यागोंसे स्वर्गको प्राप्त करे। (मूलमें 'प्रकार' शब्द उपकारका द्योतक है।)

और अतिदेश उसे कहते हैं कि 'उसकी तरह इसे करना चाहिए' जैसे लोकमें देवदत्तकी तरह यज्ञदत्तको भोजन कराना चाहिए। वेदमें भी 'सौर्य यागसे ब्रह्मवर्चसको प्राप्त करे, आग्नेय यागकी तरह उपकार कर'*।

उपदेश और अतिदेशका स्वरूप क्रमशः बताते हैं—इस उपदेशका स्वरूप बड़ा विचित्र है, (अनेकविध है। यह भेद, विनियोग तथा क्रमका बोधन करता है, इसलिए विचित्र है) क्योंकि यह शब्दान्तर (धातु भेद) तथा 'आदि' शब्दसे अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण, प्रकरणान्तररूप प्रमाणोंसे कर्मभेदका प्रतिपादन करता है§। इसी प्रकार अतिदेश भी वचन, नामधेय, चोदना लिंगके भेदसे

* अर्थात् आग्नेय यागसे अंगोपकारके द्वारा जैसे स्वर्गको प्राप्त किया, वैसे सौर्ययागसे भी अंगोपकारके द्वारा, ब्रह्मवर्चस्वरूप फलको प्राप्त करे, प्रकृति यागकी तरह। जहाँ सम्पूर्ण अंगोंका पाठ हो उसे प्रकृतियाग कहते हैं—'यत्र समग्रांगोपदेशः सा प्रकृतिः'।

§ यहाँ कर्म शब्दसे भावनाको समझना चाहिए। उसका भेद कहीं धात्वर्थके भेदसे होता है। कहीं अपूर्वके भेदसे भी भावनाका भेद होता है। अतः भावना भेद ही प्रधान है। उक्त शब्दान्तरादि प्रमाणोंके द्वारा उपदेश, याग, दान, होमादिका परस्पर भेद बताया है। यह द्वितीय अध्यायका विषय है। यहाँ प्राचीन लोग शब्दान्तरसे अपर्याय धातु भेदको मानते हैं। नवीन तो विभिन्न धात्वर्थोंको शब्दान्तर मानते हैं। तृतीयाध्यायमें श्रुति लिंग आदिका विवेचन है। यहाँ 'आदि' पदसे वाक्य, प्रकरण, स्थान समाख्याको जानना चाहिए। इन प्रमाणोंसे उपदेश विनियोगको बताता है। और विचार तो प्रासंगिक है। अंगत्वेन सम्बन्धको विनियोग कहते हैं। पंचमाध्यायमें श्रुति, अर्थ आदिका वर्णन है। 'आदि' पदसे पाठ; स्थान, मुख्य प्रवृत्तिको लेना चाहिए। उक्त छः प्रमाणों द्वारा उपदेश क्रमका बोधक होता है, यही उपदेशकी विचित्रता है।

योगक्र मानवबोधयति। वचन-नामधेय-चोदनालिङ्गैश्चातिदेशोऽन्यत्र विहितस्य नानापदार्थविशिष्टस्य प्रकारस्य तत्प्रतिपादकस्य वा शास्त्रस्य विध्यन्तापरनामधेयस्यान्येन सम्भन्धम्, विकारम्, बाधं वा बोधयतीत्यूहनीयम्।

असन्निकृष्टग्रहणं च पूर्ववत्ताद्रूप्यतद्विपर्ययपरिच्छेदनिरासार्थम्। एकदेशिनान्तु तदनर्थकमेव स्यात्। विपरीतपरिच्छिन्ने तावन्नास्त्येवशब्दाज्ज्ञानम्। यदि स्यात्, पुरुषदोषाणां शब्दे संक्रान्त्यनभ्युपगमात् स्वाभाविकमेव शब्दस्याप्रामाण्यं स्यादिति वेदाप्रामाण्यं स्यात्।

तीन प्रकारका होता है। वह अतिदेश अन्यत्र प्रकृतिमें विहित जो नाना पदार्थ हैं। उनसे विशिष्ट प्रकारका विकृतिके साथ सम्बन्ध बताता है। अथवा पदार्थका प्रतिपादक शास्त्र, जिसका दूसरा नाम विध्यन्तर है, उसका विकृतिके साथ सम्बन्ध, विकार या बाधको बताता है, यह जानना चाहिए*।

(शास्त्र लक्षणमें अर्थका विशेषण सन्निकृष्ट दिया गया है, उसका फल बताते हैं) 'असन्निकृष्ट' इत्यादिसे§। जैसे अनुमान वाक्यमें असन्निकृष्टका जो फल बताया है, वैसा यहाँ भी समझना चाहिए। पूर्ववत् = पहिले कहे हुए अनुमान वाक्यकी तरह। तद्विशिष्टके समान = जो पहिले तद्वत्वेन ज्ञात है या तदभाववत्वेन निश्चित है, उसका निरास करनेके लिए है। (यह विशेषण भाट्ट मतमें सार्थक है) जो एक देशी प्राभाकर हैं, उनके मतमें यह असन्निकृष्ट विशेषण निरर्थक है, (क्योंकि उसका भेद बतानेवाला कोई कारण नहीं है) जो विपरीत रूपसे निश्चित है, वह शब्दसे ज्ञात होता नहीं। अन्यथा पुरुषके दोष प्रमादादि शब्दमें ही आते हैं, ऐसा भाट्ट मीमांसक मानते हैं। (प्राभाकर नहीं मानते) अतः पुरुष दोषोंका शब्दमें संक्रमण न होनेके कारण; शब्दका सदाके लिए ही अप्रामाण्य हो जाएगा। इससे तो वेदका भी अप्रामाण्य होने लगेगा

---

* यह विषय सप्तम, अष्टम अध्यायमें कहा गया है। अतिदेश विकार या ऊहको बताता है। यह नवम अध्यायका विषय है। यथा = 'ऊहो नाम प्रकृतावन्यथादृष्टस्य विकृतावन्यथाभावः'। इसीको विकार या ऊह कहते हैं। मंत्र, साम, संस्कारके भेदसे यह तीन प्रकारका होता है। यही अतिदेश बाध विषय भी होता है। अननुष्ठानको बाध कहते हैं। वह दो प्रकारका है। अप्राप्त बाध और प्राप्त बाध। प्रथमका तृतीय अध्यायमें निरूपण है। दूसरेका दशममें। यह भी तीन प्रकारका है—द्वारलोक, प्रत्यामनान (विरुद्धार्थ कथन) और प्रतिषेध। इन तीनोंसे बाधका निरूपण दशममें किया गया है। प्रधान विधिको छोड़कर सम्पूर्ण अंग काण्डको विध्यन्त कहते हैं। इसप्रकार अतिदेश और उपदेश इन दोनोंको समझना चाहिए। विशेष जिज्ञासाके लिए ऊपर निर्दिष्ट अध्यायोंको देखना चाहिए।

§ अनुमान निरूपणके बाद तार्किकोंने उपमान प्रमाणका निरूपण किया है। मीमांसकोंका कहना है कि अनुमानके बाद शब्दका ही निरूपण होना चाहिए, क्योंकि अनेक वादियोंने इसे माना है। इसीसे मीमांसक अनुमानके बाद शब्दका निरूपण करते हैं।

अनुमानतः परस्तादुपमानं वर्णयन्ति तर्क विदः। वादिपरिग्रहभूम्ना वयन्तु शब्दं पुरस्कुर्मः॥

(द्रष्टव्य—मानमेयोदय, शब्द खण्ड।)

यदि परं तद्रूपपरिच्छिन्नविषयस्यानुवादस्य निरासः स्यात्। तच्चायुक्तम्, तस्यापि शास्त्रत्वात्। न हि तस्याप्यप्रामाण्यम्[1], अनुभूतित्वात्। प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावाभावाच्च शास्त्रत्वमेवेत्यास्तां तावत्।

औलूक्यसौगतमतानुवादनिरासौ

इदं च शाब्दम्—'अस्येदं कारणं-कार्यं-संबन्धि-एकार्थसमवायि विरोधि चेति लौङ्गिकम्' (वै० द०, सू०, ९।२।१) इत्यनुमानलक्षणमभिधाय, 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' इति

शंका—यदि कहें असन्निकृष्ट§ विशेषणसे जो तात्पर्य ज्ञातविषयक है, वह तो अनुवाद है। (यहाँ अनुवाद शब्दसे वैदिक अनुवाद समझना चाहिए) उसीका निरास करनेके लिए यह विशेषण दिया गया है।

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुवाद भी तो शास्त्र है। और वह अनुभवरूप भी है, इसलिए उसका अप्रामाण्य होता नहीं; (अनुभूति होनेके कारण) अनुवादका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें अन्तर्भाव भी नहीं कर सकते, अतः इसे शास्त्र ही मानना होगा।

(बौद्ध तथा वैशेषिक दोनों प्रत्यक्ष-अनुमान, दो ही प्रमाण मानते हैं। शब्दको पृथक् प्रमाण नहीं मानते, अपितु उसका अनुमानमें अन्तर्भाव करते हैं। उन्हींका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकार कहते। हैं—'इदं च शाब्दं' इत्यादि। इसका 'अनुमानादभिन्नं मन्यन्ते' वाक्यसे सम्बन्ध है) और यह शब्द प्रमाण है। उसमें अनुमानके पांच प्रकार हैं (क) यह इसका कारण है❀। (ख) सह इसका कार्य है। (ग) यह इसका सम्बन्धी है। (घ) यह इसका एकार्थ समवायि है। (ङ) यह इसका विरोधी है। इस प्रकार यह लैंगिक है, ऐसे अनुमान लक्षणको कहकर, इसीसे शब्द प्रमाणकी

§ 'असन्निकृष्ट वाचाचे' त्यादि श्लोकवार्तिकके अनुमान परिच्छेदमें है। किन्तु ब्रह्मानन्द गौड़जी ने इसको शब्द परिच्छेदमें पठित है, ऐसा मानकर व्याख्यान किया है। निर्णय यह है–शब्द अनुमान दोनोंमें भेद बताना आवश्यक है। इसी आशयको लेकर यह वार्तिक पढ़ी गई है, ऐसे लघुचन्द्रिकाको लगाना चाहिए।

❀ इस विषयमें 'अस्येदं कार्यं - कारणं - संयोगि - विरोधि - समवायिचेति लैंगिकम्' यह वैशेषिक, ९।२।१ सूत्र है। किन्तु ग्रन्थकारने इसे कुछ विकृत करके पढ़ा है। इस सूत्रके उदाहरण है— (क) कार्यसे कारणका अनुमान यथा लिंग धूमादिसे अग्निका अनुमान होता है। (ख) कारणसे कार्यका अनुमान–जैसे जो बधिर है, वह भेरी-दण्ड संयोगरूप कारणसे कार्य-शब्दका अनुमान करता है। (ग) संयोगि—जैसे धार्मिक पुरुष द्वारा किए गए यथाविधि याग स्नानादि अनुष्ठानसे, धर्म स्वर्ग आदिका अनुमान होता है। (घ) विरोधी—जैसे कारीरि इष्टिके अनुष्ठानसे वर्षाका अनुमान होता है। (ङ) समवायि—जैसे जलसे पूर्ण नदी आदिमें तीव्र प्रवाह द्वारा, जलके निःसरणका अनुमान होता है।

यहाँ कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध एक है। वह दो प्रकारसे कहा गया है, कार्यत्व एवं कारणत्व। संयोगिका उदाहरण शरीरके दर्शनसे त्वगिन्द्रियका अनुमान होता है। विरोधी का उदाहरण फुंफकारते हुए सर्पको देखनेसे नकुलका अनुमान होता है। इस प्रकार शंकर मिश्रजी ने उपस्कारमें सूत्रका व्याख्यान किया है।

१. न हि कस्याप्यप्रामाण्यमिति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

वदन्तः काश्यपीयाः, 'प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे' इति ब्रवाणाः सौगताश्चानुमानादभिन्नमिति मन्यन्ते । तत्र यत्तावत् पदार्थज्ञानं तदवगतार्थविषयत्वात् प्रमाणमेव न भवतीति किं तस्य भेदाभेदपरीक्षया ।

यत्तु वाक्यार्थज्ञानं तदगृहीतसम्बन्धैरेव पदार्थैरुपजायमानं नानुमानशङ्कामर्हति । न हि सर्वैर्वाक्यार्थविशेषैः सम्बन्धग्रहणमस्ति । न च सम्भवत्यनन्तैः सम्बन्धग्रहणम् । अत्यन्तापूर्वोपि वाक्यार्थविशेषः पदार्थैरवगम्यते दूरदेशवार्तास्विति सर्वजनीनमेतत् ।

व्याख्या हो गई, ऐसा कहते हुए वैशेषिक, शब्दको अनुमानसे अभिन्न मानते हैं ।

और बौद्ध तो प्रत्यक्ष-अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, ऐसा कहते हुए, इस शब्द प्रमाणको अनुमानसे अभिन्न ही मानते हैं§ । (द्रष्टव्य—न्यायबिन्दु–पृ० ८)

(अब ग्रन्थकार कहते हैं कि शब्दप्रमाण दो प्रकारका है, पद और वाक्य । इन दोनोमें जो पद है, वह अर्थका स्मारक होता है, इसलिए वह प्रमाण ही है । जैसे वार्तिककारने कहा है—

'पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यते' इति । (श्लोकवा०, शब्द परिच्छेद, का० १०७) इसका भेद असन्निकृष्ट विशेषणसे ही सिद्ध है, अतः पदके सम्बन्धमें भेदाभेद परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं, इसीको लेकर शंका करते हैं=) कि जो पदार्थका ज्ञान है, वह अवगत अर्थको विषय करनेके कारण प्रमाण ही नहीं होता, अतः उसके भेदाभेदकी परीक्षासे क्या प्रयोजन ?

उत्तर—वाक्य सुननेके बाद पदार्थोपस्थिति होती है । तत्पश्चात् पदार्थ संसर्ग विषयक वाक्यार्थका ज्ञान होता है । और जिनका सम्बन्ध गृहीत नहीं है, ऐसे पदार्थोंसे जो उत्पन्न होता है वह वाक्यार्थज्ञान अनुमानकी शंकाके योग्य नहीं है । (अर्थात् अनुमान के अन्तर्गत नहीं आता । क्योंकि पदार्थ सन्मान्य होते हैं, वाक्यार्थ विशेष होते हैं) अतः सभी वाक्यार्थ विशेषोंके साथ वाक्यका सम्बन्ध (शक्तिग्रह) नहीं होता । और अनन्त वाक्यार्थ विशेषोंके साथ सम्बन्ध ग्रहण होना भी सम्भव नहीं । दूसरी बात है कि अत्यन्त अपूर्व भी वाक्यार्थ विशेष, दूर देशके सन्देशोमें पदार्थोंसे ज्ञात होता है, यह सबको अनुभव सिद्ध है❀ ।

शंका—जो आप्तवाक्य होनेके कारण अविसंवाद (सफल प्रवृत्ति) का अनुमान होता है, ऐसा कहा गया है, उसका क्या होगा ?

उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं, क्यों कि वह वाक्यार्थ ज्ञान होनेके बाद होता है । (अर्थात्

§ यहाँ शब्द प्रमाण अनुमानसे भिन्न है या अभिन्न ? यह परीक्षा की गई है । इसका क्या प्रयोजन है ? यह विचार करने पर, वार्तिककारने स्पष्टरूपसे विषय और सामग्रीके भेदसे भेद माना है । जैसे कि—'विषयोऽन्यादृशस्तावद्दृश्यते लिंगशब्दयोः' इत्यादि । शब्दपरिच्छेद, का० ५५, श्लोक वार्तिकसे समझना चाहिए, यह जानकर, ग्रन्थकारने उसकी उपेक्षा की है ।

❀ अर्थात् शब्द प्रमाणान्तर है । अनुमानके अन्तर्गत नहीं । यहाँ यह अनुमान समझने योग्य है—वाक्यार्थज्ञान अनुमानसे भिन्न है, सम्बन्धग्रहण निरपेक्ष पदार्थोंसे उत्पन्न होनेके कारण, प्रत्यक्षकी तरह—'वाक्यार्थज्ञानमनुमानाद् भिन्नम्, सम्बन्धग्रहणनिरपेक्षेभ्यः पदार्थेभ्य उत्पद्यमानत्वात्, प्रत्यक्षवत्' । अतः वाक्य ही वाक्यार्थमें प्रमाण होता है । उसमें अनुमानकी गन्ध भी नहीं । वार्तिककारने भी (श्लोक वा०, श० प० कारिका १०६ में) कहा है—

'वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धानुभवादृते । बुद्धिरुत्पद्यते तेन भिन्ना सावक्षबुद्धि वत्' ।।

यत्त्वाप्तवाक्यत्वादविसंवादानुमानम्, तद्वाक्यार्थावगमोत्तरकालत्वान्न तस्यानुमानत्वमापादयति। वाक्यश्रवणानन्तरमेव ह्याप्ताऽनाप्तज्ञानानपेक्षैरेव पदार्थैर्वाक्यार्थोऽवगम्यते। अत्यन्तादृष्टपुरुषप्रणीतेऽपि वाक्ये, अवगते तु वाक्यार्थे सत्यासत्यत्वसंशये प्रणेतुराप्तत्वावगमे सति, सत्यत्वमनुमीयमानं न वाक्यार्थावगतेराप्तत्वावधारणानपेक्षजन्मनोऽनुमानत्वमापादयति। तस्मात्प्रमाणान्तरमेव लोके शाब्दमिति, अपौरुषेयस्यापि वेदस्य सिद्धं प्रामाण्यम्। एकदेशिनां तु लोकवचसामनुमानत्वमङ्गीकुर्वतां यथा वेदप्रामाण्यं न सिद्ध्यति तथोक्तम्॥ इति शब्दपरिच्छेदः॥

वैशेषिकोंने) यह वाक्य सम्वादि = सफल प्रवृत्ति मान है, आप्त वाक्य होनेके कारण, ऐसा अनुमान कहा है। वह वाक्यार्थ ज्ञानके बाद ही होता है। क्यों कि कारण कार्यकी अपेक्षा पूर्वभावी होता है। इस कारणसे पश्चात् होनेवाला अविसंवादि अनुमान, पूर्वभावी वाक्यार्थज्ञानके अनुमानका साधक नहीं, प्रत्युत अविसंवादी अनुमानके पहिले ही, वाक्य श्रवणके वाद, आप्त या अनाप्त ज्ञानकी अपेक्षा न रखनेवाले पदार्थोंसे वाक्यार्थ ज्ञात हो जाता है। (अर्थात् यह वाक्य आप्त पुरुषने कहा है या अनाप्त पुरुषने, इस ज्ञानकी अपेक्षाके विना ही पदार्थोंसे वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है)

जो अत्यन्त अदृष्ट-पुरुष प्रणीत वाक्य है, उसका वाक्यार्थ ज्ञान होनेके अनन्तर, यह सत्य है कि असत्य है, ऐसा संशय होता है। फिर इस वाक्यका प्रणयन करनेवाला आप्त है, यह निश्चय होनेपर, सत्यताका अनुमान होता है। वहाँ जो वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, वह आप्त निश्चयके बिना ही उत्पन्न होता है। उसका अनुमान कैसे सिद्ध होगा ?

अब शब्द प्रमाणका उपसंहार करते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे। इसलिए लोकमें शाब्द प्रमाण भिन्न ही है। इससे अपौरुषेय वेदका भी प्रामाण्य सिद्ध होता है। एक देशी प्राभाकर मीमांसक जो, लौकिक वाक्यको अनुमान मानते हैं, उनके मतमें वेद प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा, यह चोदना सूत्रमें कह चुके हैं॥ इस प्रकार शब्द परिच्छेद समाप्त हुआ॥

(इस प्रकार शब्द परिच्छेदका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

॥ इस विषयका विवेचन पहिले हो चुका है। उसका यह संग्रह है—'लौकिक वाक्योंका शब्दरीतिसे प्रामाण्य न मानकर, अनुमानके रूपसे प्रामाण्य माननेपर, शब्दोंकी अर्थ वाचकता नहीं हो सकती। इससे अर्थका अप्रतिपादक होनेसे, वेदका ही अप्रामाण्य हो जाएगा। अतः वेद प्रामाण्य सिद्धिके लिए लोकमें भी शब्दरीति से हो प्रामाण्य मानना चाहिए—'तस्माल्लोकवचसामनुमानत्वेन प्रामाण्याङ्गीकरणे पदानां वाचकत्वायोगादप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यं वेदस्य स्यादिति तत्प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं लोकेऽपि शब्दतयैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्' इति।

अथोपमानपरिच्छेदः

'उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य' । पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्--यासावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौः साऽनेन गवयेन सदृशीति ।

किं पुनः सादृश्यम् ? अर्थान्तरयोगिभिः सम्बन्धिसामान्यैरर्थान्तरस्य तादृशयोगः सादृश्यम् । यथा गोजातियोगिभिः कर्णाद्यवयवसामान्यैर्गवयजातेर्योगो गवयस्य गोसादृश्यम् । गवयसंयोगिभिश्च गोर्योगस्तत्सादृश्यम् । अत एव च सामान्यभूयस्त्वाल्पत्ववशेन सादृश्यप्रकर्षाप्रकर्षौ—सुसदृशम्, ईषत्सदृशमिति ।

प्राभाकरमतस्य निरासः

ये तु सामान्ययोगातिरिक्तमन्यदेव तत्त्वं सादृश्यं मन्यन्ते, तेषां प्रकर्षाप्रकर्ष-

---

(संक्षेपसे शब्द प्रमाणका निरूपणकर, उपमानका निरूपण करनेके लिए भाष्योक्त उपमान लक्षणका उपन्यास करते हैं) 'उपमानम्' इत्यादिसे । सादृश्य भी असन्निकृष्ट विषयमें ज्ञानको उत्पन्न करता है । (अर्थात् उपमान भी दृश्यमान व्यक्तिके सादृश्यसे विशिष्ट, अदृश्यमान व्यक्ति विषयक बुद्धिको उत्पन्न करता है) जैसे गवयका दर्शन गो स्मरण को❀ । (उत्पन्न करता है । सादृश्यको प्रमेय मानकर ग्रन्थकार कहते है) पूर्व दृष्ट गवय दर्शन कालमें स्मर्यमाण अर्थ गौ है । उसमें दृश्यमान अर्थ गवयका सादृश्य ज्ञान उपमान है । अर्थात् उपमानका फल है । (इसीको अभिनयसे दिखाते हैं) जैसे हम लोगोंने नगरमें जिस गौको देखा है, वह उस गवयके समामन है§ ।

शंका—सादृश्य किसे कहते हैं ? उत्तर—अर्थान्तरसे सम्बद्ध = सम्बन्धि सामान्यसे अर्थान्तरके योगको सादृश्य कहते हैं । अर्थात् गो जातिमें रहनेवाले अवयव सामान्यका, गवय जातिके अवयवोंके साथ सादृश्य है । तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्वको सादृश्य कहते हैं । जहाँ सामान्य अधिक हो, वह सादृश्य प्रकर्ष या सुसदृश कहलाता है (मूलमें सामान्य शब्दसे साधारण धर्म समझना चाहिए । 'समानानां भावः सामान्यम्' यह इसकी व्युत्पत्ति है, जातिकी नहीं) । सामान्यकी अल्पता होनेसे उसे अप्रकर्ष या ईषत् सदृश कहते हैं ।

❀ अर्थात् गवयको देखनेपर, उसके समान मेरी गौ है, यह ज्ञान होता है । मीमांसक उपमान स्थलमें गवय दर्शनको ही करण मानते हैं । गागाभट्टजीने 'भाट्टचिन्तामणि' में गवय दर्शनको उपमितिका करण माना है 'गवयदर्शनं तत्करणम्' इत्यादिसे । और सादृश्य विशिष्ट व्यक्ति ही उपमानका प्रमेय है । इसी अभिप्रायसे मूलमें कहा गया है 'गोस्मरणस्य' अर्थात् गवय दर्शन ही गोस्मरण का हेतु है । वार्तिककारने कहा है, कि जिसका स्मरण होता है, वह सादृश्यसे विशिष्ट होकर, उपमानका प्रमेय होता है । या तदन्वित सादृश्य प्रमेय होता है । जैसे कि कहा गया है—

तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ इति ॥
(श्लोकवार्तिक, उपमान०, का०—३७)

§ मूलमें 'असौ' शब्दसे असन्निकृष्टका परामर्श होता है । यहाँ जो नैयायिक कहते हैं कि 'गवय गवय पदका वाच्य है, यह शक्ति ग्रह उपमानका फल है, उनका यह कथन निरस्त हो जाता है । गो सदृश गवय है, इस अतिदेश वाक्यसे ही शक्ति ग्रह होनेके कारण ।

भेदः किंनिमित्त इति चिन्तनीयम् । न च तत्त्वान्तरत्वे प्रमाणमपि किञ्चिदस्तीत्यास्तां तावत् ।

उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वव्यवस्थापनम्

न चेदमुपमानं प्रत्यक्षान्तर्गतम्, अनिन्द्रियसंनिकृष्टत्वान्नगरस्थस्य गोः । न चानुमानम्, अगृहीतसंबन्धस्याप्युपजायमानत्वात् । एवं किलानुमीयेत – गौर्गवयसदृशो गवयसादृश्यप्रतियोगित्वाद्, यद् यत्सादृश्यप्रतियोगि तत् तत्सदृश दृष्टम्, यथा यमलयोर[1]न्यतरस्यान्यतरेणापि । न चेदं युक्तम् –यो हि द्वावर्थौ मिथः सदृशौ युगपन्न दृष्टवानेकामेव तु गामुपलभ्य नगरे, वने गवयं पश्यति, सोपि गां गवयसादृश्यविशिष्टामुपमिनोत्येव । तस्मान्नानुमानम् । शाब्दत्वं तु न शङ्क्यमेव अतः प्रमाणान्तरम्, प्रसिद्धत्वाच्च न परीक्षितव्यम् ॥ इत्युपमानपरिच्छेदः ॥

प्राभाकर मीमांसक सामान्यको स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं ।, वह सामान्य (सादृश्य) योग सामान्य सम्बन्धसे अतिरिक्त है, यह उनका मत है । ऐसा माननेपर, दूसरे व्यक्तिके धर्मोंका दूसरोंमें असम्भव होनेके कारण, उनके मतमें प्रकर्ष, अप्रकर्षका भेद किंनिमित्तक है ? इसपर विचार करना चाहिए । और सादृश्यको दूसरा पदार्थ माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं; (क्योंकि प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है । बिना प्रमाणके सादृश्यको अतिरिक्त पदार्थ मानना युक्त नहीं)

(यहाँ यह शंका है, कि उपमान प्रमाण है तो, वह प्रत्यक्षके अन्तर्गत है या अनुमानके, ये ही दो विकल्प हैं । इन्हींमें से किसी एकमें अन्तर्भाव होना चाहिए, अतः उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं)

उत्तर—यह उपमान प्रमाण प्रत्यक्षके अन्तर्गत नहीं है । नगरस्थ गौके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष न होनेके कारण । (अर्थात् उपमानका जो प्रमेय है गवय प्रतियोगिक सादृश्य विशिष्ट गौ, या गो निष्ठ गवय सादृश्य, इन दोनोंसे इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं है । अतः प्रत्यक्षमें इसका अन्तर्भाव नहीं होता । इसमें प्रमाण—'तस्माद्यत्स्मर्यते यत्स्यादि'त्यादिसे पूर्वमें कह चुके हैं)

उपमान अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसने व्याप्तिरूप सम्बन्धका ग्रहण नहीं किया, उसे अनुमान ज्ञान नहीं होता । पर अगृहीत-सम्बन्ध व्यक्तिको भी उपमान होता है (इसलिए अनुमानमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता)

शंका—जो उपमानको प्रमाण नहीं मानते, उन्हें अनुमान इस प्रकारसे करना होगा, कि 'गो गवय सदृश है, गवय सादृश्य प्रतियोगि होनेके कारण । जो जिसके सादृश्यका प्रतियोगी होता है, वह उसके सदृश लोकमें देखा गया है । उदाहरण—जैसे एकही गर्भसे जहाँ दो सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वहाँ उन दोनोंको यमल कहते हैं । उन दोनोंमें एकका सादृश्य दूसरेमें देखा गया है' (जैसे यज्ञदत्त देवदत्तके सदृश है, वैसे देवदत्त भी यज्ञदत्तके सदृश है । इसी प्रकार जब गवय गो सदृश होगा, तो गौ भी गवय सदृश होगी, अतः यह अनुमान नहीं है)

उत्तर - यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस पुरुषने परस्पर सदृश, दो अर्थोंको युगपत् देखा नहीं, किन्तु नगरमें अकेली गौ को देखकर, वनमें गवयको देखता है, वह भी गवय सादृश्य विशिष्ट गौको उपमान करता ही है । इसलिए उपमानका अनुमानमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, अतः उपमान

१. यथायमनयोरिति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः ।

अनुमान नहीं है। और उपमान शाब्द ही है, यह शंका भी नहीं करनी चाहिए, (क्योंकि पद-ज्ञान-जन्य उपस्थिति उस समय है ही नहीं, अतः उपमान स्वतंत्र प्रमाण है❀) अतः प्रमाणान्तर सिद्ध होनेके कारण, प्रत्यक्षादिकी तरह, उपमानकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए §।

(इस प्रकार उपमान परिच्छेदका श्रीचन्द्रप्रभा नामक, हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

❀ इस बातको वार्तिककारने भी स्पष्ट किया है। यथा प्रत्यक्षसे सादृश्यका ग्रहण होता है। गौका स्मरण है। गो सादृश्य विशिष्ट गवयके प्रत्यक्ष या अनुमानादिसे न सिद्ध होनेके कारण उपमान अतिरिक्त प्रमाण है—

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ इति ॥

(श्लोकवार्तिक, उपमान प्रकरण, का०—३८)

उपमान निरूपणका अतिदेश आदि सिद्धि भी प्रयोजन है, यह भी वार्तिकमें स्पष्ट है। और यह भी नहीं समझना चाहिए कि उपमानका केवल शक्तिग्रह ही फल है, दूसरा कोई फल ही नहीं होता।

§ उपमान प्रमाणके विषयमें नैयायिकों और मीमांसकोंमें मतभेद है। नैयायिक कहते हैं कि उपमान करण है। अतिदेश वाक्यार्थस्मरण व्यापार है। उपमिति फल है। गवय ही गवय शब्दका वाच्य है; ऐसा शक्तिग्रह ही उपमानका फल है। ये साधर्म्य-वैधर्म्य धर्ममात्रके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं, इत्यादि।

मीमांसक कहते हैं कि शक्तिग्रहके लिए उपमानको स्वतंत्र प्रमाण मानना अयुक्त है। शक्तिग्रहरूप फल तो अतिदेश वाक्यार्थके स्मरणसे ही सिद्ध हो जाता है। इस लिए नैयायिक सम्मत उपमान प्रमाण हम मीमांसकोंको अभीष्ट नहीं है। अतः उपमानका हम दूसरे प्रकारसे निरूपण करते हैं। वह इस प्रकार है—गौ और गवय, इन दोनोंको एक समय जो नहीं देखता, अर्थात् जब गौको देखता है तब गवयको नहीं। जब गवयको देखता है, तो गौको नहीं। इसलिए उपमानका लक्षण ही दूसरा है। फल भी दूसरा है। क्योंकि उपमानका प्रमेय सादृश्य है। या सादृश्य विशिष्ट व्यक्ति है। ये दोनों पक्ष वार्तिकमें कहे गए हैं, जिनका पूर्वमें प्रतिपादन हो चुका है—

जैसे—तस्माद् यत्स्मर्यते तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥

(श्लोकवार्तिक)

और प्रत्यक्ष अनुमानसे उपमान भिन्न है। इसका प्रयोजन अतिदेशसिद्धि, प्रतिनिधि नियम आदिक हैं। इस प्रकारका उपमान केवल मीमांसकोंको ही अभिमत नहीं है, अपितु शांकर मतानुयायियोंने इसे अपनाया है। नारायण भट्टजीने कहा है कि—

स्पष्टं च भासते तस्मात् प्रमाणान्तरमर्थ्यते। तत्रोपमानमाचख्युः शाबराः शांकरा अपि ॥
दृश्यमानार्थसादृश्य - स्मर्यमाणार्थ - गोचरम्। असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं - ह्युपमितिर्मता ॥

(द्रष्टव्य-मानमेयोदय, उपमान प्रकरण)

अर्थापत्तिपरिच्छेदः

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य परिकल्पना। प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तरेण विनानुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये यार्थान्तरकल्पना, सार्थापत्तिः।

अत्रानुमानशंका

यद्यनुपपन्नादुपपादककल्पनार्थापत्तिः? अनुमानमेव तर्हि तत्रापि वह्निमन्तरेणानुपपन्नाद्धूमाद्वह्निः कल्प्यते।

(उपमानका निरूपण करके, भाष्योक्त प्रकारसे क्रमप्राप्त अर्थापत्तिका लक्षण करते हैं) 'अर्थापत्तिरपि' इत्यादिसे। दृष्ट❀ या श्रुत अर्थ अन्यथा उपपन्न नहीं होता, उसकी उपपत्तिके लिए अर्थकी कल्पना ही अर्थापत्ति है। (भाष्यमें 'जीवति देवदत्ते' ऐसा पाठ है, ग्रन्थकारने उसे कुछ बदल दिया है, यथा 'जीवतो देवदत्तस्य'। इसका अर्थ है) जीते हुए देवदत्तका घरमें अभाव देखनेसे, अदृष्ट (बाहर होना रूप) अर्थकी कल्पना होती है। इससे आया कि प्रमित अर्थ की§ (प्रमाणके द्वारा अवगत अर्थकी) दूसरे अर्थके बिना, अनुपपत्ति देखकर, उसकी उपपत्तिके लिए जो अर्थान्तरकी कल्पना की जाती है वह 'अर्थापत्ति' कहलाती है❀।

(यहाँ नैयायिककी ओरसे ग्रन्थकार शंका कराते हैं, कि जैसे धूमसे अग्निका अनुमान होता है, वैसे प्रकृतमें भी पीनत्वसे रात्रि भोजनका अनुमान होता है। जीवित देवदत्तको घरमें न देखकर, उसके बाहर होनेका अनुमान होता है। उनके इस मतका अनुवाद करते हैं) 'यदि' से। यदि अनुपपन्नसे उपपादककी जो कल्पना है, वह अर्थापत्ति है, तब तो यह अनुमान ही

❀ यहाँ 'दृष्टः' इत्यादिसे 'अदृष्टस्य कल्पना' इत्यन्त तक भाष्य वचनका निर्देश है। अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है, दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्तिके भेदसे। उसीको बताया है 'दृष्टः श्रुतो वा' इत्यादि भाष्यसे।

§ ग्रन्थकारने 'दृष्टः श्रुतो वा' भाष्यके इस अंश 'प्रमित' शब्दका यह अर्थ किया है, कि प्रमाणसे अवगत जो अर्थ है, वह अनुपपन्न होकर, अर्थान्तरकी कल्पना कराता है 'प्रमितस्य' ऐसा कहनेका तात्पर्य है—ज्ञात अर्थकी अनुपपत्तिसे अर्थान्तरकी कल्पना। अन्यथा अंगुलीके अग्रभागमें हाथियोंका झुण्ड नाचता है, इसकी भी उपपत्तिके लिए अर्थान्तर की कल्पना होने लगेगी। उसकी व्यावृत्तिके लिए 'प्रमितस्य' ऐसा अर्थ किया।

यहाँ शंका है कि 'दृष्ट' शब्द प्रमित मात्रका वाचक है; तब 'श्रुतो वा' क्यों कहा? यह अनर्थक है। उत्तर—नहीं, अनर्थक नहीं, क्योंकि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणकी ग्राहिका है। इससे प्रमाण की कल्पना होती है। दृष्टार्थापत्तिसे अर्थकी कल्पना होती है। इस विशेषताको बतानेके लिए 'दृष्टः श्रुतो वा' ऐसा भेदसे निर्देश किया गया है। 'प्रमितस्य' पदसे प्रत्यक्षादि छः प्रमाणोंके आधारसे अर्थापत्ति भी छः प्रकारकी होती है, यह अर्थ सूचित किया है। इसका विशेष विवरण 'श्लोकवार्तिककी (४५१-४५२) कारिकाओंकी व्याख्या—'न्यायरत्नाकर'में तथा 'सिद्धान्तचन्द्रिका'में (पृ० सं० ७६ पर) देखना चाहिए।

❀ अर्थस्यापत्तिः=कल्पना यस्मात्, इस बहुव्रीहिसे 'अर्थापत्तिः' शब्द प्रमाण परक होता है। अर्थस्यापत्तिः = अर्थापत्तिः, तस्याः कल्पना, इस षष्ठी तत्पुरुषसे 'अर्थापत्ति' फल परक भी होती है।

स्यादेवम्—यद्यनुपपन्नं गमकं स्यात्। इह तु यन्नोपपद्यते तदेव गम्यम्—गृहाभावेन हि विना बहिर्भावो नोपपद्यते। किमिदानीमुपपादकादनुपपन्ने बुद्धिरर्थापत्तिः? को दोषः? न खलु कश्चिद्दोषः, किं त्वसौ नैवास्ति। नह्युपपादकदर्शनादनुपपन्नार्थे बुद्धिर्भवति, यदि स्यात्, वृक्षत्वदर्शनाच्छिंशपात्वं कल्प्येत। वृक्षत्वेन विना शिंशपात्वस्यानुपपत्तेः। तस्मादनुपपन्नमेव गमकं नोपपादकम्।

अथ प्राभाकरमतेन समाधानम्

अथोच्येत—नाऽविनाभावेनानुपपत्तिरित्युच्यते, किन्तु संशयापत्तिः यस्य हि जीवनं गृहसंबन्ध्येव प्रायशोऽवगतम्, तस्य गृहाभावे दृष्टे जीवनं सांशयिकं भवद् बहिर्भावकल्पनया समाधीयते। ततश्च प्राग् बहिर्भावकल्पनाया जीवनस्य संदिग्धत्वान्न लिङ्गत्वम्, न हि संदिग्धं लिङ्गं भवति। जीवनरहितं च गृहाभावमात्रं मृतेपि सद्भावादनैकान्तिकं न बहिर्भावमनुमापयितुमलम्। अतोऽनुमानासंभवात्प्रमाणान्तरमेवेदम्। यथा चानुमाने निश्चितं गमकम्, एवमर्थापत्तौ संदिग्धं गमकमिति दर्शनबलादभ्युपगम्यते। संशयश्चात्र पूर्वदृष्टरूपविसंवादात्।

उक्तप्राभाकरमतस्य निरासः

तदिदमसंबद्धम्—न हि संदिग्धे जीवने बहिर्भावः शक्यते कल्पयितुम्।

हुआ। तब वहाँ भी अग्निके विना अनुपपन्न धूमसे अग्निकी कल्पना होती है।

उत्तर—यह तब हो सकता था जब अनुपपन्न गमक होता। अर्थापत्तिमें तो जो उपपन्न नहीं होता, वही गम्य होता है। गृहाभावके विना बहिर्भाव उपपन्न नहीं होता।

शंका—तो क्या आप उपपादकसे अनुपपन्न अर्थ विषयक ज्ञानको अर्थापत्ति कहते हैं।

उत्तर—क्या दोष है? उसमें कोई दोष नहीं। किन्तु यह बात तो है ही नहीं (इसे व्यतिरेक मुखसे बताते हैं) उपपादकके दर्शनसे अनुपपन्न अर्थमें बुद्धि होती नहीं। यदि होगी, तो वृक्षत्वके दर्शनसे शिंशपात्वकी कल्पना होगी। क्योंकि वृक्षत्वको छोड़कर शिंशपात्व होता ही नहीं। इसलिए अनुपपन्न ही गमक होता है, उपपादक नहीं। (अतः अनुमान ही है, अर्थापत्ति नहीं है।)

इस उक्त मतका प्राभाकर द्वारा समाधान कराते हैं, 'अथोच्यते' इत्यादिसे। यदि कहा जाए अविनाभावसे सनुपपत्ति नहीं कही जाती है. किन्तु संशयापत्ति ही अनुपपत्ति कहलाती है (इस मतका उपपादन करते हैं) 'यस्य' इत्यादिसे। जिसका जीवन प्रायः घरसे सम्बन्धित ही ज्ञात है, उसका घरमें अभाव देखकर, जीवन सन्दिग्ध हो जाता है। इस संशयका बहिर्भाव कल्पनासे निवारण होता है। और तब बहिर्भावकी कल्पनाके पहिले, जीवन सन्दिग्ध होनेसे, वह हेतु नहीं बन सकता (क्योंकि अनुमानमें निश्चित ही हेतु होता है, सन्दिग्ध हेतु नहीं होता) जीवन रहित गृहाभाव मात्र, मृत मनुष्यमें भी सम्भव है, इसलिए यह हेतु व्यभिचारी है। वह बहिर्भाव का अनुमान नहीं करा सकता, अतः अनुमानके असम्भव होनेके कारण, अर्थापत्ति प्रमाणान्तर ही है। उक्त अर्थका सार बताते हैं जैसे अनुमानमें निश्चित गमक होता है, वैसे अर्थापत्तिमें सन्देह ग्रस्त ही गमक होता है, ऐसा अनुभवके बलसे स्वीकार किया जाता है। यहाँ संशय भी पूर्वमें जो रूप

कथं हि 'जीवति वा मृतो वा देवदत्तः' इति संदिहानस्तस्य बहिर्भावं कल्पयेत्। न हि भावाऽभावसंशयस्य बहिर्भावकल्पनयाऽपनोदः संभवति। सर्वत्र हि संशयस्य निदानोच्छेदादुच्छेदो भवति, अन्यतरपक्षावधारणाद्वा।

न च बहिर्भावकल्पनया तावन्निदानोच्छेदः, जीवनस्य प्रायेण गृहसम्बन्धित्वात् तद्विपर्ययोऽत्र संशयहेतुत्वेनोपन्यस्तः, न चासौ बहिर्भावे कल्पिते समुच्छिद्यते, प्रत्युत विपर्यय एव दृढमवस्थाप्यते। न चाऽन्यतरपक्षावधारणमपि विद्यते—जीवनभावाभावौ ह्यत्र सन्दिह्येते। न चानयोरन्यतरस्यापि बहिर्भावकल्पनया निर्णयो भवति। अन्यद्धि जीवनम्, अन्यश्च बहिर्देशसम्बन्धः।

न च गृहाभावनिबन्धनाऽर्थापत्तिर्जीवननिर्णयायाऽलं भवति। न ह्येवं सम्भवति—यस्माद्देवदत्तो गृहे नास्ति तस्माज्जीवतीति। प्रत्युत पूर्वनिश्चितमेव जीवनं गृहाभावादेव सन्दिग्धं कथं तत एव निर्णीयते। न हि संशयहेतुरेव निर्णयहेतुर्भवति।

दृष्ट है, उसके विपरीत होनेसे उपपन्न है॥।

(उक्त प्राभाकर मतका नैयायिक द्वारा निराकरण कराते हैं—) यह आपका कहना असंगत है। (हम पूछते हैं) देवदत्त जीवित है या नहीं? जीवन सन्दिग्ध होनेपर, वहिर्भावकी कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि देवदत्त जीवित है या मर गया है, ऐसा सन्देह करनेवाला व्यक्ति वहिर्भावकी कल्पना कैसे कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। क्योंकि होना न होना रूप संशयका निराकरण, वहिर्भावकी कल्पनासे नहीं होता। सर्वत्र यह नियम है कि संशयका निराकरण दो प्रकारसे होता है। संशयके कारणका उच्छेद होनेसे संशयका भी उच्छेद होता है। अथवा एक पक्ष का निर्णय करनेसे इनमें पहिला पक्ष संगत नहीं, क्योंकि वहिर्भावकी कल्पनासे देवदत्त जीवित है या मृत, इस संशयके कारणका उच्छेद नहीं होता। जीवन प्राय: घरसे सम्बन्धित होनेके कारण, उसका विपर्यय अर्थात् गृहासत्व संशयका कारण कहा गया है। यह संशय वहिर्भावकी कल्पनासे निवृत्त नहीं होता। वल्कि विपर्यय (गृहासत्व) ही दृढ़ होता है। अन्यतर पक्षका अवधारण भी नहीं होता। क्यों कि जीवनका होना या न होना सन्दिग्ध है। इन दोनोमें किसी एकका निर्णय बहिर्भाव कल्पनासे नहीं होता। क्योंकि जीवन दूसरा है, बाहर देश सम्बन्ध दूसरा है।

गृहाभावहेतुक अर्थापत्ति जीवनका निर्णय नहीं कर सकती। ऐसा नहीं होता कि देवदत्त घरमें नहीं है, तो इतने से जीवित है, अपितु पूर्वमें निश्चित जीवन गृहाभावसे ही सन्दिग्ध हुआ, वही उसका निर्णायक हेतु कैसे बन सकता है? क्यों कि जो संशयका हेतु बनता है, वह निर्णयका हेतु नहीं हो सकता। अतः जीवन सन्दिग्ध है। उसे दूसरेके द्वारा निश्चित कर, वादमें बाहर सम्बन्धकी कल्पना होनी चाहिए। देवदत्त जीवित है और घरमें नहीं है, इसलिए बाहर है, यह निश्चित है। जीवनका सन्देह होनेपर, बहिर्भावकी कल्पना नहीं होती। घरमें नहीं है, जीवित है कि नहीं? इसलिए वह बाहर है, इस कथनका कोई तालमेल नहीं वैठता है।

॥ इसका विशेष विवरण प्रकरणपञ्चिकामें देखना चाहिए। यथा प्राभाकरोंने कहा है—
'देशेन हि विनाभावो न कदाचन दृश्यते। विनाभावेन सिद्धोऽपि तेन सन्देहमार्च्छति'॥
'तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्तते। सन्देहापादकादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता'॥
(प्रकरणपञ्चिका, अर्थापत्तिप्रकरण, का० २७२-२७५)

तस्माज्जीवनं सन्दिग्धम्, तत्तावदन्यतो निश्चित्य पश्चाद्बहिः सम्बन्धः कल्पयितव्यः-यस्माद्देवदत्तो जीवति, गृहे च नास्ति, तस्मान्नूनं बहिरवस्थित इति। न तु सन्दिह्यमाने जीवने तत्कल्पनं सम्भवति। यस्मादविद्यमानो गृहे जीवति वा न वा तस्माद्बहिः स्थितः इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। तस्माद्बहिर्भावनियतं गृहाभावसहितं जीवनं निश्चित्य, बहिर्भावः कल्प्यत इत्यनुमानमेवेदम्। न प्रमाणान्तरमिति। अत्राभिधीयते—

न तावद् गृहाभावमात्रं लिङ्गम्, मृतेपि सम्भवात्। न जीवनमात्रम्, गृहेपि सद्भावसम्भवात्[1]। अतो जीवनसंसृष्टो गृहाभावो लिङ्गमिति वक्तव्यम्। प्रथमं च लिङ्गमवगम्य, पश्चाल्लिङ्ग्यनुमानेन भवितव्यम्, न तु लिङ्गावगमसमय एव लिङ्ग्यवगमः। अत्र च न बहिर्भावावगममन्तरेण गृहाभावो जीवनं च संसृष्टं प्रत्येतुं शक्यते, विरोधात्। जीवता ह्यवश्यं गृहे वा बहिर्वा स्थातव्यमित्यसंदिग्धम्, अतश्च बहिर्भावावगममनन्तर्भाव्य[2] जीवनगृहाभावौ समुच्चित्य प्रतिपद्यमानस्येदृशी प्रतिपत्तिरापद्यते—देवदत्तो गृहे नावस्थितो गृहे वा बहिर्वाऽवस्थित इति। न चैवं सम्भवति—भावाभावयोरेकत्र देशे समुच्चेतुमशक्यत्वात्। अतोऽवश्यं देशभेदेनैव देवदत्तस्य भावाभावौ समुच्चेतव्यौ। तेन भावाभावसंसर्गबुद्ध्यैव बहिर्भावस्य बुद्धत्वान्न पश्चात् किञ्चित् प्रमेयमस्ति।

(ऐसे प्राभाकरका खण्डन कर, नैयायिक अपने पूर्वपक्षका उपसंहार करते हैं) 'तस्मात्' इत्यादि से। इसलिए बहिर्भावका व्याप्य जीवन है। वह गृहाभाव विशिष्ट है। ऐसे जीवनको निश्चितकर, बहिर्भावकी कल्पना होती है। इसमें अनुमान है—देवदत्त बाहर रहता है, गृहाभाव विशिष्ट जीवन होनेके कारण---'देवदत्तो बहिः सद्भाववान्, गृहाधिकरणकाभावप्रतियोगिक-विशिष्टजीवित्वात्' इति। इस प्रकार यह अनुमान ही है, प्रमाणान्तर नहीं।

(अब भाट्टमीमांसक अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव करनेवाले तार्किकका स्वयं निराकरण करते हैं) 'अत्राभिधीयते' इत्यादि से। पूर्वपक्षीने कहा था कि बहिर्भाव (बाहर होने) का अनुमान होता है। इसमें गृहाभाव मात्रको हेतु नहीं कह सकते। (गृहाभावसे गृहाधिकरणक अभाव प्रतियोगित्व लेना चाहिए) यह मरे हुए में भी सम्भव है। तब कहो जीवन मात्र ही हेतु है, यह नहीं कह सकते, गृहमें भी सम्भव होनेके कारण। अतः जीवन विशिष्टि गृहाभाव ही, बहिर्भावका अनुमापक हेतु कहना होगा। इसके पूर्वमें हेतुका ज्ञान होना आवश्यक है। उसके पश्चात् ही साध्यका अनुमान होता है। हेतु ज्ञानके समय ही साध्यका भी ज्ञान हो, ऐसा नहीं होता। प्रकृतमें बहिर्भाव ज्ञानके विना गृहाभाव और जीवन दोनोंको विशिष्ट नहीं समझ सकते (अर्थात् गृहाभाव विशिष्ट जीवन और जीवनविशिष्ट गृहाभावको नहीं जान सकते) विरोध होनेके कारण। क्योंकि जीता हुआ पुरुष अवश्य घरमें होगा या बाहर होगा, यह निश्चित है। इसलिये बहिर्भाव-ज्ञानको बिना लिए, जीवन तथा गृहाभाव दोनोंको जो एक साथ समझ रहा है, उसे ऐसा ज्ञान होता है, कि देवदत्त घरमें नहीं है, घरमें है या बाहर है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। होनेपर विरोध है। क्योंकि भाव-अभाव दोनोंका एक देशमें समुच्चय नहीं कर सकते। अतः अवश्य ही देशके भेदसे ही देवदत्तके भाव और अभावका समुच्चय करना चाहिए। इससे भावाभावकी संसर्ग बुद्धिसे ही बहिर्भाव ज्ञात होनेके कारण, अनुमानका प्रमेय कोई रह नहीं जाता।

---

१. सद्भावादिति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः। २. 'ख' पुस्तके बहिर्भावमनन्तर्भाव्य इति पाठः।

आह च—'विद्यमानत्वसंसृष्टगेहाभावधियाऽनया ।
गेहादुत्कालिता सत्ता बहिरेवात्रतिष्ठते' ॥

ननु प्रमाणान्तरत्वेपि जीवनमात्रस्य गृहाभावमात्रस्य वाऽवगमकत्वाभावात् संसृष्टमुभयं गमकमित्यङ्गीकर्तव्यम् । संसृष्टधियैव च बहिर्भावस्य बुद्धत्वान्न पश्चात् किञ्चित्प्रमेयमवशिष्यत इति तुल्योयं दोषः ।

उच्यते—इयमेव संसृष्टधीरर्थापत्ति[1]रित्यवगम्य शाम्यतु भवान् । किं पुनस्तस्याः करणम्[2] ? द्वयोर्गृहाभावजीवनयोः परस्परप्रतिघात इति ब्रूमः । यथा खल्वेकेन 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्युक्ते, परेण च 'न सन्ति' इत्युक्ते बला[3]बलविशेषमजानानः श्रोता मिथः प्रतिहतमुभयं बुध्यते, न चान्यतरदपि त्यक्तुं ग्रहीतुं वा शक्नोति, तथापि तु न सत्त्वासत्त्वे समुच्चिनोति, विरोधात् ।

एवमिहापि 'गृहे वा बहिर्वाऽवस्थितो देवदत्तः' इति केनचित्प्रमाणेन प्रतीतम्, अन्येन च 'गृहे नास्ति' इति तदुभयं समुचितं परस्परप्रतिघाति प्रतीयते । सोयं प्रतिघातो

इसी अर्थको वार्तिककारने भी कहा है—'विद्यमानत्वविशिष्ट गृहाभावके ज्ञानसे, घरसे निकाले हुए चैत्रका बहिर्भाव ज्ञात हो गया, इसलिए अनुमान नहीं हो सकता' ※।

शंका—यदि माना जाए अर्थापत्ति दूसरा प्रमाण है, तब भी जीवन मात्र या गृहाभाव मात्र गमक नहीं हो सकता; किन्तु दोनों विशिष्ट होकर ही गमक हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। विशिष्ट-बुद्धिसे ही बहिर्भावके ज्ञात होनेसे, उसके बाद कोई प्रमेय अवशिष्ट नहीं रह जाता, यह दोष आपके मतमें और हमारे मतमें समान है । (तब प्रमाणान्तर माननेसे क्या प्रयोजन)

उत्तर—यहाँ विशिष्ट बुद्धिको ही अर्थापत्ति समझकर, आप शान्त हो जाइए ।

शंका—इस विशिष्ट बुद्धिका क्या कारण है ?

उत्तर—गृहाभाव और जीवन इन दोनोंका परस्पर प्रतिघात (विरोध) ही कारण है । इसी विरोधको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं 'यथा' इत्यादि से । जैसे एक व्यक्तिने कहा नदी तीरमें फल हैं । दूसरेने कहा नहीं हैं । इन दोनोमें कौन प्रबल है, कौन दुर्बल है, इस बातको न जाननेवाला श्रोता पुरुष, परस्पर विरुद्ध ही दोनोंको समझता है । और इन दोनोंमें किसीको न ले सकता है, न त्याग सकता है । यह सब होनेपर भी सत्व और असत्वका समुच्चय तो कर ही नहीं सकता, विरोध होनेसे । इस प्रकार अर्थापत्ति स्थलमें भी देवदत्त घरमें है, या बाहर, ऐसा किसी प्रमाणसे ज्ञात हुआ । दूसरे प्रमाणसे घरमें नहीं है, यह मालूम हुआ । ये दोनो एक साथ होते हुए, परस्पर

※ द्रष्टव्य-श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति परिच्छेद, का० २२ । यहाँ वार्तिकमें—
'गेहादुत्कालितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि' ऐसा पाठ मिलता है । ग्रन्थकारने प्रकृतके अनुसार समानार्थक होनेके कारण दूसरे श्लोकके उत्तरार्धको यहाँ जोड़ दिया है, जैसे—
'सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेहाभावधियात्र तु । गेहादुत्कालिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते' ॥
(श्लोकवा०, अर्थापत्ति प्र०, का० २४)

१. अर्थस्यापादनमिति व्युत्पत्त्या इहार्थापत्तिशब्दः प्रमारूपफलपरः, इति ध्येयम् ।

२. कारणमिति 'क' 'ग' पुस्तकयो पाठः । ३. आप्तोच्चरितत्वग्रहनिबन्धनं प्रामाण्यम्, अनाप्तोच्चरितत्वग्रहनिबन्धमप्रामाण्यमिति-एत एव बलाबले इह बोध्ये ।

न फलसद्भावाऽसद्भाववदसमाधेयः, किन्तु बहिर्भावकल्पनया समाधातुं शक्यत इत्येतावान् विशेषः। तेन प्रमाणसिद्धयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परं प्रतिघातोऽर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनालोच्यमानोऽर्थापत्तेः करणम्। तत्समाधानाय चार्थान्तरकल्पनाऽर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमनुमानात्। यश्चायं प्रतीतस्य प्रमाणान्तरेण प्रतिघातः स एवाऽर्थानुपपत्तिरित्युच्यते।

अर्थापत्तावनुमानस्य–अन्तर्भाव–शंका

भवत्वर्थापत्तिः प्रमाणम्, अनुमानं त्वर्थापत्तावेवाऽन्तर्भवति। तथा हि—यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यवगतं पर्वतस्य च धूमवत्ताऽवगता यदि पर्वतेऽग्निर्न स्यात्तदा धूमवत्ता वा मिथ्या स्यात्, सर्वधूमवतां वाऽग्निमत्त्वं मिथ्या स्यात्, कथं तदुभयमप्यमिथ्या[1]स्यादित्यग्निमत्त्वं कल्प्यत इत्यर्थापत्तिरेषा।

स्यादेवं यदि सर्वधूमवतामग्निमत्त्वमनुमानादन्येनावगतं स्यात्? न तदस्ति[2]—दृष्टान्तधर्मिष्वेव हि धूमस्याग्निनियमोऽवगतः[3], न सर्वत्र। अनुमानात्तु सर्वधूमवतामग्निमत्तावगतिरित्युक्तम्। न च दृष्टान्तधर्मिष्वेवावगतस्याग्निनियमस्य[4] सर्वधूमवद-

---

विरोधी प्रतीत होते हैं। उक्त विरोध, फलके होने न होनेके समान, समाधान करने योग्य नहीं है, किन्तु बहिर्भावकी कल्पनासे समाधान किया जा सकता है; यही इन दोनोंमें विशेषता है। इससे प्रमाणके द्वारा सिद्ध दो अर्थोंका परस्पर विरोध, अर्थान्तर कल्पनासे समाधान करने योग्य है। अतः वही अर्थापत्तिका करण है। इस विरोधके समाधानके लिए जो अर्थान्तरकी कल्पना है, वही अर्थापत्ति है। वह अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे गृहाभाव ज्ञात है। जीवन प्रतिपादक शास्त्ररूप प्रमाणान्तरसे विरोध है। (अर्थात् जीता हुआ देवदत्त घरसे कहीं अन्यत्र नहीं रहता, यह जो नियम देखा गया है, उससे गृहाभावमें जीवनको नहीं समझ सकते) यही विरोध है। यही अर्थानुपपत्ति भी कहलाती है।

शंका—अर्थापत्ति ही प्रमाण होवे, अनुमान तो अर्थापत्तिमें अन्तर्भूत है, इसका 'तथा हि' से उपपादन करते हैं। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है, यह ज्ञात हुआ। पर्वतकी धूमवत्ता भी मालूम हो गई। जब पर्वतमें अग्नि नहीं होती, तो धूमवत्ता मिथ्या होगी (अर्थात् अनुपपन्न होगी) अथवा सभी धूमाधिकरणोंका अग्निमत्व भी मिथ्या (अनुपपन्न) होगा। ये दोनों कैसे उपपन्न होंगे? इनके लिए पर्वतमें अग्निमत्वकी कल्पना होती है, अतः यह अर्थापत्ति ही है[⊛]।

उत्तर—यह तब हो सकता था, जब सभी धूमाधिकरणोमें अग्निमत्व, अनुमानसे अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाणसे अवगत होता। ऐसा तो होता नहीं। दृष्टान्तधर्मियों (सपक्षों) में धूमका अग्नि नियम (व्याप्ति) देखा गया है, सर्वत्र नहीं। अनुमानसे ही सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निमत्ता ज्ञात हुई है, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

⊛ पूर्व पक्षीका यह आशय है कि अर्थापत्तिको ही प्रमाण मानो। अनुमानका अर्थापत्तिमें अन्तर्भाव हो जाएगा। एकसे निर्वाह होनेपर दोनोंको प्रमाण माननेकी क्या आवश्यकता है? इससे व्यर्थमें गौरव होगा।

१. अत्र मिथ्याशब्दोऽनुपपन्नार्थ इति ध्येयम्। २. न त्वेवमस्तीति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।
३. दृष्ट इति 'ख' पुस्तके पाठः। ४. अग्निमत्वस्येति 'ख' पुस्तके पाठः।

ग्निमत्तां विना कश्चिद्विरोधः, येनार्थापत्तिः स्यात्। तस्मादस[1]ङ्कीर्णविषयत्वादनुमानमपि प्रमाणान्तरम्, अर्थापत्तिरपि।

सिद्धे च द्वयोः प्रामाण्ये येन नाम सर्वधूमवतामग्निमत्त्वमनुमानेनाऽवगतं तस्य पर्वतादिषु धूमदर्शनाद् यदग्निविज्ञानं तद् द्वेधाऽपि सम्भवति—दृष्टान्तपरिदृष्टनियम[2]-स्मरणाद्वाऽनुमानम्, प्रतिघाता[3]लोचनया वाऽर्थापत्तिः, तस्मादर्थापत्तिः प्रमाणान्तरम्।

यापि क्वचिदवस्थितस्य देवदत्तस्यान्यत्र सर्वत्राऽभावप्रतिपत्तिः, साप्यर्थापत्तिः। तथा हि—मूर्तस्यार्थस्य युगपत् कार्त्स्न्येनाऽनेकदेशसम्बन्धो न घटत इति स्वशरीरेऽवगतम्। स्वशरीरस्य हि क्वचिदवस्थितस्य ततोऽन्यत्र सर्वत्राभावो दृश्याऽदर्शनेनावगतः[4]। अतोऽन्यस्यापि देवदत्तादेर्युगपदनेकदेशसम्बन्धो नास्तीत्यनुमीयते। ततो देवदत्तं क्वचित्प्रत्यक्षेणावगच्छन्, युगपदनेकदेशाऽसंबन्धं चानुमानेनावधारयन्नुभयोपपत्तये देशान्तरेषु सर्वेष्वभावं कल्पयति।

नन्वनुमानमेवेदं सम्भवति—देवदत्तोऽधुना सर्वत्र नास्ति गृहेऽवस्थितत्वाद्,

---

शंका—सपक्षोंमें ज्ञात अग्नि नियमका सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निमत्ताके बिना, कोई विरोध नहीं। यदि विरोध होता, तो अर्थापत्ति प्रमाण हो सकती है।

उत्तर—विरोध है नहीं। इसलिए अर्थापत्ति और अनुमान दोनोंके विषय भिन्न-भिन्न होनेके कारण, अनुमान भी प्रमाण है। अर्थापत्ति भी स्वतंत्र प्रमाण है। इस प्रकार दोनोंका प्रामाण्य सिद्ध होनेपर, जिसने सभी धूमाधिकरणोंमें अग्निमत्वको अनुमानके द्वारा जान लिया है, उस पुरुषको पर्वत आदिमें धूमके दर्शनसे, जो अग्निका ज्ञान होता है, वह दो प्रकारका हो सकता है। प्रथम प्रकार है कि दृष्टान्त महानसादिमें देखी गई व्याप्ति स्मरणके द्वारा अनुमान होता है। दूसरा प्रकार है कि दो प्रमाणोंके विरोधके पर्यालोचनसे अर्थान्तरकी कल्पना होती है, वहाँ अर्थापत्ति है। इसलिए अर्थापत्ति दूसरा प्रमाण है।

(अब अर्थापत्तिका दूसरा उदाहरण देते हैं) 'यदि' इत्यादि से। कहीं पर रह रहे देवदत्तका अन्य स्थलोंमें जो आभावका ज्ञान होता है, वह भी अर्थापत्ति है। (यहाँ अर्थापत्ति शब्द प्रमिति परक है। क्योंकि अभाव प्रतिपत्ति ही यहाँ फल है। उसीके कल्पना-प्रकारको बताते हैं) 'तथा हि; से। मूर्त पदार्थ घटका एक समयमें सम्पूर्णरूपसे अनेक देशोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता, यह अपने शरीरमें ज्ञात हुआ है। अपना शरीर भी एक जगह रहनेपर, उससे भिन्न अन्य सभी स्थानेमें अभाव दृश्यादर्शनसे अवगत है। अतः अन्य देवदत्त आदिका भी एक कालमें अनेक देशोंके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह अनुमान किया जाता है। इसलिए देवदत्तको कहीं प्रत्यक्षसे जानते हुए और एक कालमें अनेक देशोंके असम्बन्धका अनुमानसे निश्चय करते हुए, दोनोंको सिद्धिके लिए (अर्थात् एक कालमें एकत्र स्थिति तथा अनेक देशोंके साथ असम्बन्धकी निष्पत्तिके लिए) अन्य सभी देशोंमें अभावकी कल्पना करता है। (यहाँ अनुमान अर्थापत्तिके स्वरूपका निर्वाहक होता है)

शंका—(देशान्तरमें अभावज्ञान अनुमानसे होता है, यह अर्थापत्तिका विषय नहीं है) किन्तु अनुमान ही है। अनुमानका आकार इस प्रकारका है—'देवदत्त अब सब स्थानोंमें नहीं है,

---

१. विविक्तविषयत्वादित्यर्थः। २. नियमो व्याप्तिः। ३. सहानवस्था लक्षणो विरोधः।
४. प्रत्यक्षयोग्यस्य शरीरस्यानुपलम्भनेनावधृत इत्यर्थः।

मद्वदिति। सत्यम्, देवदत्तेन सहैकदेशावस्थितस्य सम्भवति। यस्तु कचिद्गृहेऽवस्थितस्तदनन्तरगृहमप्यतीत्य तृतीये गृहे देवदत्तं केनचित्प्रमाणेनावगतवान्, स तद्गृहातिरिक्ते मध्यगृहे देशान्तरेषु च सर्वेष्वभावं देवदत्तस्य केन लिङ्गेन प्रतीयात्?

अथ कचिद् देवदत्तं पश्यन् तद्देशव्यतिरिक्ते च प्रत्यासन्नेदेशे तदभावमवगच्छन्नन्येषामपि सर्वदेशानां प्रत्यासन्नदेशवत् तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् तच्छून्यतामनुमिमीते?

तत्रापि—'विरुद्धाव्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते।
समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत्' ॥

(श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति परिच्छेद, का० ४५)

इतिवार्तिक एव दूषणमुक्तम्। तस्मादर्थापत्तिरेवेयम्। एतेन[१] बीजादिष्वङ्कुरजन-

---

घरमें अवस्थित होनेके कारण, मेरी तरह।

उत्तर—ठीक कहते हैं, देवदत्तके साथ एक देशमें अवस्थित पदार्थका अनुमान हो सकता है। जिस किसीने पहिले घरमें अवस्थित, तदनन्तर घरको छोड़कर तीसरे घरमें देवदत्तको किसी प्रमाणके द्वारा जान लिया है, वह उस घरसे अतिरिक्त मध्य=बीचके घर तथा अन्य सभी देशोंमें देवदत्तके अभावको किस हेतुसे समझेगा।

शंका—कोई व्यक्ति कहीं देवदत्तको देखता है, उस देशसे भिन्न, समीप देशोंमें उसके अभावको जानता है। और अन्य देशोंका भी प्रत्यासन्न देशकी तरह तद्देशभिन्नत्वहोनेसे तच्छून्यताका अनुमान करता* है।

उत्तर—इसमें वार्तिककारने विरुद्धाव्यभिचारित्व दोष दिया है। (यह सत्प्रतिपक्षका ही नामान्तर है। यह अर्थापत्तिमें प्रतिबन्धक नहीं है। उसीको कहते हैं) 'विरुद्धाव्यभिचारित्वम्' इत्यादिसे। वार्तिकका अर्थ स्पष्ट है। वार्तिकमें इस अनुमानमें दोष दिया गया है§। इसलिए यह अर्थापत्ति ही है।

---

* यथा सभी देशोंमें देवदत्तका अभाव है, इस तात्पर्यसे व्याप्तिको नहीं कहते, किन्तु देवदत्तसे अधिष्ठित जो देश है, उससे अतिरिक्त होनेके कारण, तच्छून्यत्व = देवदत्तके अभावका अनुमान करता है। यह अनुमानका प्रकार है—विप्रतिपन्न देशान्तर देवदत्तशून्य है, देवदत्त अधिष्ठित देशसे भिन्न होनेके कारण। देवदत्ताधिष्ठित प्रत्यासन्न देशके समान 'विवादपदं देशान्तरं देवदत्तशून्यम्, देवदत्ताधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात्। देवदत्ताधिष्ठितप्रत्यासन्नदेशवदिति'।

§ अर्थात् देशान्तर देवदत्तयुक्त है, देवदत्तसे अधिष्ठित समीप देशमें व्यतिरिक्त (भिन्न) होनेके कारण, देवदत्ताधिष्ठित देशके समान। अनुमानका यह आकार है—'देशान्तरं देवदत्तयुक्तम्, देवदत्ताधिष्ठितसमीपदेशव्यतिरिक्तत्वात्, तदधिष्ठितदेशवदिति'। इसका यह अभिप्राय है कि देवदत्तसंयुक्त देशव्यतिरिक्तत्व, हेतु नहीं हो सकता, सन्दिग्ध होनेके कारण। क्योंकि दूसरे सभी देश देवदत्त युक्त हैं या नहीं? यह विचार किया जाता है। अतः यह हेतु अप्रयोजक है, साध्याभावका भी साधन कर सकता है।

१. अन्यत्राप्यर्थापत्तिमनिर्दिशति एतेनेति।

नशक्तिकल्पना व्याख्याता ।

किं पुनः शक्तिकल्पनां विना नोपपद्यते ? बीजादिषु सत्स्वङ्कुराद्युत्पत्तिदर्शनात्, असत्सु चादर्शनाद्बीजादीनामङ्कुरादिकारणत्वमवगम्यते । सत्स्वपि बीजेषु मूषिकाघ्रातेष्वङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्वं प्रतिभासते । सोयं कारणत्वाकारणत्वयोर्विरोधः शक्तिकल्पनया समाधीयते । नूनमस्त्यतीन्द्रियमपि रूपं यद्भावात् कदाचिदङ्कुरोत्पत्तिः, यस्य च मूषिकाघ्राणेन नाशात् कदाचिदनुत्पत्तिरिति कल्प्यते । घ्राणाभावोप्यङ्कुरस्य कारणम्, घ्राणे च सति तदभावादेवाऽनुत्पत्त्युपपत्तेरलं शक्तिकल्पनयेति चेत् ? न, घ्राणक्रियायाः क्षणिकत्वात् तदुत्तरकालं तदभावे सत्यप्यङ्कुरानुत्पत्तेः ।

प्रागभावः कारणं न प्रध्वंसाभाव इति चेत् ? न, अभावत्वाविशेषात् । न हि

इससे बीजादिकमें अंकुर उत्पन्न करनेकी जो शक्ति है, वह भी अर्थापत्तिसे कल्प्य है, इसका व्याख्यान हो जाता है* ।

शंका—शक्ति कल्पनाके बिना किस चीजकी अनुपपत्ति है ? जिससे बीजादिमें शक्तिकी कल्पनाकी जाए ?

उत्तर—बीजादिके रहनेपर अंकुर आदिकी उत्पत्ति होती है । बीजादिके अभावमें अंकुर आदिकी उत्पत्ति नहीं होती, इस अन्वय-व्यतिरेकसे बीजादि अंकुरादिके प्रति कारण है, यह ज्ञात होता है । और कहीं बीजके रहनेपर भी मूषिका आदिके सूंघनेसे अंकुर नहीं होता । इसलिए अंकुरके प्रति बीज कारण नहीं है, यह प्रतीत होता है । यह जो कारणत्व—अकारणत्वका परस्पर विरोध है, उसका शक्ति कल्पनासे परिहार हो जाता है । इसलिए अतीन्द्रिय कोई वस्तु है, जिसके रहनेपर, कदाचित् अंकुर होता है और मूषिका घ्राणसे जिसका नाश होनेपर, कदाचित् कार्य उत्पन्न नहीं होता, ऐसी शक्तिकी कल्पना की जाती है ।

शंका—तब अंकुरोत्पत्तिके प्रति केवल बीज ही कारण नहीं, घ्राणाभाव भी कारण है । क्योंकि घ्राण होनेपर घ्राणाभाव नहीं रहता । उससे अनुत्पत्तिका परिहार हो जाता है । अतः शक्ति-कल्पनाकी कोई आवश्यकता नहीं ।

उत्तर—नहीं, घ्राणाभाव कारण नहीं है, क्योंकि घ्राण तो क्रिया है । वह अनन्तर क्षणमें नष्ट हो जाती है । इसके उत्तर कालमें उसके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् घ्राणके अभावमें अंकुर उत्पन्न होना चाहिए, पर होता नहीं)

शंका—घ्राण क्रियाका प्रागभाव अंकुरोत्पत्तिमें कारण है । प्रध्वंसाभाव नहीं (अतः अनन्तरोक्त दोष नहीं लागू होता)

---

* वार्तिकमें यह विचार किया गया है कि कारणमें उसके स्वरूपसे अतिरिक्त शक्तिको यदि न माना जाए तो सर्वदा कार्य होता रहेगा । ऐसा तो नहीं होता । इसलिए कार्यके अदर्शनसे कारणमें शक्तिकी कल्पनाकी जाती है । कल्पना होनेपर शक्तिके नाशसे कार्यका अदर्शन सिद्ध होता है । जैसा कि वार्तिकमें कहा गया है—

तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र, यत्र च कारणे । कार्यादर्शनतः शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते ॥ इति ॥

(श्लोकवार्तिक, अर्थापत्ति प्रकरण, का० ४७)

प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः प्रागूर्ध्वकालभेदं मुक्त्वा किञ्चिदपि रूपवैलक्षण्यमस्ति। न चाऽविलक्षणे कारणे कार्यवैलक्षण्यं सम्भवति। प्रागभावस्य प्रध्वंसाभावाद्विलक्षणमस्ति-रूपमिति चेत्? कल्प्यमेवं सति किञ्चित्, तच्चाभावे कल्प्यताम्, बीजस्वरूपे वेति—बीजस्य साक्षादङ्कुरकारणत्वात् तत्रैव कल्पयितुं युक्तम्।

एवं[1] यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्। कथं पुनः शक्तिमति यागे

उत्तर—प्रागभाव भी कारण नहीं, क्योंकि प्रागभाव भी अभाव है, प्रध्वंसाभाव भी तो अभाव है, इसलिए इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल इतना ही है प्रागभावमें पूर्वकाल है, प्रध्वंसाभावमें ऊर्ध्व=उत्तर काल है। प्राक्काल तथा ऊर्ध्वकाल इन दोनों भेदोंको छोड़कर, स्वरूपमें कोई विलक्षणता नहीं। कारणमें विलक्षणता न होनेपर, कार्यमें विलक्षणताका होना सम्भव नहीं।

शंका—प्रागभावका प्रध्वंसाभावसे विलक्षण कुछ रूप है। तब क्या दोष है?

उत्तर—ऐसा माननेपर किसी पदार्थकी कल्पना करनी पड़ेगी। उस वस्तुकी अभावमें कल्पनाकी जाए या बीजस्वरूपमें कल्पनाकी जाए? यहाँ किस पक्षमें लाघव है, ऐसा विचार करनेपर बीज हीमें कल्पना करनी उचित है, बीजके साक्षात् अंकुरके प्रति कारण होनेके कारण। (इसलिए कारणमें ही स्वरूप, तदवच्छेदक दोनोंसे भिन्न शक्ति नामक वस्तुकी कल्पना करनी चाहिए। उसमें अर्थापत्ति ही प्रमाण है। क्योंकि कार्यानुकूल शक्ति कारणमें अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होती है।)

(इसी प्रकार अपूर्वकी कल्पनामें भी श्रुतार्थापत्ति प्रमाण होती है, इस बातको स्पष्ट करते हैं 'एवं' इत्यादिसे। जैसे यागादिमें अपूर्वरूप स्वर्गादिको सिद्ध करनेकी शक्ति है, वैसे ही स्वर्गको सिद्ध करनेकी शक्ति यागमें है, यह कल्पना भी कर लेनी चाहिए*।

---

* प्रश्न है कि याग तो क्रिया है, वह तत्काल नष्ट हो जाती है। कालान्तरमें उसके न रहनेपर स्वर्गफल नहीं हो सकेगा, क्योंकि स्वर्ग तो नियमतः शरीरान्तरसे भोग्य है। इसलिए अपूर्वकी सिद्धिमें शक्तिको माननेपर, याग नष्ट होनेपर भी, उसकी शक्ति रह जानेसे, अपूर्वकी उत्पत्ति और स्वर्गरूप फलकी सिद्धि होती है। यहाँ मूलमें 'अपूर्वसाधन-शक्तिकल्पनम्' यह वाक्य है। इसका अर्थ है 'अपूर्वरूप स्वर्गकी सिद्धिके अनुकूल जो शक्ति है, उसकी कल्पना ऐसा अर्थ समझना चाहिए। यहाँ शक्तिके बिना फलकी सिद्धि नहीं होती। अतः अन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्तिसे शक्तिकी कल्पना होती है। इसके सम्बन्धमें श्लोकवार्तिकके अपूर्वाधिकरणमें वार्तिककारने अपूर्वका विशदरूपसे वर्णन किया है। जैसे—

प्रधान कर्म या अंग कर्मोंके करनेसे पहिले पुरुष, स्वर्ग आदि को प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं रखता। क्रतु भी स्वर्गरूप कार्यको उत्पन्न करनेमें अयोग्य है। इन दोनों अयोग्यताओंका निवारण होनेसे, प्रधान और अङ्गोंके द्वारा योग्यता उत्पन्न होती है, ऐसा मानना होगा। नहीं तो न करनेके समान होगा। यही पुरुषगत या क्रतुगत योग्यता है। इसीको मीमांसाशास्त्रमें अपूर्व कहा है। प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा यह ज्ञात नहीं होती। श्रुतार्थापत्तिसे ही ज्ञात होती है। श्रुतार्थापत्ति शब्दका एकदेश है, इसे भी शास्त्र ही माना गया है। जैसे कहा गया है—

---

१. उक्तमर्थमन्यत्रातिदिशति—एवमिति।

विनष्टे निराधारा शक्तिरवतिष्ठते ? न निराधारा भविष्यति, आत्माधारत्वात्। कथमन्य-शक्तिरन्यत्र स्यात् ? तथावगमात्[1]। नावश्यं स्वाश्रयैव शक्तिरिति नियमोऽस्ति। सा हि कार्यतः कल्प्यमाना यत्रैव कार्याय कल्पते, तद्गतैव कल्प्या। सा चेयमपूर्वाख्या शक्तिर्यागाश्रया सती यागविनाशान्न स्वर्गनिष्पत्तये पर्याप्नुयादित्यात्माश्रया कल्प्यते।

यथाह[2]—'शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद्गतैवोपयुज्यते।
तत्रैव साभ्युपेतव्या स्वाश्रयाऽन्याश्रयापि वा'॥ इति।
(तं० वा०, पृ० ३९८)

कथमात्माश्रया सती यागशक्तिरिति व्यपदिश्यते ? तस्य हि फलसाधनत्वमुपपादयितुं सा कल्प्यते, तावता तच्छक्तित्वम्। लोकेपि प्रसिद्धमेतत्—तैलपानसामर्थ्याच्चिरवृत्तेपि तस्मिन् बलपुष्ट्यादिकमद्य मे जातमिति लौकिका व्यवहरन्ति। तस्मादनवद्यम्।

शंका—शक्तिमान् यागके नष्ट होनेपर, बिना आधारके शक्ति कैसे रहती है ? क्योंकि शक्ति बिना आधारके होती नहीं।

उत्तर—शक्तिका आधार आत्मा है। अतः कोई दोष नहीं।

शंका—दूसरेकी शक्ति (अर्थात् यागकी शक्ति) अन्यत्र आत्मामें कैसे होसकती है ? क्योंकि अपनी शक्ति अपनेमें ही रहती है अन्यत्र नहीं, यह नियम है।

उत्तर—अन्यकी शक्ति अन्यमें होती है, यह कोई नियम नहीं। (अर्थात् अपनेमें ही अपनी शक्ति रहे यह कोई आवश्यक नहीं) क्योंकि शक्तिकी कल्पना कार्य (फल) के लिए की जाती है। जहाँ शक्तिके द्वारा कार्य हो सकता हो, वहीं शक्ति माननी चाहिए।

यह अपूर्व नामक शक्ति यागमें रहती है, ऐसा माननेपर यागके नष्ट होनेपर, स्वर्गकी सिद्धिके लिए समर्थ नहीं होगी। इसलिए यह आत्माश्रित मानी जाती है। इसी बातको वार्तिककारने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। अर्थ=शक्ति कार्यके लिए कल्प्य होनेके कारण, जहाँ रहकर कार्यके लिए उपयुक्त होती है, वहीं पर शक्तिको मानना चाहिए। याग नष्ट होनेपर शक्ति वहाँ नहीं रहती। और दूसरा कोई आश्रय नहीं। इसलिए विवश होकर आत्मामें ही उसकी स्थिति मानी जाती है। यदि शक्ति यागाश्रित मानी जाए, तो स्वर्गादि फल नहीं होगा, इसलिए आत्मामें अर्थात् अन्य आश्रयमें भी शक्ति मानी जाती है, यह वार्तिकका अर्थ है।

शंका—यह शक्ति आत्माश्रित होकर, यागकी शक्ति कैसे कहलाएगी ?

उत्तर—याग फलका साधन है, इस बातको सिद्ध करनेके लिए उसकी कल्पनाकी जाती है। इतने मात्रसे वह याग-शक्ति कहलाती है। (उक्त अर्थका लोक प्रसिद्धिको लेकर, उपपादन करते हैं 'लोकेऽपि' से) लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि तैल पानरूप क्रिया नष्ट होनेपर भी तैल-पानका फल बल, पुष्टि आदि आज मुझको मिला है, ऐसा लोग कहते हैं। इसलिए याग

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा। योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते॥
श्रुतार्थापत्तिरेवैका प्रमाणं तस्य वेष्यते। शब्दैकदेशभावाच्च स्वार्थेष्वागम एव नः॥इति॥

१. स्वशक्तिः स्वस्मिन्नेवावतिष्ठत इति नियमादित्यर्थः। (तंत्रवार्तिक, पृ० ३९४)

२. अत्र वार्तिककृतसम्मतिमाह।

श्रुतार्थापत्तिनिरूपणम्

दृष्टग्रहणेनैव[1] प्रतीतिमात्रग्रहाच्छ्रु तस्यापि ग्रहणे सिद्धे श्रुतार्थापत्तेः प्रमाणग्राहिणीत्वेन दृष्टार्थापत्तितो वैलक्षण्यमुपपादयितुं श्रु तग्रहणम्। तथा हि—लोके तावद् द्वारं द्वारमित्यादिषु सम्पूर्णार्थप्रतिपादनाय संव्रियतामित्यादिशब्दान्तरं श्रु तशब्दैकवाक्यत्वेन कल्प्यते।

तथा वेदेपि—'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र स्वर्गकाम इति वा स्वर्गार्थमिति वा। येनैव शब्देन श्रु तशब्दैकवाक्यभूतेन परिपूर्णार्थाभिधानं सम्पद्यते वाक्यम्, तदेव हृदयमानीय श्रु तेन सह मेलयित्वा परिपूर्णाद्वाक्याद्वाक्यार्थः प्रतीयते।

तथा—'सौर्यं चरुं निर्वपेत्ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यादिषु विधिष्वितिकर्तव्यताप्रतिपादकशब्दाश्रवणाद्पूर्णेषु तत्प्रतिपादकशब्दापेक्षया चोदनालिङ्गोपस्थापितस्याग्नेयविधे-

स्वर्गका साधन है। याग शक्ति आत्माश्रित है, ऐसा माननेपर कोई दोष नहीं❀।

(अर्थापत्ति निरूपणके प्रसंगमें कारणमें कार्यानुकूल शक्ति तथा याग शक्तिको सिद्धकर, भाष्योक्त अर्थापत्तिके लक्षण वाक्यमें जो 'दृष्ट' विशेषण दिया है उसकी सार्थकता बताते हैं) 'दृष्टग्रहणेनैव' इत्यादिसे। शंक— यहाँ 'दृष्ट' के ग्रहणसे जिस किसी प्रमाणसे ज्ञातार्थ मात्रका ग्रहण करनेसे श्रुत अर्थका भी ग्रहण हो गया, अतः, 'श्रुत' पद व्यर्थ है।

उत्तर—नहीं सार्थक है। (क्योंकि अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है, दृष्टार्थापत्ति, श्रुतार्थापत्तिके भेदसे। भाष्यमें दृष्ट शब्दसे दृष्टार्थापत्ति कही गई है। 'श्रुत' पदसे श्रुतार्थापत्ति। इन दोनोंमें दृष्टार्थापत्ति अर्थरूप प्रमेयकी उपपादिका है) श्रुतार्थापत्तिसे प्रमाणकी कल्पना होती है। (अर्थात् श्रुतार्थापत्ति प्रमाण ग्राहिका है) अतः उसकी दृष्टार्थापत्तिसे विलक्षणता बतानेके लिए 'श्रुत' पदका ग्रहण है।

(उक्तार्थको लौकिक उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं) लोकमें 'द्वार-द्वार' इत्यादि स्थलोंमें सम्पूर्ण अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए 'वन्दकरो' इत्यादि शब्दान्तरकी श्रुत वाक्यके साथ एक वाक्यताकी कल्पनाकी जाती है—'द्वारं संव्रियतामिति'। ('दरवाजेको वन्द करो' ऐसा वाक्य सम्पूर्ण अर्थका प्रतिपाद होता है) अब वैदिक उदाहरण देते हैं 'तथा' इत्यादिसे। इसप्रकार वेदमें भी 'विश्वजित यागसे प्राप्त करे' यहाँ स्वर्गकाम या स्वर्गके लिए ऐसे किसी शब्दकी कल्पना होती है, जिससे वह वाक्य, श्रुत-वाक्यकी एक वाक्यतासे परिपूर्ण अर्थका प्रतिपादक हो जाता है, उसी शब्दको मनमें लाकर, श्रुत वाक्यके साथ मिलाकर, परिपूर्ण वाक्यसे वाक्यार्थ बोध होता है। यथा 'विश्वजिता यजेत स्वर्गकामः' स्वर्गकाम पुरुष विश्वजित यागसे स्वर्गको प्राप्तकरे। श्रुतार्थापत्तिका दूसरा उदाहरण देते हैं 'सौर्यं' इत्यादिसे। इसी प्रकार उक्त विधि वाक्योंमें भी इतिकर्तव्यता (उपकारक अंग) के प्रतिपादक

❀ इस प्रसंगमें यह वार्तिक ध्यान देने योग्य है—

आत्मैव चाश्रयस्तस्य क्रियाप्यत्रैव च स्थिता। आत्मवादे स्थितं ह्येतत् कर्तृत्वं सर्वकर्मसु।

यदि स्वसमवेतैव शक्तिरिष्येत कर्मणाम्। तद्विनाशे ततो न स्यात् कर्तृस्था तु न नश्यति॥ इति॥

मूलमें 'प्रतीति मात्र' यह पाठ मिलता है। यहां 'प्रतीतमात्र' यह पाठ युक्त समझना चाहिए।

१. एवं प्रसक्तानुप्रसक्तं परिसमाप्येदानीं लक्षणगतश्रुतपदव्यावर्त्यमाह दृष्टेति। एतच्च व्याख्यातपूर्वम्।

स्त्र्यंशस्य साध्यसाधनांशप्रतिपादकभागावनपेक्षितत्वादनादृत्य, यस्तृतीयोंश इत्थम्भावोऽग्न्यन्वाधानादिर्विध्यन्तत्वेन परिकल्पितः, तस्य वाचको यः शब्दः—'आग्नेयादिवत्' इति स वाक्यशेषत्वेन कल्प्यते।

अथवा[1]—किमक्लृप्तेनाग्नेयादिवच्छब्देन कल्पितेन, किन्तु य एवाग्नेयविध्यन्तस्तस्यैव व्यवहितस्यापि चोदनालिङ्गबलोपस्थापितस्य विकृतिविधिना सहैकवाक्यतामात्रमर्थापत्त्या कल्प्यते। न ह्ययमनुषङ्गः, येन व्यवहितस्य न स्यादिति। अतिदेशस्त्वयं व्यवहितस्यापि कथंञ्चिदुपस्थानादुपपन्न एव। तथा च[2] वक्ष्यति—'विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत' इति (मी० द० ७।४।५०)। 'विध्यन्त इति प्रधानविधिवर्जितं समस्तमेव पौरोडाशिकं काण्डमभिधीयते' इति भाष्यकारः।

नन्वेवं[3] शास्त्रातिदेशाङ्गीकरणे दशमाद्यविरोधः स्यात्, ऊहबाधयोश्चासिद्धिः।

शब्दका श्रवण न होनेसे विधि वाक्य अपूर्ण है। वहां इतिकर्तव्यताके प्रतिपादक शब्दकी आकांक्षा होती है। अतः चोदना लिंगसे आग्नेय विधि उपस्थापित है। उसका अर्थ है तीन अंशों वाली भावना = त्र्यंशा भावना। इस विधिमें तीन अंश हैं साध्य, साधन, और इतिकर्तव्यता। उनमें साध्यांश एवं साधनांश, दोनों यहाँ भी श्रुत होनेके कारण, उन दोनोंकी आकांक्षा नहीं है। अतः इन दोनोंकी विवक्षा न रखते हुए, जो तीसरा अंश है इतिकर्तव्यता, इत्थंभाव जिसका अपर नाम है, वह अग्नि-अन्वाधानादि विध्यन्तके रूपमें कल्पित है। उसका वाचक शब्द है आग्नेयादि वत् = आग्नेयादि यागोंकी तरह। उसकी शेषत्वेन कल्पना होती है। (अर्थात् सौर्यविधि वाक्यके साथ आग्नेयादि वाक्यकी एक वाक्यता मानी जाती है। यथा 'सौर्येण चरुणा ब्रह्मवर्चसं भावयेत्, आग्नेयवदुपकृत्य' इसीमें दूसरा पक्ष बताते हैं 'अथवा' इत्यादिसे। इस पक्षके उपन्यासमें लाघव ही कारण है)

शंका—जो अक्लृप्त है अर्थात् श्रुत नहीं है आग्नेयादिवच्छब्द उसकी क्यों कल्पना करते हैं? उत्तर—जो आग्नेयका विध्यन्त है, अग्नि-अन्वाधान आदि, वह सौर्य यागकी सन्निधिमें नहीं है। अतः व्यवहित है। फिर भी चोदना लिंगके बलसे उपस्थापित विकृति विधि (सौर्यं चरूं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः) के साथ एक वाक्यता मात्रकी अर्थापत्तिसे कल्पनाकी जाती है (नहीं तो सौर्ययाग विधिकी अनुपपत्ति होगी।

शंका—इसे अनुषंग क्यों नहीं मान लेते?

उत्तर—नहीं, यह अनुषंग नहीं है. क्योकि व्यवहितका अनुषंग नहीं होता (जैमिनिका यह सूत्र है 'व्यवायानानुषज्येत' = व्यवधान होनेसे अनुषंग नहीं होता) यह अति देश है, अतः व्यवहित पदार्थकी भी 'निर्वपेदिति' विधिके वशसे, कथंचित उपस्थिति होनेसे, अतिदेश उपपन्न होता ही है। यह सूत्र है—'विध्यन्तो वा प्रकृतिवत् चोदनायां प्रवर्तेते' इति। इसका व्याख्यान करते हुए भाष्यकारने स्वयं कहा है—इस सूत्रमें विध्यन्त शब्द प्रधान विधिको छोड़कर सम्पूर्ण पौरोडाशिक काण्डका अभिधायक है। इसलिए व्यवहित अतिदेश भी उपपन्न होता है।

---

१. अकृप्तकल्पनापत्त्यपरितोषात् पक्षान्तरमाह अथवेति। २. सूत्रकृतःसम्मतिमाह तथा चेति।

३. एकदेशिमतापत्त्या विरोधं शंकते नन्वेवमिति। दशमाद्ये प्रकारातिदेशस्यैव स्थापितत्वादियर्थः। ग्रन्थकारश्चबाधाद्यसिद्धि यदीत्यादिना दर्शयति।

भवेदेवम्—यदि यथाश्रुतरूपमेव 'व्रीहीनवहन्ति' इति वाक्यं विकृतिं नीत्वा तस्य यथासम्भवं विकृतिविधिना सहैकवाक्यता परिकल्प्येत। यदि तथा क्रियते तत्र कृष्णलचरौ व्रीहिशब्दस्य हविर्लक्षणार्थत्वायोगादवघातस्य च दृष्टप्रयोजनाभावाद् व्रीहिसाधनकोऽ-

---

शंका—शास्त्रातिदेश* माननेपर दशमाध्यायके पहिले अधिकरणका विरोध होगा§। और सुनिए 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस निर्वाप मंत्रका सौर्य यागमें ऊह (अग्निपदके स्थानपर सूर्य

---

* अतिदेश तीन प्रकार का होता है, (क) शास्त्राति देश (ख) पदार्थातिदेश। (ग) उपकारातिदेश। इन तीनोंमें प्रथम दो पूर्वपक्षके रूपमें रक्खे गए हैं। और अन्तिम पक्षको सिद्धान्तके रूपमें माना गया है। शास्त्रातिदेश माननेपर .'प्रकृतिवद्विकृतिकर्तव्या' अर्थात् प्रकृति यागमें जिन-जिन अंगोंका अनुष्ठान किया गया है, विकृतिमें भी उन सबका अनुष्ठान होना चाहिए, यह प्राभाकर मीमांसक मानते हैं। अतः अनुष्ठानका बाध होता है, पदार्थका बाध नहीं होता; यह उनका सिद्धान्त है।

दूसरे पदार्थातिदेशको भी प्राभाकर मानते हैं। इसलिए न शास्त्रका बाध होता है न पदार्थका, अपितु अनुष्ठान मात्रका बाध होता है। अवघात तो कृष्णल - चरूका भी अंग है, किन्तु प्रयोजनाभावके कारण उसका अनुष्ठान नहीं होता। फिर भी विकृतिका अंग तो है ही।

तीसरे उपकारातिदेशको भी प्राभाकर मानते हैं। उपकारातिदेशसे पृथक् पदार्थातिदेशको भी स्वीकार करते हैं। शास्त्रदीपिकाकार पारथसारथि मिश्र केवल उपकारातिदेशको ही मानते हैं। उन्होंने जहाँ तहाँ पदार्थातिदेश एवं शास्त्रातिदेशकी भी चर्चा की है। तत् तत् स्थलोंमें उन्होंने उपकारातिदेशको ही सिद्धान्तके रूपमें माना है। इस लिए उन्होंने दशमाद्याधिकरणमें कहा है 'आकांक्षासत्तियोग्यत्वैरुपकारातिदेशनम्' इति। सप्तमाध्यायके उपान्तिमाधिकरणमें भी शास्त्रातिदेशका निराकरणकर, उपकारातिदेशको ही सिद्ध किया है। और खण्डदेव आचार्य आदि अर्वाचीन मीमांसकोंने भी पारथसारथि मिश्रके पक्षको प्रमाण मानकर, विचार किया है। 'प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकाणां पदार्थानां निरूपितरूपाणामतिदेशः' इत्यादि। वह उपकार दो प्रकारका होता है महोपकार और अवान्तर उपकार। अवान्तर उपकारका ही अतिदेश होता है, महोपकारका नहीं, इसका भी दशमाध्यायमें उपपादन किया है।

§ विरोध क्यों होगा ? क्योंकि वहाँ शास्त्रातिदेश माननेपर सभी इतिकर्तव्यताओं (अंगों) का सौर्यादि विकृति यागोंमें अनुष्ठान करना होगा, ऐसी आशंकाकर, समाधान किया गया है कि प्राकृत सभी अंगोंका विकृतिमें अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। जिस प्रयोजनके लिए प्रकृतमें जो अंग विहित हैं, उनका विकृतिमें उस प्रयोजनके अभावमें अनुष्ठान नहीं करना। अर्थात् प्रकृतिमें जो उपकारक पदार्थ हैं, उन्हींका विकृतिमें अनुष्ठान होता है, दूसरोंका नही। जैसे कि भाष्यमें कहा गया है—'एवमवहन्त्याद्यप्राकृतं सर्वं कर्तव्यमिति, किन्तु प्राकृतान्यंगानि यस्मै प्रयोजनाय प्रकृतौ भवन्ति नासति तस्मिन् प्रयोजने विकृतौ चोदितानि भवन्ति। तस्मात् लुप्तप्राकृतप्रयोजनं न चोदकश्चोदयति' इति।

(शाबर भाष्य, अध्याय १०।१।१।)

वघातोऽदृष्टार्थो विधीयेत। तत्र नावघातस्य बाधः स्यात्। एवं नीवारादिष्वपि— 'व्रीहय एवाहन्तव्याः' इति न नीवारादिष्ववहन्तिरूह्येत।

पदका प्रक्षेप) नहीं होगा। शास्त्रातिदेश पक्षमें यथाश्रुत मंत्रका भी प्रयोग होगा इस प्रकार कृष्णल - चरूमें* अवघातका बाध नहीं होगा। दृष्ट प्रयोजन न होनेके कारण। इस बातका ग्रन्थकार 'यदि' इत्यादिसे उपपादन करते हैं। अतः शास्त्रातिदेश पक्षमें अवघातका बाध नहीं होगा, इसीको 'भवेदेवं' से कहते हैं। यह तब हो सकता था, यदि यथाश्रुत ही 'व्रीहिनवन्ति' इस वाक्यको विकृतिमें ले जाकर, यथा सम्भव विकृति-विधिके साथ एक वाक्यकी कल्पना होती। यदि ऐसा करते हैं, तो कृष्णल-चरूमें व्रीहि शब्द, व्रीहि मात्र का बोधन करेगा। प्रकृत हविका बोधन नहीं करेगा। अवघात भी तुषविमोक रूप दृष्ठ प्रयोजनके न होनेसे, व्रीहि साधनक अवघात अदृष्टके लिए विधान मानना होगा। तब वहाँ अवघातका बाध नहीं होगा। और सुनिए— नीवारादिमें भी धानका ही अव घात करना होगा। अतः नीवारादिमें अवघातका ऊह§ (पदान्तर

---

* 'प्राजापत्यं चरूं निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः' इस वाक्यसे आयुष्काम इष्टिका विधान है। इसके प्रजापति देवता हैं। गुञ्जा फलके समान सुवर्णकी गोलियोंको 'कृष्णल' कहते हैं। ये गोलियाँ यागमें द्रव्य स्थानीय हैं। इनको घीमें पकाकर आहुति देनी चाहिए। गोलियोंको गर्म करनेसे उनमें पाकका उपचार होता है। मुख्य पाक उनमें सम्भव नहीं। विकृतिरूप फल उनमें नहीं होता। तुषविमोक रूप दृष्ट प्रयोजनके अभावसे यहाँ अवघातका बाध होता है।

§ प्रकृतिमें अन्यथा दृष्ट मंत्र आदिके, विकृतिमें अन्यथा भावको 'ऊह' कहते हैं। यह मुख्य है। पदान्तर प्रक्षेपको गौण ऊह कहते हैं। निर्वाप मंत्रमें 'अग्नि' पद श्रुत है। विकृति यागमें सूर्य देवता हैं। अग्नि पदसे अग्निका बोध होगा, सूर्यका नहीं। अतः अग्नि पदको हटाकर सूर्य पदको रखना, इसीको ऊह कहते हैं—'प्राकृतपदपरित्यागेन विकृतौ पदान्तरप्रक्षेपः ऊहः। यह तीन प्रकारका है १—मंत्रोह। २—सामोह और ३—संस्कारोह। इनका विशेष विवेचन मीमांसा दर्शनके नवमाध्यायमें देखना चाहिए।

बाध निवृत्ति या पदार्थोंके अनुष्ठानको कहते हैं। प्राकृत जो अंग हैं, जो विकृतिमें कार्यके द्वारा आते हैं, उनका तीन प्रकारसे बाध होता है। (क) द्वारलोप (ख) प्रत्याम्नान (ग) प्रतिषेध (क) द्वारलोपका अर्थ है—प्रयोजनका लोप। यथा—कृष्णल-चरूमें अवघातका बाध होता है। क्योंकि प्रकृतिमें अवघात तुषविमोक रूप दृष्ट प्रयोजनके द्वारा प्रकृति यागका अंग है। और कृष्णल-चरूमें प्रयोजन रूप द्वारके लोपसे बाध होता है। अर्थात् अवघातका अनुष्ठान नहीं होता। (ख) प्रत्याम्नान प्रकृति यागमें कुशाका विधान है। आभिचारिक कर्ममें कुशाके स्थानपर शरोंका विधान है। यहाँ 'शर' शब्दसे तृण विशेष (सरकण्डा) को लेना चाहिए। बाणको नहीं। 'शरमयं बर्हिर्भवति' इसका अर्थ है बर्हिके स्थानपर शरोंको रखना चाहिए। प्रत्याम्नानका अर्थ है विरुद्ध पदार्थको कहना। कुशाके विरुद्ध शरोंका विधान है, इस लिए यह प्रत्याम्नानका उदाहरण है (ग) प्रतिषेध यहाँ निषेध है। जैसे—'न होतारं वृणीते' यह वाक्य पित्रेष्टिमें श्रुत है। वहाँ होताका वरण नहीं करना। प्रकृतिमें वरणका विधान है या विकृतिमें वर्णका निषेध है। इसलिए इसका अनुष्ठान नहीं होता बाधके अवान्तर भेद उदाहरण आदि मीमांसा दर्शनके दशमाध्याय तथा 'मीमांसा-बालप्रकाश' में देखने चाहिएं।

नत्वेवमस्माभिरुच्यते, किं तु प्रकृतौ प्रधानेन सहैकवाक्यतयाऽवगतस्यास्य यावान् परिकरो यादृग्रूपम्, तादृगतिदिश्यते, प्रकृतौ व्रीहीणां हविष्ट्वात् तल्लक्षणार्थो व्रीहिशब्दः। अवघातस्य च तेषु दृष्टं प्रयोजनं तुषविमोचनं सम्भवतीति तद्द्वारेणास्य प्रधानैकवाक्यता। ततश्च—'अवघातवितुषीकृतैर्व्रीहिभिः पुरोडाशं कृत्वा तेन यजेत' इतीदृशः प्रकृतिविधिः, तस्य प्रधानप्रतिपादको योंऽशः 'यजेत' इति, तद्वर्जं विशेषणांशो विकृतिवाक्येन सम्बन्ध्यते। तस्य च न साक्षादवघातो विशेषणम्, अवघातविशेषितवितुषीकरणविशिष्टं हि हविर्यागस्य विशेषणं प्रकृतौ, अतस्तदेव विकृतावाकृष्यते। कृष्णलयागे च कृष्णलशब्दस्य हविर्वाचिनः प्रत्यक्षश्रवणात् तद्विरोधात् पुरोडाशशब्दो निवर्तते तन्निवृत्त्या च व्रीहीणामपि निवृत्तिः। न हि ते कृष्णलानां प्रकृतित्वेन सम्भवन्ति। वितुषीकरणशब्दोपि यो द्वारप्रतिपादकः, सोपि कृष्णलेषु तदसंभवान्निवृत्तः, तद्विशेषणं चावघात इति सोपि निवर्तते इति बाधसिद्धिः। नीवारादिषु तु वितुषीकरणसम्भवादनिवृत्तोऽवघात इत्यूहस्यापि सिद्धिः। दशमाद्ये च यावच्छ्रुतानामङ्गशास्त्राणामतिदेशमाशङ्क्य प्रकृत्यन्वितानां तेन रूपेणातिदेशः सिद्धान्तितः, इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

प्रक्षेप) नहीं होगा। इस प्रकार शास्त्रातिदेश पक्षमें ऊह और बाध दोनों सिद्ध नहीं होंगे। (इस प्रकार शास्त्रातिदेश पक्षमें ऊह और बाधको असिद्धिको बताकर, उपकारातिदेश, जो कि ग्रन्थकारको अभिमत है, उस पक्षमें पूर्वोक्त दोषका परिहार करते हैं।) 'नत्वेवम्' इत्यादिसे। इस प्रकार हम लोग नहीं कहते। किस प्रकार? उपकारके अतिदेश पक्षमें, प्रकृति यागमें प्रधानके साथ, जो एक वाक्यके रूपसे गृहीत है, उसके जितने परिकर हैं, उन सबका अतिदेश होता है। प्रकृतिमें व्रीहिका श्रवण हविका लक्षक (बोधक) है। और अवघात भी व्रीहियोंमें तुष विमोकरूप दृष्ट प्रयोजनके लिए है। इसलिए हविके द्वारा इसकी प्रधान वाक्यके साथ एक वाक्यता है। (प्रकृत यागका साक्षात् अवघात विशेषण नहीं, किन्तु अवघात विशिष्ट जो वितुषीकरण, तद्विशिष्ट जो हवि है, वही प्रकृति यागमें विशेषण है। उसीका) 'ततश्च' इत्यादिसे प्रतिपादन करते हैं। अवघातके द्वारा वितुषी कृत धान्य तथा तण्डुलों का पुरोडाश बनाकर, उसीसे याग करे इस प्रकारकी प्रकृति विधि है। उसका प्रधान प्रतिपादक अंश है 'यजेत'। इसे छोड़कर विशेषणांशका अर्थात् अवघात विशिष्ट तुषविमोक, तद्विशिष्ट हविका विकृति वाक्यसे सम्बन्ध होता है। उसका साक्षात् अवघात विशेषण नहीं, किन्तु प्रकृतिमें अवघात विशिष्ट वितुषी करण, तद्विशिष्ट हविः यागका विशेषण है। अतः वही विकृतिमें आकर्षित होता है। कृष्णल-यागमें हविर्वाचक कृष्णल शब्दका प्रत्यक्ष श्रवण होनेके कारण, उसके विरोधसे पुरोडाश शब्द निवृत्त होता है। पुरोडाशकी निवृत्ति होनेसे धान्योंकी भी निवृत्ति होती है। धान्य कृष्णलोंकी प्रकृति नहीं हो सकते। और प्रकृतिमें द्वारभूत वितुषीकरण न होनेसे अवघात भी नहीं हो सकता। क्योंकि कृष्णलोंमें वितुषीकरण तो है नहीं। इसलिए उसका विशेषण अवघात भी निवृत्त हो जाता है। अतः अवघातका बाध सिद्ध होता है। नीवारादिमें तो वितुषीकरणरूप द्वारके सम्भव होनेसे वितुषीकरण निवृत्त नहीं होता। प्रकृतमें वितुषीकरण द्वारा ही अवघात का सम्बन्ध है। अतः यहाँ अवघातका भी ऊह सिद्ध होता है। दशमाद्याधिकरणमें कहा गया है कि जितने श्रुत है अंगशास्त्र 'व्रीहीनवहन्ति' 'समिदो यजति' इत्यादि, उन सभीका अतिदेश होता है। ऐसा पूर्वपक्ष किया है। फिर यह

अर्थाध्याहारवादिनःप्राभाकरस्य मतानुवादः

नन्वर्थमेवाध्याहृत्य, वाक्यं पूर्यतां किं शब्दकल्पनया ? नार्थमात्रेण पूरणं सम्भवति, एकवाक्यभूतपद[1]प्रतिपादिता हि पदार्था वाक्यार्थं प्रतिपादयन्ति नान्यथा। न हि 'आनय' इत्येतावत्युक्ते 'गाम्' इत्यनुक्तेप्रत्यक्षप्रतिपन्नेपि गवि गवासहानयनमन्वीयते। एवं च विकृतिषु सौर्यादिष्वसमवेता[2]र्थाग्न्यादिपदनिवृत्तेर्न्यूनसाकाङ्क्षमन्त्रवाक्यपूरणाय सूर्यादिपदप्रक्षेपादूहसिद्धिः।

अर्थाध्याहारवादिनां तु सूर्यार्थेनाध्याहृतेन विशिष्टं निर्वपामिपदमेव प्रकाशयतीति नोहः सिध्येत्। तथा यत्राधिकारवाक्येऽर्थवादमात्रं श्रुतम्--'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य

सिद्धान्त किया, कि जो प्रकृतिमें अन्वित हैं, अर्थात् प्रकृतिमें जो उपकार कर चुके हैं, अवघातादि, वितुषी करणदिके द्वारा, उन्हीं पदार्थोंका उसी रूपसे विकृतिमें अतिदेश होता है। यही सिद्धान्त है। बस कीजिए।

(भाट्ट मतसे सिद्धान्त कहकर, अर्थाध्याहार वादी प्राभाकरकी ओरसे शंका करते हैं) 'ननु' इत्यादिसे। अर्थ ही का अध्याहार करके वाक्य पूर्ण कीजिए, शब्द कल्पनाकी क्या आवश्यकता है*?

उत्तर—अर्थ मात्रसे वाक्यार्थ पूर्ण नहीं होता। अर्थात् अध्याहृत अर्थसे वाक्यार्थ पूर्ण नहीं होता, क्योंकि शब्दकी आकांक्षा शब्दसे ही पूर्ण होती है, यह न्याय है 'शाब्द्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते इति न्यायात्' एक वाक्यताको प्राप्त पदोंसे स्मारित पदार्थ ही वाक्यर्थके प्रतिपादक होते हैं, केवल अर्थ मात्रसे नहीं। (उक्तार्थका व्यतिरेक मुखसे प्रतिपादन करते हैं) 'न हि' इत्यादिसे। 'आनय' इतना मात्र कहने पर, 'गां' इसको नहीं कहते। वहाँ सामने गौ का प्रत्यक्ष होने पर भी आनयन गो से अन्वित नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृतिमें भी 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' यह निर्वाप मंत्र पठित है। उसके अतिदेशसे सौर्यादि विकृति यागोंमें अतिदेश होता है। वहाँ सूर्य देवता है। अग्नि नहीं, इसलिए असमवेत अर्थ होनेसे 'अग्नि' पदको हटाना चाहिए। उक्त मंत्रसे अग्नि पदके हटाने पर, 'जुष्टं निर्वपामि' इतना ही मंत्र रह जाएगा। तब वह मंत्र न्यून होगा और साकांक्ष रहेगा। इस न्यून साकांक्ष मंत्र-वाक्यकी पूर्तिके लिए सूर्य आदि पदको रखनेपर, 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' यह ऊह सिद्ध होता है, (अतः शब्दके अध्याहार पक्षमें ही ऊह सिद्ध होता है।)

---

* इसका यह आशय है कि शब्दकी कल्पना कर, अर्थको लेकर ही अनुपपत्तिका परिहार करना है। इसलिए अर्थका ही अध्याहार कीजिए। शब्दकी कल्पनामें गौरव है। जैसे 'देवदत्त खूब मोटा है, दिनमें नहीं खाता, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ अर्थकी कल्पना ही संगत है। जिसकी कल्पनाके बिना अनुपपत्ति होती हो, उसीकी अर्थापत्तिसे कल्पना होती है। भोजनका रात्रि सम्बन्ध ज्ञात न होनेसे भोजनकी अनुपपत्ति है। रात्रि भोजनका आक्षेप करने पर अनुपपत्तिका परिहार होता है। और अन्य स्थलोंमें सविकल्पक ज्ञान होता है। प्रकृतमें भी सविकल्पक ही होगा श्रुतार्थापत्ति भी प्रमाण ग्राहिका नहीं है। किन्तु उपपादक अर्थकी ही कल्पिका है। इसलिए भाष्यमें 'श्रुत' ग्रहण, 'गोबलीवर्द' न्यायसे दृष्ट पदकी तरह अर्थका ही ग्राहक है। इसलिए अर्थापत्ति स्थलमें कहीं शब्दकी कल्पना नहीं होती, किन्तु अर्थकी कल्पना होती है।

---

१. पदद्वयेति 'क' पुस्तके पाठः। २. असन्निहितार्थेति 'ख' पुस्तके पाठः।

एता रात्रीरुपयन्ति' इति तत्रापि भवन्मते विध्यर्थ एवाध्याहार्यः, न विधिशब्दः। ततश्च प्राकृतस्योपकारस्य पदार्थानां च नाऽपूर्वैदमर्थ्यं सिध्येत्। सत्स्वपि ह्यर्थानामाकाङ्क्षा-संनिधि-योग्यत्वेषु नाभिधानमन्तरेणान्वयसिद्धिः। न चेहापूर्वाभिधायी शब्दोऽस्ति योऽपूर्वं प्राकृतैरन्वितमभिदध्यात्। नापि प्राकृताः शब्दा विकृतौ सन्ति ये स्वार्थानपूर्वान्विता-नभिदध्युः। न चार्थवादपदार्थैस्तेषामन्वयः, नाप्युत्पत्त्यपूर्वेणेति, अनन्वय एव स्यात्।

अर्थाध्याहारवादिमते प्रकृतावनिष्टापादनम्

एवं प्रकृतावपि 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इत्यत्र विधिशब्दस्याऽनाम्ना-नादनध्याहाराच्च विध्यर्थस्यैव स्वर्गकामाधिकारापूर्वात्, आग्नेयाद्युत्पत्त्यपूर्वेभ्यश्च पृथग्भू-तस्याध्याहारान्न समिदादीनामैदमर्थ्यं सिध्येत्। नहि समिदादिवाक्य[1]गतयजतयोऽवघा-तादिवदधिकारापूर्वान्वितं स्वार्थमभिधातुमलम्, स्वापूर्वविषयत्वव्याघातात्। तस्मादीदृ-शेष्वधिकारविधिषु विधिशब्द एवाध्याहार्यः, नार्थः।

अब अर्थाध्याहार पक्षमें ऊह सिद्ध नहीं होता, इसे बताते हैं 'अर्था' इत्यादिसे। अर्थाध्याहार पक्षमें सूर्यरूप अर्थका अध्याहार हुआ है। उस अर्थसे विशिष्ट 'निर्वापामि' पद ही अर्थका प्रकाशक होता है, इसलिए ऊह नहीं सिद्ध होगा। (अर्थाध्याहारपक्षमें ही दूसरा दोष देते हैं) 'तथा' इत्यादिसे। इसी प्रकार जिस वाक्यके समीपमें अर्थवाद ही श्रुत है, वह प्रतिष्ठित होता है। जो उस रात्रि सत्रका* अनुष्ठान करता है, वहाँ भी आपके मतमें विध्यर्थका ही अध्याहार होगा, विधि शब्दका नहीं। इससे प्राकृत उपकार तथा प्राकृत पदार्थ, इन दोनोंका अपूर्व ऐदमर्थ्य (अपूर्वार्थता) नहीं सिद्ध होगी§।

शंक—यदि कहा जाए आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता आदिके अनुसार, अध्याहृत अपूर्वके साथ प्राकृत पदार्थ तथा उपकारका अन्वय हो सकता है, इसलिए अर्थाध्याहारपक्षमें कोई दोष नहीं इसीको कहते हैं 'सत्स्वपि' इत्यादिसे।

उत्तर—शब्दके अभिधानके बिना, अन्वय नहीं सिद्ध होता। उदाहृत 'प्रतितिष्ठन्ति हवा' इस वाक्यमें अपूर्वका वाचक कोई शब्द नहीं, जो प्राकृत पदार्थ और उपकार, दोनोंसे अन्वित अपूर्वको कह सके। (अन्वय न होनेमें दूसरे हेतु बताते हैं) शंका—प्रकृतिमें जो शब्द हैं; वे प्राकृत पदार्थको कहते हैं। वे ही प्राकृत शब्द विकृतिमें प्राप्त होते हैं। वे विकृत्यपूर्वसे अन्वित स्वार्थ = अपूर्वको कहेंगे। तब अन्वय होनेमें क्या अनुपपत्ति है ?

* यहाँ 'रात्रि' पदसे 'ज्योतिर्गौरायुरिति त्र्यः भवन्ति' इत्यादि वाक्यसे रात्रि-सत्रका विधान है। वे रात्रि शब्दसे युक्त हैं। 'त एता विंशति रात्रिरपश्यन्' यहाँ बहुवचनान्त रात्रि शब्दसे वे ही तीन याग अभिप्रेत हैं।

§ अर्थात् शब्दसे प्रतिपादित अर्थका शब्दसे प्रति पादित अर्थके साथ ही अन्वय होता है, अध्याहृत अर्थसे नहीं। इसप्रकार शब्दसे प्रतिपादित पदार्थ तथा उपकार इन दोनोंका शब्दके बिना अध्या-हृत विध्यर्थके साथ अन्वय नहीं होगा।

१. वाक्येति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः नास्ति।

कथं च विध्यर्थस्यात्यन्ताऽलौकिकतया प्रमाणेन, तदाभासेन वा बुद्धावारोपयितुमशक्यत्वेनाभिमतस्य बुद्धिसंनिधानात्मकोऽध्याहारः, अश्रुतविधिशब्दकेष्वधिकारवाक्येषु वा उत्पत्तिवाक्येषु—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्' इत्यादिष वा शक्यते ? इति-अकामेनापि शब्दाध्याहारोऽङ्गीकर्तव्य इत्यास्तां तावत् ।। इत्यर्थापत्तिपरिच्छेदः ।।

उत्तर—प्राकृत शब्द प्रकृतिमें पठित हैं, विकृतिमें नहीं। अतः अर्थाध्याहारवादीके मतमें विकृतिमें शब्द ही नहीं हैं, वे विकृत्यपूर्वसे अन्वित स्वार्थको कैसे कह सकते हैं ? तब अध्याहृत प्राकृत पदार्थोंका अर्थवाद पदार्थोंसे अन्वय कैसे होगा ? ('नहि शाब्दमशाब्देनान्वेति' यह न्याय है)

शंका—(प्राकृत पदार्थ और उपकारका अधिकारापूर्वसे अन्वय न हो, उत्पत्त्यपूर्वके साथ अन्वय हो जाएगा)

उत्तर—प्राकृत पदार्थ और अपूर्वका उत्पत्त्यपूर्वके साथ अन्वय नहीं होगा। (न्याय तो कह चुके हैं। अर्थाध्याहार पक्षमें अन्वय न होनेसे वह पक्ष ठीक नहीं, अतः शब्दाध्याहार पक्ष ही युक्त हैं)

(अर्थाध्याहार पक्षमें विकृतिमें अनुपपत्ति बताकर, प्रकृति यागमें भी अनुपपत्ति बताते हैं) 'एवं' इत्यादिसे। दर्शपूर्णमासेष्टि सबकी प्रकृति है। उसका लक्षण पहिले बताचुके हैं। उसमें अर्थवाद इस प्रकार है 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वाक्यमें विधि शब्द नहीं है। आप शब्दका अध्यहार तो मानते नहीं, अतः अधिकारापूर्व रूप विध्यर्थका अध्याहार करना होगा। वह अधिकारापूर्व आग्नेयादि उत्पत्त्यपूर्वोंसे भिन्न है, जिसे आप अध्याहार मानते हैं। अतः समिदादि यागोंकी अधिकारापूर्वार्थता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि समिदादि वाक्य विहित याग, स्व=अपूर्व विषयक होते हैं, अधिकारापूर्वार्थ नहीं होते। अवघातादि अंग तो अधिकारापूर्वसे अन्वित स्वार्थको कहते हैं*। इसलिए ऐसे अधिकार वाक्योंमें विधि शब्दका अध्याहार होना ही उचित है, अर्थका नहीं। (अभी तक विध्यर्थका अध्याहार मानकर दोष दिया गया है। अब विध्यर्थका अध्याहार संम्भव नहीं, इसे कहते हैं) 'कथं च' इत्यादिसे। विध्यर्थ शास्त्रैक समधिगम्य है, अतः अत्यन्त अलौकिक है। प्रत्यक्षादि प्रमाण या तदभावसे उन्हें बुद्धिमें लाना ही आवश्यक है, ऐसा आप मानते हैं। इस अपूर्वका बुद्धि सन्निधान रूप अध्याहार—जिन अधिकार वाक्यों या उत्पत्ति वाक्योंमें विधि शब्दका श्रवण नहीं है, उन स्थलोमें कैसे हो सकता है ? इस प्रकार न चाहते हुए भी शब्दाध्याहार आपको मानना होगा। उदाहरण—जैसे 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वाक्यमें विधि शब्दका श्रवण नहीं है। वहाँ विधि शब्दका अध्याहार करना होगा। अत्यन्त अलौकिक अपूर्वका, बुद्धिसन्निधानरूप अध्याहार होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' यहाँ विधि शब्दका श्रवण नहीं। इस स्थलमें भी अत्यन्त अलौकिक अपूर्वका बुद्धि सन्निधान रूप अध्याहार होना असम्भव है। (अर्थाध्याहार पक्ष मानने पर ऊह-बाध आदिकी असिद्धि होगी। शब्दाध्याहार पक्षमें तो ऊह और बाध सिद्ध होते हैं। वहाँ दोष नहीं, अतः शब्दाध्यहार मानना ही उचित है (अधिकृतस्य बुद्धौ निवेशनमध्याहारः) इस प्रकार अर्थापत्ति परिच्छेद समाप्त हुआ।

(इस प्रकार अर्थापत्तिका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

---

* अर्थात् अवघातादि अधिकारापूर्वसे अन्वित स्वार्थको कहते हैं। समिद् यागादि तो अधिकारापूर्वसे अन्वित अर्थको नहीं कहते, तथापि स्वापूर्वविषयक होते हैं। यह उनकी मान्यता है।

इस अर्थापत्तिके सम्बधमें नैयायिक तथा मीमांसक दोनोंमें वैमत्य है। नैयायिकोंका कहना है कि अर्थापत्ति अनुमानके अन्तर्गत है। उसमें भी केवलव्यतिरेकिमें अन्तर्भाव है। अतः अनुमानमें गतार्थ होनेसे अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण नहीं। कहा भी है—

अर्थापत्तिस्त्वनैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते। व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया चरितार्था हि सा यतः॥

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, गुण खण्ड)

किन्तु मीमांसक कहते हैं कि केवलव्यतिरेकि पृथक् नहीं। और बहुतसे ऐसे कार्य हैं, जो केवलव्यतिरेकिसे सिद्ध नहीं होते। इसलिए अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण है। जहाँ व्याप्ति तथा पक्षधर्मतासे जिस वस्तुका ज्ञान होता है, वहाँ अनुमान है। जहाँ दोनों प्रमाणोंके विरोध परिहारके लिए अर्थान्तरकी कल्पना होती है, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण है। अत एव अनुमान स्थलमें 'अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अर्थापत्ति स्थलमें तो 'कल्पयामि' यह अनुव्यवसाय होता है। भाट्टचिन्तामणि-कारने तो 'अर्थापयामि' यह अनुव्यवसायका आकार माना है;। जो भी हो, पर्वतमें अग्निका अनुमान होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। पर्वतमें वह्निकी कल्पना होती है, ऐसा कोई नहीं कहता। अतः अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण है।

श्लोकवार्तिककारने तो अनुमानसे अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण माननेका यह प्रयोजन बताया है, कि स्मृतिसे जो श्रुतिकी कल्पना होती है तथा लिंग आदि प्रमाणोंसे जो श्रुतिकी कल्पना होती, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञात सम्बन्ध ही लिङ्ग-लिङ्गीका अनुमापक होता है, अज्ञात सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध होने पर भी उसका ज्ञान न रहनेसे उक्त दोनों स्थलोंमें अनुमानसे श्रुति-कल्पना रूप कार्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार विश्वजिद्यागादिमें स्वर्गकी कल्पना भी अर्थापत्तिसे ही होती है, अनुमानसे नहीं। क्योंकि सम्बन्ध-ज्ञानका अभाव है। ऐसा होते हुए भी आग्रह पूर्वक यदि कोई उसे अनुमान ही कहे तो कोई आपत्ति नहीं। जिस रूपसे हमने अर्थापत्तिका वर्णन किया है, उस रूपको यदि अनुमानसे कहें, तो भी कोई हानि नहीं। जैसेकि कहा गया है—

स्मृत्या श्रुतिर्या परिकल्प्यतेऽस्मिंल्लिङ्गादिभिर्या विनियोजिका च।
फलादिभिर्यत्परिपूरणञ्च सम्बन्धदृक् तत्र न काचिदस्ति॥
तत्सर्वमित्याद्यसमंजसं स्यान्न चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या।
एवं स्वभावाप्यनुमानशब्दं लभेत् चेदस्तु यथेप्सितं वः॥

चिदानन्दपण्डितने तो केवलव्यतिरेकिका न तो निराकरण ही किया है और न तो समर्थन ही

मानमेयोदयकार नारायण भट्टने भी चिदानन्दका ही समर्थन किया है। ये दोनों शास्त्रदीपिकाके अनुयायी हैं। तथापि अर्थापत्तिस्वतंत्र प्रमाण है, यह सभी मीमांसकोंको अभिमत है।

अभाव (अनुपलब्धि) परिच्छेदः

'अभावोपि प्रमाणाभावो नास्तीत्यस्यार्थस्याऽसंनिकृष्टस्य' इति। कथं पुनः प्रमाणाभावः प्रमाणलक्षणं विपरीतत्वात्? पूर्वोक्तसदुपलम्भकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभिप्रायोयं प्रमाणशब्दः, तदभावश्च षष्ठस्य लक्षणमिति नानुपपत्तिः। किमस्य प्रमेयम्? उक्तम्—'नास्तीत्यर्थस्य' इति। सर्वं हि वस्तु सदसदात्मना द्विविधम्। तद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते घटादि तत्तदा तत्र प्रत्यक्षादिभिरस्तीति प्रतीयते। यत्र त्वसद्रूपेण वर्तते तत्र सद्रूपेण बोधकानां प्रत्यक्षादीनां सद्रूपबोधनायोत्पत्तुं योग्यत्वे सत्यपि योऽनुत्पादो

अभाव भी प्रमाण है, जिसके द्वारा अभावका ग्रहण होता है*। उसीको कहा है 'अभावोऽपि' इत्यादिसे। यहाँ अभाव लक्ष्य है, प्रमाणाभाव उसका लक्षण है। 'नास्तीत्यर्थस्य' इससे अभावको प्रमेय बताया गया है। इसका प्रत्यक्षादिसे ग्रहण नहीं होता, यह सिद्ध करनेके लिए 'असन्निकृष्टस्य' विशेषण दिया है। (अर्थात् सूत्र-भूत इस वाक्यसे अनुपलब्धि प्रमाण, उसका लक्षण, उसका प्रमेय वह प्रत्यक्षादिका विषय नहीं, इत्यादि अनेक अर्थोंका संग्राहक यह वाक्य है)

शंका—प्रमाणाभाव प्रमाणका लक्षण कैसे हो सकता है? उत्तर—पूर्वोक्त वस्तु के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण पाँच हैं। उनके अभिप्रायसे यहाँ प्रमाण शब्द है। उसका अभाव षष्ठ प्रमाण का लक्षण है। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं§।

शंका—उक्त प्रमाणका प्रमेय क्या है? उत्तर—कहा गया है कि 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति सिद्ध अर्थ ही इसका प्रमेय है। (अर्थात् प्रत्यक्षादिसे जैसे घटादिका ग्रहण होता है, वैसे अभाव रूप प्रमाणसे घटादि अभावका ग्रहण होता है; इसलिए घटाभाव इसका प्रमेय है। अनुपलब्धि प्रमाण आदिका प्रकार बताते हैं) 'सर्वं' इत्यादिसे। सभी वस्तुएं दो प्रकारसे भासित होती हैं, सद्रूपसे या असद्रूपसे। सद्रूपसे जहाँ घटादि रहते हैं, वहाँ उस समय प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे 'अस्ति'* यह ज्ञान होता है। जहाँ असद्रूपसे रहते हैं, वहाँ सद्रूपसे बोधक जो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं,

---

* अर्थात् इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष न होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा अभावका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष अधिकरणका ग्रहण कराकर उपक्षीण हो जाता है। अतः भाट्ट मीमांसकोंने अभाव ज्ञानके लिए अनुपलब्धि नामक अतिरिक्त छठे प्रमाणको माना है। उसका भाष्यकारने 'अभावोऽपि' इत्यादिसे लक्षण किया है।

§ प्रश्न है कि अभाव प्रमाणका प्रमाणाभाव कैसे लक्षण हो सकता है? इसका उत्तर है—यहाँ प्रमाण शब्दसे पूर्व में वर्णित भाव ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण अभिप्रेत हैं। यहाँ अभाव शब्द अर्थान्यथाभाव परक है। सदुपलम्भक पाँच प्रमाणोंसे भिन्न होते हुए जो प्रमाण है, वही अनुपलब्धि प्रमाणका लक्षण है। जैसे कि 'सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकभिन्नत्वे सति प्रमाणत्वम्' इति। वार्तिककारने भी कहा है—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥

(अभाव परिच्छेद, का० १)

* स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके। वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किञ्चित्कदाचन॥ इति॥

(श्लो० वा०, अभाव प्र०, का० १२)

दृश्यादर्शन—योग्यानुपलम्भादिपर्यायो भाष्ये प्रमाणाभावशब्देनोक्तः, तेनैवेन्द्रियशब्दादिस्थानीयेन नास्तीति प्रमीयते[1]—भूतलेऽत्र घटो नास्तीति।

प्राभाकरमतानुवादः

यस्तु नास्तित्वमपहृत्य प्रमेयाभावात् षष्ठं प्रमाणं नास्तीत्याह, तस्य दृश्यादर्शनानन्तरं नास्तीह भूतले घट इत्येवमुपजायमानस्य ज्ञानस्य[2] किमालम्बनम्? न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्। तथा—गवि योऽश्वोऽयं[3] न भवतीति प्रत्ययः, रूपे च रसो न भवतीति तस्य किमालम्बनम्? न गोरूपम्, तस्य प्रतियोग्यनपेक्षप्रतीतित्वात्[4]। अश्वो न भवतीति ज्ञानस्य प्रतियोग्यपेक्षत्वात्[5]। गोरूपालम्बनत्वे च सिंहादावश्वोयं न भवतीति प्रत्ययो न स्यात्, गोरूपस्य तत्राभावात्।

उनके सद्रूपसे बोधनके लिए उत्पन्न होनेकी योग्यता रहनेपर भी, जो उन प्रमाणोंका अनुत्पाद है, वही भाष्यमें प्रमाणाभाव शब्दसे कहा गया है। इसीके दूसरे पर्याय हैं दृश्यादर्शन, योग्यानुपलम्भ आदि। ये इन्द्रिय स्थानीय हैं। अर्थात् जैसे प्रत्यक्षमें करण (असाधारण कारण) होता है पदार्थ ज्ञानमें, वैसे ही अभाव ज्ञानमें अनुपलब्धि प्रमाण करण है*। यह जो 'नास्तीत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अर्थ है, वह भूतलसे अतिरिक्त स्मर्यमाण घट विषयक है। भू प्रदेश उसका अधिकरण है। वही प्रमेय है§।

जो मीमांसक नास्तित्व = अभावका अपलाप करके, प्रमेयाभावके कारण छठा प्रमाण नह है, यह कहते हैं, उनके मतमें दृश्य वस्तु के अदर्शनके बाद (अर्थात् दर्शन योग्य घटादिके अदर्शनके बाद) इस भूतल में घट नहीं है, यह जो ज्ञान होता है उसका क्या आलम्बन (विषय) है? इसके उत्तरमें भूतलको आलम्बन नहीं कह सकते, क्योंकि घटके रहनेपर भी, भूतलके होनेसे यहाँ घट नहीं है, ऐसा ज्ञान होने लगेगा। गौमें यह अश्व नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है रूप रस नहीं है, इसका क्या विषय है? गौ नहीं कह सकते, रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह प्रतीति

* प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। सात्मनः परिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि॥
(श्लो० वा०, अभाव प्रकरण, का० ११)

§ नास्तिता रूप अभावात्मक प्रमेय चार प्रकार के होते हैं, जिनका वार्तिककारने इस प्रकार संग्रह किया है— श्लो० वा०, अभाव प्र०, का० २–७

वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया। क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते। गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता। शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते॥
क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः। शशे शृंगं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह। व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता॥
न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाऽभावो भिद्यते यदि॥

१. प्रतीयत इति 'ख' 'ग' पुस्तकयोः पाठः। २. ज्ञानस्येति नास्ति 'ख' पुस्तके।
३. योऽश्वो इति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः। ४. प्रतियोग्यनपेक्षप्रतीतिकत्वादिति 'क' पुस्तके पाठः।
५. प्रतियोग्यपेक्षप्रतीतित्वादिति 'ख' पुस्तके पाठः।

अथ योऽश्वाद्भेदो गवादिष्वनुस्यूतः, सोऽस्यालम्बनमित्युच्यते ? कोयं भेदो नाम ? यदीतरेतराभावः ? समाश्रितस्तर्ह्यभावः। अथ पृथक्त्वं नाम गुणविशेषो भेद इत्युच्यते ? ततस्तस्य द्रव्यगतत्वाद् गुणेषु रूपादिषु 'रसो न भवति रूपम्' 'रूपं न भवति रसः' इतीतरेतराभावप्रत्ययो न स्यात्।

शालिकमतस्यानुवादः

यस्तु वैयात्याद्[1] 'भूतलप्रतीतिव्यतिरेकेण घटो नास्तीत्येवंविधा प्रतीतिरेव नास्ति' इति वदति, स भूतलादिप्रतीतिमप्यपह्नुवीत, अविशेषात्। घटोत्र भूतले नास्तीति व्यवहारस्य किं कारणम् ? दृश्ये घटे यद्भूतलमात्रविषयं ज्ञानम्, एकाकी भूतलविषयमित्यर्थः, तदस्य[2] कारणमिति चेत् ? तथा सति पटवद्भूतलोपलम्भे घटो नास्तीतिव्यवहारो न स्याद् भूतलमात्रोपलम्भाभावात्। घटविविक्तभूतलोपलम्भ इति चेत् ?

प्रतियगीकी अपेक्षा नहीं रखती। 'अश्व नहीं होता' इस ज्ञानमें भी प्रतियोगीकी अपेक्षा है। अन्यथा गौ या रूपको आलम्बन माननेपर सिंहादिमें 'यह अश्व नहीं है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा, वहाँ गोरूपका अभाव होनेसे।

शंका—यदि कहें जो अश्वसे भेद गवादिमें अनुस्यूत है, वही इसका आलम्बन है, तब बताइए भेदका क्या स्वरूप है ? शंका—यदि कहें इतरेतराभाव है (अर्थात् अन्योऽन्याभाव है) उत्तर—तब अभावको मान लिया है। शंका—यदि कहें पृथक्त्व नामक गुण विशेष ही भेद कहलाता है। उत्तर—इसके द्रव्य निष्ठ होनेसे, रूपादि गुणोंमें रस रूप नहीं होता, रूप रस नहीं होता, यह अन्योऽन्याभाव-विषयक ज्ञान नहीं हो सकेगा*।

जो मीमांसक ढीठईसे भूतल ज्ञानको छोड़कर, 'घट नहीं है' ऐसी प्रतीति ही नहीं होती—यह कहता है, वह भूतल आदिकी प्रतीतिका भी निषेध कर देगा। दोनोमें कोई विशेषता तो है नहीं। शंका (यह बताइए कि यदि अभाव नामक पदार्थ नहीं है, तो) इस भूतलमें घट नहीं है, इस व्यवहारका क्या कारण है ? घटके दृश्य होनेपर एकाकी भूतल विषयक ज्ञान कारण है ? या घटविविक्त भूतलका ज्ञान ? उत्तर—ऐसा माननेपर, जिस भूतलमें पट है उस भूतलका ज्ञान होनेपर, घट नहीं है यह व्यवहार नहीं हो सकेगा, भूतल मात्रका उपलम्भ न होनेसे।

---

* प्राभाकर मीमांसकोंका अभावके सम्बन्धमें यह कहना है, कि प्रमेयको जाननेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता होती है। अभाव नामक कोई पदार्थ मूर्तिमान् दिखाई नहीं देता। उसे जाननेके लिए अनुपलब्धि नामक छठा प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह अधिकरणसे पृथक् न होकर अधिकरण स्वरूप ही है। शालिकनाथ मिश्रने भी कहा है—प्रमाण तो किसी प्रमेयका बोधक होता है। अनुपलब्धि प्रमाणका क्या प्रमेय है ? इसका विचार कीजिए। प्रतियोगीके दृश्य होनेपर, जो भूतल मात्रकी प्रतीति है, वही नास्ति या अभाव है। अतः प्रमेयके अभावमें अनुपलब्धि नामक प्रमाण अतिरिक्त कैसे हो सकता है ? उन्हींके शब्दोंमें—
'प्रमाणं खलु कस्यापि प्रमेयस्यावबोधकम्। तस्याभावस्य किं तावत्प्रमेयमिति चिन्त्यताम्॥
तत्र तन्मात्रधीर्येयं दृश्ये च प्रतियोगिनि। नास्तित्वं सैव भू-भागे घटादिप्रतियोगिनः॥
मेयाभावे ततो मानमभावाख्यं कथं भवेत्। (प्रकरणपंचिका, पृ० सं० १०७)

---

१. धार्ष्ट्यात्। २. अयं पाठः 'क' 'ग' पुस्तकयोर्नास्ति।

कोयं घटविवेकः ? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्गः। घटसंयोगाभावश्चेत् ? अङ्गीकृतस्तर्ह्यभावः।

स्यान्मतम्—यदभाववादिनोऽभावज्ञानस्य कारणम्, तदेवास्माकं व्यवहारकारणं भवतु ? इति। नैवं वक्तुं शक्यम्—मम हि दृश्यादर्शनमभावज्ञानकारणम्, अदर्शनं च दर्शनाभावो न चासौ भवताऽङ्गीकृतः, अभावाभ्युपगमप्रसङ्गात्। प्रमाणाभावाङ्गीकारे वा किमपराद्धं प्रमेयाभावेन।

ननु प्रथमं प्रत्यक्षेण भूतलं गृहीत्वा पश्चादभावो बोद्धव्यः, तत्राऽभावज्ञानात् प्राग् यादृशं भूतलज्ञानम्, तादृशादेव व्यवहारो भवतु[1]। तदिदमुक्तोत्तरम्, तथा हि—यस्यामवस्थायां भूतलस्वरूपज्ञानं घटतदभावयोश्चाऽज्ञानम् = ज्ञानाभावस्तेन घटतदभावज्ञानशून्यं भूतलज्ञानं तस्यामवस्थायामस्माभिरुपेयते, तदेव च भूतलमात्रवेदनमित्युच्यते। 'स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा च' इत्यादिषु मात्रशब्देन हि घटतदभाववेदनयोरभाव उच्यते, भूतलमात्रं ज्ञायते न घटस्तदभावो वेत्यर्थः।

तेन यदि भवानपि घटादिज्ञानाभावयुक्तं भूतलज्ञानमङ्गीकुर्यात्, ततो ज्ञानाभावाङ्गी-

---

अब द्वितीय पक्ष लीजिए—घट विविक्त-भूतल ज्ञान यदि कहें, तो क्या दोष है, ? उत्तर—आप बताइए घट विवेक क्या वस्तु है ? यदि कहो कि भूतल रूप ही है, तब तो घटवद् भूतलमें भी नास्ति व्यवहार होने लगेगा। शंका—यदि कहो घटका संयोग न होना ही कारण है। उत्तर—तब आपने अभावको स्वीकार कर लिया। शंका—अभाववादीके मतमें अभावज्ञानका जो कारण है, वही हमारे मतमें भी नास्ति व्यवहारका कारण हो जाए। उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। अभाववादी हमारे भाट्ट मीमांसकोंके मतमें दृश्य घटादिका अदर्शन, अभाव ज्ञानका कारण है। और दर्शनाभावको अदर्शन कहते हैं। आपने तो अभाव माना नहीं। अन्यथा आपको अभाव प्रमाण मानना पड़ेगा। प्रमाणाभावको माननेपर, प्रमेयाभावको क्यों नहीं मान लेते ? उसने कौनसा अपराध किया है ? (इसलिए विवश होकर अभाव आपको मानना ही होगा)।

शंका—पहिले प्रत्यक्षसे भूतलको जानकर, तत्पश्चात् ही अभावको जानेंगे। वहाँ अभाव ज्ञानके पहिले जैसा भूतलका ज्ञान हुआ था, उसीसे नास्ति व्यवहार होवे। उत्तर—इसका उत्तर पहिले दे चुके हैं। इसका यह अभिप्राय है, कि जिस अवस्थामें भूतल स्वरूपका ज्ञान था तथा घट एवं तदभावका अज्ञान = ज्ञानाभाव था, उसीसे घट तदभावज्ञानसे शून्य भूतलका ज्ञान, उस अवस्थामें हम लोगोंने माना है। वही भूतल मात्र वेदन कहलाता है। यह अभिप्राय वार्तिकसे भी ज्ञात होता है। वार्तिककारने 'स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा च' इत्यादि कहा है। इसमें 'मात्र' पदका प्रयोग किया है। उससे घट तदभाव—इन दोनोंके ज्ञानका अभाव कहा गया है। अर्थात् भूतल मात्रका ज्ञान होता है; घट तदभावका नहीं। (इस वार्तिकका यह निष्कर्ष है कि अभाव ज्ञानके बिना ही भूतल स्वरूप पहिले ज्ञात होता है। यही 'घटो नास्ति' व्यवहार का हेतु है)

(अब प्रतिवादी प्राभाकरके इस भ्रमका निराकरण करते हैं) 'तेन' इत्यादिसे। इससे 'स्वरूप मात्रको देखकर, बादमें किसी वस्तुका स्मरण करते हुए' इत्यादि वचनोंके द्वारा अभाव-

---

१. भवतीति पाठान्तरम्।

काराद् घटाभावोप्यङ्गीकर्तव्य इत्युक्तमेव। तेन नैवं भ्रमितव्यम्—अभाववादिनापि 'स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा च पश्चात् किञ्चित्स्मरन्नपि' इति वदताऽभावज्ञानातिरेकेण तन्मात्रवेदनमङ्गीकृतम्, तदेव दृश्ये प्रतियोगिनि नास्तीतिव्यवहारकारणत्वान्नास्तीतिशब्दस्याभिधेयम्' इति। तस्य हि ज्ञानाभावाभिप्रायो मात्रशब्दः, न चासौ भवतोस्ति, अतो मात्रशब्दस्याऽर्थाभावाद् भूतलवेदनमेव कारणमिति वक्तव्यम्। ततश्च घटवत्यपि प्रसङ्ग इति स्थितं दूषणम्।

अथ 'भावे देशान्तरस्थे देशान्तरग्रहणं कारणम्' इति मतम्? ततः शाबलेयस्थितं गोत्वं बाहुलेये नास्तीति व्यवह्रियेत। स्थूणान्तरस्थितश्च वंशः स्थूणान्तरेऽनुस्यूतोपि तत्र नास्तीति व्यवहर्तव्यः स्यात्, अतोऽत्राभाव एव नास्तीतिव्यवहारकारणम्, नान्यत्र सद्भावः।

स्मर्यमाणे घटे भूतलवेदनं नास्तीतिव्यवहारकारणमिति चेत्? न, गृह्यमाणस्यापि पार्श्वदेशेष्वभावव्यवहारात्। संप्रत्यानीतस्य च घटस्य गृह्यमाणस्यैव 'प्रागयमिह नासीत्' इति प्राक्कालीनाभावव्यवहारात्।

ज्ञानके अतिरिक्त भूतल मात्र ज्ञानको मान लिया है। वही दृश्य प्रतियोगी होनेपर नास्ति व्यवहारका हेतु है। नास्ति शब्दका यही अर्थ है, ऐसा भ्रम अभाववादी भाट्ट मीमांसकको नहीं होना चाहिए। क्यों कि अभाववादी आपने ज्ञानाभावके अभिप्रायसे मात्र शब्दका प्रयोग किया है। अभावको आप मानते नहीं। अतः मात्र शब्दका अर्थ न होनेके कारण भूतल ज्ञान ही अभावज्ञानका कारण है, यह कहना होगा। तब भूतलमें घटके रहनेपर भी 'घट नहीं है' यह व्यवहार होने लगेगा। यह दूषण आपके मतमें है ही।

शंका—घटादि भाव पदार्थके देशान्तरमें रहने पर, जो देशान्तर (भूतल स्वरूप) का ज्ञान है, वही नास्ति व्यवहारका हेतु है। इससे अभाव प्रतीति सिद्ध होती है।

उत्तर—तब चित्रवर्णकी गौमें गोत्व है, वह श्वेत गौमें नहीं है, यह व्यवहार होने लगेगा। इसी प्रकार एक खम्बेमें होनेवाला बांस, दूसरे खम्बेमें अनुस्यूत होनेपर भी, वहाँ बांस नहीं है, ऐसा व्यवहार होने लगेगा। इसलिए देशान्तरमें घट रहनेपर भी देशान्तर (भूतल स्वरूप) का ज्ञान अभाव व्यवहारका कारण नहीं होता, अभाव ही नास्ति व्यवहारका कारण है। अन्यत्र सत्ता कारण नहीं। (यह सिद्धान्तीका आशय है)

शंका—यदि कहा जाए घट स्मरण कालमें जो भूतलका ज्ञान है, वही 'घट नहीं है' इस व्यवहारका कारण है। (ऐसा माननेपर उपर्युक्त दूषण हमारे पक्षमें लागू नहीं होता। अतः घट स्मरण कालिक भूतल ज्ञान ही 'घटो नास्ति' व्यवहारका हेतु है)

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस भूतलमें घटका ग्रहण हो रहा है, उसके आस-पासके देशोंमें घट नहीं है, ऐसा व्यवहार होता है' वह नहीं होगा। और सुनिए—अभी घटको लाकर रख दिया है। उसका ग्रहण होता है। उसी समय 'यह घट पहिले यहाँ नहीं था', ऐसे पूर्वकालिक अभावका व्यवहार होता है। (वह आपके मतमें नहीं होगा)

ननु भवन्मते प्रमीयमाणस्य घटस्य कथं प्राक्कालीनाभावज्ञानम् ? भावप्रमाणाभावो ह्यभावज्ञानकारणम् । न च प्रमीयमाणे प्रमाणाभावः सम्भवति । सम्प्रति प्रमीयमाणोपि घटः प्राक्कालसम्बन्धितया न प्रमीयते, अतः प्राक्कालसम्बन्धगोचरप्रमाणानुदयात् तत्कालीनाभावज्ञानं युक्तमेवेति चेत् ? न, अयोग्यत्वात्––न हि प्राक्कालसम्बन्धोऽधुना प्रमातुं योग्यः, योग्यप्रमाणाभावश्चाभावज्ञानकारणम्, न प्रमाणाभावमात्रम्। प्राक्काले तु योग्यस्यैव प्रमाणस्यानुदय आसीत्, न हि तदानीं घटाभावः सन्नपि प्रमितः प्रतियोगिनो घटस्याऽपरामर्शात् तदपेक्षत्वाच्चाऽभावज्ञानस्य, अत एव घटाभावोऽधुना स्मर्यते, इति न युक्तम्––अप्रमितस्य स्मरणाऽयोगात् । यश्चायं प्राक्कालीनः प्रमाणानुदयः, सोऽधुना प्रमाणोदयेन नष्टो नाऽभावज्ञानमुत्पादयितुमर्हति, उद्धृतमिव नेत्रं रूपबुद्धिम् ।

अथ नष्टोपि प्रमाणानुदयः सम्प्रति परामृश्यमानोऽभावज्ञानं जनयेत्, ह्यस्तन इव धूमो विनष्टोपि सम्प्रति स्मर्यमाणो ह्यस्तनाग्निज्ञानम् । स्यादेवं यदि प्रमाणाभावो ज्ञायमानतया मेयाभावं बोधयेत् लिङ्गमिव लिङ्गिनम्, न च तथा सम्भवति-अनवस्था-

---

शंका––यदि कहा जाए कि आपके मतमें प्रमाके विषय घटका पूर्वकालीन अभाव ज्ञान कैसे होगा ?

उत्तर––योग्य भावग्राहक प्रमाणोंका अभाव ही अभाव ज्ञानका कारण है, तो प्रमीयमाण घट है, उसमें प्रमाणाभावका होना सम्भव नहीं ।

शंका––अभी प्रमीयमाण जो घट है, वह पूर्वकालसे सम्बन्धित होकर, ज्ञात नहीं होता, इसलिए पूर्वकालके सम्बन्धको विषय करनेवाले प्रमाणकी अनुत्पत्तिसे, पूर्वकालीन अभावका ज्ञान युक्त ही है ।

उत्तर––यह ठीक नहीं, अयोग्य होनेके कारण । पूर्वकालिक सम्बन्ध ही अब ग्रहण करने योग्य नहीं है । योग्य प्रमाणाभाव ही अभाव ज्ञानका हेतु है । प्रमाणाभाव मात्र नहीं । पूर्वकालमें तो योग्य प्रमाणका उदय ही नहीं हुआ था । उस समय घटाभाव रहनेपर भी प्रमाणसे गृहीत नहीं हुआ, प्रतियोगी घटका परामर्श न होने से । अभाव ज्ञानमें प्रतियोगी ज्ञान अपेक्षित है । (अर्थात् प्रतियोगी ज्ञान हेतु है) इसलिए घटाभावका अब स्मरण होता है, यह कहना भी ठीक नहीं । अप्रमितका स्मरण नहीं होता । जो पूर्वकालके ग्रहणके लिए प्रमाणका अनुदय है, वह अब प्रमाणके उदयसे नष्ट हो चुका है । अतः वह अभाव ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता । इसमें दृष्टान्त है जैसे निकाला हुआ नेत्र रूप ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता । वैसे ही प्रमाणानुदय भी, जो कि नष्ट हो चुका है, वह अभाव ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता ।

शंका––यदि कहा जाए––नष्ट भी प्रमाणका अनुदय अब स्मृत होकर, अभाव ज्ञानको उत्पन्न कर सकता है । (जैसे पहिले घट नहीं था, तो उस समय घटाभाव था, इसी बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं) गत दिनका नष्ट भी धूम, अब स्मर्यमाण होकर, गतदिवसीय अग्निका अनुमान कराता है । यह सब तब होता है, जब प्रमाणाभाव ज्ञायमान होकर, प्रमेयाभाव (घटाभाव) का बोधन करावे । जैसे ज्ञायमान लिंग ही साध्यका अनुमापक होता है, ऐसा प्रकृतमें नहीं हो सकता । अन्यथा अनवस्था होगी । क्योंकि प्रमेयाभावको जाननेके लिए प्रमाणाभावको जानना होगा । वह

प्रसङ्गात्। प्रमेयाभावं हि ज्ञातुं प्रमाणाभावो ज्ञातव्यः। सोपि चाऽभावत्वादन्येनाभावज्ञानेन ज्ञातव्यः। सोऽप्यन्येनेति न जन्मसहस्रेणापि घटाभावोऽवधार्येत। तस्मात् सत्तामात्रेणैव प्रमाणाभावोऽभावज्ञानमुत्पादयति नेत्रादिवदित्यङ्गीकर्तव्यम्, अतः प्रमीयमाणस्य घटस्य कथं प्राक्कालीनाभावप्रमितिरिति वक्तव्यम्।

उच्यते—सत्तामात्रेण ज्ञानाभावो ज्ञेयाभावं बोधयतीति सम्यगुक्तम्। अस्त्येव त्वधुना दृश्यमानस्यापि घटस्य प्राक्कालसंबन्धगोचरयोग्यज्ञानानुदयः, स हि प्राक्कालसंबन्धितया स्मर्तुं योग्यः सन्नपि न स्मर्यते, न चावश्यं प्रमाणाभाव एवाभावस्य बोधकः स्मरणज्ञानस्यापि योग्यत्वे सत्यनुदयोऽभावं बोधयत्येव, तेन सम्प्रति दृश्यमानोपि घटो यदि प्रागप्यासीत, ततोऽवश्यं तत्र स्थितेन प्रमितः स्यात, प्रमितश्चाधुना स्मर्तव्यः स्यात्। एवं सत्यपि न स्मर्यते—सोयं स्मर्तव्यविषयस्मरणानुदयः संप्रति विद्यमानः संप्रतितनं प्राक्कालीनाभावविषयं विज्ञानं जनयतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्। भाष्ये च प्रमाणाभावशब्दः स्मरणाभावस्याप्युपलक्षणार्थः, तथा वार्तिकेपि। यद्वा प्रमाणस्य स्मरणफलत्वात् तदभावोपि फलतः प्रमाणाभाव एवेति शक्यते वक्तुम्।

भी अभाव है, उसके ज्ञानके लिए दूसरे अभावका ज्ञान अपेक्षित है। वह भी दूसरेसे। ऐसे हजार जन्मोंमें भी घटाभावका निर्णय न हो सकेगा। इसलिए प्रमाणाभाव सत्तामात्रसे ही अभाव ज्ञानका उत्पादक है, नेत्रादिकी तरह, यह स्वीकार करना होगा। इससे वर्तमान कालिक प्रमाका विषय जो घट है, उसका पूर्वकालीन अभावज्ञान कैसे होगा ? यह आपको बताना पड़ेगा।

उत्तर—अब सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रमाणाभाव प्रमेयाभावका सत्तामात्रसे ही बोधक होता है, यह ठीक है। क्योंकि अब दृश्यमान घटके पूर्वकालिक सम्बन्धको ग्रहण करने योग्य ज्ञानका अनुदय है। (अर्थात् प्रमाणकी अनुत्पत्ति है) वह पूर्वकालसे सम्बन्धित होकर, स्मरण करने योग्य होनेपर भी उसका स्मरण नहीं होता। क्योंकि योग्य प्रमाणाभाव ही अभावका बोधक नहीं है। स्मरण ज्ञानकी योग्यता होते हुए भी, उसका अनुदय अभावका बोधक होता ही है। इससे अभी दृश्यमान जो घट है, वह पहिले यदि था, तो वहाँ स्थित पुरुषके द्वारा अवश्य ज्ञात होता। यदि पहिले ज्ञात है तो अब उसका स्मरण होना चाहिए। ऐसा होते हुए भी स्मरण नहीं होता। यह स्मर्तव्य विषयके स्मरणका अनुदय, अब विद्यमान होकर, पूर्वकालिक अभाव विषयक ज्ञानको उत्पन्न करता है। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शंका—भाष्यमें प्रमाणका अभाव अभाव ज्ञानका कारण है, यह कहा गया है। (आप स्मरणाभावको अभाव ज्ञानका कारण बता रहे हैं, यह ठीक नहीं)

उत्तर—भाष्यमें प्रमाणाभाव शब्द स्मरणका ही उपलक्षण है। (अर्थात् जैसे प्रमाणाभाव अभाव ज्ञानका कारण है, वैसे स्मरणाभाव भी अभाव ज्ञानका कारण होता है, अतः कोई दोष नहीं) इसी प्रकार वार्तिकमें स्मरणाभाव अभाव ज्ञानका कारण है, यह शब्दसे स्पष्ट नहीं कहा गया, किन्तु उपलक्षण रूपसे कहा गया है इसलिए सभी ठीक है।

(अब भाष्य और वार्तिक इन दोनोंमें उपलक्षण मानकर, स्मरणाभावको भी अभाव ज्ञानमें कारण माना है। इसमें क्या प्रमाण है। इस अरुचिको मनमें रखकर 'यद्वा' इत्यादिसे दूसरा समाधान करते हैं) अथवा प्रमाणाभाव अभाव ज्ञानका कारण मानने पर अनुभवरूप प्रमाणका कार्य है स्मरण,

प्राभाकरमतनिरासः

ननु न सत्तामात्रेण योग्यानुपलब्धेरभावबोधकत्वं युक्तम्—सत्यामपि तस्यां कदाचिदभावबुध्यनुदयात्, असत्यामपि कदाचिदुदयात्। तथा हि—योङ्गलीयकबुभुत्सया ससन्तमसापवरकदेशं हस्ताभ्यां सर्वतः परामृष्टवान् तस्य तावत् सर्वदेशपरामर्शाद् वस्तुतो योग्यानुपलब्धिर्जातैव। अथ च किं सर्वो देशः परामृष्टः किं वा कश्चिद्देशो न परामृष्टोऽपि स्यादिति सन्दिहानो योग्यानुपलब्धेरनिश्चयात् सत्यामपि तस्यां नाङ्गुलियकस्याऽभावमवधारयति। कदाचित्तु सर्वतोऽपरामृश्यापि सर्वतः परामृष्टमिति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिं निश्चित्याऽसत्यामेव तस्यां भ्रान्त्याऽङ्गुलीयकस्याऽभावमवधारयति। तस्माज्ज्ञाततयैव योग्यानुपलब्धिरभावज्ञानकारणमित्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा चाऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्मात्स्वसंवेद्या तन्मात्रसंविदेव दृश्यस्य प्रतियोगिनोऽभावः, न तत्त्वान्तरम्।

ननु चाऽभावानङ्गीकारे तन्मात्रधीरपि न कदाचिन्निरूपयितुं शक्यते। न च भूतलधीरेव तन्मात्रधीः। संसृष्टधियोऽपि तन्मात्रतापातात्, तत्रापि भूतलावभासात्, अतो

वही फल है। इसलिए स्मरणाभावको भी हम फल द्वारा प्रमाणाभाव कह सकते हैं (अर्थात् कार्य कारण दोनोंका अभेद मानकर, स्मरणाभाव भी प्रमाणाभाव है। स्मरण भी संस्कारके द्वारा, प्रमाण-पदके वाच्य अनुभवका फल है। अतः स्मरणाभाव फलतः प्रमाणाभाव ही है)

शंका—(जैसे प्रमाणाभाव अभावको ग्रहण करता है, वैसे स्मरणाभाव भी अभावका ग्राहक हो जाए। पर यह तब हो सकता था जब अभाव स्वतन्त्र पदार्थ होता। ऐसा तो है नहीं। किन्तु दृश्य प्रतियोगी घटका जो अभाव है, वह भूतल मात्र ज्ञान ही है। उससे भिन्न पदार्थ नहीं)

अतः योग्यानुपलब्धि सत्तारूपसे ज्ञात होकर, अभावका बोधन नहीं करती, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि योग्यानुपलब्धिके रहनेपर भी अभावज्ञान नहीं होता। कहीं योग्यानुपलब्धिके न रहनेपर भी अभावका ज्ञान होता है, इसीको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं 'तथा हि' से। जिस व्यक्तिने अंगूठी खोजनेकी इच्छासे, दोनों हाथोंसे, चारों ओरसे, अंधेरे कमरेको टटोल लिया है, उस पुरुषको सभी भागोंके टटोलनेसे, वस्तुतः योग्यानुपलब्धि तो हो चुकी है, किन्तु क्या मैंने सभी भागोंको टटोला है? या कोई भाग बिना टटोले रह गया है? ऐसा सन्देह करते हुए, योग्यानुपलब्धिके अनिश्चयसे उसके होने पर भी, अंगूठीके अभावका निश्चय नहीं कर पाता। (अर्थात् योग्यानुपलब्धिके अभावमें भी अंगूठीके अभावका निश्चय नहीं होता) कभी ऐसा भी होता है कि सभी स्थानोंको बिना देखे ही, सब स्थान देखलिए हैं, इस भ्रान्तिसे योग्यानुपलब्धिका, योग्यानुपलब्धिके अभावमें भी अंगूठी नहीं है, ऐसा निश्चय कर बैठता है। इसलिए योग्यानुपलब्धि ज्ञात होकर ही अभाव-बुद्धिमें कारण है, यह मानना होगा। ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। इसलिए योग्यानुपलब्धिको स्वसंवेद्या = स्वप्रकाश मानना होगा। वह भूतल मात्रका ज्ञान ही दृश्य प्रतियोगी घटका अभाव है, दूसरा पदार्थ नहीं।

अवान्तर शंका—यदि अभावको नहीं मानेंगे तो भूतल मात्र ज्ञान भी कभी नहीं हो सकेगा। भूतल मात्र ज्ञान ही भूतल-ज्ञान नहीं है, किन्तु घट संसृष्ट भूतल ज्ञान भी तन्मात्र-ज्ञान हो जायगा। क्योंकि उसमें भूतलका भान होता है। अतः घटादि ज्ञानके अभावमें जो भूतल मात्रका

घटादिवेदनाभावे सति या भूतलधीः सा तन्मात्रधीः। एवं च ज्ञानाभावाङ्गीकारादभावापह्नवोऽनर्थकः। कथं तर्ह्येतन्निरूपयितव्यम्? तदभिधीयते—घटाद्यभावोस्ति प्रमेयम्, योग्यप्रमाणानुदयश्च तस्य सत्तामात्रेणैव नेत्रादिवद् बोधकः, न ज्ञाततया यतोऽनवस्था स्यात्।

यत्तु सत्यामपि योग्यानुपलब्धावभावानवधारणम्, असत्यां चावधारणमिति, तत्तु योग्यत्वाऽज्ञानकृतम्। योग्यानुपलम्भो हि ज्ञानकारणम्[1]। तत्र योग्यत्वं ज्ञाततयैव कारणं न सत्तामात्रेण। ततः सदेव योग्यत्वं कदाचिदज्ञातं नाभावमवधारयति। कदाचित्त्वविद्यमानमेव योग्यत्वं भ्रान्त्या निश्चित्याऽभावमवधारयति। उपलब्ध्यभावस्तु सन्मात्रतया कारणम्, न ज्ञाततया। तेन नाऽनवस्थापत्तिरिति सर्वमवदातम्। अतोऽस्त्यभावाख्यं प्रमेयम्।

ज्ञान है, वही तन्मात्र बुद्धि है। इस प्रकार ज्ञानाभावको स्वीकार करनेसे, अभावका निषेध करना अनर्थ है। तब इसका कैसे निरूपण करना चाहिए? अब समाधान करते हैं। 'तदभिधीयते' से। घटाभाव ही प्रमेय है। योग्य भावग्राहक प्रमाणोंका अनुदय (उत्पत्त्यभाव) भी है। वही विद्यमान होकर, नेत्रादिकी तरह अभावका बोधक होता है, ज्ञात होकर नहीं। अन्यथा दोषका आपने वर्णन किया ही है।

शंका—(योग्यानुपलब्धिके कारण होनेमें अन्वय—व्यतिरेकका अभाव आपने दिखाया था, यथा) योग्यानुपलब्धिके रहने पर भी अभावका निश्चय नहीं होता और योग्यानुपलब्धिके न रहने पर भी अभावका ज्ञान होता है। (अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनोंका अभाव होनेसे अनुपलब्धि अभावज्ञानमें कारण नहीं)

उत्तर—योग्यताके अज्ञानके कारण ऐसा होता है। इसीका उपपादन करते हैं 'योग्या' इत्यादिसे। योग्यानुपलब्धि अभावज्ञानमें कारण है। उसमें योग्यता ज्ञात होकर ही कारण होती है। सत्तामात्रसे नहीं। और योग्यता रहने पर भी कभी अज्ञात होकर, अभावका निश्चय नहीं करती। कभी मनुष्य अविद्यमान योग्यताका भ्रान्तिसे निश्चय कर, अभावका निश्चय करलेता है*। अतः अनुपलब्धि सत्ता रूपसे कारण है, ज्ञात होकर नहीं। इसलिए अनवस्था नहीं है। यह सब स्पष्ट है। अतः अभाव नामक प्रमेय है।

---

* इससे योग्यानुपलब्धि अभावमें कारण है, यह बताया गया है। उपलब्धिके अभावको अनुपलब्धि कहते हैं। अभावकी विशेषण उपलब्धिमें योग्यता विशेषण है। अर्थात् जिसका अभाव गृहीत होता है, जैसे घटका अभाव, उस अभावका प्रतियोगी घट होता है। उसकी सत्तासे अधिकरणमें तर्क करनेके योग्य=अपनी सत्तासे तर्कित प्रतियोगी है जिसका, वह जिस अनुपलब्धिका कारण है, वही घटानुपलब्धिकी योग्यता है। इसका यह आशय है कि भूतलमें यदि घट होता, तो घटका उपलम्भ होता। वैसे भूतलमें घटाभाव अनुपलब्धिसे ज्ञात होता है। अंधकारमें तो ऐसा आपादन नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ अभाव अनुपलब्धिगम्य नहीं। इस प्रकार योग्यता जहाँ प्रमाण रूपसे या भ्रान्ति रूपसे ज्ञात है, वहां अभावज्ञान होता है। योग्यानुपलब्धि तो स्वरूपसती कारण है, ज्ञाता सती नहीं, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं।

---

१. कारणमिति 'क' पुस्तके पाठः।

अभावस्य प्रत्यक्षेणाग्रहणमिति प्रतिपादनम्

न च तदैन्द्रियकम्, इन्द्रियव्यापाराभावेपि तज्ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। योऽहनि प्रातःकाले गृहेऽवस्थितो मध्यन्दिनसमये पृच्छ्यते—'किमस्मिन् गृहे प्रातःकाले माथुरः कश्चित् पुरुषः शुक्लवासा दीर्घतमो लोहितवर्णः समागतः ?' इति। स तदानीमेव योग्यस्मरणानुदयात् तस्याभावं प्रातःकालीनमवधारयति विनैवेन्द्रियव्यापारेण। न च प्रातरवगतोऽभावस्तदा स्मर्यत इति वाच्यम्, प्रतियोगिनो माथुरस्य तदानीं कथंचिदपि बुद्धावनारोहात्, अबुद्धिस्थे च प्रतियोगिनि भावे तदभावज्ञानाऽसम्भवात्। एवं च यत्रापीदानीमेवाऽनुपरतेन्द्रियव्यापारस्यैव[1] संनिहितदेशकालवर्त्यभावः प्रतीयते, तत्रापि योग्यज्ञानानुदयस्यैव क्लृप्तसामर्थ्यस्य कारणत्वसम्भवान्नेन्द्रियस्य कारणत्वं कल्पयितुं शक्यम्। तस्मान्न प्रत्यक्षोऽभावः।

(इस प्रकार अभावको अतिरिक्त प्रमेय सिद्धकर, वह प्रत्यक्षादिका विषय नहीं, किन्तु अनुपलब्धि प्रमाणका ही विषय है, इसे कहते हैं 'न च' इत्यादिसे) शंका—वह अभाव रूप प्रमेय इन्द्रियसे गृहीत होता है, अनुपलब्धि प्रमाणकी कोई आवश्यकता नहीं। उत्तर—अभाव इन्द्रियसे गृहीत नहीं होता (अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं) क्योंकि इन्द्रिय व्यापार (इन्द्रिय सन्निकर्ष) न होने पर भी, अभावका ज्ञान होता है। (उसीका उपपादन करते हैं 'योऽहनि०' इत्यादिसे) जो पुरुष दिनके प्रातः काल घरमें अवस्थित है। मध्याह्नमें यदि उससे पूछा जाए कि इस घरमें प्रातः काल माथुर नामक कोई व्यक्ति आया था ? वह सफेद वस्त्र पहिने था। उसका लम्बा शरीर था। वह ताम्र वर्णका था। तो उसी समय वह पुरुष, योग्य स्मरणके अनुदयसे, माथुरके प्रातः कालीन अभावका इन्द्रिय सन्निकर्षके विना ही निश्चय कर लेता है।

अवान्तर शंका—प्रातः काल अनुभूत अभावका मध्याह्नमें स्मरण होता है। उत्तर—मध्याह्नमें प्रतियोगी माथुर किसी भी प्रकार बुद्धिमें आरूढ़ था नहीं। जो प्रतियोगी पदार्थ बुद्धिस्थ नहीं है, उसका अभाव ज्ञान सम्भव नहीं। इस प्रकार जहाँ भी इन्द्रिय-व्यापार उपरत नहीं है, वहाँ सन्निहित देश और सन्निहित कालमें रहने वाले अभावका ज्ञान होता है। वहाँ भी योग्यज्ञानका अनुदय ही कारण है। उसकी सामर्थ्य निश्चित होनेसे इन्द्रियमें कारणताकी कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए अभावका प्रत्यक्ष नहीं (अर्थात् अभाव प्रत्यक्षसे ग्राह्य नहीं है)

शंका—(अभावका प्रत्यक्षसे ग्रहण न हो, अनुमानसे हो, जाए ? अतिरिक्त प्रमाण माननेकी क्या आवश्यकता है ?)

वेदान्त परिभाषामें इसी बातको इस प्रकार स्पष्ट किया है—'योग्यानुपलब्धेर्योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसंजितप्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते, तस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत् प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तदनुपलब्धे योग्यत्वमित्यर्थः। तथा हि स्फीतालोकवर्तिभूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्, तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः, अन्धकारे तु तादृशापादनासम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता इति॥ (द्रष्टव्य वेदान्तपरिभाषा, अनुपलब्धि प्रकरण)

---

१. (क) अनुपरतेन्द्रियव्यापारेणेति 'क' पुस्तके पाठः। (ख) अनुपरतेन्द्रियस्यैवेति 'ख' पुस्तके पाठः।

अभावस्यानुमानेनाग्रहणमित्युपपादनम्।

नाप्यनुमेयः, अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य संबन्धग्रहणासंभवात्।

धर्मकीर्तिमतस्यानुवादनिरासौ

यदत्र कैश्चिदुच्यते—'दृश्यस्य सत्ता दर्शनव्याप्ता, तेन व्यापकभूतदर्शननिवृत्त्या व्याप्यस्य दृश्यस्य निवृत्तिरवसीयते' इति, तन्निरस्तम्। व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिमनुमिमानेनाऽवश्यं दृष्टान्तधर्मिषु निवृत्तिद्वयमवगम्य तयोश्च नियममवधार्य साध्यधर्मिणि पक्षे च साधनभूतां दर्शननिवृत्तिं केनचित् प्रमाणेनावगम्य ततो दृश्यनिवृत्तिरनुमातव्या, निवृत्तेश्चाऽभावात्मिकाया न प्रत्यक्षेण ग्रहणं सम्भवति, निवृत्त्यन्तरेण तदनुमाने तदपि निवृत्तिरूपत्वान्निवृत्त्यन्तरेणानुमातव्यम्[1], तदपि तथेत्यनवस्थापत्तिः। अतोऽवश्यं क्वचित् प्रमाणान्तरभूतयाऽनुपलब्ध्याऽभावः प्रत्येतव्यः। प्रमिते च तस्मिन् पश्चाद् भवत्वनुमानम्[2]। सिद्धं तावदभावस्य प्रमाणान्तरत्वम्। शब्दोपमानार्थापत्तयस्तु नाशङ्कनीया एव। अतः सिद्धं षष्ठं प्रमाणम्। एतावन्त्येव च प्रमाणानि।

उत्तर—अभाव अनुमानका विषय नहीं है* (क्योंकि ज्ञात-सम्बन्ध लिंग ही साध्यका अनुमापक होता है। यदि अभाव प्रत्यक्ष होता, तो उससे किसी पदार्थका व्याप्तिग्रह हो सकता था) अज्ञात किसी पदार्थसे किसी लिंगका व्याप्तिग्रह सम्भव नहीं, (इसलिए अभाव अनुमानका विषय नहीं होता)

यहां अभावके सम्बन्धमें कुछ लोगों (बौद्धो) का कहना है कि दृश्यकी सत्ता दर्शनसे व्याप्त है। इससे व्यापक दर्शनाभावसे व्याप्य दृश्यका अभाव निश्चित होता है, उनके इस कथनका निरास हो गया है। क्योंकि व्यापकाभावसे व्याप्याभावका जो व्यक्ति अनुमान करता है, उसे दृष्टान्त धर्मी सपक्षोमें, व्याप्याभाव एवं व्यापकाभाव-दोनों को, दूसरे प्रमाणसे जानकर, उनकी व्याप्तिका निश्चय करना चाहिए। और पक्षमें साधन दर्शनाभावको किसी प्रमाणसे जानकर, दृश्याभावका अनुमान करना होगा। निवृत्ति तो अभावरूपा है। इसलिए उसका प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं होता।

---

* इसलिए वार्तिक कारने कहा है—

नचाप्यत्रानुमानत्वं लिंगाभावात्प्रतीयते। भावांशो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीं नाजिघृक्षणत्॥
अभावावगतेर्जन्म भावांशे ह्य जिघृक्षिते। तस्मिन् प्रतीयमाने तु नाभावे जायते मतिः॥
कस्यचिद् यदिभावस्य स्यादभावेन केनचित्। सम्बन्धदर्शनं तत्र सर्वमानं प्रसज्यते॥
गृहीतेपि च भावांशे नैवाभावेऽन्य वस्तुनः। सर्वस्य मतिरित्येवं व्यभिचारादलिङ्गता॥
सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहणं ध्रुवम्। तत्राभावमतिः केन प्रमाणेनोपजायते॥
तदानीं न हि लिङ्गेन सम्बन्धिग्रहणं भवेत्। तत्रावश्यमभावस्य प्रमाणान्तरतो गतिः॥
न चानवगतं लिङ्गं गृहयते चेदसावपि। अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना॥
स चान्येन गृहीतव्यो नागृहीते हि लिङ्गता। तद्गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता॥
लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यतः। क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्वं लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम्॥
नास्तीतिधीः फलं चैषा प्रत्यक्षादेरजन्मनः। तस्यैव च प्रमाणत्वमानन्तर्यात् प्रतीयते॥ इति॥
(श्लोकवार्तिक, अभाव परिच्छेद, का० २९ से ४३ तक)

---

१. निवृत्यन्तरानुमातव्यमिति 'ख' पुस्तके पाठः। २. भवत्यनुमानमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

सम्भवादिनामतिरिक्तप्रमाणत्वनिराकरणम्

यत्त्वधिकं सम्भवाख्यं प्रमाणम्--सहस्रादिसङ्ख्ययाऽवयवभूतशतादिसंख्याऽवगतिः, आढ़कप्रमाणेनाऽवयवकुडवपरिमाणावगतिः कैश्चिदिष्यते, तदविनाभावनिमित्तत्वादनुमानमेव। 'वटे वटे वैश्रवणः' इत्यादिकं चैतिह्यं प्रमाणमेव न भवति निर्णयाभावात्।

उसका दूसरे अभावसे अनुमान करना होगा। उसके भी अभावरूप होनेसे दूसरे अभावसे ही अनुमान होगा, उसका भी दूसरेसे। इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः अवश्य कहीं पर अतिरिक्त प्रमाण अनुपलब्धिसे अभावको समझना होगा। प्रमाणान्तरसे अभावको जाननेके बाद, पश्चात् अनुमान होता है, अतः अभावकी प्रमाणान्तरता सिद्ध हो है। (अनुमानका अभाव विषय नहीं) इसी प्रकार शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि अभावके सम्बन्धमें प्रमाण हैं, यह शंका नहीं करनी चाहिए❀। अतः यह सिद्ध हुआकि अनुपलब्धि छठा प्रमाण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये छः प्रमाण होते हैं§।

यह जो अधिक सम्भव नामक प्रमाण है, सहस्र आदि संख्यासे उसके अवयव शतादि संख्याका ज्ञान होता है। इसी प्रकार आढ़क परिमाणसे उसके अवयव कुडव परिमाणका ज्ञान होता है। ऐसा

❀ अभावके सम्बन्धमें बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिका कहना है कि जहां दृश्य विषयकी सत्ता हो वहीं पर दर्शन है। अर्थात् दृश्यका ज्ञान होता है। यहां दर्शन व्यापक है। दृश्य सत्ता व्याप्य है। ज्ञानके विना विषय सत्ता उपपन्न नहीं होती। जैसे वह्न्यभावसे धूमाभावका अनुमान होता है, वैसे ही प्रकृतमें व्यापकदर्शनके अभावसे व्याप्य दृश्याभावका अनुमान होता है। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणको मानना व्यर्थ है। यह बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिका मत है। उसीका निरास किया गया है। मूलमें 'यदत्र' का 'अवसीयत' इत्यन्त तक सम्बन्ध है।

§ 'अभाव भी प्रमाणाभाव है' इस भाष्यकी शास्त्रदीपिका कारने व्याख्या करते हुए कहा है—प्रमाणाभाव शब्द स्मरणाभावका भी उपलक्षक है। इसी प्रकार 'प्रमाणपञ्चकम्' इत्यादि वार्तिकमें भी स्मरणाभाव उपलक्षण है, ऐसा वर्णन किया गया है। शास्त्रदीपिकाके इस उक्त व्याख्यानका कन्दलीकार श्रीधराचार्यने खण्डन किया है। उनका कहना है कि जो स्मृत्यभावको भी अभाव प्रमाण या अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं, उनका 'अभावोऽपि प्रमाणाभावः' इस भाष्यसे विरोध है। इसी प्रकार 'प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते' अर्थात् पांचों प्रत्यक्षादि प्रमाण जो अभावका ग्रहण करते हैं, उनमें किसीकी जो वस्तुके बोधनमें अनुत्पत्ति है, एतदर्थक वार्तिकके साथ भी विरोध है। यथा—'येतु स्मृत्यभावमप्यभावं प्रमाणमाचक्षते तेषामभावोऽपि प्रमाणाभाव, इति भाष्यविरोधः, 'प्रमाण पञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते' इत्यादिवार्तिकविरोधश्चेत्यलं बहुना। (द्रष्टव्य प्रशस्तपाद भाष्यकी कन्दलो टीका, पृ० २२८) इसका विशेषण विवेचन भूमिकामें दिया गया है।

अभाव प्रमाणके सम्बन्धमें वार्तिककारका जो वक्तव्य है, उसका प्रयोजन इस प्रकार वर्णित है।
भावात्मके यथामेये नाभावस्य प्रमाणता। तथैवाभावमेयेऽपि न च भावप्रमाणता॥
भावात्मकस्य मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम्। परिच्छेदफलत्वात्तु प्रामाण्यं स्याद् द्वयोरपि॥
(श्लोकवार्तिक, अभाव परिच्छेद, का० ४६-४७)

प्रामाण्येपि वाऽऽगमे[1]ऽन्तर्गतत्वान्न प्रमाणान्तरम्। प्रातिभाख्यमपि प्रमाणं कैश्चिदिष्टम्, 'श्वस्ते भ्राताऽऽगन्ता' इत्यादिकम्, तत्तु लिङ्गाद्याभासजमनिश्चायकत्वादेवाऽप्रमाणम्। अतो यत्काश्यपीयैः प्रतिभागम्यमृषीणां धर्माधर्मत्वमाश्रितं तदसारम्। लोकप्रसिद्धिरपि प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतैवेति न प्रमाणान्तरम्। अतः षडेव प्रमाणानि, तथा च भगवद्रामायणे--'राम षड्युक्तयो लोके याभिःसर्वोऽनुदृश्यते[2]' इति ॥ इत्यभावपरिच्छेदः ॥

पौराणिक मानते हैं※। ये दोनो अनुमान ही हैं। व्याप्तिके निमत्त होनेके कारण§।

'प्रत्येक वट वृक्षमें यक्ष रहता है, इत्यादि ऐतिह्य※ भी पृथक प्रमाण नहीं, क्योंकि उससे प्रत्येक वटमें यक्षका निर्णय नहीं होता। यदि कहा जाए कि यह भी प्रमाण है, तो इसका आगम (शब्दप्रमाण) में अन्तर्भाव होता है, अतः यह अतिरिक्त प्रमाण नहीं।

इसी प्रकार वैशेषिकोने प्रतिमा नामक प्रमाण माना है। 'कल आपका भाई आएगा' इसका ज्ञान प्रत्यक्षादिसे नहीं होता किन्तु लिंगादिको अपेक्षाके बिना, आत्ममनःसंयोग तथा धर्मविशेष इन दोनोंसे यह प्रातिभज्ञान उत्पन्न होता है, जो आर्ष है। यह प्रमाण नहीं है। हेत्वाभास है। यह अर्थका निश्चायक नहीं है, अत एव अप्रमाण है। इससे वैशेषिकोंने प्रातिभगम्य आर्ष धर्माधर्म

※ पौराणिकांने सम्भव तथा ऐतिह्यको अतिरिक्त प्रमाण माना है उनका कहना है कि पचास सौ संख्याके अन्तर्गत हैं। 'शते पंचाशत्' यह न्याय है। सहस्र संख्यामें उसकी अवयव शत संख्या आदिका ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षादिसे नहीं हो सकता। इसलिए सम्भव नामक प्रमाण मानना चाहिए। इसी प्रकार आढ़क प्रमाणसे उसके अवयव कुडव नामक परिमाणका ज्ञान होता है। वह भी सम्भव प्रमाणसे, ऐसा पौराणिक मानते हैं। यहां मूलमें 'यत्तु' इत्यादिका 'कैश्चिदिष्यते' से सम्बन्ध है।

§ अर्थात् जहां सहस्र संख्या रहती है, वहां शत संख्या अवश्य होगी ही। सहस्र संख्या शत संख्याके बिना नहीं होती। अतः व्याप्यसे व्यापकका ज्ञान अनुमिति रूप ही है। इसी प्रकार आढ़क परिमाणसे कुडव परिमाणका ज्ञान भी अनुमानसे होता है। इसलिए सम्भव अतिरिक्त प्रमाण नहीं।

※ 'ऐतिह्य' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—इति + ह ये दोनों निपात उपदेश परम्परामें होते हैं। 'इति ह एव = ऐतिह्यम्। इसका अर्थ है उपदेश परम्परा, जो अनिर्दिष्ट प्रवक्तृक वाक्य है। अर्थात् जिस वाक्यमें प्रवक्ताका कहीं निर्देश नहीं, उसे ही ऐतिह्य कहते हैं। यह प्रमाण नहीं है। यथा—'इतिह-इति निपात समुदाय उपदेशपारम्पर्ये वर्तते, तस्मात्, 'अनन्तावसथेतिह भेषजाञ्ञ्यः' इति सूत्रेण स्वार्थे ष्यजस्तथा च 'इतिह' एव ऐतिह्यम् = उपदेशपरम्परेत्यर्थः। अनिर्दिष्ट प्रवक्तृकंवाक्यमिति यावत्। उक्तञ्च 'इति होचुवृद्धा ऐतिह्यम्' 'पुरुषवचनपरम्परा ऐतिह्यं वटे-वटे वैश्रवण इत्यादि। तच्चानिर्णयिकत्वात् प्रमाणमेव न भवति'।

वार्तिक कारने भी कहा है—'इह भवति शतादौ सम्भवाद्यसहस्रान्। मतिरवियुतभावात् सानुमानादभिन्ना। जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तम्। भवति तु यदि सत्यं नागमाद्भिद्यते तत्।

(अभाव प्र०, का० ५८)

---

१. आगमान्तरगतत्वादि 'ख' पुस्तके पाठः। २. वा०रा०, आरण्यकांड, सर्ग ७२ श्लोक ८।

को माना है§ वह निःसार है। क्योंकि धर्म भी वेदैकसमधिगम्य है। इससे लोक प्रसिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अन्तर्गत है। अतिरिक्त प्रमाण नहीं है। (अब स्वाभिमत छः प्रमाणोंका उपसंहार करते हैं) अतः छः ही प्रमाण हैं। यही मीमांसकोंकी अभिमत प्रमाणसंख्या है। इसमें रामायणका वचन प्रमाण देते हैं—'राम' इत्यादिसे‡। राम ! ज्ञानके उपाय प्रमाण छः हैं, जिनके द्वारा सभी विषय प्रमित (ज्ञात) होते हैं।

(इस प्रकार अभाव परिच्छेदका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।)

॥ यहाँ तक प्रमाण निरूपण समाप्त हुआ ॥

---

§ इसलिए शंकर मिश्रजीने उपस्कारमें कहा है—'आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु वा लिङ्गाद्यनपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद्धर्मविशेषाच्च प्रातिभं ज्ञानं यदुत्पद्यते तदार्षमिति। तच्च कदाचिल्लौकिकानामपि भवति यथा कन्यका वदति 'श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति'।

‡ मूल देखिए। यह पद्य 'वाल्मीकि रामायण, आरण्यकाण्ड, सर्ग ७२ श्लोक ८, है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामने जब कबन्धका दाह संस्कार किया, तो वह दिव्य रूपको प्राप्त होकर, भगवानसे कहता है राम ! ज्ञानके उपाय प्रमाण छः हैं। उनके द्वारा समस्त वस्तुएँ ज्ञात होती हैं। जैसे योग्य विषय इन्द्रिय सन्निकर्षसे गृहीत होता है। इन्द्रियासन्निकृष्ट व्यापक साध्य वह्न्यादि अनुमानसे प्रमित = ज्ञात होता है। सादृश्य विशिष्ट पदार्थ उपमानसे ज्ञात होता है। शब्दसे वाक्यार्थ ज्ञात होता है। अर्थापत्तिसे दृष्ट या श्रुत अर्थ अनुपपन्न होकर, उपपादक अर्थका कल्पक होता है। अनुपलब्धिसे अभाव प्रमित (ज्ञात) होता है। इस प्रकार रामायणके वचनसे छः ही प्रमाण सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त पद्यमें रामायणके मूल पाठमें 'सर्वं विमृश्यते' ऐसा पाठ मिलता है। ग्रन्थकारने प्रकृतके अनुकूल 'सर्वोऽनुदृश्यते' ऐसा पाठ माना है। दूसरी बात है कि श्री रामायणके टीकाकारने 'युक्ति' पदका छः गुण अर्थ किया है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रय, इन युक्तियोंके द्वारा विचार करनेसे राजाको सभी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। प्रकृतमें उसका तात्पर्य कहा गया है।

लोकप्रसिद्धस्वतःप्रामाण्यदर्शनेन तदन्तर्गतस्यापि च शास्त्रस्य स्वतः प्रामाण्यात्—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० द० १।१।२) इति प्रतिज्ञातेऽर्थे साधिते[1], सम्प्रति–'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वाद्' इत्यनेन चित्रादिचोद[2]नानामैहिकफलानां प्रत्यक्षादिभिरसंवादेन[3] विसंवादेन[4] न च प्रामाण्यमाक्षिप्यते। पूर्वोक्तस्तु 'नन्वतथाभूतम्' इत्याक्षेपः परलोकफलस्वर्गकामादिचोदनाविषय इति विषयभेदादपौनरुक्त्यम्।

ननु च 'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना' इति चोदनामात्रपरिग्रहादविशेषेणैवाऽसावाऽऽक्षेपः, तथेहापि 'यदा तावदसौ विद्यमानाऽऽसीत् तदा फलं न दत्तवती। यदा फलमुत्पद्यते तदाऽसौ नास्ति, कथमसती फलं दास्यति?' इत्याक्षेपस्य स्वर्गकामचोदनास्वपि तुल्यत्वादविशेषत्वमिति नास्ति विषयभेदः।

उच्यते—पूर्वाक्षेपस्तावत् परलोकफलविषय एव। तत्र हि 'प्रमाणान्तरापेक्षः शब्दो न स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्, न च चोदनार्थे प्रमाणान्तरमस्ति, अतोऽप्रमाणं चोदना' इत्ययमाक्षेपः—स चायं परलोकफलविषय एव भवति।

शंका—लोकमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका स्वतः प्रामाण्य देखनेसे, प्रमाणके अन्तर्गत प्रमाण विशेष शास्त्रका भी स्वतः प्रामाण्य होता है। ऐसे 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्रसे प्रतिज्ञात अर्थको सिद्ध किया। अब प्रत्यक्ष विद्यमानोपलम्भक होनेसे धर्ममें निमित्त नहीं है, इससे तथा 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादिसे, इस लोकमें फल देनेवाले चित्रादि विधि वाक्योंका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे असंवाद एवं विसंवाद इन दोनोंसे विधि वाक्योंके प्रामाण्यपर आक्षेप होता है। (अर्थात् चित्रादि विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण नहीं, यह आक्षेप है)

उत्तर—पूर्वोक्त 'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना' इस भाष्यसे जो आक्षेप किया है और 'उच्यते' से उसका समाधान किया है, वह परलोक रूप फल है स्वर्ग। उसके साधन ज्योतिष्टोमादि विधिवाक्य हो वहाँ आक्षेपका विषय हैं। (अर्थात् पूर्वोक्त आक्षेप परलोक फल विषयक है। प्रकृत आक्षेप तो ऐहिक फल चोदना विषयक है) इसलिए विषय भेद होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है।

शंका—यहां पूर्वपक्षीका कहना है कि 'नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना' इस वाक्यमें चोदना मात्रका ग्रहण किया गया है, अतः वहाँ भी सामान्य रूपसे आक्षेप है। इसी प्रकार पाँचवें सूत्रके भाष्यमें कहा गया है कि 'जब इष्टि थी तब फल नहीं दिया। जब फल उत्पन्न होता है, तब इष्टि (याग) नहीं है। ऐसी स्थितिमें असती इष्टि फल कैसे देगी ? यह आक्षेप स्वर्ग कामादि विधिवाक्योंमें भी समान है। इसलिए भाष्यमें पुनरुक्ति दोष है, विषय भेद न होनेके कारण।

उत्तर—सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षमें 'नन्वतथाभूतमप्य' इत्यादि भाष्यसे किया गया आक्षेप, परलोक फल विषयक ही है। वहाँ शब्द सदा प्रमाणान्तर सापेक्ष है। अतः वह स्वतंत्र प्रमाण नहीं हो सकता। चोदनार्थ स्वर्गादि फलमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति है नहीं। अतः विधिवाक्य अप्रमाण है, यह आक्षेप है। वह परलोक फल विषयक ही होता है।

---

१. सिद्धे इति पुस्तकान्तरपाठः। २. चोदना, विधिः, उपदेश इति पर्यायाः।
३. असंवादः=फलानुपलम्भः, ४. विसंवादः=विपरीतफलोपलम्भाः।

पशुकामचोदनासु हि यदि तावत् कर्मानन्तरमेव पश्वादीन्युपलभ्यन्ते, ततोऽपेक्षित-मूलप्रमाणलाभात् सिद्ध्यति चोदनायाः प्रामाण्यम्। अथ नोपलभ्यन्ते, ततः प्रमाणान्तर-बाधेनैव सुखमप्रामाण्यमभिधातुं शक्यत इति किमाक्षेपसारूप्यप्रतिपादनव्यसनेन। तस्मात् स तावत् परलोकफलविषय एव, अयं त्वैहिकफलविषयः। न हि पारलौकिकस्य फलस्याऽनन्तरकालानुपलब्ध्या निरासः सम्भवति। न हि तेनाऽनन्तरं भवितव्यम्, जन्मान्तरभावित्वात्।

ननु 'असती कथं फलं दास्यति' इतीदं तुल्यम्। नेति ब्रूमः--अपूर्वद्वारेण सम्भवात्। स्वर्गो हि स्वभावाद् देहान्तरानुभवनीयत्वादनन्तराऽसम्भवित्वेन शास्त्रार्थावधारण-वेलायामेव निश्चीयत इत्यपूर्वमन्तर्भाव्यैव तत्र शास्त्रार्थोऽवधार्यते। तच्च चिरस्थायीति कारणस्याविनाशात् सम्भवति कालान्तरे स्वर्गस्योत्पत्तिः। पश्वादयस्त्वनन्तरमपि सम्भवन्तीति तत्साधनत्वेन चोद्यमानानां चित्रादीनां शास्त्रार्थावधारणसमयेऽपूर्वप्रणाडीसमाश्रयणे कारणं न किञ्चिदस्तीति स्वरूपेणैव फलसाधनत्वं शास्त्रार्थोऽवधार्यते। तथा चानन्तरमेव फलेन भवितव्यम्। कालान्तरे कर्मस्वरूपस्य विनष्टत्वात् कारणत्वाभावात्। अनन्तरं च फलमनुपलब्ध्यैव निरस्तमित्यप्रामाण्यं चित्रादिचोदनानाम्।

पशुकामादि विधिवाक्योंमें तो कर्मके अनन्तर ही यदि पश्वादि फल देखनेमें आते हैं, तो अपेक्षित मूल प्रमाणके लाभसे विधिका प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि मूल प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे बाधके द्वारा अनायास ही अप्रामाण्य कहे जा सकते हैं। अतः उक्त दोनों आक्षेपोंका प्रतिपादन करनेके प्रयास रूपी व्यसनसे क्या लाभ है? अर्थात् कोई लाभ नहीं। इसलिए वह द्वितीय सूत्रके भाष्यमें कहा हुआ आक्षेप परलोक फल विषयक है। पाँचवें सूत्रके भाष्यमें जो आक्षेप है, वह ऐहिक फल विषयक है। पारलौकिक फल कर्मके तत्काल अनन्तर नहीं मिलता। इससे इसका निरास नहीं होता। क्योंकि कर्मके अनन्तर ही फल नहीं होना चाहिए, जन्मान्तर भावी होनेके कारण।

शंका—(पूर्व पक्षीका कहना है कि सम्पूर्ण आक्षेपसे पुनरुक्ति न हो, फिर भी आक्षेपका एकदेश जब कर्म नहीं है, तो) अविद्यमान कर्म यागादि कैसे फलको देगा? यह तो दोनोंमें समान है।

उत्तर—समान नहीं है, क्योंकि फलका अपूर्वके द्वारा होना सम्भव है। स्वर्ग तो स्वभावसे ही शरीरान्तरसे भोग्य है। कर्मके तत्काल बाद स्वर्गादि फलके असम्भव होनेसे, शास्त्रार्थ (चित्रानामकेन यागेन पशुरूपं फलं भावयेत्) के निर्णयके समय ही यह बात भी निश्चित हो जाती है, कि अपूर्वका अन्तर्भाव करके ही, शास्त्रार्थका निर्णय होता है। (अर्थात् यागके क्षणिक होनेसे स्वरूपतः वह स्वर्गका साधन नहीं हो सकता। अतः यागसे अपूर्वको उत्पन्नकर, उसके द्वारा स्वर्गको प्राप्त करे—'यागेनापूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेदिति' ऐसी भाष्योक्ति है।) उस अपूर्वके चिरस्थायी होनेसे कारणके अविनाशसे कालान्तरमें भी स्वर्गकी उत्पत्ति सम्भव है। पश्वादि फल तो कर्मके तत्काल बाद भी हो सकते हैं। अतः पशुसाधनत्वेन विहित चित्रादि यागोंका, शास्त्रार्थके निश्चय कालमें अपूर्वको द्वार माननेमें कोई कारण नहीं। स्वरूपसे ही चित्रादि याग फलके साधन हैं; यह शास्त्रका निर्णय है। इस प्रकार अनन्तर ही फल होना चाहिए। कालान्तरमें कर्मस्वरूपके

न चानुष्ठानानन्तरं फलानुपलब्ध्यैव शास्त्रार्थेऽपूर्वमन्तर्भावयितुं शक्यते--शास्त्रार्थावधारणपूर्वकं ह्यनुष्ठानं नानुष्ठानपूर्वकं शास्त्रम्, तस्मादैहिकानामत्राक्षेप इति युक्तो विषयभेदः। विषयभेदाच्च न्यायोऽपि भिद्यते--परलोकफलासु प्रमाणापेक्षितत्वमाक्षेपन्यायः। अत्र तु प्रमाणान्तरविरोध इति न्यायभेदादपौनरुक्त्यम्। अथ वा पूर्वोक्तं स्वमते सूत्राणि व्याचक्षाणोऽसूत्रितमेवाक्षेपं दर्शितवान्। इदानीं तु वृत्तिकारमतेन सूत्रेणैवाक्षेपः क्रियते।

तदिह चित्रादिवाक्यानि[1] प्रमाणान्यप्रमाणानि वेति विचार्यते, तदर्थं च किं तेषां प्रमाणान्तरविरोधोऽस्ति न वेति। तत्र फलानामनन्तरमुपलब्धव्यानामनुपलम्भादतत्साधनत्वं चित्रादीनामवगम्यते, तदिदं प्रत्यक्षाविसंवादेऽवश्यम्भाविनि सति तदभावादप्रामाण्यम्।

विनाशसे, कारणके न रहनेसे अनुष्ठानके अनन्तर हो फल नहीं मिलता। इसलिए चित्रादि विधिवाक्योंका अप्रामाण्य है*।

शंका—अनुष्ठानके बाद चित्रादि यागोंका फल न मिलनेसे, शास्त्रार्थमें अपूर्वका अन्तर्भाव नहीं कर सकते। क्योंकि शास्त्रार्थके निश्चयके बाद ही कर्मका अनुष्ठान होता है। कर्मानुष्ठान पूर्वक शास्त्र नहीं। (अर्थात् शास्त्रार्थका निर्णय होनेके बाद हो अनुष्ठान होता है। कर्मानुष्ठानके बाद शास्त्रार्थका निर्णय नहीं होता) इसलिए ऐहिक फलक चित्रादि विधिवाक्योंका ही यहाँ आक्षेप है। अतः विषय भेद युक्त ही है। और विषयका भेद होनेसे न्याय भी भिन्न होता है। स्वर्गादिफलक विधि वाक्योंमें प्रमाणकी अपेक्षा ही आक्षेप न्याय है। यहाँ चित्रादि वाक्योंमें तो प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर का विरोध है। इसलिए न्याय-भेद होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है। 'अथवा' इत्यादिसे दूसरा वर्णक कहते हैं। इसका यह आशय है कि भाष्यकारने अपने मतसे सूत्रोंका व्याख्यान करते हुए 'नन्वतथाभूतमि'त्यादिसे बिना सूत्रके ही आक्षेप दिखाया है। अब तो वृत्तिकारके मतसे सूत्रसे ही आक्षेप किया गया है (इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है)।

(पुनरुक्ति शंकाका समाधान करके, अब चित्रादि वाक्योंके आक्षेपको बताते हैं 'तदिह' इत्यादिसे। यहाँ चित्रादि (चित्रया यजेत पशुकामः) इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं या अप्रमाण? यह विचार किया जाता है। इसके लिए चित्रादि वाक्योंका प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंसे विरोध है या नहीं? यह विचार आवश्यक है। (मूलमें 'न वेति' के बाद 'विचार्यते' इस पदका अध्याहार कर लेना चाहिए) उसमें अनुष्ठानके अनन्तर ही उपलब्ध होनेके योग्य फलोंके अनुपलम्भसे चित्रादिकी पशुफल साधनता नहीं है, यह ज्ञात होता है। इसलिए प्रत्यक्षका अविसंवाद (फलका अनुपलम्भ) होना आवश्यक है। उसके अभावके कारण चित्रादि वाक्य अप्रमाण हैं।

---

* उक्तार्थका स्पष्टीकरण श्लोकवा०, चित्राक्षेपवाद, का० १ से करते हैं—
परलोकफलाः पूर्वमाक्षिप्ताश्चोदनाः परैः। इदानीमैहिकाक्षेपः सूत्रकारेण चोद्यते॥ इति॥

---

१. पूर्वोक्तमाक्षेपं सूत्रव्याख्यानकाले उत्सूत्रमेव प्रदर्शयामास। इदानीं सूत्रारूढं भाष्यकारः करोतीत्यर्थः। एवं च सूत्रारूढत्वे विचारस्वरूपं दर्शयति। अत्र-अनुमानद्वयं सूत्रसूचितं द्रष्टव्यम्। चित्रादिवाक्यमप्रमाणं प्रत्यक्षादिगोचरार्थप्रतिपादकत्वे सति तद्विसंवादात्, प्रतारकवाक्यवत्। तथा चित्रा पशुफला न भवति, स्वकाले तदजनकत्वात्, स्नानभोजनादिवदिति।

क्वचित्तु प्रत्यक्षविरोधादप्रामाण्यम्--'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति, यज्ञायुधीति हि यज्ञायुधसंयोगाच्छरीरमुच्यते। यजमानशब्दोपि कर्तृवचनस्तस्यैव वाचकः, नात्मनः, तस्य सर्वगतत्वेनाभिमतस्य क्रियाविरहिणः कर्तृत्वायोगाद्, यज्ञायुधसंयोगाभावाच्च, संयोगाभिप्रायश्चायं यज्ञायुधीति शब्दः, पात्रचयनस्तुत्यर्थत्वात्। न स्वस्वामिसंबन्धाभिप्रायः प्रागपि पात्रचयनात् तत्सम्भवात्। शरीरस्य च प्रत्यक्षविरुद्धं स्वर्गगमनम्। न च कालान्तरेपि संभवति, यातीतिवर्तमानापदेशात्, भस्मीभूतस्य च कालान्तरेपि तदसंभवात्। न च शरीरव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मास्ति, तस्मादप्रमाणम्। एवमपौरुषेयस्याप्यप्रामाण्ये स्वर्गकामचोदनायामपि नाश्वसितुं युक्तमित्यप्रामाण्यमेवायातम्।

कहीं पर प्रत्यक्ष विरोधसे अप्रामाण्य होता है। उसीका वर्णन करते हैं—'यह यागकर्ता यजमान यज्ञपात्रोंको धारणकर, तुरन्त ही स्वर्गलोक पहुँचता है'। यह श्रुतिका अर्थ है। (इससे यज्ञकर्ता यजमानकी मृत्यु होनेपर, अन्त्येष्टिके समय शरीरमें यज्ञपात्रोंका प्रक्षेप (रखना) विहित है। उसी प्रसंगका यह वर्णन है। इसमें यज्ञायुध शब्द यज्ञपात्र स्रुवादिका वाचक है) यहाँ यज्ञायुधि शब्दसे यज्ञपात्रोंका संयोग शरीरसे ही होना उचित है, आत्मासे नहीं। अतः यज्ञायुध संयोगसे 'यज्ञायुधि' शब्द शरीरको ही कहता है। 'यजमान' शब्द भी यागकर्ताका वाचक है। यागकर्तृत्व भी शरीरसे ही सम्भव है। इसीलिए 'यजमान' शब्द भी शरीरका ही वाचक है, आत्माका नहीं। आत्माके सर्वगत होनेसे, उसमें क्रिया नहीं होती। अर्थात् क्रिया रहित आत्माका कतृंत्व अनुपपन्न है। उससे यज्ञ-पात्रोंका संयोग भी नहीं है। और 'यज्ञायुधि' शब्द संयोगके अभिप्रायसे प्रयुक्त है। पात्र चयनके स्तुत्यर्थ होनेसे। अतः 'यज्ञायुधि' शब्द स्वस्वामिभाव सम्बन्धके तात्पर्यसे नहीं। पात्र चयनके पहिले भी स्वस्वामिभाव सम्बन्ध सम्भव है। (इस प्रकार मृत यजमानके शरीरसे ही यज्ञायुधका संयोग देखा जाता है) शरीरका स्वर्ग गमन प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

शंका—यदि कहा जाए उस कालमें शरीर स्वर्ग नहीं जाता, तथापि कालान्तरमें जाएगा। तब वाक्यका अप्रामाण्य कैसे होगा ?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'याति' शब्द है। वर्तमान काल हीमें उसका प्रयोग होता है।

पुनः शंका—यदि कहा जाए 'याति' शब्दमें 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' सूत्रसे वर्तमान समीपमें भविष्यत्कालमें लट्का विधान है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर तो यहीं भस्म हो जाता है 'भस्मान्तं शरीरम्' श्रुति ही इसमें प्रमाण है। अतः भस्मीभूत शरीरका कालान्तरमें भी गमन सम्भव नहीं।

शंका—शरीरका गमन न होनेपर भी शरीरसम्बन्धि आत्मा स्वर्ग जाता है, यह निश्चय नहीं कर सकते, आत्माके अप्रत्यक्ष होनेके कारण।

उत्तर—शरीरातिरिक्त आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं। इसलिए यह वाक्य अप्रमाण है। इसी प्रकार अपौरुषेय वेद वाक्यका अप्रामाण्य होनेपर, उक्त न्यायका 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्योंमें भी अतिदेश करते हैं। अर्थात् स्वर्गकामादि विधि-वाक्योंमें भी प्रामाण्यका विश्वास नहीं होता, अतः उनका भी अप्रामाण्य हो ही जाता है। उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं 'एवम्' इत्यादिसे।

एवं प्रत्यक्षानुपलब्धिविरोधेन प्रत्यक्षविरोधेन चाक्षिप्ते प्रामाण्ये विरोधपरिहारमुपेक्ष्यैव कारणदोषनिराकरणेन पर्वोक्तमेव स्वतः प्रामाण्यं स्वपक्षसाधनत्वेन सिद्धान्तवादी दर्शयति 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशः[1]' इति। (जै० सू० १।१।५) पूर्वं[2] हि प्रत्यक्षादीनां स्वतःप्रामाण्यस्य लोकसिद्धत्वात् तदन्तर्गतत्वाच्च शास्त्रमपि प्रमाणमित्येतावदुक्तम्, न तु कारणदोषनिराकरणं कृतम्। इह तु[3] शब्दार्थसंबन्धस्यौत्पत्तिकत्वात् तद्द्वारा पुरुषानुप्रवेशाभावात् पुरुषाश्रयत्वाच्च शब्ददोषस्य, अदुष्टमेव शास्त्रमतः प्रमाणमित्युक्तम् ॥ इति चित्राक्षेपवादः ॥

शब्दार्थयोः सम्बन्धाक्षेपः

एवं सम्बन्धनित्यतयाऽप्रामाण्यं निराकृत्य स्वतः प्रामाण्ये स्थापिते, परः पुनराह— 'स्यादेतत् नैव शब्दस्यार्थेनास्ति संबन्धः, कुतोऽस्य पौरुषेयताऽपौरुषेयता वेति'। तथा हि—

इस प्रकार फलके प्रत्यक्षाभावके विरोधसे और प्रत्यक्ष विरोधसे आक्षिप्त प्रामाण्य विरोध परिहारकी उपेक्षा कर, कारण दोषके निराकरणसे, पूर्वमें कहे हुए स्वतः प्रामाण्यको, सिद्धान्तवादी स्वपक्ष साधनके लिए दर्शाते हैं 'औत्पत्तिकस्तु' इत्यादिसे। (यह पाँचवें सूत्रका एकदेश है। इसका अर्थ =) शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध वाच्य-वाचक-भाव या प्रत्याय्य-प्रत्यायक-भाव, औत्पत्तिक = नित्य है। तस्य = उस प्रत्यक्षादिसे अनवगत धर्मका, ज्ञानं = ज्ञापक प्रमाण, उपदेश = विधिवाक्य ही है। (अर्थात् धर्मका ज्ञापक प्रमाण विधिवाक्य ही है। यहाँ एवकार अयोगव्यवच्छेदके लिए है) पूर्व भाष्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका स्वतः प्रामाण्य लोक सिद्ध होनेसे, उसीके अन्तर्गत शास्त्र भी प्रमाण है, इतना ही कहा गया है। कारण-दोषका निराकरण नहीं किया गया। यहाँके भाष्यमें तो शब्दार्थका सम्बन्ध औत्पत्तिक (नित्य) होनेके कारण, उक्त सम्बन्धके द्वारा पुरुषका प्रवेश असम्भव है। शब्दके दोष पुरुषाश्रित हैं। वेद तो अपौरुषेय है। अतः निर्दुष्ट है। इसलिए शास्त्र स्वतः प्रमाण है, यह कहा गया है। इस प्रकार चित्राक्षेपवाद प्रकरण समाप्त हुआ।

(इस प्रकार चित्राक्षेप वादका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(सिद्धान्तीने सम्बन्ध अपौरुषेय होनेके कारण प्रमाण है, इस प्रकार उसके अप्रामाण्यका खण्डन करके, स्वतः प्रामाण्यकी स्थापनाकी। इसपर पूर्वपक्षी शब्दार्थ - सम्बन्ध तथा उसकी नित्यताको नहीं मानते हैं। सम्बन्धाभावका उपपादन करते हैं) 'परःपुनराह' इत्यादिसे। (यहाँ 'स्यादित्यादि' से लेकर 'वा' इत्यन्त भाष्य ग्रन्थ है। इसका तात्पर्य है कि यह वक्ष्यमाण अनिष्ट होगा, क्योंकि) शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। तब उस सम्बन्धका पौरुषेयत्व या अपौरुषेयत्व कैसे होगा? (अतः सम्बन्धाभावका उपपादन करते हैं) 'तथाहि' से। शब्दार्थका संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता। उसके होनेसे 'क्षुर' शब्दका उच्चारण करने पर, मुख कट

---

१. उपदेश इति 'ग' पुस्तके नास्ति। २. 'पूर्वमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वा' दिति भाष्ये इत्यर्थः। अस्य सूत्रस्यायमर्थः = अत्र तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः। नाप्रामाण्यं चोदनायाः। यत् औत्पत्तिकः = नित्यः, अपौरुषेयः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। तस्य अर्थस्य ज्ञानं ज्ञापक उपदेशः। पौरुषेयो हि प्रत्ययः विप्लवते। अयं तु न तथा। तस्मात्प्रमाणमेव। वैदिकवचनं न मिथ्या, स्वार्थे वक्त्रनपेक्षत्वात्।

३. औत्पत्तिकसूत्रभाष्ये इत्यर्थः।

न तावत्संयोगोस्ति तद्भावे हि क्षुरादिशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनादि स्यात् । न च कार्यकारणभावः, द्वयोरपि नित्यत्वात् ।

ननु वर्णस्फोटजात्यादिविकल्पेन व्यक्त्याकृतिसम्बन्धादिविकल्पेन च बाह्ययोः शब्दार्थयोर्दुर्निरूपत्वाद् गकाराद्याकारं विज्ञानमेव शब्दः, तज्जनितं च गवाद्याकारविज्ञानमेवार्थ इति कार्यकारणत्वमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धः । नैवम्—निरालम्बनज्ञानानुत्पत्तेः[1], सम्बन्धान्तरं तु नाऽऽशङ्कनीयमेव ।

प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वं सम्बन्ध इति चेत् ? न, असति सम्बन्धे प्रत्यायकत्वस्यासम्भवात्[2], केन सम्बन्धेन शब्दोऽर्थं प्रत्याययतीत्येतदेव हि निरूप्यते । तत्र प्रत्यायकत्वादेव प्रत्यायकत्वमित्यात्माश्रयदोषापत्तिः । तस्मान्नास्ति सम्बन्धः । असति च सम्बन्धे वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरबोधकत्वासम्भवादनिरूपितहेतुविशेषं स्वप्नज्ञानवद् यादृच्छिकं शब्दार्थज्ञानं न प्रमाणं भवितुमर्हति । लौकिकस्तु व्यवहारोऽसत्यपि शब्दप्रामाण्ये

जाएगा । (क्षुरादि यहाँ आदि पदसे मोदकका ग्रहण है, पाटनादिमें आदि शब्द पूर्णताका वाचक है । अर्थात् क्षुर शब्दका उच्चारण करनेपर, छुरासे मुख कट जाएगा और मोदक शब्दका उच्चारण करनेपर लड्डूसे मुख भर जाएगा; इसलिए संयोग सम्बन्ध नहीं कह सकते)

शंका—शब्दार्थका कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ही मान लिया जाय ? उत्तर—शब्द—अर्थ दोनों नित्य हैं । इनके नित्य होनेपर, कार्य-कारणभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

शंका—बाह्य शब्दको वाचक माननेपर, वर्ण स्फोट वाचक होगा, या जाति स्फोट, या पद स्फोट, इसमें कोई निर्णायक युक्ति नहीं । इसी प्रकार बाह्यार्थको वाच्य माननेपर, व्यक्ति वाच्य है या आकृति वाच्य है, या व्यक्ति सम्बन्ध या आकृति सम्बन्ध, आदि विकल्प करनेपर, बाह्य शब्द और अर्थका निर्वचन नहीं कर सकते । अतः आन्तर ज्ञान ही शब्द और अर्थके रूपमें परिणत होता है । गकाराद्याकार विज्ञान ही शब्द है । उससे उत्पन्न गवादि आकार ज्ञान ही अर्थ है । इसलिए कार्य-कारणभाव ही शब्दार्थका सम्बन्ध है । (यह विज्ञानवादीकी ओरसे शंका है) ।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि निरालम्बन ज्ञान उत्पन्न न होनेसे (अर्थात् बाह्य पदार्थरूप आलम्बन = विषयके बिना, विज्ञानको उत्पत्ति नहीं हो सकती) संयोग या कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होनेकी सम्भावना थी । जब वे हो नहीं हो सकते, तो सम्बन्धान्तरकी शंका नहीं करनी चाहिए ।

शंका—शब्द और अर्थका सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकारसे न हो, किन्तु शब्द प्रत्यायक होता है । अर्थ प्रत्याय्य । इसीलिए शब्दार्थका प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव सम्बन्ध ही हो जाए ?

उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि बिना सम्बन्धके प्रत्यायकताका होना असम्भव है । अब उसीका विषय निरूपण करते हैं, कि किस सम्बन्धसे शब्द अर्थका बोधक होता है ? प्रत्यायक होनेसे ही प्रत्यायकत्व है, ऐसा माननेपर आत्माश्रय दोष होगा । (अपने ज्ञानमें अपने ज्ञानकी अपेक्षाको आत्माश्रय कहते हैं) अतः कोई सम्बन्ध नहीं । और बिना सम्बन्धके वस्त्वन्तरका वस्त्वन्तरबोधकत्व सम्भव नहीं, अतः जिसका हेतु विशेष निश्चित नहीं, ऐसा जो शब्दार्थ ज्ञान है, वह स्वाप्न ज्ञानकी तरह यादृच्छिक होगा । अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता । लौकिक

---

१. ज्ञानानुपपत्तेरिति 'ख' पुस्तके पाठः । २. प्रत्यायकत्वासम्भवादिति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः ।

प्रमाणान्तरवशात् कथंचित् सङ्गच्छेतापि। वैदिकस्तु व्यवहारः शब्दैकशरणत्वादनादर्तव्यः स्यान्निर्मूलत्वात्।

स्यादेवम्--यद्यसम्बन्धः शब्दार्थयोः, अस्ति तु सम्बन्धः प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वलक्षणः। असत्येव सम्बन्धान्तरे स्वभावत एव शब्दोऽर्थस्य प्रत्यायकोऽर्थश्च प्रत्याय्य इत्ययमेव सम्बन्धो भविष्यति। यच्चेदमिन्द्रियलिङ्गादिवत् सन्निकर्षव्याप्त्यादिसम्बन्धानपेक्षमर्थप्रतिपादनम्--इदमेवाभिधानमित्युच्यते, तदेव च सञ्ज्ञासञ्ज्ञित्वम्। तेनोच्यते--सञ्ज्ञासञ्ज्ञिलक्षणः सम्बन्ध इति।

किं पुनः शब्दस्यार्थप्रतिपादने प्रमाणम्? शब्दानन्तरमर्थप्रतिपत्तिरेव। नन्वियमभिप्रायानुमानद्वारेणैवोपपन्ना? नेति ब्रूमः—अर्थाभिप्रायशून्येनापि स्वापाद्यवस्थायां

व्यवहार तो शब्द प्रमाण न होनेपर भी प्रत्यक्ष या अनुमानके द्वारा किसी प्रकारसे संगत होसकता है। वैदिक व्यवहार तो शब्दैक शरण होनेसे (अर्थात् शब्दैक समधिगम्य होनेसे, वैदिक व्यवहार यागादि) आदर करने योग्य न होगा, निर्मूल होनेके कारण। (अर्थात् शब्दार्थ ज्ञानका अप्रामाण्य होनेपर भी लोकव्यवहार चल सकता है। याग दानादि अनुष्ठान रूप वैदिक व्यवहार, केवल शब्द मात्रका आधार होनेसे ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह दूसरे प्रमाणका विषय नहीं है) अब सिद्धान्ती 'स्यादेवं' से कहते हैं कि यदि शब्दार्थका असम्बन्ध है, तो यह हो सकता है (अर्थात् वेदका अप्रामाण्य हो सकता है) प्रत्याय्य-प्रत्यायक भावरूप सम्बन्ध तो है ही। दूसरा सम्बन्ध न होनेपर भी स्वभावतः शब्द अर्थका प्रत्यायक होता है। अर्थ प्रत्याय्य होता है। यही सम्बन्ध हो जाएगा*। इसीको कहते हैं—'यच्चेदम्' इत्यादि से। इन्द्रिय तथा लिंगादिकी तरह सन्निकर्ष तथा व्याप्ति आदि सम्बन्धकी अपेक्षाके बिना, जो शब्दकी अर्थ प्रतिपादकता है, वही अभिधान कहलाती है। यह प्रत्याय्य-प्रत्याकभाव ही संज्ञा-संज्ञित्व कहा जाता है। इसे ही संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध कहते हैं§।

(पूर्व ग्रन्थमें कहा गया है कि शब्दकी अभिधानरूपा क्रिया है। वह इन्द्रिय सन्निकर्षकी तरह सन्निकर्षकी अपेक्षा नहीं रखती। लिंगादिकी तरह व्याप्ति ज्ञानकी भी अपेक्षा नहीं रखती।

---

* कहनेका तात्पर्य है ऐसे प्रत्यायकत्व स्वभाव सिद्ध हो ही गया। अतः आत्माश्रय दोष नहीं होगा। और शब्दकी यह विशेषता होती है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण सम्बन्धकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रयोंको अर्थके बोधनमें अर्थ-संयोगकी अपेक्षा है। लिंगको साध्यके बोधनमें व्याप्तिरूप सम्बन्धकी अपेक्षा है, किन्तु शब्द तो सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। उसका प्रत्यायकत्व स्वाभाविक है। अतः प्रत्याय्य-प्रत्याकभाव ही सम्बन्ध होगा। इसीका आगे व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—'यच्चेदं' इत्यादि से।

§ जैसे कि कहा गया है—वाच्यवाचकसम्बन्धनिषेधे लोकबाधनम्।
विरोधश्च स्ववाक्येन नहि सम्बन्धवर्जितैः। प्रतिज्ञातार्थं शक्यः प्रतिपादयितुं परः॥
अभिधानक्रियायां हि कर्मत्वं वाच्यसंश्रयम्। शब्दानां करणत्वं वा कर्तृत्वं वा निरूपितम्॥
(इत्यादि श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपवाद, का० ११-१३)

परवशप्रयुक्तैरपि शब्दैरर्थप्रतिपत्तिदर्शनात्। तथा पुरुषान्तरकृतमपौरुषेयं वा वेदवाक्यमनर्थज्ञैरपि प्रयुज्यमानं व्युत्पन्नानामार्थबुद्धिं जनयत्येव, तस्मात् प्रत्यायकः शब्दः। किमिति तर्हि प्रथमश्रवणे न प्रत्याययति? सहकारिविरहात्—सञ्ज्ञात्वग्रहणमपि शब्दस्यार्थं प्रत्याययतोऽङ्गं[1] नेत्रस्येवाऽऽलोकः। तेन यः पुरुषान्तरेभ्यः 'अयं शब्दोऽस्य सञ्ज्ञा' इति ज्ञातवान्, तस्यैव प्रत्याययति नान्यस्येति न दोषः।

अतः सन्निकर्षादिसे निरपेक्ष अर्थका प्रतिपादन ही अभिधान है। इसीको भाष्यकारने संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध कहा है। इसपर शंका है कि) शब्दके अर्थ प्रतिपादनमें क्या प्रमाण है? उत्तर—शब्दानन्तर अर्थको (स्मृति) ही प्रमाण है (अर्थात् शब्द श्रवणके अनन्तर अर्थकी प्रतीति होती है, यह नियम ही प्रमाण है) शंका—यह अर्थ—प्रतिपत्ति वक्ताके अभिप्रायके अनुमान द्वारा ही उपपन्न हो जाती है।

उत्तर—यह ठीक नहीं; क्योंकि अर्थ प्रतिपादन रूप अभिप्रायसे रहित पुरुषसे स्वप्नादि अवस्थामें परवशसे उच्चारित शब्दोंसे भी अर्थ प्रतीति देखी जाती है। अर्थात् निद्रा, मूर्च्छा आदि अवस्थाओंके अधीन होकर उच्चारित शब्दोंसे भी अर्थ प्रतीति होती है। इसी प्रकार पुरुषान्तरसे किया हुआ वाक्य या अपौरुषेय वेदवाक्य, जो अर्थज्ञान शून्य हैं, उनसे उच्चरित होनेपर भी व्युत्पन्नोंको उस वाक्यसे अर्थज्ञान होता ही है। इसलिए शब्द अर्थका प्रत्यायक होता है§।

शंका—ऐसा होनेपर प्रथम शब्दके श्रवणसे अर्थ प्रतीति क्यों नहीं होती? उत्तर—सहकारिकारणके न होनेसे। क्योंकि अर्थ प्रतिपादक शब्दका सम्बन्धग्रह भी अंग है, जैसे नेत्र घटप्रत्यक्षका असाधारण कारण है। उसका सहकारि कारण आलोक है। इस प्रकार प्रकृतमें भी संज्ञात्व (शक्तिग्रह) भी अंग है। अतः कहा गया है—शक्ति-ज्ञान सहकारि कारण है और 'शक्ति धीः सहकारिणी' है। इससे दूसरे लोगोंसे यह शब्द उसकी संज्ञा है, ऐसा जिसने समझा है, उसीको शब्दसे अर्थ प्रतीति होती है, दूसरेको नहीं, अतः कोई दोष नहीं॥।

§ अर्थात् शब्दको अर्थ प्रत्यायक नहीं मानेंगे तो प्रतिज्ञात अर्थका भी प्रतिपादन नहीं कर सकोगे। तब स्ववचन-विरोध होगा। इसलिए अनन्यथा सिद्ध अर्थ प्रतीतिकी अनुपपत्तिके द्वारा सूचित अर्थापत्ति ही प्रमाण है। इसी अभिप्रायसे भाष्यकारने—यह सम्बन्ध संज्ञा-संज्ञि लक्षण है—'संज्ञा-संज्ञिलक्षणः सम्बन्धोऽयम्' ऐसा कहा है।

॥ अर्थात् जो शब्द गृहीत संगतिक है, वही अर्थ प्रत्यायक होता है, अगृहीत संगतिक नहीं। लौकिक करण या वैदिक करण (इतिकर्तव्यता) में सहकारि कारणकी अपेक्षा होती है। वार्तिककारने बड़े सुन्दर ढंगसे इसका प्रतिपादन किया है जैसे कि—

यत्साधकतमत्वेन कस्यचित्किञ्चिदुच्यते। तस्यानुग्राहकापेक्षा न स्वशक्तिविघातिनी॥
नहि तत्करणं लोके वेदे वा किञ्चिदीदृशम्। इति कर्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता॥
(श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेप, का० ३६-३७)

शरीरात्ममनोयोगादसाधारणता बलात्। विज्ञानासत्तिभावाच्च चक्षुःकरणमिष्यते॥
तथैवेहापि सम्बन्धज्ञानमङ्गं प्रसिद्धितः॥ (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप, का० ४१—४२)

१. प्रत्यय इति 'क' पुस्तके पाठः। 'ख' पुस्तके तु प्रतिपादयतः, इति पाठः।

शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वाक्षेपः

नन्वेवमस्तु नाम सम्बन्धः, स तु पौरुषेय इति त्वदुक्त्यैवोपपन्नम्। तथा हि—न हि शब्दस्यार्थेन संयोगतादात्म्यादिसम्बन्धः, किन्तु प्रत्यायकत्वम्। तच्च पुरुषाधीनमित्युक्तम्, अतो देवदत्तादिशब्दस्येव 'अस्यार्थस्येयं सञ्ज्ञा' इत्येवं सम्बन्धे कृते पश्चाच्छब्दस्यार्थप्रतिपादनमिति सिद्धं पौरुषेयत्वम्।

शब्दस्वरूपनिरूपणम्

पूर्वाक्षिप्तं सम्बन्धनित्यत्वमसमाधायेदानीम्—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इति कया सङ्गत्या केन वा प्रयोजनेन शब्दस्वरूपं निरूप्यते? सङ्गतिस्तावत्प्रासङ्गिकी-सम्बन्धप्रस्तावात् सम्बन्धिनोरपि शब्दार्थयोः प्रस्तुतत्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यते। प्रयोजनमपि तदवयवाश्रितानामूहादीनां सत्यत्वम्, निरवयवे हि वाक्ये पदे वा वाचकेऽवयवानां मृषात्वात् तदाश्रितान्यपि कार्याणि मृषा भवेयुः।

(उपर्युक्त ग्रन्थसे शब्दार्थ सम्बन्ध होता है, यह सिद्ध हुआ। अब क्या वह कृतक=पौरुषेय है? ऐसी शंका करते हैं) 'नन्वेवं' से। शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध है, वह पौरुषेय है, यह आपके कथनसे ही सिद्ध होता है। शब्दका अर्थके साथ संयोग या तादात्म्य आदि सम्बन्ध नहीं हो सकता; किन्तु प्रत्यायकता सम्बन्ध है। और वह पुरुषके अधीन है, यह कह दिया गया है। अतः देवदत्तादि शब्दकी तरह यह उस अर्थकी संज्ञा है, ऐसा कहने वाले पुरुषोंसे ही वह सम्बन्ध पहिले किया जाता है। पश्चात् शब्द अर्थका प्रतिपादक है, ऐसे पौरुषेयत्व सिद्ध होता है।

(इस प्रकार सम्बन्धके पौरुषेय होनेसे, उसके द्वारा पुरुषका प्रवेश होता है। पुरुष दोष भी शब्दमें आते हैं। अतः विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण नहीं। इस आक्षेपके पश्चात् भाष्यकार शब्दस्वरूपका विचार करते हैं। उन्होंने यह अनुपपन्न है, ऐसा आक्षेप किया है) शंका—पहिले आक्षिप्त सम्बन्ध नित्यत्वका बिना समाधान किए, किस संगतिसे या किस प्रयोजनसे शब्दस्वरूपका विचार किया जाता है? उत्तर—प्रसंग संगतिसे शब्द-स्वरूपका निरूपण किया जाता है। सम्बन्धके सम्बन्धी शब्द और अर्थ दोनों प्रस्तुत हैं। (अर्थात् सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियोंमें होता है; अतः सम्बन्ध निरूपणसे पहिले, शब्द और अर्थ रूप सम्बन्धी दोनोंका निरूपण करना आवश्यक है) उन दोनोंमें भी शब्दसे अर्थ प्रतीति होनेके कारण, पहिले शब्द स्वरूपका निरूपण किया जाता है। (अर्थात् सम्बन्ध आक्षेपके परिहारके लिए सम्बन्ध नित्यत्वका उपपादन करना आवश्यक है। उसके आधारभूत शब्द और अर्थका निरूपण, जो कि सूत्रकारको अभिप्रेत है, उसीको भाष्यकार बताते हैं कि) प्रयोजन भी है, क्योंकि वाक्यके अवयव हैं पद। पदके अवयव हैं प्रकृति—प्रत्यय आदि। उनके आश्रित ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसंग आदिकी सत्यता ही इसका प्रयोजन है। अन्यथा यदि वाक्य निरवयव है, या वाचक पदमें अवयव मिथ्या हैं, तो उनके कारण उनके आश्रित कार्य भी मिथ्या हो जायँगे॥।

॥ अर्थात् वाक्यको निरवयव माननेपर, पदमें वर्णोंके मिथ्या होने से ऊह, बाध आदि नहीं सिद्ध होंगे। वाक्य तथा पदके सावयव होनेसे ऊहादिकी सत्यता सिद्धि ही प्रयोजन है। इसी अभिप्राय को वार्तिककारने शंका-समाधान द्वारा स्पष्ट किया है—

किञ्च सम्बन्धसिद्ध्यर्थमवश्यं वर्णानां वाचकत्वं समर्थनीयम्, अन्यथा हि तेषां प्रत्येकं सङ्गत्यभावाद् वाचकत्वानुपपत्तिमाकलयतां स्फोटस्य च शशविषाणायमानस्य दूरनिरस्तं वाचकत्वमिति सम्बन्ध एव वाच्यवाचकभावो निराधारत्वान्न स्यान्नतरां नित्यत्वमिति तत्सिद्ध्यर्थं वर्णानां वाचकत्वं समर्थयितुं शब्दस्वरूपं निरूप्यते। किं गौरित्यत्र वर्णा एव शब्दः? उत तेभ्योऽर्थान्तरम्? इत्येतत्प्राधान्येन निरूप्यते। वर्णावयवगत्व-गोशब्दावयवि-जातिनिराकरणं तु प्रासङ्गिकम्। वर्णा एव शब्द इत्यवधारणसमर्थनार्थम्।

और भी बात है कि सम्बन्धकी सिद्धिके लिए वर्णोंकी वाचकताका समर्थन आवश्यक है। नहीं तो उनकी प्रत्येक अर्थके साथ संगति न होनेके कारण, वाचकत्वकी अनुपपत्तिको समझने वालोंका वाचकत्व दूर निरस्त होगा। स्फोट तो शश-विषाणकी तरह अत्यन्त असत् है, अतः वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध दूरसे ही निरस्त है। निराधार होनेके कारण उसकी नित्यता तो सुतरां असम्भव है। अतः उसकी सिद्धिके वर्णोंकी वाचकताके समर्थनके लिए शब्दस्वरूपका निरूपण किया जाता है।

शंका—क्या गौ इस पदमें वर्ण ही शब्द हैं? अथवा उनसे अर्थान्तर हैं? यह प्रधानरूपसे निरूपण किया जाता है। इस अवसरपर वर्णावयव, गत्व, गोशब्दावयवि, जाति आदिका निराकरण तो प्रसंगतः सिद्ध है। वर्ण ही शब्द है, इस निश्चयका समर्थन ही मुख्य है॥।

॥ यहाँपर शंका है कि 'यह गौ है' इसमें शब्द कौन है? यह प्रश्न किसका है? पूर्व पक्षीका तो है नहीं, क्योंकि सम्बन्धाक्षेपके अनन्तर शब्दविषयक प्रश्न हो नहीं सकता। तब कहो कि सिद्धान्तीका यह प्रश्न है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह स्वाभिप्रेत शब्दार्थ सम्बन्धका उपपादन करनेके लिए पूछता है। जब आक्षेपका परिहार नहीं किया तो प्रश्न ही असंगत है।

इसका उत्तर है कि—यह सिद्धान्तीका ही प्रश्न है। वह सम्बन्धका उपपादन करनेके लिए पूछता है, कि आपको कौन शब्द अभिप्रेत है? जिसका अर्थके साथ सम्बन्धाभाव आप मानते हैं। स्फ़ोटको तो कह नहीं सकते, गकार + औकार + विसर्गसे अतिरिक्त शब्द बुद्धिमें भासता नहीं। यदि कहें अर्थ प्रतीति रूप कार्यसे उसका ज्ञान होता है, तो इस पक्षमें अन्योऽन्याश्रितदोष है। अर्थ प्रतीति सिद्ध होनेपर, शब्द सिद्ध होगा। शब्दस्वरूप सिद्ध होनेपर, अर्थ प्रतीति होगी। सिद्धान्त पक्षमें गकार, औकार, विसर्ग ही गोशब्द है। वह श्रोत्रसे गृहीन होता है। और श्रोत्रग्राह्य वस्तुमें लोकमें शब्दका प्रयोग होता है। यहाँ उपवर्षाचार्यका नाम लेकर, इस मतकी अनेक प्रमाणोंसे श्रेष्ठता दिखाई गई है, अतः यह सिद्धान्तीका ही प्रश्न है। सिद्धान्तमें उपवर्षका ग्रहण अयुक्त है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जो प्रत्यक्षमें भी विप्रतिपन्न है, उसे कौन उत्तर दे, यह समझकर भाष्यकारने उपवर्षाचार्यका ग्रहण किया है। इसका विशेष विवरण श्लोक वार्तिक स्फोटवाद प्रकरण, श्लोक २ में देखिए।

'वर्णातिरेकः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं पदमादधाति।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः'॥

यहाँ पूर्वार्धसे शंका और उत्तरार्धसे उसका समाधान किया है। श्लो० वा० स्फोटवाद प्रकरण, का० १३७। इसका विशेष विवेचन वेदापौरुषेयत्वाधिकरणमें भी देखिए।

तत्र वर्णानामपि पुद्गलाख्यानवयवानार्हताः संगिरन्ते, तत्त्ववयवानुपलम्भादयुक्तम्। प्रत्यक्षेण तावदवयवा नोपलभ्यन्ते, वर्णेषु साकल्य-वैकल्यग्रहणाभावात्। नानुमानेन, तैः सह कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धाग्रहणात्। न च सामान्यतोदृष्टम्, न हि यद् यद्वस्तु, तस्य तस्याऽवश्यमवयवैर्भवितव्यम्, परमाणूनां निरवयवत्वात्। तेपि सावयवा इति चेत्? तदवयवा अपि तथा स्युस्ततः परमपि तथेति, एकस्यैव माषावयविनोऽनन्तावयवित्वं स्यात्, ततश्चैकेनैव माषेण तिलेन वा सर्वं जगद् व्याप्येत, अनन्तैरवयवैर्मूर्तैरन्योन्यस्यावकाशमप्रयच्छद्भिरनन्तदेशव्याप्तेः। तस्मान्निरवयवाः परमाणवो वर्णाश्च। तथा गत्वजातिरौत्वजातिश्च निष्प्रमाणिकैव।

ननु द्रुतविलम्बितमध्येषूदात्तानुदात्तस्वरितेषु सानुनासिक-निरनुनासिकयोर्ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु च प्रत्यभिज्ञायमाना जातिः कथं नास्तीति शक्यतेऽभिधातुम्? सत्यम्—

वर्ण अवयववादी आर्हतोंका कहना है कि वर्णोंके पुद्गल नामक अवयव होते हैं। उनके इस मतका निराकरण करते हैं 'तत्तु' इत्यादिसे। उनका यह कथन ठीक नहीं, अवयवोंके अनुपलम्भके कारण। इसीको स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्षसे अवयव उपलब्ध नहीं होते, वर्णोंके सम्पूर्ण रूपसे या आंशिक रूपसे ग्रहण न होनेके कारण*।

शंका—तब कहिए अनुमानसे अवयवोंका ग्रहण होता है? उत्तर—अवयोंके साथ किसी लिंगका व्याप्तिरूप सम्बन्ध गृहीत नहीं होता। शंका—तब कहिए सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे ग्रहण हो जाए? उत्तर—जो जो वस्तुएँ हैं, उनके अवयव अवश्य होने चाहिए, ऐसा तो कह नहीं सकते, इससे परमाणुमें व्यभिचार है। क्योंकि परमाणु निरवयव है। शंका—यदि कहा जाए कि परमाणु भी सावयव होते हैं, तो उनके अवयव भी वैसे सावयव होंगे। इस प्रकार एक माष (उरद) रूपी अवयवीके अनन्त अवयव मानने पड़ेंगे। इससे एक माष या तिलसे सारा जगत व्याप्त हो जाएगा। अनन्त अवयवोंसे व्याप्त होनेके कारण एक दूसरेको अवकाश न मिलनेसे सभी देश उन अवयवोंसे व्याप्त हो जाएँगे। इसलिये वर्ण निरवयव होते हैं। और परमाणु भी निरवयव होते हैं। इसी प्रकार गत्व जाति और औत्व जातिकी सत्तामें भी कोई प्रमाण नहीं।

(इस प्रकार वर्णको नित्य, विरवयव और एक सिद्ध किया है। इसपर शंका है कि) एक ही गकार यदि माना जाए तो, द्रुत गकार, विलम्बित गकार तथा मध्यम गकार, इनमें उदात्तादि भेद, सानुनासिक-निरनुनासिक भेद, ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेदकी प्रतिज्ञासे जो जाति प्रतीत होती है, वह नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते हैं? (अर्थात् द्रुतादि गकार व्यक्तियोंमें अनुस्यूत जातिका कैसे अपलाप करते हैं) उत्तर—ठीक है, प्रत्यभिज्ञा तो है ही, वह व्यक्ति एक है इसको लेकर सर्वत्र अनुगत प्रतीति होती है। (उससे अतिरिक्त गत्व नहीं है, एक व्यक्तिको लेकर ही उपपन्न होनेसे, गत्वादि जातिकी आवश्यकता नहीं।

शंका—यदि गकारादि व्यक्तिको एक मानें तो द्रुतादिका जो भेद भासता है, वह कैसे उपपन्न होगा? अतः व्यक्ति भेद होना चाहिए)

---

* जैसे श्लोकवार्तिकमें स्फोटवाद, का० ११ में कहा है—

पृथङ्नैवोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित्। न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत्पटे॥

अस्ति प्रत्यभिज्ञा, सा तु व्यक्त्येकत्वादेवोपपन्ना। द्रुतादिभेदावभासस्तु द्रुताद्यवस्थाभेदालम्बनो न व्यक्तिभेदमापादयितुमलं भवति।

गत्वादिजातिनिराकरणम्

भेदाभेदावभासोऽपि द्वेधा भवति। क्वचिद्भेदो धर्मिविषयः, अभेदस्तु धर्मविषयः। यथा शाबलेयादिष्वयं गौरयं गौरयमपीति जातेरात्मलाभः। क्वचित्तु भेदावभासो धर्मात्, अभेदावभासश्च धर्मिणमालम्बते—एकस्मिन्नेव देवदत्ते युवायं वृद्धोऽयं कृशोऽयमिति, न तत्र जातिरङ्गीक्रियते। तदिह द्रुतादिषु धर्मिविषयोऽभेदः, धर्मविषयस्तु भेदः। तथा हि—ईदृशोऽत्रावभासः 'अनेनायमकारो द्रुतमुच्चारितः, अनेन विलम्बितम्' इति न तु 'अयमकारो द्रुतः, अयं तु विलम्बितः' इति येन धर्मिभेदो जातिश्चाङ्गीक्रियेयाताम्।

ननु कार्श्यादीनां क्रमवर्तित्वादेकस्मिन् देवदत्ते युक्तः समावेशः, अनुनासिकादीनां तु धर्माणां युगपदनेकवक्त्रुच्चारिते वर्णे समवेतानां कथमेकवर्णविषयत्वम्। न हि विरुद्धधर्मान्, एको धर्मी युगपद्बिभर्ति। सत्यम्—न त्वेते परमार्थतो वर्णधर्माः, ध्वनि-

उत्तर—द्रुतादि अवस्थाके भेदसे द्रुतादिका भान होता है। अतः वह व्यक्ति भेदका उपपादन नहींकर सकता*। इसीको स्पष्ट करते हैं कि भेदका ज्ञान तथा अभेदका ज्ञान भी दो प्रकारका होता है। कहीं भेद धर्मीको विषय करता है। अभेद तो धर्मको विषय करता है (अर्थात् कहीं धर्मीका भेद है, धर्मका अभेद है) जैसे साँवली गौमें 'यह गौ है, यह गौ है' ऐसे जातिका लाभ होता है। कहीं तो धर्मका भेद भासता है और धर्मीमें अभेद। जैसे एक ही देवदत्तमें यह युवा है, यह कृश है इत्यादिमें जाति नहीं मानी जाती। इसी प्रकार प्रकृतमें द्रुतादिमें धर्मीका अभेद है, धर्मका भेद है। इसीको स्पष्ट करते हैं 'तथा हि' से। यहाँ ऐसा अवभास होता है, इन्होंने अकारका द्रुत (शीघ्र) उच्चारण किया। इसने गकारका विलम्बसे उच्चारण किया। यह अकार द्रुत है, यह अकार विलम्बित है ऐसा नहीं, जिससे कि धर्मी गकारका भेद और गत्वजाति मानी जाए।

शंका—देवदत्तमें बाल्य-यौवन-कृशता आदि क्रमशः होते हैं। अतः एक देवदत्तरूपी धर्मीमें कृशता आदि धर्मोंका समावेश युक्त है। अनुनासिकादि धर्मोंका तो एक ही समयमें अनेक वक्ताओं द्वारा उच्चारित एक गकारमें वर्तमान है। उनकी एक-वर्ण-विषयता कैसे हो सकती है! क्योंकि एक ही धर्मी, विरुद्ध अनेक धर्मोंको, एक ही कालमें धारण नहीं कर सकता।

* यहाँ प्रश्न है कि यह वही गकार है, इस ज्ञानका गत्व सामान्य = गत्वजाति विषय है। ऐसा माना जाए? उत्तर—विकल्प करनेपर दोष सह्य नहीं होगा। यहाँ सामान्यको जाति कहा जाए? या सादृश्य? या अपोहरूप? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि सामान्य, व्यक्तिसे भिन्न पक्षमें व्यक्तिका सामान्यसे भेद प्रतीत होना चाहिए, होता तो नहीं। अभेद पक्षमें सामान्य पृथक् सिद्ध नहीं होता। सादृश्य ही सामान्य है, यह नहीं कह सकते। भूयोऽवयव सामान्यरूप सादृश्य निरवयव गकारमें सम्भव नहीं। अपोहरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्रुतादि भेदसे वही यह गकार है, ऐसा श्रावण ज्ञान होता है। इसका विषय अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि श्रोत्र ज्ञानका अभाव विषय नहीं होता। इसलिए गत्व सामान्य नहीं सिद्ध होता।

धर्मास्त्वेते वर्णे केवलमाभासन्ते। यथाऽल्पे महति च दर्पणे युगपद् दृश्यमाने मुखेऽल्पत्वं महत्त्वं चेति। तस्माद्वर्णस्य व्यक्त्येकत्वेऽपि न विरोध इति, अप्रामाणिकी गत्वादिजातिः।

एवं गोशब्दावयव्यपि, गकारादीनामयौगपद्यात् सर्वगतत्वाच्चाऽवयव्यारम्भासामर्थ्यात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकं कार्यपरिमाणं तन्तुपटयोरिव, न च विभुभ्यो वर्णेभ्यः परिमाणाधिक्यं कस्यचिद्भवति[1], अतो नास्त्यवयवी। तदभावे च तदाधारं गोशब्दत्वं दूरापास्तम्। तस्माद्वर्णा एव शब्दः।

स्फोटवादस्योपन्यासः

आह—गृह्णीम एतत्—'अवयवावयविगत्वादिकं नास्ति' इति, न तु 'वर्णा एव शब्दः' इति, अर्थप्रत्ययानुपपत्तेः।

तथा हि— न ह्येकाक्षरविज्ञानादर्थधीरुपजायते ।
वाचश्च क्रमवर्तित्वात् साहित्यं नावकल्पते ॥ ११ ॥

उत्तर—ठीक है, ये अनुनासिक-आदि परमार्थ रूपसे वर्णके धर्म नहीं है, किन्तु ध्वनिके धर्म हैं। ध्वनिके धर्म होते हुए केवल वर्णमें भासते हैं। उसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे छोटे या बड़े दर्पणमें, एक ही कालमें दिखाई देनेवाले मुखमें अल्पता तथा महत्ताका भान होता है, वैसा प्राकृतमें भी। अतः गकारादि वर्ण व्यक्तिके एक होनेपर भी विरोध नहीं है। इसलिए गत्वादि जाति निष्प्रमाण है।

इसी प्रकार गोशब्दावयवी भी नहीं सिद्ध होता, गकारादि वर्णोंका यौगपद्य न होनेसे। (अर्थात् एक कार्यमें रहने वाले अवयवोंसे हो अवयविका आरम्भ होता है) और गकारादिके सर्वगत होनेके कारण वह अवयविको आरम्भ करनेमें असमर्थ है। क्योंकि सर्वत्र कारण द्रव्यके परिमाणसे कार्य-द्रव्यका परिमाण अधिक होता है। जैसे तन्तुके परिमाणसे पटका परिमाण अधिक होता है। वर्ण तो विभु हैं। उनसे दूसरी किसी वस्तुका परिमाण अधिक नहीं होता। अतः अवयवी नहीं है। और विभु वर्णसे कार्यका आरम्भ न होनेके कारण, उसमें रहने वाला गोशब्दत्व भी दूरसे निरस्त है। अतः वर्ण ही शब्द है।

शंका—आपकी बात हम मानते हैं कि गकारादि वर्णके अवयव तथा अवयवी और गत्वादि जाति नहीं है। किन्तु वर्ण ही शब्द हैं, इस बातको नहीं मानते। वर्णोंको शब्द माननेपर, अर्थ प्रतीति नहीं हो सकेगी। जैसे कि कहा गया है 'यदि आप वर्णोंको शब्द मानते हैं, तो प्रत्येक वर्ण अर्थका बोधक है। या वर्ण समुदाय ? ये दो विकल्प है'। इनमें प्रथम विकल्प कह नहीं सकते, क्योंकि एक वर्णके श्रवणसे अर्थज्ञान नहीं होता। जैसे गो शब्दके प्रथम वर्ण गकारका उच्चार करनेसे सास्नादिमान् अर्थका बोध नहीं होता। और वर्णान्तरका उच्चारण भी व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए एक वर्णसे अर्थज्ञान नहीं हो सकता। तब द्वितीय पक्ष लीजिए। इसमें भी अनुपपत्ति है, कि वर्ण उच्चारण करते ही नष्ट हो जाते हैं। उनका समुदाय नहीं बन सकता। क्योंकि वर्ण क्रमशः होते हैं। अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं, वर्ण ही शब्द हैं, इस पक्षमें अर्थप्रतीतिकी अनुपपत्ति होनेके कारण श्लोकार्थ स्पष्ट है॥ ११॥

---

१. भवतीति 'ख' पुस्तके पाठः।

उच्यते--

यथाग्नेयादिकर्माणि क्रमवर्तीनि सन्त्यपि।
संहत्य कुर्वते कार्यमेकं वर्णास्तथैव नः ॥ १२ ॥

वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वम्

ननु क्रमवर्तिनामप्युत्पत्त्यपूर्ववशेन युक्तं साहित्यम्, वर्णानां तु कथम् ? तेषामपि संस्कारेण भविष्यति। तत्सद्भावे किं प्रमाणम् ? यदेवाग्नेयादिषु। यथा हि[1] तेषां शास्त्रेण संहत्यकारिताऽवगमात्, स्वरूपतश्च तदसम्भवादपूर्वं द्वारं कल्प्यते, तथा वर्णानामप्येकैकशोऽभिधानादर्शनात् सकलोच्चारणे चाऽवगमात् संहत्यकारित्वे निश्चिते स्वरूपेणाऽसम्भवात् संस्कारकल्पनं युक्तमेव। तद्वदेव चैककर्तृकत्वं क्रमविशेषश्चाद्रियते, विपर्ययेणार्थाभिधानादर्शनात्।

उत्तर—जैसे आग्नेयादि कर्म क्रमशः होनेपर भी सब मिलकर, एक फलापूर्वको उत्पन्न करते हैं ? वैसे सभी वर्ण मिलकर अर्थके बोधक होते हैं, यह हमारा मत है⊛ ॥ १२ ॥

शंका—(आपने दृष्टान्त दिया दर्श-पौर्णमासादिका उनमें आग्नेयादि यागोंके) क्रमशः होनेके कारण, उत्पत्त्यपूर्वके द्वारा सहभाव हो सकता है। पर वर्णोंमें कैसे होगा ?

उत्तर—उनका भी संस्कारके द्वारा साहित्य हो जाएगा। शंका—संस्कारकी सत्तामें क्या प्रमाण है ? उत्तर—जो आग्नेयादिमें, है, वही यहां भी है। इसीका उपपादन करते हैं 'तथाहि' से। आग्नेयादि यागोंका साहित्य (मिलकर एक कार्य करना) शास्त्रसे ज्ञात होता है। (अर्थात् आग्नेयादि सभी याग मिलकर, एक अपूर्वको उत्पन्न करते हैं, ऐसा शास्त्रसे मालूम होता है) आग्नेयादि यागोंकी स्वरूपसे संहत्यकारिता असम्भव है। क्योंकि याग क्षणिक हैं। अतः याग और स्वर्ग इन दोनोंके बीचमें अपूर्व ही द्वार (उपाय) है, यह कल्पना करते हैं। वैसे एक एक वर्णसे भी अर्थका अभिधान न होनेके कारण यह निश्चित होता है कि सभी वर्णोंका उच्चारण होनेपर, अर्थका ज्ञान होता है। सभी वर्ण मिलकर, अर्थका अभिधान करते हैं। उनमें भी वर्ण उच्चारणके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। अतः स्वरूपतः अर्थका अभिधान सम्भव नहीं है। प्रकृतमें भी संस्कारकी कल्पना युक्त ही है। इसी प्रकार एक कर्तृकत्व और साहित्य तथा क्रम विशेष भी माना जाता है। अन्यथा

⊛ इसका यह आशय है दर्श-पौर्णमासके छः याग होते हैं। दर्शमें १—आग्नेय पुरोडाशः। २—ऐन्द्रं दधिः। ३—ऐन्द्रंपयः। और पौर्णमासमें १—आग्नेय पुरोडश, २—उपांशुयाज, ३—अग्निषोमीय पुरोडाश। ये सब मिलकर छः याग होते हैं। दर्श शब्द तथा पूर्णमास शब्द अभिधा वृत्तिसे काल वाचक हैं और उस कालमें अनुष्ठेय कर्मोंका लक्षणा वृत्तिसे बोधक हैं। याग तो क्रिया रूप है और क्रमशः उसका अनुष्ठान होता है। यहां स्वजन्य अपूर्वके द्वारा सब याग स्वर्गादि फल या उसके साधन परमापूर्वके आरम्भक होते हैं। वैसे ही प्रत्येक वर्णके उच्चारणसे उसका संस्कार होता है। जिसके द्वारा स्मृत्यारूढ वर्णोंसे एक अर्थ बोध-रूप कार्य होता है। अतः वर्णात्मक शब्द है। इस भाट्ट मीमांसकोंके सिद्धान्तमें कोई अनुपपत्ति नहीं। इसका श्लो० वा०, स्फोटवाद, का० ७४ में विशद रूपसे वर्णन किया है—

यथा—'दृष्टश्च पूर्णमासादेः क्रमः संहत्यकारिणः। अभ्यासानां च लोकेपि स्वाध्यायग्रहणादिषु' ॥

---

१. तथाहीति व्याख्यात् सम्मतः पाठः।

स्फोटवादखण्डनम्

नन्वेवं प्रतिवर्णं संस्कारकल्पनाद्, अनेककल्पना स्यात्, तद्वरमेकमेव शब्दतत्त्वं कल्पितम्। नैवम्—दृश्यादर्शनेन निरस्तत्वात्। शब्दो हि प्रत्यक्षग्राह्योऽभ्युपगम्यते, न च प्रत्यक्षेण वर्णातिरिक्तं किञ्चित् प्रकाशते। तेन नास्तीत्यवगच्छामः। तत्रापि हि शब्दतत्त्वं कल्पयित्वा पुनः संस्कारकल्पनाऽवश्यं कर्तव्या। ध्वनयो हि न प्रत्येकं स्फोटमभिव्यञ्जन्ति। साहित्यं च क्रमवर्तिनां संस्कारद्वारमेवेति तुल्यं तत्कल्पनम्।

अर्थका अभिधान नहीं होता*।

(स्फोटवादी वैयाकरण अवसर पाकर शंका करते हैं कि) पूर्वोक्त—प्रकारसे प्रति वर्ण संस्कारकी कल्पनासे, वर्णोंके अनेक होनेसे, अनेक संस्कारोंकी कल्पना करनी होगी। अतः वर्णवादीके मतमें गौरव है। इसकी अपेक्षा एक शब्द तत्त्व स्फोटकी कल्पना उचित है। उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि दृश्यकी अनुपलब्धिसे स्फोट तत्त्व निरस्त है। शब्द प्रत्यक्षसे गृहीत होता है, ऐसा हम सिद्धान्ती मानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाणसे वर्णसे अतिरिक्त कोई तत्त्व प्रकाशित ही नहीं होता। इससे स्फोट नहीं है, ऐसा हम लोग मानते हैं। (अर्थात् वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोट नामक तत्त्व आपको अभिमत है। वह यदि होता, तो अवश्य उपलब्ध होता। उपलब्ध तो नहीं होता, इसलिए नहीं है। अब स्फोटवादीके मतमें गौरव दिखाते हैं) आप स्फोटवादीको शब्द तत्त्वकी कल्पनाकर, पुनः संस्कारकी भी कल्पना करनी होगी। क्योंकि ध्वनियाँ (नाद) प्रत्येक स्फोटको अभिव्यक्त नहीं करते। अतः क्रमवर्त्ति ध्वनियोंका साहित्य संस्कारके द्वारा ही कहना होगा। तब कल्पना समान है§।

---

* इसी अर्थको वार्तिककारने स्पष्ट किया है, कि वर्ण अर्थ प्रकाशनके लिए गुणभूत हैं। उनका क्रम विशेष तथा एककर्तृकत्व और साहित्य विवक्षित होता हैं—'तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति। साहित्यमेककर्त्रादि क्रमश्चापि विवक्षितः। (श्लो० वा०, स्फोटवाद, का०, ७०) इति। यहां प्रश्न है कि जो क्रमवान् गकारादि हैं, उनका एकपदत्व कैसे होगा तथा 'गोशब्द है' ऐसा 'पचति' की तरह वर्तमान कालका प्रयोग कैसे होगा ? तो इसका उत्तर—यह घटादिकी तरह निष्पन्न होकर नहीं, किन्तु जैसे 'पचति' क्रियाका पाकरूप एक फल होता है और अवयव अनेक होते हैं, वैसे ही वर्णोंके व्यापाररूप अभिधानमें समझना चाहिए। अर्थात् जैसे पाकमें पहिली क्रियासे लेकर, फल पर्यन्त एक क्रिया मानी जाती है, वैसे ही वक्ताकी विवक्षासे लेकर, अन्त्य वर्ण पर्यन्त, जितने वर्ण एक अर्थका बोधन करनेके लिए विवक्षित हैं, उनमें जितना काल लगता है, वही वर्तमान काल है। तत्कालावच्छिन्न वर्ण ही 'गौ' शब्द है। जैसे कहा गया है—

तस्यामाद्यपरिस्पन्दात्प्रभृत्याफललाभतः। क्रियापूर्वापरीभूता लक्ष्यते वर्तते हि तत्॥

तेनात्रापि विवक्षातः प्रभृत्यर्थावबोधनात्। संकल्पेनेक्ष्यमाणे स्याद्व्यापारे वर्तमानता॥

(वाक्य प०, सा० काण्ड)

§ इसका यह आशय है कि वर्णोंके उच्चारणके वाद अर्थका ज्ञान होता है। वही अर्थका प्रकाशक होनेके कारण, स्फोट कहलाता है। वही पद है। वही वाक्य है। वाक्य—स्फोट ही अन्तिम निष्कर्ष है। इसका प्रत्यक्ष न होनेपर भी अर्थ प्रतीति रूप कार्यसे उसकी कल्पनाकी जाती है। और 'एकं पदं' यह लौकिक अनुभव है। इसका वर्ण ही विषय है ? ऐसा नहीं कह सकते।

स्यान्मतम्--प्रत्येकमेव नादाः शब्दमभिव्यञ्जन्ति। न चैवमुत्तरनादवैयर्थ्यम्-- पूर्वे हि नादा शब्दमस्फुटमभिव्यञ्जन्ति, उत्तरोत्तरे स्फुटं स्फुटतरं च व्यञ्जन्तीति नोत्तरेषामानर्थक्यम्। यद्येवम्--ततो य एवोत्तरे नादाः स्फुटाभिव्यक्तिसमर्थास्तैरेव भवितव्यम, अलं पूर्वैः।

ननु न कश्चिदपि नादः स्वतोऽस्य स्फुटाभिव्यक्तिं करोति, किं तु सर्वे ते प्रत्येकं व्यञ्जकाः। स तु न द्रागेव स्फुटमवभासते। प्रथममस्फुटावभासितः सन्, पुनः पुनः श्रूयमाणः स्फुटो भवति, तद् यथा दूरादवस्थितः सहकारः प्रथमं हस्तिपलालकूटादि-साधारणरूपेण प्रतिभातः पुनरालोच्यमानो वृक्षात्मना प्रकाशते, पुनः सहकारात्मना

शंका—अच्छा मान लिया प्रत्येक ध्वनि शब्दको अभिव्यक्त करती है, इस पक्षमें पूर्वनादसे ही शब्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है। तब उत्तर नाद व्यर्थ हो जाएगा। उत्तर—यह नहीं कह सकते, क्यों कि पूर्व-पूर्व नाद शब्दको अस्पष्ट रूपसे व्यक्त करते हैं। उत्तर उत्तर नाद स्फुट-स्फूटतर व्यक्त करते हैं, अत: उत्तर नादोंको निरर्थक नहीं कह सकते। शंका—ऐसा माननेपर जो उत्तर नाद हैं, वे ही स्पष्ट रूपसे शब्दको अभिव्यक्त करनेमें, समर्थ हैं, तब उन्हींको मानिए, पूर्वकी क्या आवश्यकता है? कोई नाद स्वत: शब्दको स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त नहीं करता, किन्तु प्रत्येक नाद शब्दको व्यक्त करता है। शब्द शीघ्र ही स्पष्ट भासित नहीं होता। पहिले अस्फुट रूपसे भासित होकर, पुन: पुन: श्रवणसे स्फुट होता है। इसीका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं 'तद्यथा' इत्यादि से। जैसे दूरस्थित आमका पेड़ पहिले हाथी या पुआलके वे ढेर आदिके समान मालूम पड़ता है। फिर विचार करनेपर वृक्षके रूपमें भासित होता है। फिर आमके रूपमें स्पष्ट होता है, इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना

क्यों? नानात्व, एकत्व एक वर्णमें सम्भव नहीं। विरुद्ध होनेके कारण। यदि कहा जाए एकार्थ होनेके कारण एकत्व व्यवहार होता है, तो नहीं कह सकते; इससे अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। अत: स्फोटवाद अनुपपन्न है, क्योंकि वर्ण ही श्रोत्रसे गृहीत होते हैं। इसीलिए भाष्यकारने कहा है—

'श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य वस्तुमें 'शब्द' शब्दका प्रयोग होता है। यह तो वर्ण ही है, स्फोट नहीं। अत: स्फोटको शब्द नहीं कह सकते। शब्दसे अर्थ प्रतीति होती है, यह तो सर्वलोक सम्मत है। वर्णोंके आशुतर विनाशी होनेसे संस्कार द्वारा उनका साहित्य माना जाता है। इसलिए भाष्यकारने कहा है पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभवसे संस्कार होते हैं। उनसे युक्त होकर अन्तिम वर्ण अर्थका प्रत्यायक होता है 'पूर्व-पूर्व जनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः, इत्यदोषः'। यहाँ दो पक्ष हैं, अन्तिम वर्ण ही अर्थका प्रत्यायक होता है, या विचित्र बुद्धि प्रत्यायक होती है। अन्तिम वर्ण ही बोधक होता है इस प्रथम पक्षमें शब्दसे अर्थ समझते हैं, यह उपपन्न होता है। दूसरे पक्षमें अन्तिम वर्ण प्रत्यक्ष है, वह सत् है। और पूर्व वर्ण अतीत होनेसे असत् है। अत: वे असद्रूप हैं। इन दोनों पक्षोंका विवेचन कुमारिल भट्टने इस प्रकार किया है—

चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम्। केचिदाहुर्यथावर्णो गृह्यतेऽन्त्यः पदे पदे॥
तथान्त्यवर्णेऽपि विज्ञाते सर्वसंस्कारकारितम्। स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते॥ इति

(श्लोकवा० स्फोटवाद, का० १११–११२)

स्फुटो भवति, तद्वदेव द्रष्टव्यम्।

यद्येवं य एव ते पूर्वे नादास्तैरेवाभ्यस्यमानैरीदृशी स्फुटाभिव्यक्तिः स्यात्। उत्तरैर्वा केवलैरभ्यस्यमानैः, तत्र विजातीयनादाश्रयणमनर्थकम्।

तथा प्रत्येकं हि व्यञ्जकत्वे सत्युत्तरैरस्फुटाभिव्यक्तिः, पूर्वैश्च स्फुटाभिव्यक्तिः स्यादिति व्युत्क्रमेणाप्युच्चारणं स्यात्, अतोऽपेक्षितक्रमविशेषाऽनेकविजातीयनाद-समुच्चयाश्रयणादवश्यं पूर्वनादाहितसंस्कारसहितान्तिमनादाभिव्यङ्ग्यः स्फोट इत्यवश्या-ङ्गीकर्तव्यमिति तुल्या संस्कारकल्पना। यद्वा तवैवेयं संस्कारान्तरकल्पना। मत्पक्षे तु स्मृतिहेतुभिरेव संस्कारैः सिध्यत्यर्थावगतिरिति न संस्कारान्तरं कल्पयितव्यम्।

ननु ममापि त एव भविष्यन्ति? न, तेषां स्मृतेरन्यत्राव्यापारात्। मत्पक्षे तु[1] स्मृतिमेव जनयन्तोऽर्थप्रतिपत्तिं संस्कारा जनयन्ति। तथा हि—प्रत्येकवर्णानुभव-भावितैः संस्कारैः संहत्य सर्ववर्णगोचरैका स्मृतिर्जन्यते। तस्यां च युगपदवभासमाना वर्णा विनैव संस्कारान्तरेण संहत्यार्थप्रत्ययं जनयन्ति[2]।

चाहिए॥।

शंका—ऐसा माननेपर जो पहिले नाद हैं, उन्हींका अभ्यास करनेपर ऐसी स्पष्ट अभिव्यक्ति होगी? या केवल उत्तर नादोंका अभ्यास करनेपर? उसमें विजातीय नादोंको मानना व्यर्थ हो जाएगा। ऐसे प्रत्येक नादको व्यंजक माननेपर, उत्तर नादोंसे अस्फुट अभिव्यक्ति होगी। पूर्वनादोंसे स्फुटरूपसे अभिव्यक्ति होगी। अतः विपरीत क्रमसे भी वर्णोंका उच्चारण होने लगेगा। इसलिए क्रम विशेष अपेक्षित है। अनेक विजातीय नादोंका समुच्चय माननेपर अवश्य ही पूर्वनादसे संस्कार होता है। उसके साथ अन्तिम नादसे स्फोट अभिव्यक्त होता है, यह मानना आवश्यक है। अतः संस्कार कल्पना दोनों मतोंमें समान है। ('यद्वा' इत्यादिसे दूसरा समाधान देते हैं) अथवा आप स्फोटवादी वैयाकरणके मतमें ही दूसरे संस्कारकी कल्पना अधिक है। (वर्णात्मक ही शब्द है, ऐसा माननेवाले) मुझ सिद्धान्तीके मतमें तो स्मृतिके कारण जो संस्कार हैं, उन्हींसे अर्थका ज्ञान हो जाता है। अतः दूसरे संस्कारकी कल्पना नहीं करनी चाहिए।

शंका—मेरे मतमें भी वे ही संस्कार होंगे (अर्थात् आप सिद्धान्तोके मतमें जैसे स्मृतिके जनक संस्कारोंसे अर्थज्ञान होता है, वैसे मेरे पक्षमें भी वे ही संस्कार अर्थ-ज्ञानके जनक होंगे, यह स्फोटवादीका आशय है)

उत्तर—यह नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृतिके जनक संस्कार स्मृतिको ही उत्पन्न कर सकते हैं, अन्यत्र उनका व्यापार नहीं होता। सिद्धान्तवादी मेरे मतमें तो संस्कार स्मृतिको उत्पन्न करते हुए, अर्थज्ञानके भी जनक होते हैं; इसी बातको 'तथाहि'से कहते हैं। प्रत्येक वर्णके जो श्रावण रूप अनुभव हैं, उनसे संस्कार होते हैं। वे ही मिलकर सभी वर्णोंको विषय करनेवाली एक स्मृतिको उत्पन्न करते हैं। उस स्मृतिमें एक कालमें सभी वर्ण भासित होते हैं। वे ही बिना दूसरे संस्कारके

॥ नादैराहतबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्ति परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ (वाक्यपदीय, का० १, श्लोक ८५)

---

१. मत्पक्षे तु इत्यस्यानन्तरं स्मृतिर्जन्यते, तस्याञ्च युगपदवभासमाना वर्णा विनैव संस्कारान्तरेण संहत्य, इत्यधिकः पाठः 'ख' पुस्तके दृश्यते २. संहत्य, अर्थं प्रत्याययन्ति-इति 'ख' पुस्तके पाठः।

त्वत्पक्षे तु नैवं सम्भवति। तथा हि--नादा हि न ज्ञायमानतया स्फोटं व्यञ्जयन्ति अश्रावणत्वात्। अगृहीतत्वादेव च न स्मर्यमाणानां व्यञ्जकत्वम्, येन वर्णवत्स्मर्यमाणाः कार्यं कुर्वन्तीत्युच्येत। सत्तया हि ते श्रोत्रसंस्कारं कुर्वन्तः शब्दं व्यञ्जयन्ति, न च युगपत् सत्तास्ति क्रमवर्तित्वात्, अतः संस्कारद्वारमेव साहित्यमित्यवर्जनीयं संस्कारान्तरकल्पनम्।

अथ मतम्--सत्यं न स्मृतिहेतुभिः स्फोटाभिव्यक्तिः, ये तु वर्णोपलब्धिहेतवो नादजन्याः श्रोत्रगताः संस्कारास्तैरेव वर्णानामिव स्फोटाभिव्यक्तिर्भविष्यति, किं संस्कारान्तरकल्पनयेति? तदयुक्तम्--तेषां क्षणिकत्वात्। न ह्याद्यवर्णोपलब्धिहेतुः संस्कारोऽन्त्यवर्णश्रवणवेलायामवतिष्ठते। यद्यवतिष्ठेत[1]? ततो विसर्जनीयश्रवण-वेलायामपि गकारश्रवणमनुवर्तेत, तस्मात् क्षणभङ्गिनस्ते, अतो न तेषां संहत्य स्फोटा-भिव्यञ्जकत्वं भवति। प्रत्येकाभिव्यक्तौ चोत्तरोत्तरेषामनर्थकत्वमित्युक्तम्।

अर्थज्ञान उत्पन्न करते हैं॥। आपके मतमें तो ऐसा नहीं होता। क्यों कि नाद (शब्दवाच्य ध्वनियाँ) ज्ञात होकर स्फोटको व्यक्त नहीं करती; अश्रावण होनेके कारण। अगृहीत होनेसे नादोंकी व्यंजकता नहीं हो सकती। यदि होती तो वर्णकी तरह स्मृतिका विषय होकर, अपने अभिव्यक्तिरूप कार्य को करती हैं, ऐसा कह सकते थे। किन्तु ध्वनियाँ विद्यमान होकर श्रोत्रका संस्कार करते हुए, स्फोट रूप शब्दको व्यक्त करती हैं।

शंका—ध्वनियाँ एक कालमें स्फोट रूप शब्दको व्यक्त नहीं करतीं। उत्तर—ध्वनियोंकी एक कालमें सत्ता नहीं, क्रमसे होनेके कारण। इसलिए स्वरूपतः कारण न होनेसे संस्कार द्वारा ही सहभाव कहना होगा। अतः दूसरे संस्कारकी कल्पनाका परित्याग नहीं किया जा सकता (अर्थात् कल्पना करनी आवश्यक है) शंका—यदि कहा जाए स्मृतिके कारण संस्कारोंसे स्फोटकी अभि-व्यक्ति नहीं होती, किन्तु जो वर्णानुभवके हेतु हैं और ध्वनिसे जन्य जो श्रोत्रके संस्कार हैं, उन्हींसे वर्णोंकी तरह स्फोटकी अभिव्यक्ति हो जाए? दूसरे संस्कारकी कल्पनासे क्या प्रयोजन? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं) उत्तर—यह ठीक नहीं, वे क्षणिक हैं। प्रथम वर्णके अनुभवसे जन्य जो संस्कार हैं, वे अन्तिम वर्णके श्रवण-कालमें है ही नहीं। यदि रहेंगे तो विसर्गके श्रवण-कालमें भी गकारका श्रवण निरन्तर होना चाहिए था। अतः ध्वनियाँ एक क्षणमें नष्ट होती हैं। इसलिए वे सब मिलकर स्फोटको अभिव्यक्त करती हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं। प्रत्येक ध्वनि स्फोटको अभिव्यक्त करती है, इस पक्षमें उत्तरोत्तर नादोंकी निरर्थकता कही गई है।

॥ अर्थात् जैसे सर्वत्र संस्कार निरपेक्ष होकर ही, अपने स्मृतिरूप कार्यको उत्पन्न करते हैं, वैसे प्रकृतमें भी सभी वर्णोंको विषय करनेवाली एक स्मृति उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रत्येक वर्णका अनुभव जन्य संस्कार एक एक वर्ण विषयक स्मृतिको ही उत्पन्न करता है, तथापि वे सब मिलकर एक ही विषयका अवगाहन करनेवाली स्मृतिको उत्पन्न करते हैं, प्रत्यभिज्ञाकी तरह। जैसे संस्कार चक्षुरादि इन्द्रिय निरपेक्ष होकर, अनुभवका कारण होते हैं, किन्तु 'स एवायं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञामें दोनों परस्परापेक्ष होकर स्मृति, अनुभव विषयक ज्ञानको उत्पन्न करती है। वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

---

१. अवतिष्ठत इति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

अथ वा ध्वनिसंयोग एव श्रोत्रसंस्कारो, नान्यः, तस्य च विस्पष्टमेव भङ्गुरत्वं गत्वरत्वाद् ध्वनीनाम्। तस्मादन्ये स्थायिनः संस्काराः कल्प्याः, तथा वर्णातिरिक्तः शब्दः कल्प्य इति बहुप्रमाणकमापन्नम्। मत्पक्षे तु दृढस्मृतिविपरिवर्तिनां वर्णानां वाचकत्वान्न[1] किञ्चिद् दूषणम्।

ननु युगपत्स्मर्यमाणानां वाचकत्वे व्युत्क्रमेणाप्युच्चारिता वर्णा वाचकाः स्युः? न, तत्क्रमस्याप्यङ्गत्वात्। कः पुनः क्रमोऽङ्गम्? न हि वर्णानां विभूनां नित्यानां च स्वरूपतः क्रमवत्त्वम्। न हि तत्र[2] प्रतीतिक्रमः—तस्याः स्मृतिरूपाया एकत्वात्। एवं तर्हि ध्वनिक्रमो यो वर्णेष्वारोपितः, प्रतिभासते सोऽङ्गमित्यदोषः। तस्माद् व्यञ्जकानां ध्वनीनां क्रमेण व्यङ्ग्येषु वर्णेषु समारोपितेन तद्वन्तः स्मर्यमाणा वर्णा वाचकाः, नान्यः शब्दोऽस्तीति सिद्धम्॥ इतिस्फोटवादः॥

('अथवा' से दूसरा समाधान देते हैं कि वर्णानुभवजन्य संस्कारकी कल्पना भी नहीं है, किन्तु) श्रोत्र और ध्वनिका संयोग ही वर्णोपलब्धिका हेतु है, दूसरा नहीं। उत्तर—श्रोत्र-ध्वनि-संयोग तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है। अतः वह स्फोटको व्यक्त नहीं कर सकता। ध्वनियाँ गत्वर हैं (क्षणमें नष्ट होनेवाली है) अतः क्षणिक हैं। इसलिए दूसरे स्थायी संस्कार मानने पड़ेंगे। और वर्णातिरिक्त स्फोट शब्दकी भी कल्पना करनी होगी। इस प्रकार बहुतसे अप्रामाणिक पदार्थ आ पड़ेंगे। मेरे (सिद्धान्त) पक्षमें तो अबाधित स्मृतिसे उपस्थित (मनमें आनेवाले) वर्णोंके वाचकत्व होनेसे कोई दोष नहीं*।

शंका—एक कालमें स्मृतिके विषय वर्णोंको वाचक मानने पर विपरीत क्रमसे उच्चारित वर्ण भी अर्थके वाचक होंगे। उत्तर—नहीं, वर्णोंका क्रम भी अंग है। शंका—कौन सा क्रम अंग है? क्योंकि वर्ण तो विभु और नित्य हैं। उनका स्वरूपतः क्रम तो बन नहीं सकता। यदि प्रतीतिका क्रम माना जाए, तो यह भी नहीं कह सकते, उस स्मृतिके एक होनेसे। उत्तर—तब ध्वनिका जो क्रम है, और जो वर्णोंमें आरोपित होकर भासित होता है, वही, ध्वनि क्रम अंग है। अतः कोई दोष नहीं§। (अब उपसंहार करते हैं) इसलिए वर्णोंको व्यंजक ध्वनियोंके क्रमके व्यंग्य वर्णोंमें आरोपित होनेसे, क्रमसे स्मृतिके विषय वर्ण ही वाचक होते हैं। दूसरा स्फोट शब्द नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

(इस प्रकार स्फोटवाद प्रकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

---

* यहां शंका है कि 'ननु' इत्यादि ग्रन्थसे, संस्कार अर्थज्ञानके जनक होते हैं, यह कहा गया है। अब उपसंहारमें कहते हैं कि 'वर्णा वाचकाः' वर्ण ही अर्थके वाचक हैं। यह पूर्वापर विरोध है। इसका उत्तर है कि यह विरोध नहीं। क्योंकि पूर्वमें 'तथाहि' इत्यादि विवरण ग्रन्थमें वर्णोंका ही अर्थ बोधकत्व बताया गया है, संस्कारका नहीं। अन्तमें भी वर्णोंकी ही वाचकताका निर्देश किया गया है। अतः कोई विरोध नहीं।

§ अर्थात् वृद्धव्यवहारसे जितने वर्ण जिस क्रमसे उच्चारित हैं और जिस अर्थके बोधक हैं, उनका ज्ञान होने पर, उन वर्णोंका वही अर्थ होगा। अर्थात् क्रम, साहित्य, एक वक्तृकत्व आदि सब विवक्षित होंगे। तब विपरीत क्रमसे उच्चारणका प्रसंग ही नहीं है। अतः उपर्युक्त दोष लागू

---

१. बोधकत्वादिति 'ख' पुस्तके पाठः। २. तत्रेति 'क' 'ग' पुस्तकयोर्नास्ति।

पदार्थ (जाति) निरूपणम्

'अथ गौरित्यस्य[१] शब्दस्य कोऽर्थः' इति वाच्यनिरूपणोपक्रमव्याजेनाकृति-सद्भावं प्रतिपादयति सम्बन्धनित्यत्वसिद्धये न ह्यसत्यामाकृतौ व्यक्तिभिः शब्दस्याऽपौरुषेयः संबन्धः सिध्यति, तासामनित्यत्वात्, उपलक्षणस्यापि नित्यस्याऽभावादाकृत्यभावे, तस्मादाकृतिरस्ति नास्तीति विचार्यते । साधिते तु तत्सद्भावे सैव शब्दाभिधेयेति आकृत्यधिकरणे[२] वक्ष्यते[३] ।

भाष्यकारने सम्बन्ध-नित्यताका उपपादन करनेके लिए 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' ऐसे प्रश्न पूर्वक वाच्य-स्वरूपका निरूपण किया । तदनन्तर 'अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः' ऐसा कहकर प्रसंग-संगतिते वाच्य स्वरूपका निरूपण किया । ग्रन्थकारने तो संगतिके स्फुट होनेसे, उसे न कहकर, आकृति है, इसके निरूपणका प्रयोजन बताया है । 'गौ' इस वाच्य निरूपणारम्भके व्याजसे आकृति सद्भावका प्रतिपादन किया है । इसका प्रयोजन है सम्बन्धका नित्यत्व सिद्धकरना । आकृति न होने पर व्यक्तियोंके साथ शब्दका अपौरूषेय सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता । क्योंकि वे अनित्य हैं । और उपलक्षण भी नित्य नहीं है, इसलिए आकृतिके अभावमें सम्बन्ध नित्य नहीं सिद्ध होता । अब आकृति है या नहीं ? यह विचार करते हैं । आकृतिके सिद्ध होनेपर वही शब्दकी वाच्य है, इस विषयका विवेचन पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा सूत्रकार आकृत्यधिकरणमें कहेंगे॰ ।

॰ यहां आकृति शब्दसे जाति अभिप्रेत है, अवयव संस्थान नहीं । भाष्यकारने भी, 'द्रव्यगुण-कर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः' ऐसा कहा है । आक्रियते निरूप्यते द्रव्यं यया' इस व्युत्पत्तिसे आकृति शब्द जातिका वाचक है । इसलिए वार्तिककारने भी जातिको ही आकृति कहा है । आकृतिसे भिन्न अर्थमें सम्बन्ध तथा उसकी नित्यता नहीं सिद्ध होगी, ऐसा मानकर यहाँ आकृतिको वाच्य कहा गया है । यथा—

जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया ।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥ (श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, का० ३)

नहीं होता । वार्तिककारने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—
यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने । वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ।
तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति । साहित्यमेकवक्त्रादिक्रमश्चापि विवक्षितः ॥
(श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद, का० ६९-७०)

---

१. वाच्यनिरूपणोपक्रमस्तु विचारसंगतिसिद्ध्यर्थमिति ध्येयम् ।

२. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वादित्यत्र सूत्रकारः आकृतेरभिधेयत्वं स्थापयिष्यति । अत्र आकृति-सद्भावप्रतिपादनेन, आकृतेरभिधेयत्वे साधिते क्रियायामनुपयोगात्पुनः अनभिधेयत्वमाशंक्य, उपयोगप्रतिपादनेन तस्या एवाभिधेयत्वं सूत्रकारो वक्ष्यतीत्यर्थः ।

३. अत्र संस्थानमाकृतिः । तच्च प्रतिपिण्डं भिन्नमेवेति तदभिधेयत्वेऽपि न सम्बन्धनित्यत्वं सिध्यति । इति । तन्नैवम् । जातेरेवाकृतिशब्देनाभिधानात् । तच्च जातिरूपं सारूप्यरूपं अपोहरूपं वा ? तत्सद्भाव एवात्र साध्यत इति ।

बौद्धमतेन जातिनिरासः (जातिविषये पूर्वपक्षः)

तत्र सौगताः स्वलक्षणमेव परमार्थं मन्यमाना नाकृतिसद्भावं मन्यन्ते।

तथा हि--पृथक्त्वे व्यक्तितो जातिर्दृश्येत पृथगेव सा।
अभेदे व्यक्तिमात्रं स्याद् द्वेधा चेन्न विरोधतः॥ १३॥

नहि सैव ततोऽन्या चाऽनन्या च सम्भवति, विरुद्धत्वाद् भेदाभेदयोः। यदि च भिन्ना जातिः, सा सर्वगता व्यक्तिष्वेव वा? न तावत्सर्वगतत्वम् अन्तरालेऽनुपलब्धेः। व्यक्तिस्था चेत्? व्यक्तावुत्पन्नायां तस्मिन् देशे प्रागसती कथं तस्यामुपलभ्यते? न तावत् तत्रोत्पद्यते नित्याया उत्पत्त्ययोगात्। न च व्यक्त्यन्तरादागच्छति, अमूर्तत्वात्। तस्मिंश्च व्यक्त्यन्तरेऽनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न चांशेनागतांशेन च तत्रैव स्थितेति शक्यं वक्तुम्, निरंशत्वात्। एवं व्यक्तिनाशे--न च तत्रैव पश्चादवस्थिता, अनुपलब्धेः। न विनष्टा, नित्यत्वात्। न चान्यत्र याति, अमूर्तत्वात्। व्यक्त्यन्तरे च पूर्वमेवावस्थिता जातिरिति पुनः प्रवेशे द्विगुणोपलभ्येत।

यथाहुः—'नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः'॥ इति।
(प्र० वा०, प० ३, का० १५ –५२)

(उक्तार्थमें बौद्धोंको विप्रतिपत्ति है, उसीका उपपादन करते हैं। 'तत्र सौगताः' इत्यादिसे) बौद्ध स्वलक्षणको ही परमार्थ मानकर, पृथक् जातिकी सत्ता नहीं मानते। उसीका उपपादन करते हैं 'तथाहि' से। श्लोकका अर्थ = व्यक्तिसे जातिके अतिरिक्त होने पर, जाति अलग दिखाई देगी। जाति और व्यक्तिके अभेद पक्षमें तो व्यक्ति मात्र हो होगी। भेदाभेद दोनोंका होना असम्भव है, विरोध होनेसे॥ १३॥

(इस प्रकार संक्षेपसे श्लोकार्थ कहकर, उसीका विश्लेषण करते हैं) जाति व्यक्तिसे भिन्न भी हो अभिन्न भी, ऐसा नहीं हो सकता, भेद और अभेदका विरोध होनेसे। यदि जाति व्यक्तिसे भिन्न है तो वह सर्वगत है या व्यक्ति मात्रमें ही रहती है? ये दो विकल्प हैं। इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं। अर्थात् जाति सर्वगत है, यह नहीं कह सकते, बीचमें उपलब्धि न होनेके कारण। तब दूसरा पक्ष मानिए, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि व्यक्तिके उत्पन्न होने पर उसी देशमें पहिले जाति नहीं थी, अब उस व्यक्तिमें कैसे उपलब्ध होगी?

शंका—यदि कहा जाए वहाँ जाति उत्पन्न होती है। उत्तर—यह नहीं कह सकते, वह नित्य होनेके कारण, उत्पत्तिके योग्य नहीं। यदि कहा जाए दूसरे व्यक्तिसे आती है, तो यह भी नहीं कह सकते, अमूर्त होनेके कारण। और इस पक्षमें दूसरे व्यक्तिमें जातिकी अनुपलब्धि होने लगेगी। शंका—यदि कहा जाए जाति एक अंशसे आती है, दूसरे अंशसे वहीं रहती है। उत्तर—यह नहीं कह सकते, जातिके निरवयव होनेके कारण। इसी प्रकार व्यक्तिका नाश होने पर बादमें वहीं रहती है, यह नहीं कह सकते, ज्ञान न होनेके कारण। यदि कहा जाए नष्ट हो गई, यह भी नहीं कह सकते, नित्य होनेके कारण। शंका—जाति अन्यत्र चली जाती है, यह नहीं कह सकते, अमूर्त होनेके कारण। और दूसरे व्यक्तिमें पहिले जाति है ही, दूसरी जातिके पुनः प्रवेशसे दुगनी दिखाई देनी चाहिए। इसी बातको बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने कहा है—'नायाति' इति (श्लोक ऊपर देखिए)

व्यक्तौ च वर्तमाना यद्येकस्यां व्यक्तौ कात्स्न्र्येन वर्तेत व्यक्त्यन्तरेषु न स्यात्। न ह्येका सती युगपदनेकत्र कात्स्न्र्येन वर्तितुं शक्नोति। न चाऽवयवशो वर्तते, निरवयवत्वात्। कथं च नानाविधास्वतीतानागतवर्तमानासु व्यक्तिष्ववयवशो वृत्तिः सम्भाव्येत। व्यक्तौ च वर्तमाना इहप्रत्ययमनुभवेत्, न च इह गोत्वमिति कस्यचित् प्रतीतिरस्ति किन्तु इयं गौरिति।

अथ व्यक्तेरात्मैव जातिर्न तदाधारं वस्त्वन्तरमिति चेत्? नैवं युक्तम् कथं हि नानाभूतानामनित्यानां व्यावृत्तस्वभावानामेकरूपा नित्याऽनुवृत्तिस्वभावा च जातिरात्मा स्यात्? त्रैलोक्यसङ्करप्रसङ्गात्।

आकृतिसद्भावे प्रमाणाक्षेपः

न च प्रमाणमपि किंचिदाकृतिसद्भावे सम्भवति, न तावत् प्रत्यक्षम्, न हि जातिः स्वविषयं ज्ञानं जनयति नित्यत्वाभ्युपगमात्। नित्यानां च सर्वार्थक्रियास्वसामर्थ्यात्। न चाऽजनकस्य विषयत्वं सम्भवति, तल्लक्षणत्वाद्विषयत्वस्य। तस्माद्विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, अलीकं वा।

अर्थ = जाति कहींसे आती नहीं। वहीं जाति थी, यह नहीं कह सकते। व्यक्तिके उत्पन्न होने पर जाति आती है, यह भी नहीं कह सकते। यह अंशवती है, यह भी नहीं कह सकते। यह पूर्व आधारको छोड़ती नहीं, इस प्रकार निरन्तर दुःखकी परम्परा जातिवादीके मतमें आ जाएगी। और सुनिए—व्यक्तिमें रहने वाली जाति एक व्यक्तिमें सम्पूर्ण रूपसे रहेगी, ऐसा मानने पर, दूसरे व्यक्तिमें नहीं रह सकेगी।

(अन्वय मुखसे कहकर, व्यतिरेक मुखसे कहते हैं) एक ही जाति एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें कात्स्न्र्येन = समग्ररूपसे रहनेमें समर्थ नहीं हो सकेगी। शंका—यदि कहा जाए जाति अवयवशः व्यक्तिमें रहती है। उत्तर—नहीं, निरवयव होनेके कारण। और व्यक्ति अनेक प्रकारके हैं। अतीत, अनागत, वर्तमान भेदसे व्यक्ति अनन्त हैं। उनमें अवयवशः वृत्तिकी सम्भावना कैसे होगी? और व्यक्तिमें रहने पर 'इसमें गोत्व है' ऐसे 'इह' प्रत्ययका अनुभव होना चाहिए, पर 'यह गोत्व है' ऐसा अनुभव किसीको होता नहीं। (यह गौ है, ऐसा ही अनुभव होता है)

शंका—जाति व्यक्तिकी आत्मा ही है। व्यक्तिमें रहने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि नाना, अनित्य और विलक्षण स्वभाववाले व्यक्तियोंकी आत्मा जाति नहीं हो सकती, उसके एक और नित्य होनेसे। तथा जाति अनुवृत्त (अनुगत) स्वभाव है, ऐसा मानने पर त्रैलोक्य संकर होने लगेगा (अर्थात् विलक्षण स्वभाव वालोंके भी एकात्मक होनेसे, सब एकसे हो जाएँगे)

इस प्रकार जातिका निराकरण कर, उसमें प्रमाण भी नहीं है इसका उपपादन करते हैं। 'न च प्रमाणमपि' से। आकृति होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जाति स्वविषयक ज्ञानको उत्पन्न नहीं करती, नित्य माननेके कारण। और नित्य पदार्थोंकी अर्थक्रियामें सामर्थ्य नहीं होती। जो जनक नहीं होता, वह विषय भी नहीं होता। विषय तो ज्ञानका जनक होता है। यही विषयका लक्षण है। अतः जाति विकल्पाकार मात्र ही है। अथवा अलीक है।

ननु यथा ज्ञानवैचित्र्यसिद्ध्यर्थं बाह्यानि स्वलक्षणान्यभ्युपगम्यन्ते, तथा गवाश्वादि-विकल्पवैचित्र्यसिद्धये विचित्राणि सामान्यानि किं नाम नाभ्युपगम्यन्ते? न, विचित्र स्वभावस्वलक्षणदर्शनवशादेव विकल्पवैचित्र्योपपत्तेः।

अर्थशून्या अपि विकल्पा विचित्रार्थक्रियासमर्थस्वलक्षणाभिमानिनो जायमानास्तत्र व्यवहारार्थिनं प्रवर्तयन्तः परम्परया तत्प्रभवतया तत्प्रापयन्तो मणिमिव मणिप्रभाविषय-मणिबुद्धिर्व्यवहाराविसंवादिनो भवन्तीति न लोकयात्रास्थितेः कश्चिद्विरोधः। तस्मान्नास्ति जातिः।

सामान्यनिरासोक्तदूषणानामवयविद्रव्यनिरासेऽतिदेशः

एतेनाऽवयविद्रव्यं प्रत्यूढम्, तस्याप्यवयवभेदादिविकल्पाऽक्षमत्वात्। स्थूलाव-भासस्तु सञ्चितानेकरूपादिपरमाणुवशादेव केशोण्ड्रकाऽवभासवदुपपन्नो[1] नावय-विकल्पनायालम्। तदभावे च निराधारत्वाद् दूरापास्तं गोत्वादिसामान्यम्।

शंका—जातिमें प्रत्यक्षादि प्रमाण न हों, अर्थापत्ति ही प्रमाण होवे। जैसे 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि विचित्र ज्ञानोंकी सिद्धिके लिए बाह्य स्वलक्षण माने जाते हैं, वैसे ही 'यह गौ है, यह अश्व है' इत्यादि विचित्र विकल्पों (सविकल्पक ज्ञानों) की विचित्रताकी सिद्धिके लिए भिन्न-भिन्न सामान्य क्यों नहीं मानते? उत्तर—नहीं, भिन्न स्वभाव वाले स्वलक्षणके दर्शनसे ही विचित्र विकल्पोंकी सिद्धि होनेसे। अर्थ शून्य भी विकल्प, विचित्र अर्थक्रियामें समर्थ स्वलक्षणका अभिमान होनेके कारण, उसमें व्यवहारको चाहनेवाले पुरुषको प्रवृत्त कराते हैं। परम्परया स्वलक्षणसे उत्पन्न होनेके कारण उस विषयकी प्राप्ति कराते हैं। इसमें दृष्टान्त है मणिप्रभामें मणि बुद्धि जैसे मणिको प्राप्त कराती है और व्यवहारको सफल बनाती है, वैसे प्रकृतमें भी स्वलक्षणसे निर्विकल्पक ज्ञान साक्षात् होता है। विकल्पके तो परम्परासे स्वलक्षणसे उत्पन्न होनेके कारण, वह व्यवहारका अविसंवादि होता है। अतः लोक यात्रामें कोई विरोध नहीं; इसलिए जाति नहीं है।

जाति निरासमें दोष बताए गए हैं। उनसे घटादि अवयवि द्रव्यका भी निराकरण हो जाता है। वहाँ भी अवयवसे अवयवि भिन्न है कि अभिन्न? एवं प्रत्येक अवयवमें अवयविकी वृत्ति पर्याप्त है या सब अवयवोंमें मिलकर रहती है? मिलकर रहनेवाले धर्मको व्यासज्य-वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार विकल्प करनेपर दोषोंको सहन नहीं कर सकते।

शंका—(अवयवसे अतिरिक्त अवयविके न होनेपर, स्थूलताका भान कैसे होगा?) उत्तर—स्थूलताका भान अनेक रूपादि परमाणुओंके इकट्ठे होनेसे ही होता है। इसमें दृष्टान्त है केशोण्ड्रक* (बालोंका गुच्छा) जैसे सामने भासता है, उससे कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार स्थूलका भान अवयविकी कल्पना नहीं करा सकता। उसके अभावमें निराधार होनेसे गोत्वादि सामान्य भी दूर निरस्त हुआ।

---

* केशोण्ड्रक पदकी दो प्रकारसे व्याख्याकी जाती है—इनमें प्रथम प्रकार है, कि बहुत दिनोंके अध्ययनसे खिन्न पुरुषको नील और रक्त आदि गुण विशिष्ट केशोंके गुच्छेके समान कोई वस्तु नेत्रोंके सामने दिखाई देती है। अथवा हाथसे नेत्र मलनेपर जो केश-पिण्ड-सा दिखाई देता है,

---

१. केशोंड्रकाभासवदिति 'ख' पुस्तके पाठः।

कथमसत्येकरूपे सामान्येऽत्यन्तविलक्षणानि स्वलक्षणान्यविलक्षणरूपं विकल्पं जनयन्ति? जनयन्ति चेत्? किमिति कानिचिदेव गोविकल्पं जनयन्ति कानिचिदेवाश्वविकल्पम्, न सर्वाणि सर्वम्?

सामान्यवादिनो वा कथं विलक्षणरूपा व्यक्तयोऽविलक्षणसामान्यात्मकत्वं तदाश्रयत्वं तदभिव्यञ्जकत्वं वा भजन्ते? भजन्ति चेद्? किमिति काश्चिदेव व्यक्तयः केनचिदेव सामान्येन संबध्यन्ते न सर्वाः सर्वैः? स्वभावादिति चेद्? अस्माकमपि तुल्यमिदमुत्तरम्।

अथ व्यक्तीनामप्यविलक्षणरूपसामान्यसम्बन्धसिद्ध्यर्थं परमविलक्षणरूपमभ्युपगम्यते, ततस्तेनापि सम्बन्धसिद्ध्यर्थमपरापरसामान्यापेक्षायामनवस्था स्यात्। तस्माद्विकल्पमात्रमेवेदं न परमार्थतः सामान्यं नाम किञ्चित्।

स्वमतेन जातिस्थापनम् (सिद्धान्तः)

अत्राभिधीयते—प्रत्यक्षबलसिद्धस्य सामान्यस्य कुतर्कतः।
न शक्योऽपह्नवः कर्तुं सर्वं विजयते हि तत्॥ १४॥

सर्वेष्वपि वस्तुषु 'इयमपि गौरियमपि गौः' 'अयमपि वृक्षोऽयमपि' इति व्यावृत्ता-

---

शंका—एक रूप सामान्यके न रहनेपर, अत्यन्त विलक्षण जो स्वलक्षण (असाधारण आकार) हैं वे अविलक्षण (भेद रहित) विकल्प (सविकल्पक) ज्ञानोंको कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? उत्तर—यदि अभिन्न विकल्पको उत्पन्न करते हैं, तो क्यों कुछ स्वलक्षण गो विकल्पको उत्पन्न करते हैं और कुछ अश्व विकल्पको उत्पन्न करते हैं। सभी सभीको नहीं? यह बताइए कि सामान्यवादीके मतमें विलक्षणरूप व्यक्ति, अविलक्षण सामान्य, उसके रूपका होना या तदाश्रयता या तदभिव्यंजकताको कैसे प्राप्त करते हैं? यदि प्राप्त करते हैं तो 'क्यों कुछ ही व्यक्ति किसी सामान्यसे सम्बद्ध होते हैं? सब सबसे नहीं? शंका—यदि कहो स्वभावसे (अर्थात् कोई व्यक्ति किसी सामान्यसे सम्बद्ध होता है, जैसे गो व्यक्ति गोत्व सामान्यके साथ। यह उसका स्वभाव है। एकका जो स्वभाव है, वह दूसरेका नहीं हो सकता) इस प्रकार स्वभावको लेकर समाधान करोगे तो यह उत्तर हमारे (बौद्ध) मतमें भी समान है। शंका—व्यक्तियोंके अविलक्षणरूप सामान्य सम्बन्धकी सिद्धिके लिए अविलक्षण रूप माना जाए? उससे उसके सम्बन्धके लिए अन्यान्य सामान्योंकी अपेक्षा होनेपर, अव्यवस्था होगी। इसलिए यह सामान्य विकल्पमात्र ही है। परमार्थतः सामान्य नामक कोई वस्तु है नहीं। (यह पूर्वपक्षका संक्षेप है)

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है—अर्थ=प्रत्यक्ष प्रमाणके बलसे सिद्ध सामान्यको तर्काभाससे छिपा नहीं सकते, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण सबको जीत लेता है ॥१४॥ (अर्थात् प्रत्यक्ष सभी प्रमाणोंसे बलवान होता है। उससे सिद्ध पदार्थको दूसरे प्रमाणसे छिपाया नहीं जा सकता। यह उक्तार्थका संक्षेप है। संक्षेपसे उक्तार्थको कहकर, उसका विस्तार करते हैं 'सर्वेषु' इत्यादि से) सभी वस्तुओंमें

वही केशोण्ड्रक कहलाता है—'यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य पुरुषस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्ड्रकाख्यः कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुरति। अथवा करमृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिन्डावस्था स केशोण्ड्रक इति'

नुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालाऽवस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव तर्काभासं विजित्य, द्वयाकारं वस्तु व्यवस्थापयत् केनाऽन्येन शक्यते बाधितुम्? न हि ततोऽन्यद् बलवत्तरमस्ति प्रमाणम्, तन्मूलत्वात् प्रमाणान्तराणां तद्बाधसामर्थ्याऽभावात्।

किं चानुमानान्यपि सामान्यापेक्षत्वात् सुतरां सामान्यं समर्थयन्ते, न तु बाधितुं शक्नुवन्ति। न हि यद् यदपेक्षं तत् तस्य बाधं शक्नोति कर्तुम्, तद्बाधे हि स्वात्मापि न सिध्येत्, तदपेक्षत्वात्।

तथा हि—भेदाभेदविकल्पेन सामान्यं निराकुर्वताऽवश्यमेवं वक्तव्यम्—'यद्वस्तु तद् भिन्नमभिन्नं वा भवति सामान्यमपि यदि वस्तु स्यात्ततोऽनेनापि भिन्नेनाऽभिन्नेन वा भवितव्यम्। न च द्वेधापि सम्भवति। तस्मादवस्तु' इति। एवं च वदता वस्तुत्वं सामान्यमङ्गीकार्यम्, अन्यथा कथं वस्तुत्वस्य भेदाभेदाभ्यां व्याप्तत्वाद् व्यापकानुपलब्ध्या सामान्यस्य वस्तुत्वं न सम्भवतीति भणितुं शक्यम्।

नन्वौपाधिको वस्तुशब्दो न जातिनिमित्तकः, तत्कथमनेन जात्यापत्तिः?

उच्यते—जातिर्वा भवतूपाधिर्वा, सर्वथा तावत् सामान्यरूपमपेक्षितव्यम्। औपाधिकानामपि मूलोपलक्षणमेकमन्तरेणात्मलाभाभावात्। न च व्यावृत्तैकरसं सर्वं वस्तुजातमभ्युपगच्छतः सौगतस्य क्वचिदपि किञ्चिदप्यनुवृत्तं रूपं सम्भवतीति औपाधिको व्यवहारो दुर्घट एव। तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धं सामान्यं न शक्यमपह्नोतुम्।

यह भी गौ है, यह भी गौ है, यह वृक्ष है, ऐसा अनुगत आकारवाला प्रत्यक्ष होता है जिसका देश-काल और किसी अवस्थामें बाध नहीं होता। वैसा प्रत्यक्ष तर्काभासोंका निराकरण करता है। और दो आकारवाली वस्तुका व्यवस्थापक है। वह दूसरेसे बाधित नहीं होता, क्योंकि उससे बलवान् दूसरा कोई प्रमाण है नहीं। और प्रमाणोंका प्रत्यक्ष ही मूल है, अतः उसको बाधनेमें अन्य प्रमाणोंकी सामर्थ्य नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्षसे जाति सिद्धिको बताकर अनुमानोंके भी सामान्यापेक्ष होनेके कारण, वे भी सामान्यका समर्थन करते हैं, उसका बाध नहीं कर सकते। इसी बातको स्पष्ट करते हैं 'नहीत्यादि' से। जो जिसकी अपेक्षा रखता है, वह उसका बाध नहींकर सकता। अन्यथा उसका बाध होनेसे स्वयं भी सिद्ध नहीं होगा। उसके सापेक्ष होनेके कारण। भेदाभेदके विकल्पसे जो सामान्यका निराकरण करना चाहता है, उसे अवश्य ही यह कहना होगा कि, जो वस्तु है, वह भिन्न या अभिन्न होती है। सामान्य भी यदि वस्तु है, तो वह भी भिन्न या अभिन्न होगी। दोनों प्रकार नहीं हो सकते, इसीलिए वह अवस्तु है। इस प्रकार कहने वालेको सामान्य वस्तु अवश्य माननी होगी। नहीं तो वस्तुत्वके भेद और अभेदसे व्याप्त होनेके कारण, व्यापक भेदाभेदकी अनुपलब्धिसे सामान्यका वस्तुत्व ही नहीं होगा, यह कहना होगा।

शंका—वस्तु शब्द औपाधिक है। (अर्थात् वस्तु शब्दकी उपाधि निमित्त है) जाति निमित्त नहीं। तब इससे जाति कैसे सिद्ध होगी? (यहाँ उपाधि शब्दसे स्वलक्षण वस्तुमें प्रतीयमानत्व ही समझना चाहिए) उत्तर—जाति हो या उपाधि, सर्वथा सामान्यको मानना होगा। औपाधिक जो शब्द हैं, उनके मूलमें एक उपलक्षणके बिना, वस्तुकी स्वरूप सिद्धि नहीं होती। क्योंकि आप बौद्धके मतमें सभी वस्तुएँ भेद प्रधान हैं। (अर्थात् सभी वस्तुएँ अभावात्मक हैं।

विकल्पानां परिहारे प्राभाकरमतम् ।

कः पुनर्विकल्पानां परिहारः? न तावदपरिहृता अपि शक्नुवन्ति सामान्यमपह्नोतुम्, तेषामपि तदपेक्षत्वादित्युक्तम् । तथापि परिहारोऽभिधीयते ।

भेदाभेदविकल्पे तावत् कचिदाहुः—भिन्नमेव सामान्यं व्यक्तिभ्यः । न च पृथगुपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तिसम्बन्धित्वात् । कः पुनः सम्बन्धः? समवायः । कः पुनरसौ? 'अयुतसिद्धानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः'[1] इति केचित् । तत्त्वयुक्तम्—इहप्रत्ययासिद्धेः । इयं गौरिति हि सर्वदा सर्वेषां प्रतीतिः, नेह गोत्वमिति ।

अतः उनमें) कहीं किसी भी अनुगत धर्मका होना सम्भव नहीं । इसलिए औपाधिक व्यवहार भी आपके मतमें नहीं बन सकता । अतः प्रत्याक्षादि सभी प्रमाणोंसे सिद्ध जातिको छिपा नहीं सकते ।

शंका—जातिके निरासके लिए भेद और अभेदके जो विकल्प किए हैं । उनका कैसे परिहार होगा? उत्तर—जब तक विकल्पोंका निवारण नहीं किया जाता, तब तक वे जातिका निवारण नहीं कर सकते । वे सब सामान्यकी अपेक्षा रखते हैं, यह सब पहिले कह चुके हैं, तथापि परिहार कहा जाता है ।

(इस प्रसंगमें वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसकोंके उक्त विरोधका परिहार करते हैं) कुछ लोगों (वैशेषिक तथा प्राभाकरों) का कहना है कि भेदाभेद विकल्पमें व्यक्तिसे सामान्य भिन्न ही है, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है । शंका—जब व्यक्तिसे जाति भिन्न है, तो पृथक् उपलब्धि होनी चाहिए (अर्थात् जैसे घट और पटमें भेद होनेसे कभी घटका, कभी पटका पृथक् ज्ञान होता है, वैसे यहाँ भी होना चाहिए) उत्तर—व्यक्ति सम्बन्धी होनेसे भेदसे उपलब्धिका प्रसंग नहीं । (अर्थात् व्यक्ति और जातिके अयुतसिद्ध होनेसे भेदसे उपलब्धि नहीं होती । घट-पटके युतसिद्ध होनेके कारण, भेद प्रतीति होती है । जाति और व्यक्तिके अयुत सिद्ध होनेसे भेद प्रतीति नहीं होती) शंका—कौनसा सम्बन्ध है? उत्तर—समवाय है । शंका—समवाय क्या वस्तु है? उत्तर—अयुत सिद्ध पदार्थोंकी इह प्रतीतिका जो हेतु है, वही समवाय है* । ऐसा कुछ लोग कहते हैं । यह ठीक नहीं, क्योंकि 'इह' प्रत्यय नहीं सिद्ध है । अर्थात् 'इयं गौः' ऐसे सबको सदा अभेदका

* समवायके सम्बन्धमें यह कणाद महर्षिका सूत्र है 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सः समवायः' (वै० द० ७।२।२६) 'यहाँ यह है' ऐसा व्यवहार जिससे होता है, वही समवाय है । ऐसा समवायका लक्षण किया है । इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए प्रशस्तपादाचार्यने पदार्थ संग्रहमें 'अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यः सम्बन्धः इहेतिप्रत्ययहेतुः स समवायः' इस भाष्यसे समवायका लक्षण किया । इसीको मनमें रखकर शास्त्रदीपिकाकारने कहा है (मूलमें देखिए)

उपर्युक्त भाष्य विषय भेदसे, समवायके दो लक्षणोंका प्रतिपादक है । उनमें पहिला प्रकार है—दोनों सम्बन्धियोंके परस्पर परिहारसे प्रथम क्षयाश्रित युतसिद्ध है । वह जिन दोनोंमें नहीं है, वे अयुत सिद्ध हैं । जैसे तन्तु और पट यह अनित्यके अनुसार अयुतसिद्धिका उदाहरण है । दूसरा पृथग्गतिमत्व युतसिद्धि है, उसके विपरीत अयुत सिद्धि है । जैसे आकाश और परमाणु दोनोंका सम्बन्ध । यह लक्षण नित्यके अनुसार है । यह विभाग भाष्यमें ही कहा गया है । इसका विशेष विवेचन कन्दली टीकामें देखना चाहिए ।

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० सं० १७१ ।

का चेयमयुतसिद्धिः? युतसिद्ध्यभावः। का पुनर्युतसिद्धिः? पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं वा। तदभावोऽयुतसिद्धिः।

यद्येवम्, अवयवावयविनोः सम्बन्धः समवायो न स्यात्, विनाप्यवयविचलनेनाऽवयवानां चलनात्, अवयविनः, अवयवानां च स्वावयवाश्रयत्वात्। तथा सामान्यस्य व्यक्त्याश्रयत्वाद् व्यक्तेश्च स्वावयवाश्रितत्वादस्ति पृथगाश्रयाश्रयित्वमिति[1] समवायानुपपत्तिः। तस्मादेवं वक्तव्यम्--येन सम्बन्धेनाधेयमाधारे स्वानुरूपां बुद्धिं जनयति स्वाकारेण बोधयतीत्यर्थः स सम्बन्धः समवाय इति।

यदि जात्यात्मना व्यक्तिः प्रतीयते ततो जातिव्यक्त्योरभेद एव प्रतीतिबलादापद्यते कथं भेदाभ्युपगमः?

ज्ञान होता है। इसमें गोत्व है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। शंका—अयुत सिद्धि किसे कहते हैं? उत्तर—युतसिद्धिका अभाव। शंका—युतसिद्धि क्या है? उत्तर—पृथग्गतिमत्व या पृथगाश्रयाश्रयितत्त्व। उसका अभाव ही अयुतसिद्धि है*।

शंका—अयुतसिद्धका सम्बन्ध समवाय माननेपर अवयव और अवयविका सम्बन्ध समवाय नहीं होगा। बिना अवयविके चलनसे अवयवोंका चलन होता है। (अतः पहिला लक्षण अव्यापक है। इसी प्रकार दूसरा लक्षण भी अव्यापक है, क्यों कि) अवयवि अपने अवयवोंमें रहता है। अवयव अपने अवयवोंमें रहता है। (जैसे घट कपालमें रहता है; कपाल कपालिकामें रहता है) इसी प्रकार सामान्य व्यक्तिमें आश्रित होनेके कारण, व्यक्ति अपने अवयवोंमें आश्रित होकर रहेगा। पृथगाश्रयका आश्रितत्त्व है ही, अतः समवायकी अनुपपत्ति है। (जो अयुतसिद्धिका लक्षण किया है, वह ठीक नहीं, अतः प्रकारान्तरसे समवायका निरूपण होना चाहिए। उसीको कहते हैं) 'तस्मादेवं' इत्यादि से। जिस सम्बन्धसे आधेय गोत्वादि, आधार गो व्यक्तिमें, स्वानुरूप=गोत्वके अनुरूप, अर्थात् यह गो है, इत्याकारक स्वानुरूप बुद्धि उत्पन्न करता है, वह सम्बन्ध समवाय है।

* पहिलेका उदाहरण है आकाश और परमाणु। दूसरेका उदाहरण है तन्तु और पट। उपर्युक्त दोनों लक्षणोंके असम्भव दोष ग्रस्त होनेसे ग्रन्थकारने स्वाभिमत लक्षण किया। यानी सामान्यसे सम्बद्ध हो व्यक्ति उत्पन्न होता है। उन दोनोंका सम्बन्ध ही समवाय है, यह सिद्ध हुआ। इससे जाति व्यक्तिसे भिन्न होनेपर भी पृथग् उपलब्धि उसकी नहीं होगी।

उदयनाचार्यने तो 'अयुतसिद्धानां सम्बन्धः' इतना ही लक्षण किया है। इससे नित्य सम्बन्ध समवाय है, यह बताया गया है। 'इह प्रत्यय हेतु' से प्रमाणका निर्देश किया है। 'आधाराधेयभूतानां' से विषयका निर्देश है।

व्याख्याकार नारायणने भाष्यके अनुरूप पृथगाश्रयाश्रयित्व पृथग्गतिमत्वभेदसे अयुतसिद्ध दो प्रकारका होता है, यह कहकर, कन्दलीकार सम्मत समुच्चय पक्षका निरासकर, विषयभेदसे समवायके दो लक्षण माने हैं। मूलोक्त समवाय लक्षणका अनुकरण प्रकरण पञ्चिकामें देखना चाहिए। वहाँ—'प्रतीत्य ह्याधारमाधेयञ्च सम्बन्धं प्रतीयात्' इत्यादि कहा है।

(प्रकरणपंचिका, पृ० ९३-९४)

---

१. पृथगाश्रयत्वमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

उच्यते—गौरयं शाबलेयो गौरयं बाहुलेय इत्युभयत्र गवाकारोऽनुवर्तमानो दृश्यते। शाबलेयबाहुलेयाकारौ तु व्यावर्तेते। तद् यदि तयोः शाबलेयगवाकारयोरभेदः स्यात् एकानुवृत्तावितरोप्यनुवर्तेत, तद्व्यावृत्तौ वा गवाकारोपि व्यावर्तेत। किं च तस्यामेवव्यक्तावियं गौरिति गवात्मना प्रतीयमानायामपि नेयंबुद्धिगोबुद्ध्योर्गौगौरितिवत् पर्यायत्वं प्रतीयते, तस्मान्नाऽभेदः।

कथं तर्हि ताद्रूप्यं व्यक्तेः प्रतीयते? इदमेव हि ताद्रूप्यं व्यक्तेर्यत् तत्समवायः सम्बन्धः, तस्यैष महिमा येनाधारमाधेयं स्वबुद्ध्याऽनुरञ्जयति, तस्माददोषः। अथवा तादात्म्यप्रतीतेरभेदोप्यस्तु पूर्वोक्तन्यायेन भेदोपि, तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्।

ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्? न विरोधः सहदर्शनात्। यदि हि 'इदं रजतं नेदं रजतम्' इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयातां ततो विरु-

---

('स्वानुरूपां' पदकी ग्रन्थकार स्वयं व्याख्या करते हैं) स्वाकारसे बोधन करता है, इत्यादि। शंका—यदि जात्याकारसे व्यक्तिका भान होता है, तो जाति और व्यक्तिका अभेद ही प्रतीतिके बलसे सिद्ध होता है। तब भेद कैसे मान सकते हैं? उत्तर—यह साँवली गौ है, यह चितकबरी गौ है, इन दोनोंमें गौका आकार अनुगत दिखाई देता है, साँवला और चितकबरा आकार, दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि इन दोनों आकारोंका अभेद होगा, तो एक आकारकी अनुवृत्तिमें दूसरा आकार भी अनुगत होगा। एक आकारका भेद होनेपर गौका आकार भी भिन्न होगा। और भी बात है—उसी व्यक्तिमें यह गौ है, ऐसे गौके आकारसे प्रतीत होनेपर भी 'इयं' बुद्धि 'गो' बुद्धि—दोनोंकी पर्यायता नहीं प्रतीत होती। जैसे गौ गौमें पर्यायता प्रतीत होती है। इसलिए अभेद नहीं होगा। शंका—व्यक्तिकी सामान्याकारता कैसे प्रतीत होगी? उत्तर—यही व्यक्तिकी सामान्याकारता है, यही उसका समवाय सम्बन्ध है। (अर्थात् जाति-व्यक्ति दोनोंकी एक रूपता लक्षण सामान्याकारता नहीं है, किन्तु समवाय-सम्बन्ध-लक्षण सामान्याकारता है) यह समवायकी महिमा है, कि जिससे गोत्वादि सामान्य गवादि व्यक्तिको अपनी बुद्धिसे अनुरंजन करता है*। इसलिए जाति-व्यक्तिकी सामान्याकारतामें कोई दोष नहीं। (उसमें समवायकी कारणता होने से। अब 'अथवा' इत्यादिसे पक्षान्तर बताते हैं) या तादात्म्य प्रतीति होनेसे अभेद भी रहे। उपर्युक्त न्यायसे भेद भी रहे। अतः प्रमाण बलसे भेदाभेद ही युक्त है।

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। एक अधिकरणमें दोनों कैसे रह सकते हैं? उत्तर—कोई विरोध नहीं। साथ-साथ दिखाई देनेके कारण (इसीका व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं) 'यदि हि' इत्यादि से। 'यह रजत है' 'यह रजत नहीं है' इसकी तरह एक दूसरेका उपमर्दन करेगा तो भेदाभेद प्रतीत होते। तब परस्पर विरुद्ध होते; किन्तु दोनोंकी परस्पर उपमर्द्य उपमर्दकके रूपमें प्रतीति नहीं होती। सुनिए—'यह और 'गौ' ये दोनों (इयं बुद्धि और गो बुद्धिरूप) ज्ञान एक समयमें भासमान एक वस्तुको दो रूपोंसे सिद्ध करता है। और सामानाधि-

---

* यहाँ अनुरञ्जनका अर्थ है गोत्वाकारका प्रतिपादन करता है। जाति-व्यक्तिके भिन्न होनेपर भी, जो सामान्याकारता प्रतीत होती है, उसमें उन दोनोंका समवाय ही कारण है। मूलमें 'आधेय' पद कर्तृ परक है, 'आधार' पद कर्मपरक है, ऐसा समझना चाहिए।

द्ध्येयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः। इयं गौरितिबुद्धिद्वयमपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्वयात्मकं व्यवस्थापयति—सामानाधिकरण्यं ह्यभेदमापादयति, अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः।

अपेक्षाभेदाच्च, तथा हि—गोरूपेण निरूप्यमाणया जात्या व्यक्तिरभेदेन प्रतीयते 'गौरयं शाबलेयः' इति। यदा तु जातिर्व्यक्त्यन्तरात्मना निरूप्यते, तदेयं व्यक्तिस्ततो भिन्नरूपाऽवसीयते—'योऽसौ बाहुलेयो गौः, सोयं शाबलेयो न भवति' इति।

एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः, द्रव्यरूपेण चाऽभेदः। तथाऽवयविनः स्वरूपेणावयवैरभेदः, अवयवान्तररूपेण त्ववयवान्तरैर्भेद इत्यहनीयम्। तत्र यथा दीर्घह्रस्वादीनां विरुद्धस्वभावानामप्यपेक्षाभेदादेकत्राप्यविरुद्धत्वं प्रतीतिंबलादङ्गीक्रियते, तथा भेदाभेदयोरपि द्रष्टव्यम्, प्रतीत्यविशेषात्।

करण्यतो अभेदको सिद्ध करता है। अपर्यायता तो भेदको। अतः प्रतीति बलसे भी विरोध नहीं।

(अविरोधमें दूसरा कारण बताते हैं कि) अपेक्षा भेद से जैसे कि गो रूपसे निरूपित जातिसे व्यक्ति अभिन्न प्रतीत होता है। यथा यह गौ चितकबरी है। जाति दूसरे व्यक्तिके रूपसे निरूपित होती, तो यह व्यक्ति उससे भिन्न रूपसे निश्चित होता है। जो चितकबरी गौ है, वह सांवली गौ नहीं है। इसी प्रकार धर्मी-द्रव्यका रसादिरूप धर्मान्तरसे भेद है और द्रव्यरूपसे अभेद है। वैसे ही अवयविका स्वरूपसे अवयवोंसे अभेद है। दूसरे अवयवके रूपसे दूसरे अवयवोंसे भेद है, यह समझना चाहिए। इस विषयमें जैसे दीर्घ और ह्रस्व आदिके परस्पर विरूद्ध स्वभाव होनेपर भी अपेक्षाकृत भेदसे एक ही जगहमें अविरोध अनुभवके बलसे माना जाता है, वैसा ही भेदाभेदको भी समझना चाहिए, प्रतीतिमें कोई विशेषता न होने से*।

---

* यहां अपर्याय और सामानाधिकरण्य इन दोनोंसे जाति और व्यक्तिमें भेदाभेद सिद्ध किया। इसी प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् इन सबमें भेदा-भेदको समझना चाहिए। नैयायिकोंने उक्त स्थलोंमें भेद मानकर, समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया है। वह समवाय एक है। उपाधि भेदसे उसमें नानात्व व्यवहार होता है।

प्राभाकर मीमांसकोंके मतमें भी वैसा ही है। अर्थात् भेद है, समवाय सम्बन्ध है। परन्तु समवायमें विशेषता यह है कि वैशेषिक समवायको नित्य मानते हैं। प्राभाकर नित्यमें नित्य, अनित्यमें अनित्य है। साथ ही प्रति सम्बन्धि समवाय भिन्न होता है, संयोगकी तरह। जैसे कि प्राभाकरोंने कहा है—'यच्च पिण्डेभ्यो जातेरभिन्नत्वमुभयरूपत्वं च दूषितं तदस्माकं साहाय्यमेवाचरितम्। को हि नाम सचेतनः पदार्थतान्तरप्रत्यभिज्ञामभेदाश्रये साधयेत्? को वा परस्परविरोधिनी एकस्य द्वे रूपे प्रतिजानीते? भेदवादः पुनरस्माकमपि सम्मत एव। 'जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा। पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता'॥ न च तत्रेह प्रत्ययापत्तिर्दोषः? प्रतीत्य ह्याधारमाधेयं च सम्बन्धं च प्रतीयात्॥ सर्वं च रूपं रूपिग्रहण मन्तरेण न प्रतीयते, अतो न समानेन्द्रियग्राह्यतया जातिरपि व्यक्तिप्रत्ययानुप्रवेशिनोति नेह प्रत्ययसम्भवः' इति।

प्राभाकरमतेन भेदाभेदसामानाधिकरण्ये आक्षेपः

कश्चित् पुनराह—प्रतीतिरेव भेदाऽभेदावभासिनी न सम्भवति, विलक्षणरूपा प्रतीतिर्हि भेदाऽवभासः। अविलक्षणस्वरूपा प्रतीतिश्चाऽभेदावभासः, तद् येन भेदप्रतिभाससमये जातिरूपम्, व्यक्तिरूपं च प्रतीतं तेनाभेदप्रतीतिवेलायां तयोरन्यतरत् प्रत्येतव्यम्, तत्रैकस्य द्विरवभासोयं भवेत्, न पुनरितरेणाभेदः प्रतीतो भवति, तस्मान्नास्ति भेदाभेदयोरेकत्र प्रतीतिः।

तस्य परिहारः

तदिदमसारम्—न हि वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिः, तद्भावेप्यभावात्[1]। प्रथमं व्यक्तिदर्शनेपि ह्यस्ति जातिव्यक्त्योर्द्वयोः प्रतीतिः, न च तदा तयोर्भेदः प्रतीयते। व्यक्त्य-

---

कोइ (प्राभाकर मीमांसक) कहते हैं—भेदाभेदको ग्रहण करने वाली प्रतीति होती ही नहीं, क्योंकि विलक्षण रूप प्रतीति ही भेद ज्ञान कराती है। अविलक्षण स्वरूप प्रतीति तो अभेदका भान कराती है। इस कारणसे व्यक्तिने जिस भेद प्रतिभासके समय स्वरूपसे जाति तथा व्यक्तिको समझा है, उसे अभेद प्रतीतिके समय उनदोनोंमेंसे किसी एकको जानना होगा। उनमेंसे एकका दो बार भान होने लगेगा। दूसरे व्यक्तिसे अभेद ज्ञात नहीं होता, अतः भेद और अभेद दोनोंकी एक अधिकरणमें प्रतीति नहीं होती।

उत्तर—यह निःसार है। दो वस्तुओंकी प्रतीति ही भेद प्रतीति नहीं होती अपितु दो वस्तुओंके रहने पर भी भेद प्रतीति नहीं है। प्रथम व्यक्तिके देखने पर भी जाति-व्यक्ति दोनोंको प्रतीति है। उस समय उनका भेद प्रतीत नहीं होता। दूसरे व्यक्तिके देखनेसे ही जातिका अन्वय होता है। पूर्व व्यक्तिका व्यतिरेक होता है। अर्थात् व्यावृत्ति होती है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे जाति-व्यक्तिके भेदका निश्चय होता है, यह आपका भी सिद्धान्त है। इसी प्रकार देवदत्तको देखकर

भाट्ट मीमांसक तो इन स्थलोंमें भेदाभेद मानते हैं। समवायके स्थान पर तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। न्याय मतमें तादात्म्य सम्बन्ध अपनेमें अपने ही रहनेको कहते हैं। अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध भेद असहिष्णु है। भाट्ट मीमांसक मतमें तो भेद सहिष्णु है। यानी वे भेदाभेदको तादात्म्य मानते हैं। इसीका दूसरा नाम है। अनेकान्तवाद। इस विषयका विवेचन वार्तिकमें इस प्रकार किया है—

'एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना। केनचिद्ध्यात्मनैकत्वं चास्य केनचित्'

अयम्भावः 'गोत्वं हि शाबलेयात्मना बाहुलेयाद्भिद्यते, स्वरूपेण च भिद्यते। तथा व्यक्तिरपि गुणकर्मजात्यन्तरात्मना गोत्वाद्भिद्यते, स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्त्यन्तरादपि व्यक्तिः जात्यात्मना न भिद्यते, स्वरूपेण च भिद्यत इति। अपेक्षाभेदादविरोधः। समाविशन्ति हि विरुद्धान्यपि-एकत्वापेक्षाभेदात्, एकमपि हि किञ्चिदपेक्ष्य ह्रस्वं किञ्चिदपेक्ष्य दीर्घं तथैकोऽपि चैत्रो द्वित्वापेक्षया भिन्नोऽपि स्वात्मापेक्षया न भिद्यते। अनेनैकाऽनेकत्वमपि परिहर्तव्यम्। तदेवं हि वस्तु स्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा चैकमपि शाबलेयादिरूपेणाऽनेकं भवतीति न विरोधः' इति।

(न्यायरत्नाकरव्याख्या, आकृतिवाद, पृ० ५६०-५६१)

---

१. वस्तुद्वयप्रतीतावपि भेदाप्रतीतेरित्यर्थः।

न्तरदर्शनेन तु जातेरन्वयात् पूर्वव्यक्तेश्च व्यतिरेकादन्वयव्यतिरेकाभ्यां जातिव्यक्त्योर्भेदोऽवधार्यते इति भवतोपि सिद्धान्तः। तथा देवदत्तमुपलभ्य कालान्तरे तत्सदृशं यज्ञदत्तं दूरात् पश्यन्, पूर्वोपलब्धं च देवदत्तं स्मरन् वस्तुतस्तद्विलक्षणमेव पुरुषद्वयं प्रत्येति' तथापि न भेदमवधारयति। संशेते हि—'किं स एवायं देवदत्तः, किं वान्यः' इति। तस्माद्वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिरित्ययुक्तम्।

तथा तमेव देवदत्तं कालान्तरे दूरात् पश्यन्नपि 'किं स एवायमुतान्यः' इति सन्दिहानो वस्तुगत्यैकमेव प्रतियन्नपि[1] नाभेदमवधारयितुमलं भवति, तस्मान्न वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिः। नाप्येकवस्तुप्रतीतिरेवाभेदप्रतीतिः, किन्तु, अन्योयमिति बुद्धिर्भेदावभासः, अनन्योयमिति चाभेदावभासः। अस्ति च शाबलेयबाहुलेयावुपलभमानस्य 'अयं गौरयमपि गौः' इत्यभेदावभासः। 'अन्यः शाबलेयाद्बाहुलेयः' इति च भेदावभासः। तस्मादुपपन्नं भिन्नाभिन्नत्वम्।

नन्वनुवृत्ता नित्याऽनुत्पत्तिविनाशधर्मा च जातिः, विपरीतस्वभावा च व्यक्तिः, कथं तयोरैक्यम्? न ह्येकमेव वस्तु—अनुवृत्तं व्यावृत्तं नित्यमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मम्, अतद्धर्मकं च सम्भवति, त्रैलोक्यसङ्करप्रसङ्गात्। जातिरप्येवमनित्यत्वादिधर्मा स्यात्। व्यक्तिरपि नित्यत्वादिधर्मा। नैष दोषः—नानाकारं हि तद्वस्तु केनचिदाकारेण नित्यत्वा-

---

कालान्तरमें उसके समान यज्ञदत्तको दूरसे देखकर, पूर्व ज्ञात देवदत्तका स्मरण कर, वस्तुतः उससे विलक्षण ही दो पुरुषोंको जानता है। तब भी भेदका निश्चय नहीं कर पाता। बल्कि वहां संशय करता है कि क्या वही यह देवदत्त है? या दूसरा है? अतः दो वस्तुओंकी प्रतीति ही भेद प्रतीति है। यह ठीक नहीं।

तथा उसी देवदत्तको कालान्तरमें दूरसे देखकर भी क्या वही यह है? या दूसरा है? यह सन्देह करते हुए, वस्तुतः एकको जानकर भी अभेदका निश्चय करनेमें समर्थ नहीं होता। अतः दो वस्तुओंकी प्रतीति ही भेद प्रतीति नहीं। और न ही एक वस्तुकी प्रतीति ही अभेद प्रतीति है। किन्तु यह दूसरा है यह बुद्धि भेदको विषय करती है। यह दूसरा नहीं है, यह बुद्धि अभेदको विषय करती है। यह देखा जाता है कि सांवली और चितकबरी दो गौओंको देखकर, 'यह गौ है, यह भी गौ है' ऐसा अभेदका ज्ञान होता है। सांवली गौसे चितकबरी दूसरी है यह भेदावभास भी होता है। इसलिए भेदाभेद उपपन्न ही है।

शंका—जाति-व्यक्तिका भेदाभेद मानने पर यह शंका होती है कि जाति नित्य है, अनुगत है, उत्पत्ति विनाश रूप धर्मसे रहित है। व्यक्ति तो इसके विपरीत स्वभाव वाला है। अर्थात् व्यक्ति व्यावृत्त (भिन्न) अनित्य और उत्पत्ति-विनाश धर्मवान् है। तब इन दोनोंका ऐक्य कैसे होगा? उत्तर—एक ही वस्तु अनुवृत्त भी हो, व्यावृत्त भी हो, यह विरोध है। ऐसे ही नित्य एवं अनित्य हो, उत्पत्ति विनाशवान् हो, उत्पत्ति विनाशरूप धर्मसे रहित हो, ऐसा सम्भव नहीं। अन्यथा त्रैलोक्यका सांकर्य होने लगेगा। शंका—भेदाभेद पक्षमें और भी दोष है कि जातिमें अनित्यता आदि धर्मोंका प्रसंग होने लगेगा। व्यक्तिमें भी नित्यता आदि धर्म होने लगेंगे। उत्तर—यह दोष नहीं, वस्तु नानाकार हैं। किसी आकारसे नित्यता आदि धर्मको और किसी आकारसे अनित्यता

---

१. जानन्नपीत्यर्थः।

दित्वम्, केनचिद्रानित्यत्वादिकं बिभ्रन्न विरोत्स्यते। जातिरपि व्यक्तिरूपेणानित्या, व्यक्तिरपि जात्यात्मना नित्येति नात्र काचिदनिष्टापत्तिः।

जातेः सर्वगतत्वाद्याक्षेपः

यत्तु सर्वगता व्यक्तिगता वा जातिरिति विकल्पितम्, तदपि व्यक्त्यात्मत्वाभिधानादेव परिहृतम्--व्यक्तेर्ह्यसावात्मा कथमन्यत्र स्यात्? नन्वेवं व्यक्तिदेशे व्यक्त्युत्पत्तेः प्रागविद्यमाना जातिः कथं तत्र पश्चाद्भवति? स्वकारणान्निष्पद्यमाना व्यक्तिर्जातिविशेषात्मना संबद्धैवोत्पद्यत इति न दोषः।

तत्राविद्यमाना जातिः कथं व्यक्त्या संबध्यते? न ह्यसौ तदानीमेवोत्पद्यते, नित्यत्वात्। न चान्यत आगच्छति, अमूर्तत्वात्। उच्यते--योपि देशान्तरादागत्यानेन देशेन संयुज्यते सोपि प्रागस्मिन् देशेऽविद्यमान एव कथमनेन देशेन संयोगमनुभवति? कारणवशादिति वक्तव्यम्, एवं जातिरपि कारणवशादेव व्यक्तिसम्बन्धमनुभवति। इयांस्तु विशेषः--संयुज्यमानः पूर्वत्रावस्थितः अनन्तरदेशेन प्रथमं संयुज्यते, ततस्तदनन्तरदेशे-

---

आदि धर्मको धारण करेगी। तब क्या विरोध है? (अर्थात् जातिको लेकर नित्यत्वादिक सिद्ध होंगे। व्यक्तिको लेकर अनित्यत्वादि उपपन्न होंगे क्योंकि जात्यात्मना व्यक्ति नित्य है, व्यक्त्यात्मना तो अनित्य है) जाति भी व्यक्तिके रूपसे अनित्य है। व्यक्ति भी जात्मात्मना नित्य है, इसमें कोई अनिष्टापत्ति नहीं।

शंका—पूर्व पक्षमें जाति सर्वगत है या व्यक्तिगत? ऐसा विकल्प करके दोष दिया है॥। उत्तर—इस दोषका परिहार हो चुका है, जाति व्यक्तिकी आत्मा है, ऐसा कहनेसे जाति व्यक्तिकी आत्मा है, वह दूसरी जगह कैसे रह सकती है। शंका ऐसा मानने पर व्यक्ति-देशमें व्यक्तिकी उत्पत्ति होनेके पहिले, अविद्यमान जाति वहाँ बादमें कैसे होती है। उत्तर—व्यक्ति अपने कारणोंसे उत्पन्न होता है और जाति विशेषसे सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न होता है, अतः कोई दोष नहीं।

शंका—उस देशमें अविद्यमान जाति, व्यक्तिसे कैसे सम्बन्ध होती है? यह तो कह नहीं सकते, कि वह जाति उसी समय ही वहां उत्पन्न होती है, नित्य होनेके कारण। तब कहिए दूसरी जगहसे आती है, यह भी नहीं कह सकते, अमूर्त होनेके कारण। उत्तर—जो भी दूसरे देशसे आकर इस देशसे संयुक्त होता है, वह भी पहिले उस देशमें न रहकर ही कैसे इस देशसे संयुक्त होता है? कारण वशसे ऐसा हो कहना होगा। इसी प्रकार जाति भी कारणसे ही व्यक्ति सम्बन्धको प्राप्त करती है। इन दोनोंमें यह अन्तर है कि जो संयुक्त होता है, वह पूर्व देशमें रहकर, अनन्तर देशसे

॥ जातिके सम्बन्धमें दो पक्ष हैं, वैशेषिकादि जातिको सर्वगत मानते हैं। कुछ लोग व्यक्ति मात्र गत। यहाँ प्रथम पक्षमें जातिके सर्वगत होनेपर भी शक्तिके अनुसार, व्यक्तिके दर्शनसे ही जातिका ज्ञान होता है। आकाशादिकी तरह जाति स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। वह पिण्डस्वरूप ही है। इन दोनों पक्षोंका क्रमशः समर्थन इस प्रकार किया है—

पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः। नह्याकाशवदिच्छन्ति सामान्यं नाम किञ्चन॥
यद्वा सर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः। शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका॥

(श्लोकवा०, आकृतिवाद, का० २५-२६)

नेतिक्रमेण देशान्तरे संयोगं[1] गच्छति। तादात्म्यसमवाययोस्त्वनन्तरदेशमनपेक्ष्यैव स्वकारणतो निष्पत्तिः। न हि यः संयोगस्य स्वभावः स एव तादात्म्यस्य समवायस्य वाङ्गीकर्तव्यः, प्रमाणाभावात्। विलक्षणस्वभावत्वाद्भावानाम्। तस्माददोषः।

यद्वाऽस्तु सर्वगतं सामान्यम्, न च सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तीनामभिव्यञ्जकत्वात्। सर्वगतमपि सामान्यं व्यक्तेरेवात्मा तत्समवेतं वा। संयुक्तसमवायसन्निकर्षेण च सामान्यस्योपलम्भः, तेन च सन्निकर्षो व्यक्तिदेशे एव सम्भवति, नान्यत्रेति न सर्वत्रोपलब्धिः। अभेदेऽपि जातिव्यक्त्योर्भेदस्यापि विद्यमानत्वान्नित्यत्वानित्यत्वादिवत् सर्वगतत्वासर्वगतत्वमपि नानुपपन्नम्।

पहिले संयुक्त होता है। उसके बाद उसके अनन्तर देशसे संयुक्त होता है। इस प्रकार पुरुष देशान्तर संयोगको प्राप्त करता है। तादात्म्य और समवाय इन दोनोंकी, अनन्तर देशकी बिना अपेक्षा किए अपने कारणोंसे निष्पत्ति होती है। (इसीका व्यतिरेक मुखेन समर्थन करते हैं) जो संयोगका स्वभाव है, वही तादात्म्य या समवायका है, ऐसा नहीं मान सकते, प्रमाण न होनेके कारण। क्योंकि पदार्थोंका स्वभाव विलक्षण होता है, इसलिए कोई दोष नहीं।

(जाति व्यक्तिगत है, इस पक्षमें दोषका परिहार कर, वैशेषिक सम्मत सर्वगतत्व पक्षमें दोषका निवारण करते हैं 'यद्वा' इत्यादि से) अथवा सामान्य=जाति सर्वगत हो, कोई दोष नहीं। शंका—यदि जातिको सर्वगत माना जाए तो सर्वत्र उपलब्धि होनी चाहिए। उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जातिके अभिव्यंजक व्यक्ति हैं। अतः सर्वगत जातिकी अभिव्यक्ति व्यक्तिमें ही मानी जाती है। व्यक्तिमें ही उसका ग्रहण होता है। सर्वगत भी जाति व्यक्तिकी आत्मा होनेके कारण, व्यक्तियोंमें ही उसकी उपलब्धि होती है, सर्वत्र नहीं❀। अथवा जातिके सर्वगत होनेपर भी जिन विशेषोंमें§ वह समवेत है, उन्हींमें अभिव्यक्त होती है। जिनसे निवृत्ति है उनसे सम्बन्ध नहीं है; न कि उसका वहाँ अभाव है❀। क्यों कि सर्वगत होनेके कारण और संयुक्त समवाय सम्बन्धसे जातिका ग्रहण होता है। इससे सन्निकर्ष व्यक्ति-देशमें ही होता है; अन्यत्र नहीं। अतः सर्वत्र जातिका ग्रहण नहीं होता। जाति-व्यक्तिका अभेद होनेपर भी भेद भी तो रहता है। नित्यता अनित्यता आदिकी तरह सर्वगतत्व असर्वगतत्व भी अनुपपन्न नहीं है। (अर्थात् प्रमाण सिद्ध होनेके कारण उपपन्न ही है)

❀ कस्मात् सास्नादिमत्स्वेव गोत्वं यस्मात्तदात्मकम्। तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम्॥
(श्लोकवा०, आकृतिवाद, का० ४७)

§ विशेषतो अनन्त होते हैं। उनका जातिके साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकता, अतः उनसे जातिकी अभिव्यक्ति कैसे होगी? सभी विशेषोंके उपस्थापक अनुगत एक उपलक्षणका होना सम्भव नहीं। इसका उत्तर है कि—जैसे शब्द और अर्थका अथवा हेतु या साध्यका सम्बन्ध ज्ञात होकर ही कारण होता है, वैसे जातिका नहीं; किन्तु प्रत्यक्ष जातिका व्यक्तिके साथ सम्बन्ध सत्ता मात्रसे कारण है; अतः कोई दोष नहीं।

❀ यहाँ प्रश्न है—माना कि जातिको अभिव्यक्त करनेकी शक्ति व्यक्तिमें है, पर व्यक्तिमें वह शक्ति है, इसमें क्या प्रमाण? इसका उत्तर है कि वस्तुकी शक्तिके विषयमें प्रश्न नहीं होता।

---

१. देशान्तरसंयोगमिति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

यत्तु कात्स्न्र्येन वा अवयवशो वा वृत्तिरिति विकल्पितम् , तदप्ययुक्तम्, भेदापेक्षं हि कात्स्न्र्यं न च सामान्यस्य स्वरूपतः, अवयवतो वा भेदोस्ति, एकत्वादनवयवत्वाच्च। निरवयवत्वादेवावयवशोपि वृत्तिरसम्भाव्यैव। तस्माद् व्यक्तिषु जातिर्वर्तत इत्येतावदेवात्र वक्तुं शक्यते प्रमाणतोऽवगमात् , न कात्स्न्र्यभागविभागः प्रमाणाभावादसम्भवाच्च।

तथाऽवयविनोप्यवयवेषु न कात्स्न्र्यं सम्भवति, बहुत्वाभावात्तदपेक्षत्वाच्च कृत्स्नत्व-व्यवहारस्य। अवयवशो वृत्तिरप्यवयवान्तराभावादयुक्तैव।

किमिदानीमेकरूपैव सामान्यस्य व्यक्तिषु-अवयवेषु चावयविनो वृत्तिः ? नेत्युच्यते, सामान्यं प्रत्येकं वर्तते, अवयवी तु व्यासज्येत्येवं विशेषः। व्यक्त्यन्तरमनपेक्ष्यैव व्यक्त्यन्तरे वर्तमाना स्वानुरूपां बुद्धिं जनयन्ती जातिः, प्रत्येकं वर्तते इत्युच्यते, नतु कात्स्न्र्येन वृत्तिः। अवयवी त्ववयवान्तराण्यपेक्ष्याऽवयवान्तरे वर्तमानः स्वाकारां बुद्धिं जनयन् व्यासज्य वर्तत इति व्यपदिश्यते। न ह्येकस्यामेव व्यक्तौ गोबुद्धिवदेकस्मिन्नेव तन्तौ पटबुद्धिरुत्पद्यते।

(यत्तुसे दूषणान्तरका उपपादन करते हैं) शंका—जो पूर्वपक्षीने जाति समग्र रूपसे रहती है या अवयवशः, ऐसे वृत्तिका विकल्प किया था, उसका क्या होगा ? उत्तर—वह भी ठीक नहीं, क्यों कि समग्रता भेद सापेक्ष है। सामान्यका तो स्वरूपसे या अवयवसे भेद है ही नहीं, एक और निरवयव होने से। निरवयव होनेके कारण ही अवयवशः भी रहनेकी सम्भावना नहीं की जा सकती; अतः व्यक्तियोंमें जाति रहती है, इतना ही इस प्रसङ्गमें कह सकते हैं। प्रमाणसे ज्ञात होनेके कारण समग्रता और अंशका विभाग नहीं है। (अर्थात् जाति समग्ररूपसे रहती है या अवयवशः रहती है यह विभाग नहीं) प्रमाण का अभाव तथा असम्भव होनेसे।

इसी प्रकार अवयविका अवयवोंमें समग्ररूपसे होना सम्भव नहीं, अनेकताके न होनेसे। क्योंकि समग्रताका व्यवहार अनेकताकी अपेक्षा रखता है। यह जो कहा गया 'अवयविकी अवयवोंमें वृत्ति अवयवशः होती है' यह भी अयुक्त है, दूसरे अवयवोंके न होनेसे।

शंका—अब आप क्या चाहते हैं ? व्यक्तिमें सामान्यकी वृत्ति और अवयवोंमें अवयीकी वृत्ति एक समान है। उतर—नहीं,सामान्य (जाति) प्रत्येकमें रहती है। अवयवितो अवयवोंमें व्यासज्य वृत्तिसे रहता है। (अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाले धर्मको व्यासज्यवृत्ति कहते हैं) दूसरे व्यक्तिकी बिना अपेक्षा किए, अन्य व्यक्तियोंमें रहने वाली जाति स्वानुरूप बुद्धिको उत्पन्न करती हुई, प्रत्येकमें रहती है, यह कहा जाता है, समग्र रूपसे उसकी वृत्ति नहीं। अवयवी तो दूसरे अवयवोंको लेकर, दूसरे अवयवोंमें रहकर, स्वाकार बुद्धिको उत्पन्न करके, व्यासज्य रहता है, यह कहा जाता है। (इसीको व्यतिरेक मुखसे कहते हैं कि) एक ही व्यक्तिमें 'यह गौ है' इस प्रयार जैसे गो बुद्धि होती है वैसे एक तन्तुमें 'यह पट है' ऐसी प्रतीति नहीं होती*।

---

* इसका यह अभिप्राय है कि अवयव-अवयवि इन दोनोंमें, जाति प्रत्येकमें पर्याप्त है। अवयवितो सभी अवयवोमें रहते हुए व्यासज्यवृत्ति है। इन अवयवोंमें अवयवि रहता है, बस इतना ही प्रमाणसे ज्ञात होता है। अतः इसमें प्रतीति ही प्रमाण है। जातिके सम्बन्धमें कात्स्न्र्य=समग्र

इसे दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। यथा—(श्लोक,वा० आकृतिवाद, का० २९)
वह्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्। न चान्या मृग्यते युक्तिर्यथा संदृश्यते तथा॥

संयोगविचारः

संयोगस्येदानीं कथं संयोगिषु वृत्तिः ? किं जातिवत् ? किं वाऽवयविवत् ? उभयविलक्षणेति ब्रूमः । स हि संयोग्यन्तरमपेक्ष्य संयोग्यन्तरे वर्तते नाऽनपेक्ष्येति न जातितुल्यत्वम् । एकत्रैव च स्वानुरूपां जनयति बुद्धिम्—'इदमनेन संयुक्तमिदममेन' इति । तेनावयविनापि नातीव तुल्यत्वमित्युभयवैलक्षण्यम् ।

अथ संयोगः किमेक एव द्वयोः संयोगिनोः, उत प्रतिसंयोगि भिन्नावेव संयोगौ ? काश्यपीयास्तावत् संयोगमुभयोर्व्यासक्तमेकं मन्यन्ते । वयन्तु यथा 'इदमनेन सदृशमिदमनेन' इति प्रतियोगिनमपेक्ष्येतरत्रेतरस्यावगम्यमानं सादृश्यं प्रतिधर्मि भिन्नं भवति तथा संयोगस्य तादृशबुद्धिविषयत्वाद् भेदमेव रोचयामहे । प्रकृतमनुसरामः—तस्मान्न वृत्तिविकल्पादपि जात्यपह्नवः ।

यत्तु नित्यत्वाज्जातेः स्वविषयज्ञानजननाऽसामर्थ्यान्न ग्राह्यत्वमिति । तदसत्, नित्यानामप्यर्थक्रियासामर्थ्यं क्षणभङ्गनिराकरणे वक्ष्यामः । न च हेतुलक्षणं ग्राह्यत्वम्,

---

अवयवोंका प्रश्न ही अनुपपन्न है, क्योंकि स्वरूपसे भिन्न वस्तुमें कार्त्स्न्य=समग्र शब्दका प्रयोग होता है । जैसे 'कृत्स्नः घटः पटो वेति' । सामान्य तो एक है, अतः उसमें कार्त्स्न्य शब्दकी अनुपपत्ति है । इसी प्रकार जिन अवयवोंमें अवयवी रहता है, उन अवयवोंसे भिन्न दूसरे अवयवोंके होनेसे, आश्रय अवयवोंमें अवयवशः अवयवि रहता है, यह कह सकते हैं । ऐसा तो है नहीं । अतः अवयवशः वृत्ति है, यह भी सम्भव नहीं । इसलिए अवयवोंमें अवयवि रहता है, यह कहना युक्त है ।

(प्रसङ्ग संगतिसे जाति और अवयवि दोनोंसे विलक्षण संयोगकी संयुक्त पदार्थमें वृत्ति है, इस बातका प्रश्न पूर्वक उपपादन करते हैं, 'संयोगस्य' इत्यादिसे) शंका—अब संयोगकी वृत्ति संयोगियोंमें क्या जातिकी तरह है, या अवयविकी तरह ? उत्तर—दोनोंसे विलक्षण है । इसीका उपपादन करते हैं कि वह संयोग दूसरे संयोगिकी अपेक्षा कर, दूसरे संयोगिमें रहता है । निरपेक्ष नहीं है । इससे जातिकी समानता नहीं । एक ही स्थानमें स्वानुरूप बुद्धिको संयोग उत्पन्न करता है । यह इससे संयुक्त है, यह इससे । (यानी पट घट से संयुक्त है और घट पटसे) अतः अवयविसे भी अत्यन्त साम्य नहीं हैं । इसलिए दोनोंसे विलक्षण हैं ।

शंका—एक ही संयोग दो संयोगियोंमें है या प्रति संयोगि भिन्न-भिन्न संयोग है ?

उत्तर—इसके उत्तरमें वैशेषिक संयोगको दोनोंमें व्यासक्त (व्यासज्यवृत्ति) और एक मानते हैं । इस विषयमें हम मीमांसक तो जैसे यह इसके सदृश है, यह इसके सदृश है, ऐसे प्रतियोगिकी अपेक्षा करके, दूसरेमें दूसरेका सादृश्य ज्ञात है, फिर भी वह प्रत्येक धर्मीमें भिन्न है ऐसा मानते हैं । इसी प्रकार संयोगके भी वैसी बुद्धिका विषय होनेके कारण, उसे प्रति संयोगिसे भिन्न मानते हैं । अब प्रकृत-विषयमें आते हैं कि वृत्ति-विकल्पसे जातिको छिपाया नहीं जा सकता ।

शंका—पूर्वपक्षीने यह कहा था कि जातिके नित्य होनेसे उसकी विषयता नहीं होती । क्योंकि जो जिस विषयका ज्ञान उत्पन्न कराता है, वही उसका विषय होता है । बौद्धमतमें स्वविषयक ज्ञान-जनकत्व सामर्थ्य ही ग्राह्य और विषय कहलाता है । जाति तो विषय ही नहीं है ।

ज्ञानजन्यफलभागित्वलक्षणं हि तदिति शून्यवादे वर्णितम्, तस्मादयमप्यदोषः।

यत्तु स्वलक्षणैरेव स्वानुभवद्वारेण गवादिविकल्पोदयसम्भवादप्रामाणिकी जातिकल्पनेति, तदप्यसारम्। न हि जातिर्न दृश्यते, येनैवमुपालम्भः स्यात्, उपजायमानं तु ज्ञानं स्वविषयभूतां जातिमुपस्थापयतीति नेदृशानां प्रलापानामवसरः।

कथं चाऽत्यन्तविलक्षणानि स्वलक्षणान्येकरूपं विज्ञानं जनयन्ति? 'तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः'[1] इति स्थितेः। भवतो वा कथं विलक्षणानां विशेषाणामेकरूपसामान्यसम्बन्धकारणत्वमिति चेत्? स्वहेतुवशादिति ब्रूमः--कानिचित्स्वलक्षणानि स्वकारणादुत्पद्यमानान्येकेन केनचित्स्वसामान्येन तादात्म्यं समवायं वा भजन्ते।

ननु हेतवो विलक्षणाः कथमेकविधसामर्थ्ययुक्तानि स्वलक्षणानि जनयन्ति? न जनयेयुर्यदि विलक्षणाः स्युः, तेऽपि त्वेकजातीया एव।

नन्वेवं तत्सम्बन्धसिद्ध्यर्थमपरापरजात्यपेक्षायामनवस्था? नैष दोषः--यथा तालबीजमेकजातीयं परिणामपरम्परया तालजातिसम्बद्धां व्यक्तिमुपजनयति, सापि तथैव

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थोंकी भी अर्थ क्रिया सामर्थ्य है, यह बात क्षण-भंग खण्डन प्रसंगमें कहेंगे। जो विषयका लक्षण किया है—'स्वविषयक ज्ञानजनकत्वरूप ही ग्राह्यत्व है' यह ठीक नहीं। शून्यवादमें ज्ञान-जन्य फल भागित्व ही विषयत्व है, यह कहा गया है। सामान्यके भी ज्ञान-जन्य-फल भागी होनेसे जातिकी भी विषयता सम्भव है, अतः यह भी दोष नहीं है।

शंका—यह जो पूर्वपक्षीने कहा था—स्वलक्षणोंसे ही अपने अनुभवके द्वारा यह गौ है, इत्यादि विकल्प हो सकते हैं, अतः जातिकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं। उत्तर—यह भी निःसार है। जाति प्रत्यक्षसे दिखाई नहीं देती, ऐसी बात नहीं, जिससे यह उपालम्भ सम्भव हो सके। जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने विषय जातिका उपस्थापन करता है। अतः ऐसे निरर्थक वचनोंके लिए कोई अवकाश नहीं।

और यह बताइए कि अत्यन्त भिन्न स्वलक्षण (असाधारण आकार) एक रूप विज्ञानको कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? और आपका सिद्धान्त है कि तद्रूपी और अतद्रूपी पदार्थ, तद्रूपी और अतद्रूपी हेतुसे ही उत्पन्न होते हैं। शंका—आपके मतमें विलक्षण-विशेषोंका एकरूप जो सामान्य, उसका जो सम्बन्ध, उसका कारण क्या है? उत्तर—अपने कारणके अधीन। इसीका विवेचन करते हैं—कुछ स्वलक्षण अपने कारणसे उत्पन्न होते हैं। वे एक ही सामान्यसे तादात्म्य या समवायको प्राप्त करते हैं। शंका—विलक्षण कारण एक प्रकारकी शक्तिसे युक्त स्वलक्षणोंको कैसे उत्पन्न करते हैं? यदि उत्पन्न नहीं करते, तब विलक्षण होते। अतः वे भी समानजातीय ही होते हैं।

शंका—इस प्रकार उनके सम्बन्धकी सिद्धिके लिए उत्तरोत्तर जातिकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था होगी। उत्तर—यह दोष नहीं। जैसे एक जातीय ताड़का बीज परम्परया परिणत होकर, ताड़जाति विशिष्ट व्यक्तिको उत्पन्न करता है। वह ताल-वृक्ष (व्यक्ति) वैसे ही अपना कारण जो बीज है, तत्सदृश सजातीय दूसरे बीजको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एक जातीय

१. अस्योत्तरार्धम्—'तत्सुखादिकमेवाज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुकम्'॥ (प्र० वा० ३।२५२)

स्वकारणभूतबीजसमानजातीयं बीजान्तरम्। तथैकजातीयाच्छुक्राद् गोजातीयव्यक्तिनिष्पत्तिः, तस्यां च तज्जातीयशुक्रनिष्पत्तिरिति नात्यन्तं तादात्म्यापत्तिः, तस्मादस्त्येकमा—कृति-जाति-सामान्यशब्दाभिलपनीयं शावलेयादिष्वनुगतम्।। इत्याकृतिवादः।।

सादृश्यादीनां सामान्यत्वखण्डनम्

न च सादृश्यमेव सामान्यम्—तद्बुद्ध्यभावात्। स एवायमिति प्रतीतिर्न तत्सदृश इति। न च सर्वसामान्यापह्नववादिनः सादृश्यमपि संभवति, भूयोऽवयवसामान्यात्मकत्वात् तस्य।

न चातद्व्यावृत्तिरूपमपि सामान्यमनङ्गीकृतविधिरूपसामान्येन शक्यते प्रत्येतुम्, अगोव्यावृत्तिं हि प्रतियताऽवश्यं प्रथममेव गौः प्रत्येतव्यः, न ह्यप्रतीते गवि तद्व्यतिरेकात्मनाऽगवां निरूपणं सम्भवतीति प्रथममवश्यं विधिरूपेण गौः प्रत्येतव्यः।

शुक्रसे गो जातीय व्यक्तिकी निष्पत्ति होती है। उस व्यक्तिमें ही तज्जातीय शुक्रकी निष्पत्ति होती है। इस कारणसे अत्यन्त तादात्म्यकी आपत्ति नहीं। अतः आकृति, जाति, सामान्य आदि शब्दोंका वाच्य, सांवली चितकबरी आदि व्यक्तियोंमें अनुगत, एक तत्त्व सिद्ध होता है।

(इस प्रकार आकृतिवाद प्रकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

शंका—सादृश्य ही सामान्य* है, जाति नहीं। उत्तर—सादृश्य ही सामान्य है, यह नहीं कह सकते, सादृश्य बुद्धि न होनेके कारण। क्योंकि 'वही यह है' ऐसा अनुभव होता है। यह उसके सदृश है, ऐसा नहीं। जो सभी सामान्योंका निषेध करता है, उसके मतमें सादृश्य भी कैसे सम्भव है? अनेक अवयवोंका जो सामान्य है, वही तो सादृश्य है।

शंका—जो अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्यको मानता है, उसे पहिले विधिरूप सामान्यको अवश्य मानना होगा। अगोव्यावृत्तिको जो समझता है, उसे पहिले गौ को समझना चाहिए। (इसी बातको व्यतिरेकमुखेन कहते हैं कि) गौको न जाननेसे, गौ भेद रूपसे गो भिन्नका निरूपण सम्भव नहीं। अर्थात् गो भिन्न ज्ञान या गो भेद ज्ञान गो ज्ञानके बिना सम्भव नहीं। अतः पहिले अवश्य ही विधिरूप (भावरूप) से गौ को समझना होगा। क्योंकि उनसे व्यतिरेक रूपको छोड़कर,

---

* अर्थात् मीमांसक मतसे जातिरूप सामान्यको सिद्धकर, बौद्ध सम्मत अपोहरूप सामान्यका निराकरण करते हैं 'नच' इत्यादिसे। उनका यह कहना है कि सामान्य भावरूप नहीं, किन्तु अभावरूप है। अत्यन्त विलक्षण विशेष ही सादृश्य है, जिसे अतदव्यावृत्ति या तद्भिन्न भेद या अपोह कह सकते हैं। अर्थात् गौका भेद अश्वादिकमें है। उसका भेद गौमें है। यही अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्य है। इसीको मानकर जातिरूप सामान्यका निराकरण होता है, यह पूर्व प्रकरणमें कह चुके हैं। अतः सभीमें अनुगत शब्दार्थ अतद्व्यावृत्तिरूप ही हैं। जैसे सांवली गौका जो रूप है, वही चितकबरी गौका है, वही गोव्यावृत्ति है। यह सभीमें अनुगत है। इसका स्पष्टीकरण वार्तिकमें इस प्रकार किया गया है—

अयोगनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्।
भावान्तरमभावो हि पुरस्तात्प्रतिपादितः। तत्राश्वादि निवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम्।।
(श्लोकवा०, अपोहवाद, का० १—२)

न हि तेभ्यो व्यतिरेकरूपमपहायाश्वादिव्यक्तीनां प्रातिस्विकेन रूपेण ग्रहः संभवति, तेषामनन्तानां बुद्धावनारोहात्, अनारूढेषु च तेषु तद्व्यावृत्तिरूपस्य गोः प्रत्येतुमशक्यत्वात्। गौर्गौरिति च विधिरूपं सामान्यमवगम्यमानं कथं निवृत्तिरूपं शक्यमङ्गीकर्तुम्। तस्मादिदमतिपेलवं दर्शनम्। तस्मादस्ति जातिः ॥ इत्यपोहवादः ॥

अवयविनिरूपणम्

एतेनावयवी व्याख्यातः। तस्याप्यवयवेभ्यो भेदः, अभेदो वेति विकल्पे भेदम्, समवायसंबन्धमवयवगुणेभ्यश्च तत्र विशेषगुणानामुत्पत्तिमाचक्षते वैशेषिकाः। ये च स्वसमवेतविशेषणविशिष्टाः स्वाश्रयस्यैकजातीयस्य परिच्छेदकास्ते विशेषगुणा इत्याहुः। वयं तु भिन्नाभिन्नत्वम्—नहि तन्तुभ्यः शिरःपाण्यादिभ्यो वावयवेभ्यो निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते, तन्तुपाण्यादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते। विद्यते च देवदत्ते 'अस्य हस्तः शिरः' इत्यादिः कियानपि भेदावभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम्। तस्मादवयवानामेवाऽवस्थान्तरमवयवी, न द्रव्यान्तरम्। ते एव हि संयोगविशेषवशादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, तदात्मना च महत्त्वं पटजातिं च बिभ्रतः पटबुद्ध्या गृह्यन्ते। तेन पटात्मना तेषामेकत्वम्, अवयवात्मना तु नानात्वमुपपन्नम्।

अश्वादि व्यक्तियोंका प्रत्येक रूपसे ज्ञान नहीं हो सकता। उनके अनन्त होनेके कारण वे बुद्धिमें आरुढ़ नहीं हो सकते। और बुद्धिमें आरुढ़ न होनेसे तद्व्यावृत्तिरूप गौको समझ नहीं सकते। जब 'यह गौ है, यह गौ है' इस रूपसे विधिरूप सामान्य ज्ञात होता है, तब निवृत्तिरूप सामान्यको नहीं मान सकते, अतः यह दृष्टि अत्यन्त हेय है। इसलिए जाति है§। इस प्रकार अपोहवाद समाप्त हुआ।

(इस प्रकार अपोहवादका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(उक्तन्यायका अवयवि में अतिदेश करते हैं 'एतेन' इत्यादिसे) इन जाति साधक युक्तियोंके द्वारा अवयविका भी व्याख्यान हुआ। उसका अवयवोंसे भेद है कि अभेद, इस विकल्पमें, अवयवोंसे अवयवी भिन्न है, इसका समवाय सम्बन्ध है, और अवयवके गुणोंसे अवयविमें विशेष गुणोंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वैशेषिक लोग कहते हैं। विशेष गुण वे कहलाते हैं, जो अपनेमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला विशेषण है, उससे विशिष्ट होकर, अपने आश्रय और एक जातीयके परिच्छेदक हों। हम मीमांसकोंका तो कहना है, कि अवयव-अवयविका भेदाऽभेद है। इसी बातका विश्लेषण करते हैं—तन्तुसे पट पृथक नहीं होता। या सिर हाथ आदि अवयवोंसे देवदत्त पृथक् नहीं होता✻। और

---

§ अर्थात् यह गौ है यह गौ है, ऐसे भावरूप सामान्यके द्वारा उक्त प्रतीतिका समर्थन होता है। उसका व्यतिरेक द्वारा समर्थन नहीं हो सकता। यों कहा भी है—

'विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं यो व्यतिरेकाऽसमर्थनः' (खण्डनखण्डखाद्य, परिच्छेद—१)

और वार्तिकमें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'यद्रूपं शावलेयस्य वाहुलेयस्य नास्ति तत्। अतद्रूपपरावृत्तिर्द्वयोरपि न भिद्यते' ॥

✻ अर्थात् भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें एक बुद्धि होनेके कारण, जैसे सामान्य सिद्ध होता है, वैसे ही भिन्न अवयवोंमें यह देवदत्त है, यह घट है, इस प्रकार एक द्रव्यका अवभास होनेसे, अवयवोंसे भिन्न अवयवी है, यह सिद्ध होता है।

यद्यपि कारणगुणाः रूपादयः कार्ये गुणमारभन्ते इत्युक्तम्, तदपि गुणद्वयप्रतीत्यभावान्नातीवास्मभ्यं रोचते। यदि हि द्वौ गुणौ प्रतीयेयातां तन्तुष्वेकः, पटे चापरस्ततः कार्यकारणभावं प्रतिपद्येयाताम्, न तु गुणद्वयं प्रतीयते, तन्तुरूपमेव शुक्लं तन्तुषु पटभावमापन्नेषु पटरूपतया प्रतीयते, न तु रूपान्तरम्। यत्रापि नानारूपैः शुक्लकृष्णरक्तपीतैस्तन्तुभिरारभ्यते पटः, तत्रापि त एव वर्णा पटगताः प्रतीयन्ते न रूपान्तरम्।

चित्ररूपनिराकरणम्

ननु चित्रः पट इति प्रतीयते, न तु शुक्लः पीत इति वा, तस्माच्चित्राख्यं रूपान्तरमत्रोत्पन्नम्। नैवम्—चित्रं नानारूपमित्यर्थः। चित्रशब्दो हि नानापर्यायो लौकिकानां प्रसिद्धः। ततश्चित्राख्यमेकमेव रूपं लोकविरोधादेवाऽयुक्तमङ्गीकर्तुम्। नानारूपाणामपि चावयवभेदद्वारेणैकस्मिन्नपि पटे समवायो नानुपपन्नः।

संयोगजसंयोगनिरासः

एतेन संयोगजसंयोगो निरस्तो वेदितव्यः[1]। यथा देवदत्तसंयोग एव तस्मिन्

तन्तु अवयव ही तान-वितानरूप विशेषताको प्राप्त होकर, पट रूपसे प्रतीत होते हैं। वैसे हाथ-पांव आदि अवयव ही सन्निवेश—विशेषको प्राप्तकर, देवदत्त नामक व्यक्ति कहलाते हैं। और सुनिए—देवदत्तमें उसका यह हाथ है, यह सिर है, ऐसे कुछ भेद का भान भी होता ही है, अतः भेदाऽभेदरूप उभयात्मकता युक्ति सिद्ध है। इसलिए अवयवोंकी ही एक अवस्था विशेष है अवयवी। वह दूसरा द्रव्य नहीं। वे ही अवयव संयोग विशेषसे एक द्रव्य बनजाते हैं। उस द्रव्यके रूपसे वे महत्त्व एवं पटत्व जातिको धारणकर, पट बुद्धिसे गृहीत होते हैं। अतः पटरूपसे उन अवयवोंकी एकता है। अवयवरूपसे नानात्व भी उत्पन्न होता है।

शंका– यह जो नैयायिकोंने कहा है कि कारणगुण तन्तु-गत रूपादि, पटरूप कार्यमें शुक्ल आदि गुणोंको आरम्भ करते हैं। उत्तर—यह भी भाट्ट मीमांसकोंको बिलकुल रुचता नहीं, क्योंकि दो गुणोंकी प्रतीति न होनेके कारण। यदि दो गुण प्रतीत होते, एक तन्तुमें और एक गुण पटमें, तब इन दोनोंका कार्य-कारण भाव बन सकता है। दो गुणोंका भान तो नहीं होता, किन्तु तन्तुगत शुक्लरूप ही, तन्तु जब पट भावको प्राप्त करते हैं, तब वही तन्तुरूप पट रूपतया भासता है, दूसरे रूपसे नहीं।

शंका—जहाँ नानारूप शुक्ल-कृष्ण-रक्त-पीत तन्तुओंसे पटका आरम्भ होता है, वहाँ चित्र-पट है, ऐसी प्रतीति होती है, यह नैयायिक मानते हैं। उत्तर—यह ठीक नहीं, क्यों कि तन्तुओंके रूप ही पटमें प्रतीत होते हैं, रूपान्तर नहीं। (अतः चित्ररूपको मीमांसक पृथक् नहीं मानते)

शंका—यह पट चित्र (नाना वर्णका) है, ऐसा अनुभव होता है, पट शुक्ल है या नील है, ऐसा नहीं। अतः चित्र नामक पृथक् रूप यहाँ उत्पन्न होता है, ऐसा मानना चाहिए। उत्तर—ऐसा नहीं, नाना-रूपको चित्र कहते हैं; क्योंकि चित्र शब्द लोकमें नानार्थमें प्रसिद्ध है। अतः चित्र-नामक एक स्वतन्त्र रूपको मानना उचित नहीं, लोक विरोध होनेके कारण। अनेक रूपोंका भी भिन्न-भिन्न अवयवोंके द्वारा एक पटमें समवाय अनुपपन्न नहीं है।

इससे संयोगजन्य जो संयोग है उसका भी निरास समझना चाहिए। जैसे देवदत्तका

---

१. वैशेषिकदर्शन (७।२।९)

कुण्डलिनि सञ्जाते कुण्डलिसंयोगो भवति, तथा तन्तुतुरीसंयोग एव तन्तौ पटभावमापन्ने पटतुरीसंयोगो भवति, न संयोगान्तरम्, प्रतीत्यभावात, इत्यलमतिविस्तरेण। तस्माद-स्त्येवाऽवयवी।

वृत्तिः स्वावयवेष्वस्य व्यासज्येति प्रदर्शितम्।
तेनास्त्यवयविद्रव्यं सामान्यं चास्ति सर्वगम्॥ १६॥

॥ इत्यवयविवादः॥

संयोग ही जब देवदत्त कुण्डल-धारण करता है, तब कुण्डलि संयोग होता है❀। वैसे ही तन्तु-तुरी दोनोका संयोग ही तन्तुके पट बननेसे पट-तुरी संयोग भी होता है; दूसरा संयोग नहीं, प्रतीतिके न होनेके कारण। विस्तारकी आवश्यकता नहीं। अत: अवयवि है ही। उक्तार्थका एक श्लोकसे वर्णन करते हैं—'अवयविकी अपने अवयवोंमें व्यासज्य वृत्ति है, यह प्रदर्शित किया गया है। अतः अवयवि द्रव्य है। और सर्वगत (व्यापक) सामान्य भी है॥ १६॥

(इस प्रकार अवयवि वादका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

❀ अर्थात् संयोग तीन प्रकारका होता है—१—उभयकर्मज, २—अन्यतरकर्मज, ३—संयोगज-संयोग; ऐसा वैशेषिक मानते हैं—'अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोजश्च संयोगः' (वै० सू० ७। अ० ७।आ० २) इन तीनोमें अन्तिमको मीमांसक नहीं मानते। इसी प्रकार विभागजविभागको मी नहीं मानते। उसीका उपपादन किया गया है 'यथा' इत्यादिसे।

आकृति शब्द गवादिका वाच्य है, इसके निरूपण प्रसंगमें भाष्यकारने यह ठीक कहा है कि 'सास्नादि विशिष्टाऽऽकृतिरिति क्रमः' सास्नादिविशिष्ट आकृतिको वाच्य कहते हैं—(शाबर भा०, पृ० ५०) यहाँ सन्देह है कि उक्त भाष्यसे क्या जातिसे विलक्षण सास्नादि विशिष्ट को आकृति शब्दका अर्थ कहा है? यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि अवयवि सम्बन्धि गोत्वके अवयवोंमें रहनेसे वक्ष्यमाण भाष्यका विरोध होगा। भाष्य यह है—'द्रव्यगुणकर्मणां सामान्य-मात्रमाकृतिः'। इसका उत्तर है कि 'सास्नादिविशिष्ट' इत्यादि भाष्यका यह अभिप्राय है कि सास्नादि गोत्वका उपलक्षण है, क्यों कि सास्नादिकोंका एक अवयविके साथ सम्बन्ध है। और सत्तादिक जातियोंसे गोत्वका असाधारण सम्बन्ध है। अत: सत्तादिक जातियाँ गोत्वकी उपलक्षण हो सकती हैं। सत्तादिक भी उपलक्षणके विना गो शब्दवाच्यको पृथक् निर्देश नहींकर सकतीं। यहाँ 'आकृति' शब्दसे जातिको लेना है, संस्थानको नहीं, यह पूर्व ग्रन्थमें कह चुके हैं।

उपलक्षण मी देश-काल भेदसे भिन्न है। गोत्वजातिका उपलक्षण है सास्नादि। ब्राह्मणत्व जातिका मातृ-पितृ सम्बन्ध उपलक्षण है। इसका इस प्रकार विवेचन किया है—

तस्योपलक्षणं चापि क्वचित्केनचिदिष्यते। रूपादीनां विशेषेण देशकालाद्यपेक्षया॥
सुवर्णं व्यज्यते रूपात्ताम्रत्वादेरसंशयम्। तैलाद्घृतं विलीनं च गन्धेन च रसेन वा॥
भस्मप्रच्छादितो वह्निः स्पर्शनेनोपलभ्यते। अश्वत्वादौ च दूरस्थे निश्चयो जायते स्वनैः॥
संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादियोनितः। क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजादिपालितात्॥

(श्लोकवा०, वनवाद, का० २६-२९में)

सम्बन्धाक्षेपपरिहारः

वर्णानामभिधातृत्वमाकृतेश्चाभिधेयताम् ।
कथयित्वाऽथ सम्बन्धकथैव प्रकृतोच्यते ॥ १७ ॥
ज्ञाप्यज्ञापकभावश्च सम्बन्धः प्रागुदीरितः ।
तन्नित्यत्वं यदाक्षिप्तं तत्समाधीयतेऽधुना ॥ १८ ॥

एवं हि पूर्वमुक्तम्—यस्मात् प्रथमश्रवणे शब्दोऽर्थं न प्रत्याययति तस्मान्नास्य स्वाभाविकमिन्द्रियवत् प्रत्यायकत्वम्। 'अस्यायमर्थः' इति पुरुषेण कथिते प्रत्याययति, ततो नूनमस्य पुरुषकृतं प्रत्यायकत्वमिति पौरुषेय एव संबन्ध इति।

('वर्णानां' इत्यादि ग्रन्थसे संगति बताते हैं) श्लोकार्थ = वर्ण ही अर्थके वाचक होते हैं। वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोट नहीं। गत्रादि शब्दोंकी जाति ही वाच्य है, इसको कहकर, प्रकृत सम्बन्धका ही विचार किया जाता है। ॥ १७ ॥ शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव है, यह पूर्वमें कहा गया है। वहाँ जो नित्यत्वका आक्षेप किया है, उसका अवसर प्राप्त होनेसे अब समाधान किया जाता है ॥ १८ ॥

शंका—ऐसा पहिले कह चुके हैं कि जिससे प्रथमवार सुनलेने पर शब्द अर्थका बोधन नहीं करता, अतः उसकी स्वाभाविक अर्थबोधकता नहीं है। जैसे इन्द्रियों की नहीं है। इसका यह अर्थ है—ऐसे पुरुष जब कहता है, तो शब्द अर्थका बोधक होता है। अतः शब्दकी निश्चित रूपसे पुरुषकृत ही अर्थबोधकता है। इससे शब्द और अर्थका सम्बन्ध पौरूषेय ही है। (अर्थात् शब्दकी

'पङ्क्ति यूथं वनम्' इत्यादिमें भी एकत्वका ज्ञान भ्रम है, यह नहीं कह सकते; उत्तर कालमें बाधक प्रत्ययके न होनेसे। दूरत्व दोषसे अनेक वृक्षोंमें 'यह एक वन है' ऐसा ज्ञान होता है। वही समीप जानेपर पुरुषकी वृक्षोंमें एकत्व बुद्धि बाधित होती है। जाति बुद्धि किसी प्रकारसे बाधित नहीं होती; यह दोनोमें अन्तर है।

भेदाभेदवादीके मतमें भेदाभेदका ज्ञान भ्रम नहीं हो सकता, यदि ज्ञान अव्यवस्थित अनेक रूपको विषय करेगा तो। जैसे यह स्थाणु है कि पुरुष है? प्रकृतमें तो ऐसा नहीं है। यह अनेकान्तवाद वस्तुको विषय करता है। अनेकाकार वस्तु है, ऐसी शंकाकर कुमारिल भट्टने इसका समाधान किया है। यह वार्तिक है—श्लोकवा०, वनवाद, का० ७९-८०—

ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात्प्रमाणता। इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ॥
वृत्तिश्चावयवेष्वस्य व्यासज्यैव प्रतीयते। ततः कात्स्न्यादि संप्रश्नः प्रत्याखेयोऽत्र जातिवत् ॥
(श्लोकवा०, वनवाद, का० ८१-८५)

अतः उक्त प्रकरणका यह सारांश है कि वनादि दृष्टान्तमें यदि ज्ञानका बाध नहीं होता, तो ठीक है। यदि बाध होता है, तो वन प्रत्यय अप्रमाण होनेपर भी जाति और अवयविके सम्बन्धमें, उत्तरकालमें बाध न होनेसे, जाति प्रत्यय-अवयवि प्रत्यय प्रमाण ही है, जो वार्तिकमें विस्तारसे वर्णित है। जिसको ग्रन्थकारने संक्षेपसे कहा है। उक्तार्थ वार्तिकमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है वनवाद, का० ९७—

इति निगदितमेतल्लोकसिद्धैः पदार्थैर्व्यवहृतिरिहशास्त्रे न स्वतन्त्राभ्युपेतैः ।
भवति तु जनदृष्ट्या जातिपङ्क्त्यादिभेदो यदि तु न घटतेऽसौ नैव बाधोऽस्ति कश्चित् ॥

तत्राभिधीयते—न हि 'अस्यायमर्थः' इति सम्बन्धकरणमिदम्, प्रसिद्धसम्बन्धकथनं ह्येतत्। कथमवगम्यते? अर्थान्तरकथने बहुभिर्निवारणात्। यो हि कश्चित् कस्मैचिद् गोशब्दस्याश्वं गवयं वार्थमाह तमन्ये बहवो निवारयन्ति – नायमस्यार्थः, सास्नादिमानस्यार्थ इति। सम्बन्धक्रियापक्षे च देवदत्तादिवद् येनैव सम्बन्धः क्रियते, स एवार्थ इति निवारणं नोपपद्यते, तस्मान्न तावदर्वाचीनाः पुरुषा अस्य शब्दस्यायमर्थोऽस्यायमर्थ इति वदन्तोपि तत्सम्बन्धकर्तृत्वेनाशङ्कनीयाः।

अर्थ वेद्यता पुरुषकृत है, स्वाभाविक नहीं)

उत्तर—इस सम्बन्धके विषयमें कहा जाता है कि इस शब्दका यह अर्थ है—'अस्यायमर्थः' इति। इस प्रकार यह सम्बन्धका कारण नहीं, किन्तु प्रसिद्ध जो सम्बन्ध है, उसीका यह कथन है। शंका—यह कैसे ज्ञात होता है? उत्तर—दूसरे अर्थको कहनेसे बहुतसे लोग उसका निषेध करते हैं। इसीको स्पष्ट करते हैं 'यो हि' इत्यादिसे। जो कोई किसीके प्रति गो शब्दका अश्व या गवय अर्थ कहता है, उसका दूसरे बहुतसे पुरुष निवारण करते हैं, कि यह इसका अर्थ नहीं। किन्तु सास्नादिमान् ही गोशब्दका अर्थ है। सम्बन्ध-करण पक्षमें देवदत्तादिकी तरह, जिससे सम्बन्ध किया जाता है, वही उसका अर्थ है। अतः उसका निवारण उपपन्न नहीं होता। इसलिए जो अर्वाचीन हैं, वे सम्बन्धको कहते हैं। अर्थात् वे सम्बन्धके वक्ता होते हैं, कर्ता नहीं। अतः अर्वाचीन पुरुष, इस शब्दका यह अर्थ है; ऐसा कहते हुए भी वे सम्बन्ध कर्ताके रूपमें आशंकाके योग्य नहीं*।

---

* वार्तिककारने सम्बन्धका कर्ता अर्वाचीन नहीं हो सकता, इसका निराकरण जोरदार शब्दोंमें किया है। वैसे ही जगदादि पक्षका भी निरास किया है। सर्गाद्यकालका भी खण्डन किया है। यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, तो उसका सृष्टि करनेका क्या प्रयोजन है, 'यदि कहा जाए जीवोंपर अनुकम्पाके लिए सृष्टि रचता है; तो दुःखमयी सृष्टि नहीं बनानी चाहिए। दूसरे उसका शरीर है कि नहीं? यदि है तो वह शरीर किससे बना है? पांच भूतोंसे नहीं कह सकते, नित्य शरीर नहीं कह सकते इनमें कोई प्रमाण न होनेके कारण, इत्यादि विकल्पोंसे सर्गादि पक्षोंका भी खण्डन किया है। इसीका विवरण वार्तिकमें इस प्रकार है—

समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेववा। क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित्॥
प्रत्येकं वापि सम्बन्धो भिद्येतैकोऽथवा भवेत्। एकत्वेकृतको न स्याद्भिन्न श्चेद्भेदधीर्भवेत्॥
भिन्नत्वे प्रतिसम्बन्धं शक्तिः कल्प्याभिधां प्रति।

यहां प्रश्न है कि ग्रन्थकारने 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' तथा 'गोरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः' इन दोनों भाष्योंको लेकर, वर्ण ही वाचक होते हैं, आकृति वाच्य होती है, ऐसा उपपादन किया है। वैसे ही सम्बन्धके उपपादनके समयमें 'अथ सम्बन्धः कः' इस भाष्यका उपपादन करना चाहिए था। अतः भाष्यकी उपेक्षाका कोई विशेष प्रयोजन तो दिखाई देता नहीं। प्रयोजनके अनुसार ही सम्बन्धका उपपादन किया जाता है। और क्रमका अंग भी होता है। अतः ग्रन्थकारका क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर है कि -पूर्वमें कहा गया है कि संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध है, अतः यहां प्रश्न ही अनुपपन्न है। और शब्द ज्ञात होनेपर अर्थका ज्ञान होता है,'यह उत्तर भी संगत नहीं है। क्योंकि यदि कोई पूछे ज्वरकी क्या ओषधि है? तो इसका कोई उत्तर दे कि जिससे वह नष्ट होता है। क्या इससे उत्तर हो गया? पूर्वमें शब्द

सर्गादिपक्षोपन्यासः तन्निरासश्च

यदि परमेवं[1] ?--सर्गादिकाले भगवता प्रजापतिना सर्वमेव स्थावरजङ्गम, धर्माधर्मौ च सृष्ट्वा संव्यवहाराय च शब्दानामर्थैः सम्बन्धं कृत्वा धर्माधर्मप्रतिपादनाय च कृतसम्बन्धैः पदैर्वेदान् कृत्वाऽऽत्मजेभ्यो मरीच्यादिभ्यः शब्दार्थसम्बन्धो वेदाश्च प्रतिपादिताः, तैरप्यन्येभ्यः तैरप्यन्येभ्य इत्येवं पूर्वपूर्वेभ्यः प्रतिपद्योत्तरोत्तरेषां शब्दार्थ-प्रतिपत्तिर्व्यवहारश्चेति ।

तदप्ययुक्तम्—इत्थम्भावे प्रमाणाभावात् । प्रथमश्रुताप्रतीतिरेव प्रमाणम्—सामयिकत्वे ह्यप्रतिपन्नसमयानामप्रतीतिः, प्रतिपन्नसमयानां च प्रतीतिर्देवदत्तादिशब्द-वदुपपन्ना भवति । स्वाभाविके तु प्रत्यायकत्वे प्रथमश्रवणेऽपि प्रतीतिः स्यादिति चेत् ? न स्वाभाविकमपि प्रत्यायकत्वमवगतं सदर्थप्रतिपत्तौ निमित्तम्, नाऽप्रतिपन्नमिति युक्तैव प्रथमश्रवणेऽर्थस्याऽप्रतीतिः । न च सर्गादिर्नाम कश्चित्कालोस्ति, सर्वदा हीदृशमेव जगदिति दृष्टानुसारादवगन्तुमुचितम् । नतु स कालोभूत् यदा सर्वमिद नासीदिति, प्रमाणाभावात् ।

(अब ग्रन्थकार सर्गादि पक्षका निराकरण करते हैं) 'यदि' इत्यादिसे । सृष्टिके आदि कालमें भगवान् प्रजापतिने स्थावर जंगमात्मक सारे जागतको तथा धर्मा-धर्मकी भी सृष्टिकरके, व्यवहारके लिए सभी शब्दोंके साथ अर्थोंका सम्बन्धकर, और धर्मा-धर्मके प्रतिपादनके लिए कृत संकेत पदों से वेदों को रचकर, अपने आत्मज मारीच्य आदिको शब्दार्थ सम्बन्ध तथा वेदोंका उपदेश दिया । उन लोगोंने अपने शिष्योंको उपदेश दिया । उन्होंने भी अपने शिष्योंको । इस प्रकार पूर्व-पूर्व से प्राप्त कर, उत्तरोत्तर लोगोंने शब्दार्थका ज्ञान तथा व्यवहार प्रचलित किया । यदि सर्गादि पक्षको इस प्रकार माना जाए तो ? यह भी ठीक नहीं, ऐसा होनेमें कोई प्रमाण न होनेके कारण ।

शंका—प्रमाणाभाव असिद्ध है, क्योंकि प्रथम श्रवणमें अर्थज्ञान न होना, यही प्रमाण है । यदि शब्दार्थका सम्बन्ध सामयिक (पुरुष संकेत कृत) होतो, जिनको शक्तिग्रह नहीं हुआ अर्थात् जो संकेतको नहीं जानते उनको प्रथम श्रवणसे अर्थज्ञान नहीं होता । जो संकेतको जानते हैं,[1] उनको अर्थज्ञान का होना देवदत्तादि शब्दकी तरह उपपन्न होता है । शब्दकी अर्थ बोधकता स्वाभाविक होने पर प्रथम बार श्रवणमें भी अर्थज्ञान होने लगेगा । यदि ऐसा हो तो ? उत्तर—यह ठीक नहीं, अर्थबोधकता स्वाभाविक होने पर भी, ज्ञात होकर, अर्थज्ञानमें निमित्त बनती है, अज्ञात होकर नहीं । अतः जिनको अर्थबोधकता ज्ञात नहीं है, उनको प्रथमबार श्रवणसे अर्थज्ञान नहीं होता ।

ज्ञानसे अर्थज्ञानका यह ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव सम्बन्ध है, यही भाष्यका अर्थ है । ग्रन्थकार अपना कोई प्रयोजन न होनेसे पूर्वोक्त सम्बन्धके अनित्यत्वकी आशंका कर, नित्यत्व विचारका आरम्भ करते हैं 'ज्ञाप्य-ज्ञापक भावेति' से । भाष्यकारने 'सिद्धवदुपदेशात्' सूत्रस्थानीय इस भाष्यसे सम्बन्धको अनादि सिद्ध किया है । अतः उसका विशेष विवरण वहीं देखना चाहिए ।

---

१. सम्बन्धस्येदानीन्तनकर्तृत्वं निरस्य जगदादिपक्षः निराकृतः, वार्तिके ग्रन्थकारस्तु तदनुसारेणैव जगदादिपक्षं निराकरोति 'यदि परमित्यादिना' ।

मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादि प्रमाणमिति चेत्? न, वेदानां पौरुषेयसंबन्धापेक्षिणां[1] स्वयं च पौरुषेयाणां शाक्यादिग्रन्थवदतीन्द्रियार्थे प्रामाण्यासंभवात्। तदप्रामाण्ये च तन्मूलानां धर्मशास्त्रादीनां दूरनिरस्तमेव प्रामाण्यम्। सर्वाभावे च सृष्टिरपि न सम्भवति। मृत्तन्त्वाद्युपादानेन हि घटादीन्युपादीयन्ते सर्वाभावे हि केनोपादानेन सर्वमिदमुपादेयम्?

अद्वैतमतेन पूर्वपक्षः

स्यान्मतम्—आत्मैवैको जगदादावासीत्, स एव स्वेच्छया व्योमादिप्रपञ्चरूपेण परिणमति बीजमिव वृक्षरूपेण। चिदेकरसं ब्रह्म कथं जडरूपेण परिणमतीति चेत्? न परमार्थतः परिणामं ब्रूमः, किन्त्वपरिणतमेव परिणतवदेकमेव सदनेकधा मुखमिवादर्शादिषु अविद्यावशाद् विवर्तमानमात्मैवात्मानं चिद्रूपं जडरूपमिव, अद्वितीयं सद्वितीयमिव पश्यति। सेयमविद्योपादाना स्वप्नप्रपञ्चवन्महदादिप्रपञ्चसृष्टिः।

शंका—यदि कहा जाए आदि सर्ग होता है, अर्थात् सृष्टि आदि कालीन है? उत्तर—सर्गादि कोई काल नहीं है। सर्वदा यह जगत वैसा ही है। (इसके विपरीत कभी न था न होगा) अतः दृष्टके अनुसार जानना ही उचित है। शंका—वैसा काल तो न हुआ, जब यह सब कुछ भी नहीं था। उत्तर—नहीं, इसमें प्रमाणका अभाव होनेसे। शंका—सृष्टि होनेमें मंत्र प्रमाण है*। जैसे 'प्रजापतिर्वा इदमेकमेवासीत्' प्रजापति अकेला ही था। उसने इच्छाकी 'इन प्रजा और पशुओंकी मैं सृष्टि करूँ' ऐसा आरम्भ कर 'उस प्रजापतिने प्रजा और पशुओंकी सृष्टिकी'§ तथा अर्थवाद-इतिहास-पुराण आदि सृष्टिमें प्रमाण हैं। उत्तर—नहीं, वेद आदि पुरुषके सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं, तो वे इन्द्रियागोचर अर्थमें प्रमाण नहीं हो सकते। इसमें दृष्टान्त है—जैसे पुरुष प्रणीत शाक्यादि ग्रन्थ। वे ग्रन्थ अलौकिक (अतीन्द्रिय) अर्थमें प्रमाण नहीं होते। वेदके अप्रामाण्य होनेपर, वेदमूलक धर्मं शास्त्रादि ग्रन्थोंका प्रामाण्य दूर निरस्त होगा। और सुनिए—सबके अभावमें सृष्टि भी नहीं बन सकती। मृत्तिका तन्तु आदि उपादानसे ही घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं। सबके अभावमें किस उपादान कारणसे ये सभी कार्य सिद्ध होंगे?

शंका (अद्वैतवेदान्तिकी ओरसे पूर्वपक्ष 'स्यान्मतम्' इत्यादिसे) पूर्वोक्त प्रकार न हो, पर ऐसा हो सकता है, कि एक ही आत्मा प्रपंचके आदि में था। वही अपनी इच्छाके अनुसार आकाश आदि प्रपंचके रूपसे परिणत होता है। इसमें दृष्टान्त है जैसे वृक्षके रूपसे परिणत होता है। (यहाँ परिणाम शब्द विवर्तका बोधक है) चैतन्य रूपसे एक-रस ब्रह्म कैसे जड़ रूपमें परिणत हो सकता है? ऐसी शंका करें तो, हम परमार्थरूपसे परिणाम नहीं कहते, किन्तु स्वयं अपरिणत ही ब्रह्म परिणतकी तरह दिखाई देता है। एक होनेपर भी अनेक रूपसे प्रतीत होता है। इसमें अविद्या ही कारण है। दृष्टान्त है—जैसे दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बित

* जो मंत्रादि कहे गए हैं, उनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं, वे विध्यन्तर प्ररोचनाके लिए हैं, अतः उनका सृष्टिमें तात्पर्य नहीं समझना चाहिए।

§ 'प्रजापतिर्वा इदमेकमेवासीत्सोऽकामयत प्रजाः पशून्सृजेय' इत्युपक्रम्य 'ततः स प्रजाः पशूनसृजत' इति श्रुतिरेवात्र प्रमाणम्।

1. सम्बन्धापेक्षाणामिति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।

तथा—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ०) 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किंचन' (कठोपनिषत्) इत्यादयो बहवोऽद्वैतवादाः। तथा—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० उ०) इति भेदावगतेर्व्यक्तमेव मायानिबन्धनत्वं दर्शितम्। तथा 'लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद' इत्यादिनानात्मदर्शने निन्दा, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति च नानात्वदर्शननिन्दा, सर्वमिदमद्वितीयमेव ब्रह्म पारमार्थिकम्, भेददृष्टिश्चाविद्योपादानेत्येतमर्थं प्रकटयतीति।

अद्वैतमतस्य खण्डनम्

किमिदानीमसन्नेवायं प्रपञ्चः? ओमिति चेत्? न, प्रत्यक्षविरोधात्। यथा च[1] प्रत्यक्षं प्रपञ्चसद्भावग्राहकं तथोक्तं प्रत्यक्षसूत्रे। न चागमेन प्रत्यक्षबाधः सम्भवति, प्रत्यक्षस्य शीघ्रप्रवृत्तत्वेन सर्वेभ्यो बलीयस्त्वात्।

होता है, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यह आत्मा ही विवर्त होते हुए, अपने चिद्रूपको जड़की तरह देखता है। अद्वितीय होकर, द्वितीयके समान अपनेको देखता है। अतः महदादि प्रपंचकी सृष्टि होती है, जिसका उपादान कारण है अविद्या॥। दृष्टान्त है—स्वाप्न प्रपंचकी तरह। यहाँ अद्वैतके प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य हैं, जैसे 'यह सारा नाम रूपात्मक प्रपंच ब्रह्म ही है' 'यह सारा प्रपंच आत्मा ही है' 'इस ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है' अर्थात् द्वैत नहीं है। ऐसे बहुतसे अद्वैतके प्रतिपादक वाक्य उपपन्न होते हैं। और 'इन्द्र—परमेश्वर मायाशक्तियोंसे अनेकरूप होकर, प्रतीत होता है। (अर्थात् मायागत सत्व-रज-तम आदि शक्तियोंसे अनेक रूपताको प्राप्त करता है) इस प्रकार भेदका ज्ञान माया हेतुक स्पष्ट ही दर्शाया गया है। इसी प्रकार 'लोगोंने उसे परास्त किया, जो आत्मासे भिन्न दूसरेको जानता है' इत्यादिसे अनात्मदर्शनकी निन्दाकी गई है। तथा 'और वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त करता है, जो इसको नानात्व रूपमें देखता है' यह भी नाना आत्मा दर्शनकी निन्दा है। अतः यह सारा प्रपंच अद्वितीय ब्रह्म ही है। वही पारमार्थिक है। और भेद-दृष्टि आविद्यिक है उपर्युक्त अर्थ इस बातको स्पष्ट करता है। (यह अद्वैत-वेदान्तीके पूर्वपक्षका संक्षेप है)

उत्तर—क्या आपकी दृष्टिमें यह प्रपंच असत् ही है? यदि हाँ, तो यह नहीं कह सकते, प्रत्यक्षका विरोध होनेसे (इस विषयका विवेचन पूर्वमें 'सन्मात्र विषयक ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है' इस मतके निरास प्रसंगमें कहा गया है) जैसे—प्रत्यक्ष प्रपंच सद्भावका ग्राहक है, यह प्रत्यक्ष सूत्रमें कहा गया है। शंका—आगमसे प्रत्यक्षका बाध क्यों नहीं होता? उत्तर—प्रत्यक्ष शीघ्र प्रवृत्त होनेसे सबसे बलवान है। शंका—अपच्छेदन्यायसे§ पूर्व प्रवृत्त प्रत्यक्ष आगमसे पश्चात् बाधित होता है। उत्तर—प्रत्यक्षसे ही आगमकी प्रवृत्तिका निरोध किया जाता है। (अर्थात्

॥ वह अविद्या विद्याकी विरोधिनी है, अभावरूपा न होकर, भावरूपा है और ज्ञानसे निवृत्त होती है। 'अनादि भावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्' अतः वह अनिर्वचनीया है।

§ अर्थात् जैसे 'यह रजत है', इस ज्ञानका 'यह रजत नहीं है' इस उत्तर कालीन ज्ञानसे बाध होता है, वैसे ही पौर्वापर्यसे प्रवृत्त प्रत्यक्षका आगमसे बाध होगा, यही 'अपच्छेदन्याय है'। इसका यह स्वरूप है कि—अग्निष्टोम नामक सोमयागमें बारह स्तोत्र होते है—

---

१. तथाचेति 'क' पुस्तके पाठः।

न च पौर्वापर्यन्यायेन प्रवृत्तमेव प्रत्यक्षमागमेन पश्चाद्बाध्यत इति वाच्यम्, आगमस्य प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिनिरोधात्[1]। आगमप्रवृत्तिसमयेपि हि भेदप्रपञ्चमुपदर्शयत्[2] प्रत्यक्षमागमप्रवृत्तिमेव निरुणद्धि। यथा खलूत्पत्तुमुपक्रममाण एव घटो दण्डेनाहन्यमानो नोत्पत्तुं प्रभवति तथागमोपि। किं च प्रपञ्चाभावं प्रतीयतावश्यमागमोपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसद्रूपतया प्रत्येतव्यः। कथं चागमेनैवागमस्याभावः प्रतीयेत? असद्रूपतया हि प्रतीयमानो न कस्यचिदप्यर्थस्य प्रमाणं स्यात्। प्रामाण्यं वा नाऽसत्त्वम्।

आगमसे अद्वैत—विषयक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पद श्रवण, पदार्थोपस्थिति आदि अपेक्षित हैं। यहाँ प्रत्यक्ष उपजीव्य है। आगम उपजीवक है, अतः आगमसे बाध ही नहीं होगा) आगमकी प्रवृत्तिके समय भी भेद-प्रपंचको दिखलाते हुए प्रत्यक्ष, आगम प्रवृत्तिको ही रोक देता है। जैसे उत्पद्यमान घट पर दण्डसे आघात करनेसे घट उत्पन्न ही नहीं हो सकता। वैसे आगम भी उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण। और सुनिए—प्रपंचाभावको जाननेके लिए उत्सुक पुरुषको यह भी अवश्य समझना होगा, कि आगम भी प्रपंचके अन्तर्गत होनेसे असद्रूप ही है। और आगमसे ही आगमका अभाव कैसे प्रतीत होगा? असद्रूपसे प्रतीत होनेवाला आगम किसी भी अर्थका प्रमापक नहीं हो सकता। यदि आगम प्रमाण है, तो उसका असत्व कैसे?

(अब अनिर्वचनीयवादी चित्सुखाचार्य किस प्रकार अपने पक्षका उपपादन करते हैं, उसे बताते हैं 'कश्चित' इत्यादिसे 'अयं प्रपंचः' तक) कोई कहता है हम प्रपंचको असत् नहीं कहते, प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण। यदि कहें प्रपंच परमार्थ सत्य है, तो यह भी नहीं कह सकते, आत्मज्ञानसे बाध्यमान होनेके कारण। अतः प्रपंच सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, किन्तु

बहिष्पवमान स्तोत्र–१, आज्य स्तोत्र–४, पृष्ट स्तोत्र–४, माध्यन्दिन पवमान–१ और आरभवपवमान–१ अग्निष्टोम स्तोत्र–१। इनमें बहिष्पवमान स्तोत्र प्रातः सवनमें 'सदो' नामक मण्डपसे बाहर जाकर किया जाता है। बाकी सब मण्डपमें बैठकर किये जाते हैं। बाहर जाते समय चींटीकी तरह पंक्तिबद्ध होकर जाना होता है। उस समय जो आगे जाता है उसके कच्छको पकड़कर, पीछेवालेको जाना होता है। यदि कोई प्रमादसे कच्छको छोड़ देगा तो वही अपच्छेद कहलाता है। विच्छेदको अपच्छेद कहते हैं। यदि पहिले उद्गाताका अपच्छेद हो जाए तो विना यज्ञके उस प्रयोगको समाप्तकर, पुनः उसका अनुष्ठान करे। उसमें पूर्व—संकल्पित दक्षिणा ही देनी चाहिए। यदि प्रतिहर्ता कच्छ छोड़ दे तो सर्वस्व दानका विधान है। यथा—'यद्युद्गातापच्छिद्येताऽदक्षिणो यज्ञः संस्थाप्यः, अथान्य आहृत्यस्तत्र तद्दद्यात् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्। यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्व वेदसं दद्यात्'। जहाँ पहिले उद्गाता और बादमें प्रतिहर्ताका अपच्छेद होता है, वहाँ एक प्रयोगमें अदाक्षिण्य और सर्वस्वदान दोनों नहीं हो सकते। अतः पूर्वसे उत्तरका बाध होता है यह सिद्धान्तका संक्षेप है। पर उत्तरसे ही पूर्वका बाध होता है, क्योंकि पूर्वके उत्पत्ति समयमें उत्तर तो है ही नहीं। उत्तर के समय तो विना पूर्वज्ञान का बाध किये उत्तर ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः उत्तरसे ही पूर्वका बाध होता है, यह ऊपर कह चुके हैं। अतः अपच्छेद न्याय ही पौर्वापर्यन्याय है। इसका विशेष विवरण मीमांसा दर्शनके अ० ६, पा० ५, अधि० १९ में देखना चाहिए।

१. प्रवृत्तिविरोधादिति 'क' पुस्तके पाठः। २. उपनयदिति क्वचित्पाठः।

एतन्मतानुसारिणः शंका तन्निरासश्च

कश्चित्[1] पुनराह—नासत्त्वं प्रपञ्चस्य ब्रूमः, प्रत्यक्षादिप्रमाणतः सिद्धत्वात्। नापि परमार्थतः सत्त्वम्, आत्मज्ञानेन बाध्यमानत्वात्, तस्मात् सदसभ्यामनिर्वाच्योयं प्रपञ्च इति।

तदिदमसारम्—सतोऽन्यत्वमेवाऽसत्त्वम्। तद् यदि प्रपञ्चः सन्न भवति व्यक्तमसन्नेवायम्, असत्त्वाभावे वा सत्त्वापत्तिः, सदसत्त्वयोरेकनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वात्। न च विधाद्वयरहिते विधान्तरं सम्भवति।

अथापि यन्न कदाचित्प्रतीयते तदसद् यथा शशविषाणम, यत् प्रतीतं न बाध्यते तत्सद्, यथात्मतत्वम्, प्रपञ्चस्तु प्रतीयमानत्वाद्बाध्यमानत्वाच्च भावाभावाभ्यामनिर्वाच्य इति मतम्। तदनुपपन्नम्। लोकविरोधात्। यद्धि प्रतीतं बाध्यते मृगतोय-रज्जुसर्पादि, तदसदेवेति लौकिकी प्रसिद्धिः। न हि शशविषाणादीनां मृगतोयादीनां च कश्चिद्विशेषो लोके। सोयं प्रपञ्चोपि बाध्यते चेत्? असन्नेवेति, नानिर्वाच्यत्वम्।

अनिर्वचनीय है। (उक्तार्थका संग्रह चित्सुखाचार्यने श्लोकों द्वारा किया है, मूलमें देखिए) उक्त मतका निरास करते हैं 'तदिदं' से। यह उक्त मत निःसार है। क्योंकि जो सत्‌से भिन्न होता है, वही असत्व है। यदि प्रपंच सत् नहीं होता तो स्पष्ट है कि यह प्रपंच असत् ही है। या असत्वके अभावमें सत्वकी आपत्ति होगी। अर्थात् प्रपंच सत् होगा, क्योंकि सत्व—असत्व इन दोनोंमें किसी एकका निषेध करनेपर, दूसरा नान्तरीयक होता है। (अर्थात् अनायास सिद्ध होता है) शंका—यदि दो प्रकार नहीं हो सकते तो तीसरा प्रकार हो जाए? उत्तर—उक्त दो प्रकार न होनेसे तीसरा प्रकार हो नहीं सकता (अतः प्रपंचको अनिर्वचनीय नहीं कह सकते)

शंका—जो कभी प्रतीत नहीं होता वह असत् हैं, जैसे शश-विषाण तथा जो प्रतीत होकर कभी भी बाधित नहीं होता वह सत् कहलाता है, जैसे आत्मतत्त्व। प्रपंच तो प्रतीतिका विषय भी होता है, बाधित भी होता है। इससे भाव और अभावरूपसे अनिर्वचनीय है। यही प्रपंच अनिर्वचनीय पक्षका अभिप्राय है। उत्तर—यह अनुपपन्न है, लोक विरोध होनेसे। जो प्रतीत होकर बाधित होता है मृगतोय (सूर्य किरणमें जल बुद्धि) तथा रज्जुमें सर्पादि, वह असत् ही हैं, ऐसी लोकमें प्रसिद्धि है। शशविषाण और सूर्यरश्मिमें जल, इन दोनोंकी लोकमें कोई विशेषता नहीं है। वैसे यह प्रपंच भी बाधित हो तो असत् ही होगा, अनिर्वचनीय नहीं।

शंका—यदि लोक प्रसिद्धिका अनादरकर, वृद्धिगुण आदिकी तरह, यह अनिर्वचनीय पारिभाषिक माना जाए*। उत्तर—यह भी अयुक्त है; क्योंकि प्रपंचका बाध न होनेके कारण।

---

* अर्थात् अकार, ऐकार, औकारकी वृद्धि तथा अकार, एकार, औकारकी गुण संज्ञा पारिभाषिक है, ऐसा वैयाकरण मानते हैं। वैसे ही यह प्रपंचकी अनिर्वचनीयता यदि पारिभाषिक है, ऐसा मानें तो क्या दोष है?

---

१. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं नयत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥ इति। (चित्सुखीयम्)

अथापि लोकप्रसिद्धिमनादृत्य वृद्ध्यादिवत् परिभाषारूपेणानिर्वाच्य इत्युच्यते? तथाप्ययुक्तम्, प्रपञ्चस्य बाधाभावात्। न तावत्संसारावस्थायामागमेन बाधः सम्भवतीत्युक्तम्। मुक्तस्य तु बाधकज्ञानं नाशङ्कनीयमेव प्रलीनसर्वकरणत्वात् करणाभावे च ज्ञानाऽसम्भवात्। न चास्मर्यमाणस्य प्रपञ्चस्याभावः शक्यते प्रत्येतुम्, न च तस्यामवस्थायां सम्भवति स्मरणम्, सर्वसंस्काराणामुच्छिन्नत्वात्, तस्मान्न बाधसम्भवः।

प्रपञ्चस्याविद्यकत्वनिरासः

यच्चाविद्याकृतोयं प्रपञ्च इति, का पुनरियमविद्या? किं भ्रान्तिज्ञानम्? किं वा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतं वस्त्वन्तरम्? यदि भ्रान्तिः, सा कस्य? न ब्रह्मणः, तस्य स्वच्छविद्यारूपत्वात्। न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः सम्भवति। न च जीवानाम्, तेषां ब्रह्मातिरेकेणाभावात्। भ्रान्त्यभावादेव च तत्कारणभूतंवस्त्वन्तरमप्यनुपपन्नमेव। ब्रह्मातिरेकेण भ्रान्तिज्ञानं तत्कारणं चाभ्युपगच्छतामद्वैतहानिः।

किंकृता च ब्रह्मणोऽविद्या? न हि कारणान्तरमस्ति। स्वाभाविकीति चेत्? कथं विद्यास्वभावमविद्यास्वभावं स्यात्। स्वाभाविकत्वे चास्याः केन विनाशः स्यात्? आगमिकं ध्यानादि, तज्जन्यं वा स्वरूपज्ञानं ब्रह्माऽविद्यां नाशयतीति चेत्? न, न ह्यागमो वा

संसारावस्थामें आगमसे बाध नहीं होता, यह आपने कहा है। मुक्त जीवोंके तो बाधक-ज्ञान होनेकी शंका का अवसर ही नहीं। चक्षुरादि सभी इन्द्रियोंके लीन होनेसे, करणके अभावमें ज्ञानका होना सम्भव नहीं। स्मृतिके विषय प्रपंचका अभाव समझ नहीं सकते। उस अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकता, सभी संस्कारोंका उच्छेद होनेके कारण। अतः प्रपंचका बाध सम्भव नहीं।

मध्यस्थकी शंका—यदि कहा जाए प्रपंच अविद्यासे निर्मित है? उत्तर—अविद्या किसे कहते हैं? क्या भ्रान्तिज्ञान अथवा भ्रान्तिज्ञानकी कारणभूता कोई दूसरी वस्तु है? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि यह भ्रान्ति किसकी है? ब्रह्मकी तो नहीं कह सकते, ब्रह्म तो स्वच्छ ज्ञानरूप है। सूर्यमें अन्धकारको कोई स्थान नहीं होता। यदि कहा जाए जीवोंकी है, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न जीवोंका अभाव है। (अतः भ्रान्तिका होना सम्भव नहीं) और भ्रान्तिके न रहनेसे उसकी कारणभूत दूसरी वस्तु भी अनुपपन्न ही है। और सुनिए—ब्रह्मसे भिन्न भ्रान्तिज्ञान तथा उसका कारण माननेवाले आप वेदान्तियोंके पक्षमें अद्वैतकी हानि होगी❀। शंका—ब्रह्मकी अविद्या किससे बनी है? क्योंकि दूसरा कोई कारण है नहीं? यदि कहें ब्रह्मको अविद्या स्वाभाविक है? उत्तर—ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अविद्यास्वभाव कैसे होगा? और अविद्याके स्वभाव सिद्ध होनेसे उसका विनाश किससे होगा? यह भी दोष आ जाएगा। शंका—ब्रह्मकी अविद्याके शास्त्र-जन्य ध्यानादि निवर्तक होंगे। अथवा ध्यानादिसे उत्पन्न ब्रह्म स्वरूप साक्षात्कार

❀ इसी अभिप्रायसे विद्वानोंने कहा है कि अज्ञानके सद्भावमें लौकिक या वैदिक प्रमाण नहीं दिखाई देता। कार्य दृष्टिसे यदि कल्पना करें तो लाघवसे एक ही अज्ञान सिद्ध होगा। यथा—'लौकिकी वैदिकी वापि नाज्ञाने दृश्यते प्रमा। कार्यं दृष्ट्याथ कल्प्यं चेल्लाघवादेकमेव तत्॥' और जीवतो अविद्याके बाद ही उत्पन्न होते हैं। अतः पूर्वमें सिद्ध अज्ञान उनकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म हीको कारण मानना होगा, तब मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा।

ध्यानादयो वा तज्जन्यं वा ज्ञानं नित्यज्ञानात्मकब्रह्मातिरिक्तमस्ति, यदविद्यां नाशयेत्। तद्वरमस्मान्मायावादान्महायानिकवादः, यत्र नीलपीतादिवैचित्र्यं कार्यकारणभावो बद्धमुक्तादिव्यवस्था च सन्तानभेदेन समर्थ्यते। नित्यमेकरसं निष्प्रपञ्चमात्मानमुपेयुषां तु समस्तलोकवेदव्यवहारोच्छित्तिरेव स्यात्।

यदप्याहुः—अज्ञानजन्यः प्रपञ्चो ज्ञानेन विनाश्यते मृगतोयवत् स्वप्नप्रपञ्चवच्चेति। तदप्ययुक्तम्, यदि कुलालादिव्यापारस्थानीयेनाज्ञानेन घटवदुत्पन्नः प्रपञ्चो मुसलस्थानीयेन ज्ञानेन नाश्यते, तथापि नासत्त्वं प्रपञ्चस्य स्यात्, उत्पत्तिविनाशयोगादनित्यतामात्रं स्यात्, नात्यन्ताभावः।

अविद्याका नाश करेगा, ऐसा कहें, तो? उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि आगम (शास्त्र) या ध्यानादि या उससे जन्य साक्षात्कार नित्य ज्ञानरूप ब्रह्मसे भिन्न है ही नहीं, जो अविद्याका नाशकर सके। अतः मायावादसे तो महायानिकवाद (बौद्ध सिद्धान्त) ही श्रेयस्कर है, जिसमें सन्तान भेद या अवस्था भेदसे कोई ज्ञान नीलको विषय करता है, कोई ज्ञान पीतका भान कराता है। ऐसे ही कोई कार्य रूपसे भासता है, कोई कारणरूपसे। और कोई नील-पीतादिरूपसे परिणाम अवस्थामें बद्ध होते हैं। परिणामकी निवृत्ति होनेसे मुक्त होते हैं। इत्यादि व्यवस्थाका समर्थन किया गया है§। अद्वैतवादमें नित्य एकरस, प्रपंचाभावसे उपलक्षित आत्मस्वरूपको माननेवालोंके मतमें समस्त लोक तथा वेद व्यवहारका उच्छेद होगा❀।

(ग्रन्थकार पूर्वपक्षीका अनुवाद करते हैं) यह जो कहा गया है, प्रपंच अज्ञानसे उत्पन्न होता है, और वह ब्रह्मसाक्षात्कारसे नष्ट होता है। मृगतोय और स्वप्न प्रपंचकी तरह§। उत्तर—यह भी युक्ति-युक्त नहीं। जैसे कुलालके व्यापारसे घट उत्पन्न होता है और मूसलसे उसका नाश होता है, वैसे ही अज्ञानसे जन्य प्रपंच ज्ञानसे नष्ट होता है। यहाँ कुलाल व्यापार स्थानीय

---

§ अतः बौद्धोंने सभी पदार्थोंका क्षणिक विज्ञानमात्रसे समर्थन किया है जैसे कि कहा गया है—
'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्चभ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥
तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्'॥

❀ अर्थात् अद्वैतवादमें तो श्रुतिका असत्व और प्रामाण्य दोनों परस्पर विरुद्ध हैं और ब्रह्म ही ज्ञानैकरूप है। वह अविद्याका आश्रय भी है। प्रपंच असत् है। उसकी निवृत्तिका उपाय करना चाहिए, इत्यादि सब परस्पर विरुद्ध कहा गया है। इससे तो अच्छा है बौद्धवाद। क्योंकि जब एक ही ब्रह्म है, तो व्यवहार तथा वेदादि व्यवहार आपके मतमें कैसे बनेंगे?

§ अर्थात् प्रपंच अज्ञानका कार्य है। इसमें प्रथम दृष्टान्त है मृगतोय=मरुमरीचिकामें प्रतीत होनेवाला जल। दूसरा दृष्टान्त है स्वाप्नप्रपंच। पहिले ज्ञानका 'यहाँ जल नहीं है' इस बाधक ज्ञानसे बाध होता है। स्वाप्न प्रपंचका जाग्रत् ज्ञानसे बाध होता है। वैसे ही निर्विशेष आत्मज्ञानसे प्रपंचका बाध होता है। ब्रह्मज्ञान तो मोक्षका साधन है। और मोक्ष प्रपंच निवृत्तिसे उपलक्षित ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः प्रपंच अज्ञान जन्य है। नहीं तो ब्रह्म-ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अज्ञान और उसका कार्य इन दोनोंकी ज्ञानसे निवृत्ति होती है।

केन च ज्ञानेन नाशः? नात्मज्ञानेन, विरोधाभावात्। निष्प्रपञ्चात्मज्ञानेनेति चेत्? न, तत्रात्मज्ञानांशस्याविरोधात्। निष्प्रपञ्चत्वज्ञानं विनाशकमिति पारिशेष्यादापन्नम्—प्रपञ्चाभावश्च निष्प्रपञ्चत्वम्, न च विद्यमाने प्रपञ्चे तदभावज्ञानमुत्पत्तुमर्हति। ज्ञानेन ह्युत्पन्नेन प्रपञ्चो नाशयितव्यः, प्राक् च ज्ञानात् सद्रूप एव प्रपञ्चः, तस्मिन् सद्रूपेऽवस्थिते कथं तदभावविषयस्य ज्ञानस्योत्पत्तिः। तत्र ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां प्रपञ्चस्य नाशः, तद्विनाशे च सति तदभावविषयज्ञानोत्पत्तिरितीतरेतराश्रयत्वम्।

उक्तन्यायस्यान्यत्रातिदेशः

एतेन मृगतृष्णिकाजलस्य ज्ञानविनाश्यत्वं प्रत्यूढम्। न हि तज्जलं सत् पश्चान्नाश्यते? प्रागपि हि तत्र नैव जलम्, अजलमेव हि रश्मिप्रतप्तमूषरं भ्रान्त्या जलात्मनावगतं पश्चाद्बाधकेन यथावस्थितरूपमवगम्यत इत्यलमनेन बालजल्पितेन।

इति–अद्वैतमत निरासः॥

है अज्ञान। मुसल स्थानीय है ज्ञान; ऐसा समझना चाहिए। ऐसा होनेपर भी प्रपंचका असत्व नहीं हो सकता। किन्तु उत्पत्ति या विनाशका सम्बन्ध होनेसे अनित्यता मात्र सिद्ध होगी। अत्यन्ताभाव नहीं।

शंका—किस ज्ञानसे प्रपंचका नाश होता है? (अर्थात् क्या आत्मज्ञानसे या निष्प्रपंच आत्मज्ञानसे? ये दो विकल्प हैं) इनमें प्रथम विकल्प ठीक नहीं। विरोध होनेसे बाध्य-बाधकभाव होता है आत्मज्ञानका प्रपंचके साथ विरोध तो है नहीं। तब द्वितीय पक्ष लीजिए वह भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्मज्ञान अंशका प्रपंचसे विरोध नहीं। अर्थात् इस पक्षमें दो अंश हैं—निष्प्रपंचत्व और आत्मज्ञानत्व। ज्ञानांशका तो प्रपंचसे विरोध है ही नहीं। अतः परिशेष न्यायसे* निष्प्रपंचत्व ज्ञान ही विनाशक होता है यह आया। (यहाँतक सिद्ध हुआ कि निष्प्रपञ्चत्व ज्ञान प्रपंचका विनाशक है। निष्प्रपंचत्व नाम है—प्रपंचाभावका) प्रपंचके रहनेपर उसका अभाव-ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। उत्पन्न ज्ञानसे ही प्रपंचका नाश करना होगा। ज्ञान होनेसे पहिले प्रपंच तो सद्रूप है। सद्रूप प्रपंचके रहनेपर, तदभाव विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे होगी? (इसमें अन्योन्याश्रय दोष बताते हैं) 'तत्र' इत्यादिसे। ज्ञान उत्पन्न होनेपर प्रपंचका नाश होगा। नाश होनेपर प्रपंचाभाव विषयक ज्ञान उत्पन्न होगा। यह अन्योऽन्याश्रय दोष है। (अतः अज्ञान-जन्य प्रपंच है, ज्ञानसे उसका नाश होता है, यह पक्ष अयुक्त है)

उक्त न्यायका अतिदेश करते हैं—'एतेन' इत्यादिसे। इससे मृगतृष्णाके जलका, ज्ञानसे नाश होना यह भी निरस्त है। इसीका उपपादन करते है 'नहि' से। वह मृगतृष्णाका जल विद्यमान होकर, पश्चात् उसका नाश हो, ऐसा नहीं होता। पहिले भी वहाँ जल नहीं था। बिना जलके ही सूर्य किरणोंसे तपा हुआ मरूस्थल भ्रान्तिसे जलात्मना ज्ञात होकर, बादमें बाधकसे ज्योंका त्यों ज्ञात होता है। उक्त वादार्थका उपसंहार करते हैं—बच्चोंकी-सी बातें मत करिए।

॥ इस प्रकार अद्वैतवाद मतका निरास हुआ॥

(इस प्रकार अद्वैतवाद निरास प्रकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

---

* परिशेष न्यायका स्वरूप है—'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः'।

केचित्त्वौपनिषदाः[1]—परमार्थत एवात्मा प्रपञ्चरूपेण स्वेच्छया परिणमतीति मन्यन्ते। तथा च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्येकस्यैव सन्मात्ररूपतया प्रागवस्थितस्यात्मनोऽनेकव्योमादिभेदभिन्नप्रपञ्चरूपेण बीजस्येव वृक्षरूपेण परिणामो दर्शितः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यौपनिषदा वादाः पुराणवादाश्चाऽस्मिन्नर्थे शतशो दृश्यन्ते। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि तु धर्मिभेदाभावाभिप्रायम्, तद्यथैको वृक्षः प्रादेशमात्रादूर्ध्वं नानाशाखोऽवस्थितो दूरस्थैर्नाना वृक्षा इति गम्यते। तद्वेदिनश्चान्ये तेभ्यः कथयन्ति—'नेमे नानावृक्षाः किं त्वेक एवायं वृक्षो नानाशाखोऽवस्थितः' इति। तथा नामरूपप्रपञ्चं नानारूपं पश्यताम्, मूलकारणस्यैकस्यात्मनोऽयं नानारूपः परिणाम इत्येवमजानतां तत्त्वकथनार्था एवंविधा वादाः। सर्वमेकस्यैव विस्तारः, न किञ्चिदत्र नानास्तीति।

ये च पुनरसत्त्ववादाः प्रपञ्चविषया अविद्यावादा भ्रान्तिवादा मायावादाश्च,

(इस प्रकार ग्रन्थकार अद्वैतवादका निराकरण करके, परिणामवादी भास्करके मतका 'केचित्' इत्यादि से उपपादन करते हैं) कुछ उपनिषद्के व्याख्याता भास्कर आदि मानते हैं कि परमार्थरूपसे ही आत्मा प्रपंचके रूपमें अपनी इच्छासे परिणत होता है। जैसे श्रुति है 'सृष्टिके पहिले यह सद्रूप ब्रह्म ही था और वह सजातोय—विजातीय स्वगतभेद शून्य था' 'उसने संकल्प किया मैं बहुत हो जाऊँ' इस प्रकार एक ही सन्मात्ररूपसे आत्मा सृष्टिके पहिले था। वही अनेक आकाशादि भेदसे भिन्न प्रपंच रूपसे परिणत होता है। जैसे वृक्ष बीजरूपसे परिणत होता है। उक्त अर्थके प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य तथा पुराण वाक्य सैकड़ों दिखाई देते हैं। 'इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि। कुछ श्रुतियाँ 'यह सब पुरुष ही है, इसमें नाना भेद है ही नहीं'। इत्यादि धर्मिका भेद न होनेके तात्पर्यसे कही गई हैं। इसीका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं—जैसे एक वृक्ष बलिश्तमात्र ऊँचाईपर अनेक शाखाओंसे युक्त, दूरमें होनेवाले व्यक्तियोंको 'नाना वृक्ष हैं' ऐसा दिखाई देता है। और वृक्षको जाननेवाले व्यक्ति दूसरोंसे कहते हैं, कि यह नाना वृक्ष नहीं है, किन्तु एक ही वृक्ष अनेक शाखाओंके रूपमें अवस्थित है। उसी प्रकार नानारूप जो प्रपंच है, उसका यह नाम है, यह रूप है, ऐसे प्रपंचको देखनेवालोंको, मूल- कारण आत्मा एक ही है, उसका यह नानारूप परिणाम है, इस बातको जो नहीं जानते, उनको तत्त्व समझानेके लिए इस प्रकारके वाद हैं। सब एक हीका विस्तार है। इसमें कुछ भेद नहीं।

जो असत्ववाद हैं वे प्रपंचको विषय करते हैं। जैसे—'हे ईश्वर! आप अकेले ही परमार्थ हैं, दूसरा जगतका स्वामी और कोई नहीं'। अतः 'ज्ञानको छोड़कर और कोई वस्तु है ही नहीं 'परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतःपते' 'तस्मान्न विज्ञानमृतेस्ति किंचित्, क्वचित्, कदाचिद् द्विजवस्तुजातम्'। इसी प्रकार प्रपंच विषयक अविद्यावाद भी हैं—

भवत्यभेदो, भेदश्च तस्याऽज्ञानकृतो भवेत्। चतुर्विधो विभेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः॥

इसी प्रकार भ्रान्तिवाद भी हैं। जैसे—

१. अविकृतब्रह्मपरिणामवादिनो भास्करस्य मतमुत्थापयति केचिदित्यादिना, उपपन्नेत्यन्तेन।

ते सर्वे प्रपञ्चस्यानित्यत्वादौपचारिकाः । यथा मृगतोयरज्जुसर्पस्वप्नप्रपञ्चादयः किंचित्कालमाविर्भूय पश्चाद्विलीयन्ते, तथा भेदप्रपञ्चरूपो ब्रह्मपरिणामोप्याविर्भवति विलीयते चेत्याऽऽविर्भावतिरोभावधर्मकत्वसाम्यादसन्नित्युपचर्यते । तस्य चाऽसत्कल्पत्वे तद्विषयस्य ज्ञानस्यापि सिद्धयत्यौपचारिकं भ्रान्तित्वम् । मायानिबन्धनत्वं च—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिषु युक्तमुपचारेण वक्तुम् । 'आत्मैवैकः सत्यः' इति च तस्यैव नित्यत्वादुच्यते, यथा 'गो अश्वा' एव पशवोऽन्ये त्वपशवः' इति, तथेदं द्रष्टव्यम् ।

यस्त्वेवं विधान् वादान् यथाश्रुतार्थान् गृह्णाति स पश्वन्तरेष्वपशुत्ववादम्, 'आदित्यो यूपः' इत्यादि च यथाश्रुतं गृह्णीयात् । अथ तत्र प्रमाणान्तरविरोधः, सोऽत्रापि समानः । अथार्थवादत्वात्तत्र न यथाश्रुतार्थग्रहणम्, तदपि समानम्, प्रपञ्चस्याप्यसत्यत्वं वैराग्यजननार्थम्, आत्मनश्च परमार्थत्वं मुमुक्षूणामुत्साहजननार्थम् ।

'भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः' 'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ।
तदेवार्थस्वरूपेणभ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥

और मायावाद भी हैं—जैसे—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' इति । ये सब प्रपञ्चके अनित्य होनेसे औपचारिक हैं । इसमें दृष्टान्त है मृगतोय, रज्जु-सर्प, स्वाप्नप्रपञ्च आदि । ये कुछ कालतक आविर्भूत होकर, बादमें विलीन होते हैं । इसी प्रकार भेद प्रपंचरूप ब्रह्मका परिणाम भी आविर्भूत होकर विलीन होता है । अतः आविर्भाव तिरोभाव धर्मोंकी समानता होनेसे प्रपंच असत् है, ऐसा उपचारसे कहा जाता है । उसके असत्कल्प होनेसे तद्विषयक ज्ञान की भी औपचारिक भ्रान्ति सिद्ध होती है ।

इसी प्रकार माया के निमित्तको भी औपचारिक कहना उचित है । 'यह परमेश्र मायाशक्तियोंसे अनेक रूपको प्राप्त करता है' इत्यादि श्रुतियोंमें उपचारसे कहना युक्त है । 'आत्मा ही एक सत्य है' इस वाक्यसे उसीको नित्य कहा जाता है । (जैसे गौ और अश्वकी प्रशंसाके लिए गौ और अश्वसे भिन्न पशुओंको अपशु कहा गया है) 'गौ और अश्व ये ही दोनों पशु हैं और इनसे भिन्न अपशु हैं* । (अर्थात् पशु नहीं है)

जो (अद्वैती) पुरुष ऐसे वादोंको यथा श्रुत ग्रहण करता है, वह दूसरे पशुओंमें भी अपशुत्ववादको यथाश्रुत ग्रहण करेगा । 'यह यूप आदित्य है' इसको भी यथाश्रुत ही ग्रहण करेगा । शंका—यदि कहा जाए उक्त 'अपशवो गोऽश्वः' 'आदित्यो यूपः' इन स्थलोंमें प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष) से विरोध है । (अतः वहाँ ऐसा अर्थवाद माना गया है । प्रकृतमें तो कोई विरोध नहीं) उत्तर—

* मीमांसा दर्शनके अध्याय १, पाद ४, अधिकरण १६ में 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो गोऽश्वाः' इत्यादि वाक्यको लेकर विचार किया गया है, कि यह वाक्य गुणविधि है या अर्थवाद है ? यहाँ पशुत्वका निषेध कर नहीं सकते । या पशु कार्यका निषेध भी नहीं कर सकते, अतः यह अर्थवाद है । यहाँ अजादिमें गवाश्वगत प्राशस्त्य नहीं है । किन्तु गौ और अश्वही प्रशस्त हैं, ऐसा सिद्धान्त किया है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी आत्मा ही एक सत्य है । इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माकी नित्यता बताई है, तदभिन्न प्रपंचका असत्व नहीं है, ऐसा समझना चाहिए ।

१. अपशवो वाऽन्ये गोश्वेभ्यः, पशवो गोऽश्वाः, (तै० सं० ५।२।६) इतिश्रुतेरर्थतः अनुवादोऽयम् ।

विस्पष्टं चैतन्मृत्पिण्डविकारदृष्टान्तदर्शनात् । सर्वत्र हि दृष्टान्तोपादानं साध्यप्रतिपादकस्य तात्पर्याभिव्यक्त्यर्थम्[1], ततश्च यथा कारणभूतमृत्पिण्डविज्ञानेन मृन्मयो विकारः सर्वो विज्ञातो भवति—शरावादिविकारो हि वाचारम्भणं नामधेयमात्रं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं प्रपञ्चोपि सद्विज्ञानेन विज्ञातो भवति। विकारो हि वाचारम्भणं नामधेयमात्रं सदित्येव सत्यम्, इत्युक्ते ज्ञायत एतत्—यथाविर्भावतिरोभावधर्मा नानाविधो विकारः शरावादिः प्रपञ्चो मृत्तिका च सर्वत्राऽनपायिनी तेषां कारणम्, कार्यकारणयोश्चावस्थामात्रभेदात् स्वरूपभेदाभावात् कारणज्ञानेन तत्सर्वं कार्यमवस्थाभेदेनाऽज्ञातमपि स्वरूपेण ज्ञातं भवति। तथा प्रपञ्चोप्याविर्भावतिरोभावधर्माऽनवस्थायी तत्कारणं चात्मा सद्रूपः सर्वानुयायी नाऽपायधर्मा, तस्मिन् विज्ञाते सर्वं तदात्मकमविज्ञातमपि व्यासरूपेण, समासेन ज्ञातं भवतीत्येतदत्र विवक्षितमस्ति, तस्मादेकस्यैवात्मनः परिणामोयं भेदप्रपञ्चो न त्वसन्नेव। असत्त्वे हि कथं सद्विज्ञानेन विज्ञातः स्याच्छशविषाणवत्। न हि मृत्पिण्डे विज्ञाते सति शशविषाणं विज्ञातं भवति, तथा प्रपञ्चोपि स्यात्, ततस्तु प्रस्तुतहानिरेव स्यात्। एकोप्यात्माऽन्तःकरणोपाधिभेदात् भिन्नो जीव इत्युच्यते, जीवभेदाच्च बन्धमुक्तिव्यवस्थाप्युपपन्नेति।

यहाँ भी विरोध समान है। शंका—यदि कहें वह अर्थवाद है, इसीलिए वहाँ यथाश्रुत अर्थका ग्रहण नहीं (प्रकृतमें तो अर्थवाद नहीं है) उत्तर—यह भी समान है। प्रपंचकी भी असत्यता वैराग्यको उत्पन्न करनेके लिए है। आत्माकी परमार्थता मुमुक्षु जनोंका उत्साह बढ़ानेके लिए है।

यह बात मृत्पिण्डका जो दृष्टान्त दिया है, उससे स्पष्ट है। सर्वत्र दृष्टान्तका उपादान साध्यका प्रतिपादक जो वाक्य है, उसका तात्पर्य व्यक्त करनेके लिए होता है। अतः कारणभूत मृत्पिण्डके ज्ञानसे सामान्य रूपसे मिट्टीका विकार (कार्य) सब ज्ञात होता है। क्यों कि शराव आदि विकार शब्द प्रयोग मात्र§ हैं। मृत्तिका की तरह जो कारण है, वह सत्य है। (अर्थात् कारणके ज्ञानसे कार्य ज्ञात होता है) इसी प्रकार प्रपंच भी सद्रूप ब्रह्मके विज्ञानसे ज्ञात होता है। विकार केवल शब्द प्रयोगका विषय है। नामधेय मात्र है। सत् ही सत्य है, ऐसा कहने पर ज्ञात होता है कि जैसे उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले नाना प्रकारके विकार शराव (मिट्टीका ढकना) आदि प्रपंचमें मिट्टी सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः मिट्टी उनका कारण है। कार्य और कारण इन दोनोंका अवस्था मात्रका भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं। कारणके ज्ञानसे सभी कार्य अवस्थाभेदसे अज्ञात होनेपर भी स्वरूपसे ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार प्रपंच भी उत्पत्ति विनाश धर्मवान् एवं स्थाई नहीं है। इसका कारण आत्मा सद्रूप है। सभीमें अनुगत है और विनाशी नहीं है। उसके जान लेनेपर तदात्मक सब कार्य विस्तारसे, अज्ञात होनेपर भी संक्षेपसे ज्ञात होते हैं, यही यहाँ विवक्षाका विषय है। अतः एक आत्माका ही परिणाम है यह भेद प्रपंच। यह असत् नहीं है। असत् होनेपर सद्रूप आत्माके विज्ञानसे वह कैसे ज्ञात होगा? शशविषाणकी तरह मृत्पिण्डका ज्ञान होनेपर, शशविषाण ज्ञात नहीं होता। वैसे प्रपंच भी ज्ञात नहीं होगा। अतः प्रस्तुत पक्षकी हानि होगी। एक ही आत्मा अन्तःकरण रूप उपाधिके

---

§ 'वाचारभ्यत इति वाचारम्भणं वागालम्बनं विकार उच्यते, परन्तु न परमार्थतो वस्त्वस्ति। यतो नामधेयं नामैव नामधेयं नाममात्रं नार्थोऽस्तीत्यर्थः। (छा० उ० ६।४ ॥)

---

१. सर्वत्रेत्यारभ्य······व्यक्त्यर्थमित्यन्तः पाठो न दृश्यते 'क' पुस्तके।

उक्तभास्करमतस्य निराकरणम्

तदिदमयुक्तम्—चिद्रूपस्यात्मनो जडरूपपरिणामाऽसम्भवात् । एकत्वे चात्मनः सर्वशरीरेषु प्रतिसन्धानं स्यात्—देवदत्तोहं यज्ञदत्तोहमेवेति, तथा देवदत्तशरीरे मे सुखं यज्ञदत्तशरीरे मे दुःखमिति, पादे मे सुखं शिरसि मे वेदनेतिवत् सर्वसुखदुःखोपलब्धिश्च स्यात् । अन्तःकरणभेदाद् व्यवस्थेति चेत् ? न, अचेतनत्वात्—न ह्यन्तःकरणं सुखदुःखे अनुभवति, अचेतनत्वात्, आत्मा त्वनुभविता, स च सर्वत्रैक इति कः प्रतिसन्धानं वारयेत् । तस्मादिदमपि नातीव सुन्दरमिति ॥इत्यविकृत ब्रह्मपरिणामवादनिरासः॥

आत्मभेदं प्रकृतिपरिणामं च जगत् साङ्ख्या मन्यन्ते । द्विविधं च साङ्ख्यम्—निरीश्वरं सेश्वरं च । निरीश्वरवादिनस्तावदाहुः—प्रकृतिरचेतना त्रिगुणात्मिका प्रधान-

---

भेदसे भिन्न होकर, जीव कहलाता है । जीवोंके भेदसे बन्ध और मुक्तिकी व्यवस्था भी सिद्ध होती है । (अतः उक्त मतका यह संक्षेप है कि सद्रूप आत्माका ही यह दृश्य प्रपंच परिणाम है, इसे अर्धजरतीय अद्वैत वाद समझना चाहिए)

उक्त मत अयुक्त है । चिद्रूप आत्माका जड़रूपसे परिणाम सम्भव नहीं॥ । शंका—आत्माको एक माननेपर सभी शरीरोंमें अनुभव होने लगेगा 'मैं देवदत्त हूँ,' 'यज्ञदत्त भी मैं ही हूँ' । इसी प्रकार 'देवदत्तके शरीरमें मुझे सुखका अनुभव होता है; यज्ञदत्तके शरीरमें मुझे दुःख हो रहा है, ऐसा अनुभव होने लगेगा । और मेरे पैरमें सुख हो रहा है, मेरे सिरमें वेदना हो रही है, इसकी तरह सभी सुख और दुःखोंका अनुभव होने लगेगा । (अर्थात् सभी शरीरोंमें रहनेवाले सुख दुःखादि परस्पर मिल जाएँगे, उन सबका अनुभव एकसाथ होने लगेगा)

शंका—यदि कहा जाए सभी शरीरोंमें एक आत्माके होनेपर भी अन्तःकरणके भेदसे सुख दुःखादिकी व्यवस्था बन सकती है । उत्तर—नहीं, अन्तःकरणके अचेतन (जड़) होनेके कारण । इसीको स्पष्ट करते हैं—अन्तःकरण सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, अचेतन होनेके कारण । (अतः अनुभवके अभावमें अन्तःकरणका भेद प्रयोजक नहीं, किन्तु सुख-दुःखका अनुभव-करने वाला चेतनका भेद ही प्रयोजक है) आत्मा तो अनुभविता है । वह सभी शरीरोंमें एक ही है । तब अनुभवको कौन रोक सकता है । अतः यह मत भी अत्यन्त सुन्दर नहीं ।

(इस प्रकार आत्मपरिणामवादका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(अब सांख्य मतसे पूर्व पक्ष करते हैं 'आत्मभेद' इत्यादिसे) सांख्याचार्य कपिल मुनि प्रभृति मानते हैं कि जीवोंका भेद§ और यह सारा जगत प्रकृतिका परिणाम है । यह सांख्य दो प्रकारका है निरीश्वर और सेश्वरके भेदसे । निरीश्वर सांख्यवादियोंका कहना है कि प्रकृति

॥ अर्थात् स्वरूपका ही परिणाम होता है, विरूपका नहीं, अतः इसके परिहार में किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं ।

§ संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्यादधिष्ठनात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥
जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्याच्चैव ॥
(सां० का० क्रमशः १७-१८)

शब्दाभिधेया महदादिविशेषपर्यन्तेन प्रपञ्चरूपेण चेतनानामुपभोगाय परिणमतीति। सेश्वरवादिनोऽप्येवमाहुः। इयांस्तु विशेषः—पुरुषशब्दाभिधेयमीश्वरं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टमाश्रित्य प्रकृतिर्जगत् सृजतीति। यथा हि संस्कृतं क्षेत्रमधिष्ठाय तत्सम्पर्कवशाद्बीजमङ्कुरादिक्रमेण महान्तं वृक्षमारभते तथा सर्वव्यापिनमीश्वरमधिष्ठाय सर्वव्यापिनी प्रकृतिस्तत्सम्पर्कवशान्महदहङ्कारतन्मात्रादिक्रमेण परिणमन्ती विशेषान्तं प्रपञ्चमारभत इति। इतिहासपुराणेष्वपि प्रायेणैतदेव मतम्। सेयं प्रकृत्युपादाना सृष्टिः, ईश्वरस्तु निमित्तमात्रम्, क्षेत्रज्ञास्तु भोक्तारः, प्रकृतिरेव तु सर्वकार्याणां कर्त्रीति भोग्या। सा च सर्वत्रैका, भोक्तॄणां च भेदाद् बद्धमुक्तव्यवस्थोपपत्तिः। तथा च 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः'॥ (श्वेताश्वतर) इति व्यक्तमेव भोग्यायाः प्रकृते रजस्सत्त्वतमोरूपाया

अचेतन है।§ सत्व-रज-तम रूप त्रिगुणात्मिका है। वह प्रधान शब्दसे कही जाती है। महत् अहंकार आदि विशेष पर्यन्त प्रपंचके रूपमें जीवोंके उपभोगके लिए परिणत्त होती है। सेश्वर सांख्य भी ऐसा ही कहते हैं, किन्तु अन्तर यह है कि पुरुष विशेष शब्दसे जिसका अभिधान होता है वही ईश्वर है। वह अविद्या आदि पांच क्लेश, कर्म फल और कर्म वासनासे जो असंस्पृष्ट है वही ईश्वर है। इसीका आश्रय लेकर, प्रकृति इस जगतका निर्माण करती है। उक्त अर्थको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं 'तथाहि' इत्यादिसे। संस्कृत (भली प्रकार जोतकर और खाद-पानी आदिसे तैयार किए हुए) खेतको पाकर, उसके सम्पर्कसे ही बीज अंकुरादि क्रमसे महान् वृक्षको आरम्भ (उत्पन्न) करता है, वैसे ही सर्व व्यापी ईश्वरका आश्रय लेकर, सर्व व्यापिनी प्रकृति उसके सम्पर्कसे महत्, अहंकार, तन्मात्रा आदि तत्त्व क्रमसे परिणत होती हुई, विशेषान्त प्रपंचका आविर्भाव करती है। (यहाँ आरम्भ या उत्पत्ति शब्दसे आविर्भाव तथा विनाश या प्रलय शब्दसे तिरोभाव समझना चाहिए) प्रायशः इतिहास तथा पुराणोंमें भी इसी मतका वर्णन है। अतः इस दृष्टिका उपादान कारण है प्रकृति। ईश्वर निमित्त मात्र है। क्षेत्रज्ञ तो भोक्ता है। प्रकृति ही सभी कार्योंको करनेवाली है, अतः वही भोग्या है। वह भी सर्वत्र एक ही है। किन्तु भोक्ताओंके भेदसे कोई बद्ध है, कोई मुक्त है, ऐसी व्यवस्था सिद्ध होती है। उक्त अर्थमें श्वेताश्वतरका मंत्र प्रमाण रूपमें देते हैं (मंत्र मूलमें देखिए) अजा शब्दका अर्थ है प्रकृति, वह एक है। उसके तीन गुण हो स्वरूप हैं। (सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः) मंत्रमें लोहित शब्दसे रजो गुण, शुक्लसे सत्व गुण तथा कृष्णसे तमो गुण कहे गए हैं, अतः त्रिगुणात्मिका है। अनेक जीवोंको जो चैतन्यसे समान हैं उत्पन्न करती है। एक जीव प्रकृतिसे समर्पित भोगोंको भोगता है, दूसरा जिसके द्वारा भोग किया जा चुका है, ऐसा विरक्त पुरुष प्रकृतिका परित्याग कर देता है। वह सत्व-रजस्तमोरूप त्रिगुणात्मिका

---

§ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥
त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥
(सां० का० क्रमशः ३, ११, २२, ३८)

एकत्वम्, भोक्तॄणां च भेदाद्बद्धमुक्तव्यवस्थानं दर्शितम्।

ऐकात्म्यवादास्तर्ह्यौपनिषदाः कथम्? अवैलक्षण्येनेति ब्रूमः। भेदशब्दो हि वैलक्षण्यवचनो लोके प्रसिद्धः। तथा हि—सुसदृशेषु वक्तारो भवन्ति—'नाऽस्याऽस्य च कश्चिद् भेदोस्ति' इति। तथात्मनामपि नरपशुतिर्यग्भेदभिन्नशरीरवर्तिनां शरीरसम्बन्धमपोह्य केवलं नैजरूपेण निरूप्यमाणानां पद्मरजःपरमाणुद्वयवन्न किंचिदपि वैलक्षण्यमस्तीत्यनेनाभिप्रायेणैकत्ववादा नानात्वनिषेधवादाश्च। एतदभिप्रायमेव चैतदपि भगवद्वासुदेववचनम्—

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'॥ इति (गीता)

तथैव 'इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते' इति स्वयमविलक्षणोप्यात्मा नरपश्वादिविचित्रशरीरसम्पर्कवशाद् भ्रान्त्या स्वयमपि विलक्षणरूपः प्रतीयत इत्यर्थः। ये च मुक्तानां क्षेत्रज्ञानामीश्वरेण सहैकत्ववादास्तेप्यत्यन्तसाम्याद् वैलक्षण्याऽभावाच्च। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'॥

इतीश्वरसादृश्यापत्तिमेव मुक्तस्य दर्शयति। तथा भगवता वासुदेवेनाप्युक्तम्—

है और एक है। मोक्ता आत्माओंके भेदसे यह बद्ध है, यह मुक्त है, इस व्यवस्थाको भी दर्शाया है।

शंका—यदि आत्माओंका भेद मानते हैं, तो उपनिषदोंमें जो कहा गया है कि 'एक ही आत्मा है' ये एकात्मवाद कैसे उपपन्न होंगे? उत्तर—विलक्षणता न होनेसे। भेद शब्द विलक्षणता का वाचक है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। इसीको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं 'तथाहि' से। वक्ता लोग अत्यन्त सदृश पदार्थोंके विषयमें कहा करते हैं, कि इनका उनसे कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार आत्माओंका भी जो मानव-पशु तिर्यक् आदि भेदसे भिन्न शरीरोंमें रहते हैं, उनके शरीर सम्बन्धको छोड़कर, केवल स्वरूपसे निरूपण करनेपर, कमल रजके दो परमाणुओंके समान कुछ भी विलक्षणता नहीं है। उसी आश्रयको लेकर, एकत्ववाद प्रवृत्त हुए हैं तथा नात्व निषेधवाद भी उपपन्न होते हैं। इसी आशयका भगवान वासुदेवका भी वचन है (श्लोक मूलमें देखिए) अर्थ=विद्या तथा विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, परम पवित्र गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल, इनको पण्डित लोग समान रूपसे देखते हैं।

इसी प्रकार 'इन्द्र=आत्मा, स्वयं विलक्षण न होने पर भी मायाओं से अर्थात् नर-पशु आदि विचित्र शरीरोंके सम्पर्कसे भ्रान्तिसे स्वयं विलक्षण प्रतीत होता है' यह मंत्रका अर्थ है। जो मुक्त अत्माओंकी ईश्वरके साथ एकताके प्रतिपादक वाक्य हैं, वे भी अत्यन्त साम्य होनेसे और विलक्षणताके न होनेसे उपपन्न होते हैं। इसमें दूसरी श्रुतिका प्रमाण देते हैं। मंत्रका अर्थ=जिस अवस्थामें साधक, स्वर्णके समान स्वयं प्रकाश आत्मा और कर्ता ईश्वर=ब्रह्मयोनि पुरुषको देखता है, उसी कालमें विद्वान् साधक, पुण्य-पापको छोड़कर, निरंजन=निष्कलमष होकर, परम साम्यको प्राप्त करता है। यह मंत्र मुक्त पुरुषकी ईश्वर सादृश्य प्राप्तिको बताता है।

और भगवान वासुदेवने भी कहा है 'इस ज्ञानको लेकर जो मेरे साधर्म्य को प्राप्त करते हैं, वे पुनः सृष्टिमें उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें नष्ट भी नहीं होते'। यह गीताका वचन है 'मेरा

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' ।। इति । (गीता)

यत्तु 'ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः' इति भगवद्वचनं तत् स्वामिभृत्यभावपरम्--यथा खल्वमात्या राज्ञोंशा व्यपदिश्यन्ते तथा जीवोऽपीश्वरांश इत्युच्यते, अन्यथा जीवत्वनाशात् सनातनत्वानुपपत्तिः । यान्यपि--

'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति' ।।

इत्यादीनि पुराणवचनानि तेषामयमेवार्थः--वैलक्षण्यमात्मनो ब्रह्मणश्चाऽत्यन्तमविद्यमानमेवाऽज्ञाननिमित्तमज्ञाने विनष्टे स्वयमेव विलीयते, इति । विस्पष्टं हि परापरपुरुषयोर्भेदो गीतादिषूपदर्शितः--'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' ।

'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च कर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः' ।। इति । (गीता)

अलमतिदूरं गत्वा । तस्मात् प्रकृत्युपादानेयं प्रपञ्चसृष्टिरिति, नाऽनुपादानोपालम्भः ।

ही अंश जीव लोकमें जीव होकर, सनातन रहता है । 'मम' यहां षष्ठी है । इसका अर्थ है स्वस्वामिभाव सम्बन्ध । (अर्थात् जीव-ईश्वरका सेव्य-सेवक-भाव सम्बन्ध है, इसीको स्पष्ट करते हैं 'यथा खलु' से) जैसे मंत्री वर्ग राजाके अंश कहलाते हैं, वैसे जीव भी ईश्वरके अंश कहे जाते हैं । (विपरीतमें अनिष्टापत्ति बताते हैं 'अन्यथा' से) नहीं तो जीवत्वका नाश होनेसे सनातनत्वकी अनुपपत्ति होगी (इसी प्रकार विष्णु पुराणके वचन को भी समझना चाहिए । पर इतने से सन्तुष्ट न होकर ग्रन्थकार स्वयं उसकी व्यख्या करते हैं) श्लोकका अर्थ=भेदके स्थापक अज्ञानका❀ सर्वथा नाश होनेपर, जीव और परमात्माके अविद्यमान भेदको कौन कर सकता है । इत्यादि पुराण वचनोंका भी यही अर्थ है । आत्माकी विलक्षणता आत्मा और ब्रह्मकी अन्यता है, वह सर्वथा नहीं है । उसका निमित्त है अज्ञान । उसके नष्ट होनेपर वह स्वयं विलीन हो जाता है ।

गीता आदिमें स्पष्टतया जीवात्मा-परमात्माका भेद दर्शाया गया है । अर्थ यथा=उत्तम पुरुष=पुरुषोत्तम दूसरा है, जो परमात्मा कहा जाता है । वही उपद्रष्टा है । वही अनुमन्ता है । वही कर्ता भोक्ता और महेश्वर है । वही परमात्मा भी कहलाता है । इस शरीरमें होने वाला पुरुष दूसरा है । इस विषयमें अधिक दूर नहीं जाना चाहिए । अतः प्रपंच सृष्टिका प्रकृति ही उपादान कारण है । इसके पूर्वमें जो कहा गया सृष्टिके आदिमें सबका अभाव होनेसे, किस उपादान कारणसे यह जगद्रूप कार्य उत्पन्न होगा ऐसी अनुपादान कारणको निन्दाका होना सम्भव नहीं ।

❀ इसपर शंका है कि अज्ञान तथा जीवेश्वरका भेद ये सब अनादि हैं । इनमें—
'जीव ईशो विशुद्धाचित्तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चि तो र्योगः षडस्माकमनादयः' ।। इत्यादि पद्य प्रमाण हैं । अनादिकी तो उत्पत्ति होतो नहीं । अत एव 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिका व्याख्यान लघुचन्द्रिकामें, अनादिसे भूत=कार्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा किया है । तब अज्ञान भेदको उत्पन्न कैसे करेगा ? इसका उत्तर है कि अज्ञान भेद स्थितिका प्रयोजक है, उत्पादक नहीं, अतः कोई दोष नहीं ।

सांख्यमतस्य निराकरणम्

अत्राभिधीयते--कथं खल्वेकरूपा प्रकृतिर्नरपशुतिर्यग्भेदभिन्नं प्रपञ्चमारभते ? न ह्यविलक्षणं कारणं विलक्षणं कार्यं निर्मातुमर्हति। क्षेत्रज्ञगतधर्माधर्मसहायवैचित्र्याद् वैचित्र्यमिति चेत् ? न, अन्तःकरणवृत्तित्वाद्धर्माधर्मयोः, अन्तःकरणस्य च कार्यवर्गान्तःपातित्वात् सर्वस्य महदादेः कार्यस्य प्राकृतप्रतिसञ्चरे[1] प्रकृतौ विलीनत्वाद् धर्मोऽधर्मोवपि तस्यामवस्थायामविद्यमानावेवेति न तद्बलेन वैचित्र्यम्।

महदादिविकारारम्भे चास्याः किं कारणम्? स्वरूपमेवेति चेत्? सर्वदारम्भप्रसङ्गः। ततः प्रलयानुपपत्तिः। ईश्वरेच्छया विक्रियत इति चेत्? न, ईश्वरस्य समस्तक्लेशरहितस्याऽपास्तसमस्तकामस्येच्छाऽसम्भवात्। इच्छायाश्चाप्यन्तःकरणधर्मत्वात् तस्मिन् काले तदसम्भवात्।

किञ्च प्राकृते प्रलये प्रकृतिमात्रमात्मनश्च केवलमवतिष्ठन्ते, सर्वे चात्मानो निर्विशेषाः सर्वेषां चैतन्यमात्ररूपत्वात्, न च धर्माधर्मकृतमपि वैलक्षण्यमात्मनां सम्भवति, तयोरात्मधर्मत्वाभावात्। अन्तःकरणवृत्तित्वात्, तस्य च तदानीमभावात्, इत्युक्तम्। एवं च[2] धर्माधर्मरहितेषु निर्विशेषेषु पुरुषेष्वस्थितेषु सर्गकाले प्रकृतिः शरीरारम्भेणात्मनो बध्नाति चेत्? ये पूर्वसृष्टौ मुक्ता ये चामुक्ताः तान् सर्वान् बध्नीयादविशेषात्। तथा येऽश्वमेधमनुष्ठाय फलमभुक्त्वा पूर्वसृष्टौ स्थिताः, ये च ब्रह्महत्याकारिणः, तेषां सर्वेषामैकविध्यमेव स्यात्[3] पूर्वकृतयोर्धर्माऽधर्मयोर्नष्टत्वात्।

अब सिद्धान्त कहते हैं कि एक रूपा प्रकृति कैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेदसे भिन्न प्रपंचको आरम्भ करेगी! अविलक्षण कारणसे विलक्षण कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। शंका—आत्मगत धर्म-अधर्मरूप सहायककी विचित्रतासे विचित्र प्रपंच हो सकता है। तब क्या दोष है? उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म अन्तः करणमें रहते हैं। अन्तःकरण कार्य-वर्गके अन्तर्गत है। सभी महदादि-कार्योंका प्रकृतिमें लय होता है, इस पक्षमें प्राकृत पदार्थोंका प्रकृतिमें लय होने पर उस अवस्थामें धर्माधर्म भी नहीं रहते। अतः उनकी विचित्रतासे प्रपंचका वैचित्र्य नहीं बन सकता।

शंका—यह बताइए कि महदादि कार्यके आरम्भमें प्रकृतिका कौनसा कारण है? उत्तर—स्वरूप ही कारण है, ऐसा नहीं कह सकते। उसके सर्वदा रहनेसे सृष्टि होती रहेगी। प्रलयकी अनुपपत्ति होगी। शंका—ईश्वरेच्छासे प्रपंचरूप कार्य होता है, ऐसा माना जाए? उत्तर—नहीं, ईश्वर समस्त क्लेशोंसे रहित है। उसकी सब कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं। अर्थात् आप्तकाम है। उसकी इच्छाका होना असम्भव है। और इच्छाके भी अन्तःकरणका धर्म होनेसे, प्रलय कालमें वह होगी कैसे?

और प्राकृतलयमें प्रकृति तथा आत्मा ही रहते हैं। सभी आत्मा निर्विशेष हैं, क्योंकि सबका चैतन्य मात्र रूप है। शंका—आत्माओंमें स्वतः कोई विशेषता न होनेपर भी धर्मा-धर्म द्वारा विलक्षणता हो सकती है। उत्तर—नहीं, धर्मा-धर्म आत्माके धर्म नहीं, वे तो अन्तःकरणकी वृत्तियां हैं। प्रलयमें अन्तःकरण नहीं रहता, यह पूर्वमें कह चुके हैं। शंका—धर्मा-धर्मसे शून्य निर्विशेष आत्माके होनेसे, सृष्टि कालमें प्रकृति शरीरारम्भके द्वारा आत्माको बन्धनमें डालती है? उत्तर—नहीं, जो पूर्व सृष्टिमें मुक्त हो चुके हैं और जो मुक्त नहीं हैं उन सभीको शरीरारम्भके द्वारा प्रकृति बन्धनमें

१. प्रकृतौ सर्वेषां प्रलयः इत्यस्मिन् पक्षे। २. लब्धावसरः शंकते। ३. साम्यमित्यर्थः।

अत्र सांख्याः स्वसिद्धान्तावष्टम्भेन शङ्कते

ननु नाशो नाम नात्यन्ताभावः किन्तुकारणे कार्याणां तिरोभावमात्रं विनाशः। उत्पत्तिरपि विद्यमानानामेव कारणे कार्याणामाविर्भावमात्रं नह्यत्यन्ताऽसतामुत्पत्तिः सम्भवति, शशविषाणस्याप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्। असदुत्पत्तौ च सर्वत्र सर्वं स्यात्, नियमो न स्यात्--तन्तुभ्यः पटो मृदो घट इति। यथाहुः--

'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्'॥ इति॥ (सां० का० ७) तथा— 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।' इति भगवद्वासुदेववचनम्। तस्मात् प्रलये धर्मादेः शक्त्यात्मनावस्थितत्वात् तद्वशेन युक्तं सृष्टिवैचित्र्यम्।

डाल देगी, विशेषता न होनेके कारण। ऐसे ही जो अश्वमेधका अनुष्ठान कर, फल-भोगके बिना पूर्व सृष्टिमें रहते हैं, और जो ब्रह्महत्या किए हुए हैं, उन सबका एक ही प्रकार होगा। क्योंकि पूर्वकृत धर्मा-धर्म तो नष्ट हो गए हैं।

(अब सांख्य अपने सिद्धान्तके बलसे शंका करते हैं कि) नाश मेरे मतमें अत्यन्ताभाव नहीं है, किन्तु कारणमें कार्योंका तिरोभाव मात्र ही विनाश कहलाता है। और उत्पत्ति भी कारणमें विद्यमान कार्योंका आविर्भाव मात्र है। क्योंकि अत्यन्त असत्की उत्पत्ति नहीं होती। अन्यथा शशविषाणकी उत्पत्तिका प्रसंग होने लगेगा। अविद्यमान कार्य उत्पन्न होता है, ऐसे असदुत्पति पक्षमें सभीमें सब होने लगेंगे। जैसे तन्तुसे पट होता है। मिट्टीसे घट होता है, ऐसा कोई नियम नहीं रह जाएगा। उक्त अर्थका ईश्वर कृष्णकी कारिकासे समर्थन करते हैं*। अर्थ = असत्का कारण

---

* यहां 'कार्यसत् है' यह प्रतिज्ञा है। इसमें ५ हेतु देते हैं। 'न्यायकणिका' में इनको अवीतपंचकके नामसे कहा है। 'तदिदं सत्कार्यसाधनमवीतपञ्चकमाचख्युः साङ्ख्याः'।

(विधिविवेक, पृ० ३०)

पहिला हेतु 'असदकरणात्' है। कारण व्यापारके पूर्व कार्य यदि असत् है, तो कोई उसे सत् नहीं कर सकता। अतः कारण व्यापारके बाद भी उसके पूर्वमें भी कार्य सत् ही था। दूसरा हेतु है 'उपादान ग्रहणात्' यहां उपादान शब्दसे कारण विवक्षित है। उसका ग्रहण = कार्यके साथ कारणका सम्बन्ध। अर्थात् कारणके साथ कार्यका सम्बन्ध होनेसे कार्य सत् है। तीसरा हेतु है 'सर्वसम्भवाभावात्'। सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् असम्बद्धको कार्य माननेपर सभी कार्य सभीसे उत्पन्न होने लगेंगे। इसलिये सम्बद्धसे ही सम्बद्ध कार्य होता है। चौथा हेतु 'शक्तस्य शक्यकरणात्' है। शक्ति कारणाश्रित है, अतः शक्त ही शक्यको उत्पन्न कर सकता है। यह कार्यसे सम्बद्ध है। असम्बद्ध होनेसे अव्यवस्था होगी। अतः सत् कार्य है। पांचवा हेतु है 'कारणभावाच्च' कार्य कारणात्मक होता है। यदि कार्य कारणसे भिन्न है, तो कारण सत् है। कार्य तो असत् है, दोनोंका सम्बन्ध कैसे होगा? क्योंकि जहां दोनों सत् हैं, वहां उन्हींका सम्बन्ध होता है। एक सत् हो, दूसरा असत् हो उनका सम्बन्ध नहीं होता। जहां दोनों असत् हैं उनका भी सम्बन्ध नहीं होता। अतः कार्य सत् है। इसका विशेष विवरण 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की कारिका ७ में देखिए।

तन्निरासः

नैतदेवम्—नहि मृत्पिण्डावस्थायां वा कपालवस्थायां वा घटरूपमस्ति दृश्यादर्शनविरोधात्।

यत्तु—'नाऽसतो विद्यते भावः' इति वचनम्, तदात्माभिप्रायम्।

पूर्वत्र हि— 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्'॥

इत्याऽऽत्मनित्यत्वं प्रतिपादयितुमपक्रान्तमेवानेनोच्यते—ना विद्यमानस्यात्मन उत्पत्तिः, न विद्यमानस्य विनाशः, सर्वे एवात्मानोऽनुत्पत्तिविनाशधर्माणो नित्या इति। न पुनः कार्यजातस्य सर्वस्य नित्यत्वाभिप्रायम्, असर्वगतत्वादनुपलब्धिविरोधाच्चेत्युक्तम्।

यदि परम्—उपादानोपादेययोरभेदमाश्रित्य, मृदात्मनाऽऽदौ घटोऽवस्थि इत्युच्यते। न च तावता कार्यसिद्धिः—न हि मृदवस्थेन घटेनोदकाहरणं क्रियते। तथा धर्माधर्मावपि स्वरूपेणाविद्यमानौ प्रकृत्यात्मना स्थितावपि न स्वकार्याय पर्याप्ताविति, न तद्वशेन वैचित्र्यसम्भवः। प्रमाणमपि महदादिक्रमेण प्रकृतिपरिणामे किं चिन्नास्ति—पुरुषवचसां प्रमाणान्तराऽगोचरार्थे प्रमाणत्वासम्भवात्, वेदानामपि पौरुषेयत्वात्, इतरपुरुषवचनवदप्रामाण्यात्।

नहीं होता। उपादान ग्रहण भी नहीं बन सकता। सबसे सबका होना सम्भव नहीं। सशक्त कारण ही शक्य कार्यको कर सकता है। कार्य-कारणभावसे भी कार्य सत् है। और भगवान वासुदेवका भी वचन है कि 'असत्का भाव नहीं होता, सत्का अभाव भी नहीं होता'। (अर्थात् असत्की उत्पत्ति नहीं होती, सत्का विनाश नहीं होता) अतः प्रलय कालमें धर्मादिके सूक्ष्मरूपसे रहनेके कारण, उनके अनुसार सृष्टिकी विचित्रता उपपन्न होती है।

(इस उपर्युक्त अर्थका निराकरण करते हैं। 'नैतदेवं' इत्यादिसे) उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मृत्पिण्डावस्थामें या कपालावस्थामें घटका आकार नहीं रहता। यदि रहता तो दिखाई देता' अतः दृश्यादर्शनका विरोध है। और यह जो कहागया है 'असत्का सदभाव नहीं होता' इत्यादि गीता वचन है, वह आत्माके अभिप्रायसे कहा गया है। क्योंकि पूर्वमें 'हे अर्जुन ! मैं पहिले कभी नहीं था, ऐसी बात नहीं। तुम भी पहिले नहीं थे, यह भी नहीं। जो हमारे सामने राजा खड़े हैं, ये भी नहीं थे, यह बात नहीं। हम सब आगे नहीं रहेंगे, यह भी नहीं'। इस प्रकार ये गीता वचन आत्म नित्यत्वका प्रतिपादन करनेके लिए आरम्भ किये गये हैं, यही इससे ध्वनित होता है। अविद्यमान आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती। विद्यमानका नाश नहीं होता, अतः सभी आत्मा उत्पत्ति विनाश धर्म रहित हैं। इसलिए वे नित्य हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी कार्य नित्य हैं। क्योंकि कार्य तो अनित्य होते हैं, अतः वे सर्वगत नहीं हो सकते। और अनुपलब्धिसे भी विरोध है अर्थात् मृदादि कारणमें घटादि कार्यका दिखलाई न देना, यही अनुपलब्धि विरोध है) यह पूर्वमें कह चुके हैं।

शंका—यदि कहा जाए उपादान कारण तथा कार्यका अभेद मानकर मृद्रूपसे पहिले घट था ऐसा कहा जाए ? उत्तर—नहीं कह सकते। इससे कार्यकी सिद्धि नहीं होती। अन्यथा मिट्टीमें स्थित घटसे जलाहरण क्यों नहीं करलेते ? इसी प्रकार धर्म-अधर्म दोनों अपने रूपसे नहीं रहते,

यदि तु[1] सृष्टिप्रलयपरम्परामनादिमङ्गीकृत्य प्रतिसृष्टि ऋतुलिङ्गन्यायेन—

'सर्वेषां चैव नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'॥ (मनु० १।२१)

इत्यादिवचनै तुल्यनामप्रभावव्यवहारवस्तूत्पत्त्या[2] शब्दानामऽनाद्यर्थसम्बन्धानां वेदानां च नित्यत्वमाश्रित्य प्रामाण्यमङ्गीक्रियते, तथाप्येकस्य प्रजापतेः संप्रदायप्रवर्तकत्वे कृतकाशङ्का स्यादेव।

अथ पुनः[3] 'अष्टाशीतिसहस्राणि संप्रदायप्रवर्तकाः' इयादिवचनानुरोधेन बहूनां महर्षिणां सृष्ट्यन्तराधीतं वेदं स्मरतां सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन संप्रदायप्रवर्तकत्वमाश्रित्य कृतकाशङ्कां निरस्य नित्यता समर्थ्येत, तथाप्यनुपादानं जगन्निर्माणमशक्यमभ्यु-

किन्तु प्रकृति रूपसे रहते हैं। ऐसा कहनेपर भी वे अपने कार्यके लिए पर्याप्त नहीं होते। अतः धर्मा-धर्मके द्वारा विचित्र कार्यका होना सम्भव नहीं। और सुनिए—प्रकृति महदादि क्रमसे परिणत होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि पौरूषेय वाक्य प्रमाणान्तरका विषय न होने वाले अर्थमें प्रमाण नहीं होते। वेद भी पौरूषेय होनेसे दूसरे पुरुष वाक्योंकी तरह प्रमाण नहीं होगा।

शंका—वेद नित्य हैं, शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य है, अतः वे प्रमाण हैं, इत्यादि मानकर यदि समाधान किया जाए तो, उनका प्रामाण्य उपपन्न हो सकता है। क्यों कि सृष्टि प्रलय परम्परा अनादि है। जैसे ऋतुके आरम्भमें जो पूर्व ऋतुमें चिन्ह थे, तत्सदृश ही आनेवाली ऋतुमें प्रकट होते हैं। 'अतः सृष्टि कर्ता प्रजापतिने प्रत्येक सृष्टिके आदिमें 'ऋतुर्लिंग न्याय' से सभीके नाम तथा कर्मकी, वैदिक शब्दोंको लेकर ही पृथक् पृथक् मर्यादा बनाई है'। इत्यादि वचनोंसे समान नाम, समान प्रभाव तथा समान व्यवहार (व्यापार) रूप वस्तुओंकी उत्पत्ति हो सकती है। (अतः अनित्यता दोषका प्रसंग नहीं)

उत्तर—ऐसा होनेपर भी प्रजापतिने सबको बनाते हुए पूर्वसृष्टिके वेदोंको पढ़ाया, नया नहीं बनाया, इसमें कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि एक व्यक्तिको सम्प्रदायका प्रवर्तक माननेपर कृतका-शंका=वेदके पौरुषेय होनेकी शंका बनी ही रहेगी*।

शंका—'अठाईस हजार सम्प्रदाय प्रवर्तक महर्षि हुए हैं। उन्होंने पूर्व सृष्टिके वेदका स्मरण करके, सम्प्रदायका प्रवर्तन किया' इत्यादि वचनोंके अनुसार अनेक ऋषियोंके पूर्वसृष्टिमें अधीत वेदका स्मरण करके, 'सोया हुआ व्यक्ति जैसे जागता है' इस न्यायसे, उन ऋषियोंकी सम्प्रदाय प्रवर्तकताको मानकर, कृतकाशंकाके निराकरणके द्वारा नित्यताका समर्थन किया जा सकता है,

* अर्थात् सम्प्रदायका प्रवर्तक कोई एक ही व्यक्ति नहीं होता। जैसा कि वार्तिक कारने कहा है—
'एकस्य प्रतिभानन्तु कृतकान्न विशिष्यते'। 'अतश्च सम्प्रदाये च नैकः पुरुष इष्यते'॥
(श्लोक वा० चोदना, सूत्र, का० १५०) इसलिए सम्प्रदायमें एक पुरुष प्रधान रूपसे नहीं माना जाता।

१. यदि तु वेदानां नित्यत्वमाश्रित्य प्रामाण्यमङ्गी क्रियते, इति व्यवहृतेन सम्बन्धः।

२. तुल्येति 'क' पुस्तके नास्ति। ३. अथ पुनरेवं कृतकाशंकां व्युदस्य नित्यता समर्थ्येति व्यवहृतेन सम्बन्धः। तथापि यत्पूर्वंदूषणं सर्वाभावेहि नोपादानेन सर्वमिदमुपादेयमिति तन्न शक्यं परिहर्तुमि-त्यर्थः। यस्मात् प्रकृत्यादीनामुपादानत्वं निरस्तम्, अतिरिक्तस्य चासम्भव इति भावः।

पगन्तुम् । प्रकृत्यादीनां ह्युपादानत्वं निरस्तम् । औपनिषदास्तु सृष्टिप्रलयवादाः पौराणिकाश्चाऽर्थवादतया नेतव्या। भवतु[1] चैवम्, तथापि नास्माकं काचित् क्षतिः, सम्बन्धनित्यत्व वेदप्रामाण्ययोरविघातात् ॥ इति सांख्यमत निरासः ॥

यदि ऐसा कहें, तो भी ठीक नहीं । क्योंकि बिना उपादान कारणके जगतका निर्माण नहीं माना जा सकता । प्रकृति आदिकी उपादान कारणताका पहिले निराकरण किया जा चुका है । उपनिषदोंमें सृष्टि तथा प्रलयका प्रतिपादन है । पुराणोंमें भी उसे अर्थवादके रूपमें ग्रहण करना चाहिए । (अब सृष्टि-प्रलयको मानकर, अपने पक्षको सिद्ध करते हैं 'भवतु चैवं' से) सृष्टि तथा प्रलय होवें॰ । ऐसा माननेपर भी मीमांसकोंके मतमें कोई क्षति नहीं । क्योंकि मीमांसकाभिमत सम्बन्ध नित्यत्व तथा वेद प्रामाण्यका कोई विघातक नहीं§ ।

॥ इस प्रकार सांख्य मतका निरास किया गया ॥

(इस प्रकार सांख्य मत निरासका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

॰ क्योंकि वार्तिककारने कहा है—श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिके प्रामाण्य होनेसे सृष्टि-प्रलय भी माने जाते हैं—'मन्त्रार्थवादेतिहासप्रामाण्यात् सर्गप्रलयावप्येष्येते' इति । (तं० वा०, पृ० १२६)

§ मीमांसक जगतको आदि सद्रूप मानते हैं 'न कदाचिदनीदृशं जगत' । अर्थात् यह जगत आज जिस रूपमें उपलब्ध होता है, इसके विपरीत न कभी था, न कभी होगा । अतः इनके मतमें सृष्टि-प्रलय नहीं होते ।

यहाँ प्रश्न है कि मन्त्र, अर्थवाद आदिमें सृष्टि तथा प्रलयका वर्णन है, वह कैसे संगत होगा ? जैसे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्, 'दिवञ्च पृथिवींचान्तरिक्षं अथोसुवः' यह अघमर्षण मन्त्र है । इसका अर्थ है विधाताने पूर्व कल्पमें जैसे थे वैसे ही द्युलोक, पृथिवी अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक, सूर्य-चन्द्रमा आदिकी सृष्टि की । बादमें प्रजापतिने चाहा मैं प्रजाका सृजन करूँ, उसने प्रजाका सृजन किया' । 'प्रजापतिरकामयत प्रजा सृजेयेति, स प्रजा असृजत्' इति । ये सब कैसे संगत होंगे ?

इसका उत्तर है कि ये मन्त्र और अर्थवाद खण्ड-सृष्टि और खण्ड प्रलयका प्रतिपादन करते हैं, महासृष्टि तथा महाप्रलयका नहीं कहते, (उस समय सभी का उच्छेद हो जाता है, कोई वस्तु शेष नहीं बचती, इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं । जैसे वार्तिकमें कहा गया है—

प्रलयेऽपि प्रमाणं न सर्वोच्छेदात्मके नहि ।
तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना ॥ (श्लोकवा० सम्ब०, का० ११३)

मत्स्यपुराणमें भी अवान्तर सृष्टिका निरूपण किया है । अतः ग्रन्थकारने 'तिर्यगधिकरण'में संसारको अनादि माना है । 'अनादौ संसारे' इत्यादि । अतः मीमांसक मतमें प्रपंच सत्य तथा अनादि है । शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है । वेदाध्ययन परम्परा भी अनादि है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं ।

इस प्रकरणमें शब्दार्थका सम्बन्ध कर्ता ईश्वर है, इसका विशेष रूपसे निराकरण किया

१. अभ्युपेत्यापि सृष्टिप्रलयौ स्वपक्षसिद्धिमाह भवत्विति । उक्तं च वार्तिके—
'श्रुतिस्मृतीतिहासप्रामाण्यात्सर्गप्रलयाविष्येते' । इति ।

वैशेषिकमतेन पूर्वपक्षः

वैशेषिकास्तु—पौरुषेयत्वमेव सव्दार्थसम्बन्धानां वेदानां चङ्गीकुर्वन्तोऽनुमानेन सृष्टिप्रलयावीश्वरं च सिषाधयिषन्तः प्रयोगमारचयन्ति, त्रिविधं हि वस्तुजातम्—संप्रतिपन्नचेतनकर्तृकं घटादि, संप्रतिपन्नाऽतत्कर्तृकं व्योमादि, विप्रतिपन्नतत्कर्तृकं महीधरदूर्वाङ्कुरादि[1]। तत्रान्तिममधिकृत्योच्यते—'क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद् घटादिवत्' कार्यत्वं च क्षित्यादेः सावयवत्वाद् घटादिवत्।

किं पुनः पृथिव्यादेः समवायिकारणम्? पार्थिवाप्यतैजसवायवीयपरमाणुजातं यथास्वं पृथिव्यप्तेजोवायूनां समवायिकारणम्। न हि प्रलये परमाणूनां प्रलयोऽस्माकमस्ति सांख्यादिवत्। कार्यद्रव्याणि तु द्व्यणुकादीनि सर्वाण्येवेश्वरेच्छया विश्लिष्टावयवानि प्रलीयन्ते, परमाणवस्तु मिथोऽसंयुक्तास्तिष्ठन्ति व्योमादयश्च। क्षेत्रज्ञाश्चात्मीयधर्माधर्मयुक्ता एवाऽवतिष्ठन्ते। सर्गकाले पुनरीश्वरेच्छां क्षेत्रज्ञाऽदृष्टं च निमित्तमासाद्य परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तद्वशाच्च मिथस्संयुक्ताश्चतुष्टयेपि परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण यथास्वं पृथिव्यादिकं भूतचतुष्टयमारभन्ते। निमित्तभूतक्षेत्रज्ञाऽदृष्टवैचित्र्याच्च जरायुजाऽण्डजोद्भिज्जस्वेदजभिन्नं शरीरभेदमीश्वरेच्छाकारितसंयोगविशेषवशात् परमाणव आरभन्ते।

(अब वैशेषिक मतसे सृष्टि-प्रलयमें दोष दिखानेके लिए कहते हैं 'वैशेषिकास्तु' इत्यादि 'आरभन्ते' इत्यन्त ग्रन्थ तक) वैशेषिक लोग शब्दार्थका सम्बन्ध तथा वेदको पौरुषेय मानकर, अनुमानके द्वारा, सृष्टि, प्रलय एवं ईश्वरको सिद्ध करनेके लिए अनुमान करते हैं। वस्तुएं तीन प्रकारकी होती हैं। जैसे घटादि। इनका कर्ता चेतन कुम्भकार है, यह सर्वविदित है। अतः यह सम्प्रतिपन्न चेतन कर्तृक है। आकाशादि दूसरा है, उसके कर्ताका पता नहीं, अतः सम्प्रतिपन्न चेतन अकर्तृक है। तीसरा पृथ्वी, पर्वत, दुर्वा अंकुरादिक हैं, इनके कर्ताके विषयमें विप्रतिपत्ति है। इनमें अन्तिमको लेकर कहा—जाता है—क्षित्यादि बुद्धिमत्कर्तृक है, कार्य होनेसे, घटादिकी तरह—'क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटादिवत्' अतः क्षित्यादि कार्य हैं, सावयव होनेसे, घटादिकी तरह।

शंका—पृथिव्यादिका समवायिकारण कौन है?

उत्तर—१—पार्थिव परमाणु, २—आप्य (जलीय) परमाणु, ३—तैजस परमाणु, ४—वायवीय परमाणु। ये चारों क्रमशः पृथिवी, अप, तेज, वायु इन चारोंके समवायि कारण हैं। प्रलय कालमें हमारे (वैशेषिक) मतमें परमाणुओंका लय नहीं होता, जैसे सांख्य मतमें प्रधानका लय नहीं होता। सभी कार्य-द्रव्य द्व्यणुकादि ईश्वरकी इच्छाके अनुसार अवयवोंसे विभक्त होकर, अपने कारणमें लीन होते हैं। परमाणु तो परस्पर असंयुक्त ही रहते हैं। आकाश, काल, दिक् मन और क्षेत्रज्ञ, अपने-अपने धर्माधर्मसे संयुक्त होकर रहते हैं। सृष्टिके आरम्भमें ईश्वरेच्छा और क्षेत्रज्ञोंके अदृष्ट रूप निमित्तको पाकर, परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न होती है। उसके अनुसार चारों परमाणु

गया है। उसका अनुमान सिद्ध, तार्किक-सम्मत ईश्वरके निराकरणमें तात्पर्य है, वैदिक ईश्वरके निराकरणमें नहीं, वह तो मीमांसकोंको अभिमत हो है। इसका विशेष विवरण वेदापौरुषेयत्वाधिकरणमें देखना चाहिए।

---

१. महीति 'ग' पुस्तके नास्ति।

वैशेषिकमतखण्डनम्

नन्वेतदपि युक्तम्—नहीच्छामात्रेण प्रयत्नमन्तरेण परमाणुषु स्पन्दोत्पत्तिः सम्भवति, इच्छाकारितप्रयत्नवशेन शरीरस्पन्दोत्पत्तिरद्यत्वेपि दृश्यते । ईश्वरोपि प्रयतत इति चेत् ? न, अशरीरस्य प्रयत्नासम्भवात् । सर्वगता अपि ह्यात्मानः शरीरप्रदेश एव प्रयत्नमारभन्ते, न बहिः । अतः शरीरापेक्षः प्रयत्नः । प्रलयकाले च सर्वकार्याणां प्रलयात्, ईश्वरशरीरमपि प्रलीनमिति कथमशरीरः प्रयतेत् ? न चाऽशरीरस्येच्छापि सम्भवति मुक्तात्मनामिव । नापि ज्ञानं सम्भवति—इन्द्रियादेरभावात् ।

नित्यमस्य ज्ञानं नित्या चेच्छा नित्यश्च प्रयत्न इति चेत् ? न, सर्वज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वव्याप्तेः । शक्यते हि प्रयोक्तुम्—क्षित्यादिकं नाऽशरीरिचेतनकर्तृकम्, न नित्यप्रयत्ननित्येच्छानित्यज्ञानकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घटवदिति ।

आपसमें मिलकर, द्वयणुक-त्रसरेणु-आदि क्रमसे अपने-अपने पृथिव्यादि चारों भूतोंको आरम्भ करते हैं। और क्षेत्रज्ञोंके अदृष्ट रूप निमित्तकी विचित्रतासे १—जरायुज, २—अण्डज, ३—उद्भिज, ४—स्वेदज, इनसे भिन्न शरीर भेदको, ईश्वरेच्छासे उत्पन्न संयोग विशेषके अनुसार परमाणु ही आरम्भ करते हैं* ।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, इच्छा मात्रसे, प्रयत्नके बिना, परमाणुओंमें क्रिया (स्पन्दन) की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इच्छासे जन्य प्रयत्नके द्वारा ही शरीरमें क्रियाकी उत्पत्ति आज-कल भी देखी जाती है । शंका—ईश्वर इच्छा मात्रसे ही जगतको उत्पन्न करता है, प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है । उत्तर—ईश्वर भी प्रयत्न करता है यह नहीं कह सकते । बिना शरीरके प्रयत्नका होना सम्भव नहीं । सभी आत्मा सर्वगत हैं, तो भी शरीर देशमें ही प्रयत्न आरम्भ करते हैं बाहर नहीं, अतः प्रयत्न शरीरकी अपेक्षा रखता है । प्रलय कालमें सभी कार्योंका लय होनेसे, ईश्वरका शरीर भी प्रलीन हो जाता है । अतः वह बिना शरीरके कैसे प्रयत्न करेगा ? बिना शरीरके इच्छाका होना भी सम्भव नहीं । जैसे मुक्त आत्माओंकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती । इसी प्रकार ज्ञानका होना भी सम्भव नहीं, इन्द्रियोंके न रहनेके कारण ।

शंका—यदि माना जाय ईश्वरका ज्ञान नित्य है, इच्छा नित्य है, प्रयत्न भी नित्य है (अतः ईश्वरके शरीरके बिना भी कार्य उत्पन्न हो सकते हैं)

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि अनित्य होते हैं। बिना शरीरके ज्ञानादि नहीं हो सकते । इसमें प्रयोग सुनिए—ऐसा अनुमानकर सकते हैं—'क्षित्यादि अशरीरि चेतन कर्तृक नहीं है, कार्य होनेसे, घटकी तरह—'क्षित्यादिकं नाशरीरिचेतनकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवत्' यह पहिला, अनुमान है । दूसरा अनुमान सुनिए—'क्षित्यादिकं न नित्यप्रयत्न नित्येच्छानित्यज्ञानकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवत्' इति । (अतः बिना शरीरके ज्ञानादिका होना सम्भव नहीं)

---

* अतः जगतके प्रति परमाणु समवायि कारण हैं । ईश्वर निमित्त कारण हैं, वे ही सृष्टिके आदिमें शब्दार्थका सम्बन्ध करते हैं । वेदका भी निर्माण करते हैं । अतः वैशेषिकोंके मतसे सृष्टि, प्रलय तथा लोक यात्रा आदि सम्पन्न होते हैं । यह उनके मतका संक्षेप है ।

ननु घटस्यापीश्वरकर्तृकत्वमस्त्येवेति साध्यहीनो दृष्टान्तः? तथापि कुलालस्यापि कर्तृत्वान्न केवलेश्वरकर्तृकत्वं घटस्य। ततश्चैवं प्रयोक्तव्यम्—क्षित्यादिकं न केवलाशरीर्यात्मकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदिति, वस्तुत्वाद् व्योमवदिति हेतुदृष्टान्तौ सर्वथापि निर्दोषौ। तथा क्षित्यादिकं न बुद्धिमत्कर्तृकम्, शरीरिकर्तृकत्वविरहाद् व्योमवदिति साक्षादेव प्रतिसाधनं कर्तव्यम्।

ईश्वरस्य नित्यशरीरमङ्गीकृत्याशंका

अथेश्वरशरीरं नित्यमङ्गीकृत्य प्रलयेपि सशरीरमेवेश्वरमभ्युपगच्छेत्? ततः सावयवत्वमीश्वरशरीरेऽनैकान्तिकं न क्षित्यादेः कार्यत्वं साधयेत्, सशरीरकर्तृकत्वं च दूर्वाङ्कुरादीनामनुपपन्नम्, अनुपलब्धिविरोधात्।

किञ्च प्रतिकार्यं प्रयत्नभेदेन भवितव्यम्, अन्यो हि पादसञ्चरणे प्रयत्नः, अन्यश्च बाहूद्धरणे, तथा सति यद्यपीश्वरे प्रयत्नो नित्यः स्यात्, तथापि तस्यैकत्वान्न विचित्रकार्योदयहेतुत्वं सम्भवतीति, व्यर्थ एवासौ। यदि त्वनन्तकार्यानुरूपा अनन्ता एव प्रयत्नाः

शंका—उक्त अनुमानमें दृष्टान्त घटमें ईश्वर कर्तृकत्व तो है ही, अतः साध्यविकल दृष्टान्त है। उत्तर—दृष्टान्त घटमें कुलालके भी कर्ता होनेसे, केवल ईश्वर कर्तृकत्व नहीं है, अतः अनुमानका यह स्वरूप होना चाहिए—'क्षित्यादिकं न केवलाशरीर्यात्मकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवत्'। और दूसरा वस्तुत्व हेतु है, आकाश दृष्टान्त है। उपर्युक्त अनुमानोमें हेतु और दृष्टान्त दोनों सर्वथा दोष रहित हैं। (यदि चाहें तो उक्त अनुमानका सत्प्रतिपक्ष कह सकते हैं, वह इस प्रकार है) क्षित्यादि बुद्धिमत्कर्तृक नहीं हैं, शरीरिकर्तृकत्वके न होनेसे, आकाशकी तरह—'क्षित्यादिकं न बुद्धिमत्कर्तृकम्, शरीरिकर्तृकत्वविरहात्, आकाशवत्। यह साक्षात् ही सत्प्रतिपक्ष देना चाहिए।

शंका—यदि ईश्वर शरीरको नित्य मानकर, प्रलयकालमें भी ईश्वरको सशरीर ही मानें, तो क्या दोष है? उत्तर—सावयत्व ईश्वर शरीरमें अनैकान्तिक है, वह पृथिव्यादिको कार्य सिद्ध नहीं कर सकेगा और सशरीर कर्तृकत्व दुर्वा, अंकुर आदिमें अनुपपन्न है। अनुपलब्धिके विरोध से*।

और भी बात है कि प्रत्येक कार्यके लिये भिन्न-भिन्न प्रयत्न होने चाहिएं। जैसे पैरके चलानेमें दूसरा प्रयत्न है, हाथके उठानेमें दूसरा। ऐसा होनेपर यद्यपि ईश्वरका प्रयत्न नित्य हो सकता है तथापि उसके एक होनेसे विचित्र कार्योत्पत्तिमें वह हेतु नहीं बन सकता। अतः नित्य प्रयत्न मानना

---

* इस प्रकार क्षित्यादिकोंको कार्य सिद्ध करनेमें जो सावयवत्व हेतु दिया है, वह ईश्वर शरीरमें व्यभिचारी है। अतः साध्यको सिद्ध नहींकर सकता। शंका—ईश्वरका शरीर किस वस्तुसे बनेगा? सृष्टिके आदिमें पृथिव्यादि तो है ही नहीं। भोगका आयतन ही शरीर कहलाता है। शरीरका लक्षण तो घटेगा नहीं। तब शरीर कैसे कहलाएगा? और हितैषी ईश्वर दुःखप्रायः जगतकी सृष्टि भी नहीं कर सकता। बिना साधनके सृष्टि कर्तृत्व भी उपपन्न नहीं होता। धर्माधर्म जीवात्माके साधन हैं, यह कह नहीं सकते, क्योंकि सृष्टिके पहिले वे नहीं थे। केवल धर्माधर्म मात्रसे सृष्टि भी तो नहीं हो सकती। लोकमें मिट्टी घटादिके, तन्तु पटादिके उपादान कारण होते हैं। और सृष्टिके प्रति यदि ईश्वरको अनुकम्पा ही कारण है, तो ईश्वरको संहार करनेकी इच्छा नहीं होगी। अतः सृष्टिकी तरह बुद्धिपूर्वककारी ईश्वरके द्वारा संहार भी नहीं हो सकता, क्योंकि संहारका कोई प्रयोजन नहीं दीखता।

सर्वदैवेश्वरेऽवतिष्ठेरन् , तथा सति प्रलयकारिणीभूतस्य परमाणुविश्लेषकस्य प्रयत्नस्य सर्गकालेप्यवस्थानात्, संयोजकस्य च सर्गहेतोः प्रलयकालेप्यवस्थानात् , उभयोः परस्पर-विघातान्न सृष्टिः स्यात् न प्रलयः ।

यच्च क्षेत्रज्ञादृष्टवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्योपपत्तिरिति, तदप्ययुक्तम्—नहि दृष्टकारण-वैलक्षण्यमन्तरेणाऽदृष्टवैलक्षण्यमात्रात् कार्यवैलक्षण्यं सिध्यति । न ह्यदृष्टशतेनापि ताल-बीजमन्तरेण तालवृक्षो निष्पद्यते । विनापि बीजमीश्वरमहिम्ना सर्वं सिध्यतीति चेत् ? न, तत्रैव प्रमाणाभावात् । नित्यत्वे हि वेदानामवसिते तत्प्रामाण्यबलेनेश्वरस्याऽपरिच्छेद्यो महिमा, सृष्टिप्रलयौ च ऋतुलिङ्गन्यायमाश्रित्य सिध्येयुर्न वा वेदांस्त्वनादृत्य दृष्टानुसारेण पर्वते इवानुमानमत्यन्तालौकिकेर्थे प्रवर्तयतामुपेक्षैवोत्तरमित्युपरम्यते । तस्मान्न सर्गादिकालेपि सम्बन्धकरणम् ।

व्यर्थ है । शंका—अनन्त कार्योंके अनुरूप, अनन्त प्रयत्न माने जाएं । वे ईश्वरमें सर्वदा रहेंगे । तब उपपत्ति हो सकती है । उत्तर—नहीं, ऐसा माननेपर, प्रलयका कारण जो परमाणुओंको विभक्त करता है, प्रयत्न विशेष, वह सृष्टि कालमें भी रहता है और प्रमाणुओंका संयोजक प्रयत्न जो सर्गका कारण है, उसके प्रलय कालमें भी रहनेके कारण, दोनोके परस्पर विघात (सुन्दोपसुन्द न्याय) से न सृष्टि होगी, न प्रलय होगा ।

शंका—और जो क्षेत्रज्ञोंके अदृष्ट भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके वैचित्र्यसे कार्यका वैचित्र्य होता है, यह कहा था ? उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि दृष्ट कारणकी विलक्षताके बिना, अदृष्टकी विलक्षणता मात्रसे, कार्यकी विलक्षणता नहीं सिद्ध होती । (इसीका व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं) 'नहीति' से । सैकड़ों अदृष्टोंसे ताड़ बीजके बिना, ताल-वृक्ष उत्पन्न नहीं होता । शंका—यदि माना जाय बिना बीजके भी ईश्वरकी शक्तिसे सभी सिद्ध होता है ऐसा कहा जाय ? उत्तर—नहीं, ऐसा होनेमें कोई प्रमाण नहीं । वेदोंका नित्यत्व निश्चित होनेपर, उनके प्रामाण्यके बलसे, ईश्वरकी महिमा अपरिच्छेद्य है, यह सिद्ध होगा । ऋतुलिग न्यायको लेकर, सृष्टि तथा प्रलय सिद्ध होंगे अथवा नहीं । जो वेदोंका अनादर कर, दृष्टके अनुसार पर्वतमें वह्नि-अनुमानकी तरह अत्यन्त अलौकिक अर्थमें प्रवृत्त होते हैं, वे यथेच्छाचारी हैं । ऐसे वैशेषिकोंकी उपेक्षा करना ही उनका उत्तर है । अतः यहीं विराम लेते हैं । इसलिए सर्गके आदि कालमें भी सम्बन्धका निर्माण नहीं हो सकता॰ ।

॰ सम्बन्ध सकर्तृक है, शब्दार्थ सम्बन्ध होनेसे, 'वृद्धिरादैच' इत्यादि सम्बन्ध की तरह, यह अनुमान हो सकता है ? उत्तर—नहीं, जो सकर्तृक होता है, वह स्मृतिके विषय कर्तृकत्वका प्रयोजक होता है, इसलिए आपका हेतु अप्रयोजक है । यानी सम्बन्ध कर्ताको सिद्ध नहीं कर सकता । यदि कहा जाए अगृहीत सम्बन्ध शब्दसे अर्थ प्रतीति नहीं होती, अतः अर्थापत्ति प्रमाणसे सम्बन्ध कर्ताकी कल्पना होती है ? उत्तर—यह भी नहीं कह सकते, अनादि वृद्ध-व्यवहारसे सम्बन्धका ग्रहण होता है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नही । इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकारने उक्त विचारका निगमन किया है 'तस्मात्' इत्यादिसे ।

शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वस्थापनम् (सम्बन्धाक्षेपपरिहारः)

अशक्यं च कर्तुं सर्वशब्दानां सम्बन्धकरणम्--यदा न कश्चिदपि शब्दः केनाप्यर्थेन सम्बद्ध आसीत्, तदा कथं सम्बन्धः क्रियेत् ? सम्बन्धं हि कुर्वताऽवश्यं केनचिद्वाक्येन स कर्तव्यः—गौः सास्नादिमानित्यादिना। न चाऽप्रसिद्धमर्थप्रतिपादकत्वेन[1] सास्नादिशब्दमर्थप्रतिपादनाय शक्नोति कर्त्तोच्चारयितुम्, तथा हस्तसञ्ज्ञादयोपि प्रतिपादकत्वासिद्धेः।

नन्वेवमप्रसिद्धसम्बन्धस्य कथनमप्यनुपपन्नम्—यद्यपि हि तदा वक्तुः प्रसिद्धसम्बन्धत्वात् सम्बन्धकथनाय वाक्योच्चारणं संभवति, तथापि श्रोतारोऽप्रसिद्धसमस्तपदार्था बालाः कथं वाक्येन सबन्धं प्रतिपद्येरन्? तस्मात् करणवत् कथनमप्यनुपपन्नम्। नैष दोषः—कथयितुस्तावन्न कर्तुरिवाऽशक्तिः—उपायसम्भवात्, प्रतिपत्तारस्तूपायाभावान्न प्रतिपद्यन्त इति दृष्टविरुद्धम्। दृश्यन्ते ह्यप्रसिद्धसमस्तशब्दार्था[2] बाला वृद्धेभ्यः सबन्धं प्रतिपद्यमानाः।

किं चास्त्युपायो बालानाम्—नाऽवश्यं सम्बन्धकथनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते, किन्तु यदा वृद्धाः प्रसिद्धसम्बन्धाः स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति, तदा तेषामुपशृण्वन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। यदा हि केनचित् 'गामानय' इत्युक्तः कश्चित्

अब सिद्धान्ती कहते हैं कि सभी शब्दोंका सम्बन्ध करना भी अशक्य है, क्योंकि जब कोई शब्द किसी अर्थसे सम्बद्ध नहीं था, तब सम्बन्ध कैसे किया जाएगा ? सम्बन्ध करनेवाले पुरुषको अवश्य ही किसी वाक्यसे ही करना होगा। जैसे 'गौ सास्नादि मती है'। 'घट कम्बुग्रीवादि मान् है'। इत्यादि अर्थप्रतिपादकतारूपसे अप्रसिद्ध सास्नादि शब्दको अर्थ प्रतिपादनके लिए कर्ता उच्चारण नहींकर सकता। प्रतिपादकताके असिद्ध होनेसे। इसी प्रकार हाथका संकेत आदि भी नहींकर सकता।

शंका—ऐसा होनेपर जिस शब्दका सम्बन्ध अप्रसिद्ध है, उसका कथन भी तो अनुपपन्न है। यद्यपि उस समय वक्ता सम्बन्धको जानकर, उसे कहनेके लिए वाक्योच्चारण करता है, फिर भी सुनने वाले बालक, जिन्होंने अप्रसिद्ध समस्त पदार्थोंको नहीं समझा है, वे वाक्यसे सम्बन्धको कैसे समझ सकेंगे ? अर्थात् नहीं समझ सकते। अतः सम्बन्ध करणकी तरह कथन भी अनुपपन्न है। उत्तर—उपर्युक्त दोष नहीं हैं। जैसे करनेवालेकी अशक्ति है, वैसे कहनेवालेकी अशक्ति नहीं; उपायके सम्भव होनेसे। समझनेवाले तो उपायाभावके कारण नहीं समझते हैं। यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। क्योंकि यह देखा जाता है कि जो बालक समस्त शब्दोंको नहीं समझते हैं, वे वृद्धोंसे सम्बन्धको समझने हुए देखे जाते हैं। सम्बन्ध कथनसे अन्य शक्तिग्रहरूप उपाय भी बालकोंके लिए हों, पर वे सम्बन्ध बतानेवाले वाक्यसे ही वृद्धोंके द्वारा सम्बन्धज्ञान करें, ऐसा नहीं।

किन्तु जब वृद्ध लोग (व्युत्पन्न पुरुष) सम्बन्धको जाननेवाले अपने प्रयोजनके लिए व्यवहार करते हैं, तो उसे सुनकर बालक भी सम्बन्धको समझ लेते हैं। जब किसीने 'गामानय' इस वाक्यका उच्चारण किया। दूसरा उसे सुनकर सास्नादिमान् गौको ले आता है। तब समीपस्थ

१. अर्थप्रतिपादकत्वेनाप्रसिद्धं सास्नादिशब्दमिति सम्बन्धः। २. पदार्था इति 'क' पुस्तके पाठः।

सास्नादिमन्तमानयति, तदा समीपस्थो बालोऽगवच्छति यस्मादयमेतद्वाक्यश्रवणान्तरमस्मिन्नर्थे प्रवर्तते, तस्मादस्माद्वाक्यादयमर्थः प्रत्यायित इत्येवं संमुग्धरूपेणावगतं प्रत्यायकत्वं[1] पश्चाद्बहुषु प्रयोगेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यभागानां पदानां पदभागानां च प्रकृतिप्रत्ययानां वाक्यार्थभागेषु पदार्थेषु विविच्यते, तस्मान्न पौरुषेयः सम्बन्ध इति, न तद्वशेन पुरुषापेक्षास्तीति सिद्धमनपेक्षं वेदानां प्रामाण्यम् ॥ इति सम्बन्धाक्षेपपरिहारः ॥

अथ चित्राक्षेपपरिहारः

यच्चानन्तरफलानुपलब्ध्या चित्रादीनां न पश्वादिफलत्वमिति। स्यादेवम्, यदि प्रत्यक्षादिपञ्चकमेव प्रमाणं स्यात्? तदा ह्यनन्तरफलोपलम्भादेव तत्साधनत्वं स्यात्,

बालक समझता है कि वह इस वाक्यको सुननेके पश्चात् इस अर्थमें प्रवृत हुआ है। अतः इस वाक्यसे यह अर्थ उसे अवगत करा दिया है। इस प्रकार संमुग्धरूपसे जानी हुई प्रत्यायकताका, बादमें अनेक प्रयोगोमें अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा वाक्यके अंश पद, पदोंके अंश प्रकृति-प्रत्यय आदिका, वाक्यार्थके अंश पदार्थोंमें विवेक कर लेता है। (अर्थात् व्युत्पित्सु बालक पदोंका पदार्थोंमें सम्बन्धरूप शक्तिग्रह है, ऐसा निश्चयकर लेता है) अतः सम्बन्ध पौरुषेय नहीं हो सकता※। इस प्रकार सम्बन्धके द्वारा पुरुषकी अपेक्षा नहीं। इसलिए वेदोंका प्रामाण्य निरपेक्ष सिद्ध होता है।

(इस प्रकार सम्बन्धाक्षेपपरिहारका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

यह जो कहा गया है कर्मानुष्ठानके अनन्तर फलके न मिलनेसे चित्रादिका§ पशु आदि फल नहीं होता, यह तब हो सकता है, यदि प्रत्यक्ष आदि पाँच ही प्रमाण होते। इस स्थितिमें अनन्तर फलकी प्राप्तिसे ही चित्रादि याग फलके साधन हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। शब्द भी यथार्थ ज्ञानका

※ इस प्रकार सिद्धान्तीने सम्बन्ध नित्यत्वको सिद्धकर, अपने पक्षको स्थिर किया। उक्त अर्थको सूत्रकारने 'उपदेश' शब्दसे सूचित किया है। इससे वृद्ध व्यवहार प्रत्यक्ष है, इस बातका बोधन कराया गया है। क्योंकि व्यवहार करनेवाले प्रत्यक्ष हैं। सम्बन्धकर्ता तो अनुमेय हैं। प्रत्यक्ष विरोधी अनुमान नहीं हो सकता। एक पुरुष सभी देशोंमें जाकर सम्बन्ध नहींकर सकता। अनेक सम्बन्धकर्ता सभी देशोमें जाकर, सम्बन्ध करेंगे, यह भी सम्भव नहीं। सम्बन्धके बिना कोई काल भी निश्चित नहीं होता। अतः सभी देश, सभी कालोमें सम्बन्धका अव्यतिरेक होनेसे कर्ताकी कल्पना अनुपपन्न है।

और सुनिए—प्रमाणान्तरसे अज्ञातार्थमें नाम करण भी असम्भव है। विशेष ज्ञानके लिए ही तो नाम रखे जाते हैं, विशेषताको न जाननेसे नाम रखने व्यर्थ हैं। अतः शब्दार्थका सम्बन्ध अपौरुषेय है, यही सिद्ध होता है।

§ भाष्यकारने चित्राक्षेपका वर्णन किया है। फलके दिखाई न देनेसे कर्मकालमें शब्द फलोत्पत्तिमें निमित्त नहीं होता। कालान्तरमें कर्मका अभाव है, ऐसा आक्षेपकर, उसका परिहार किया है।

यहां यह शंका है कि चित्राक्षेप तथा उसका परिहार असौत्र हैं। अर्थात् सूत्रसे ज्ञात नहीं होते। उत्तर है, नहीं, क्योंकि 'अर्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इतने अंशको प्रकृतमें लगा सकते हैं। अतएव सूत्रकार जैमिनिके आशयको जाननेवाले भाष्यकारने इसका परिहार किया है। और विद्वानोंका कथन है, कि जो भाष्य और वार्तिकमें है, वह सब सूत्रोंमें है, क्योंकि सभी अर्थोंके उत्पत्ति स्थान सूत्र ही हैं—'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके' इति।

१. अत्र प्रत्यायकत्वं विविच्यत इत्यनुषङ्गः।

नाऽन्यथा। शब्दस्यापि तु प्रमितिजनकतया प्रत्यक्षादिवत् प्रमाणत्वात्, तेन च चित्रादीनां पशुसाधनत्वाऽवगमादसत्यप्यनन्तरोपलम्भे सिध्यति तत्साधनत्वम्।

ननु प्रमाणान्तरविरोधादप्रामाण्यमित्युक्तम्। न, तदभावात्। नहि शब्द 'अनन्तरमेव चित्रा फलसाधनम्' इति ब्रूते, येन विरोधः स्यात्। साधनत्वमेव प्रतिपन्नं तन्मात्रवचनात्, तस्य चापूर्वद्वारेण कालान्तरेपि तैलपानादिवत् फलसाधनत्वोपपत्तेः

यत्तु प्रागनुष्ठानाच्छास्त्रार्थावधारणवेलायां नाऽपूर्वमन्तर्भावितमित्युक्तम्, यद्यप्येवम्, तथापि पश्चादेवमवगच्छति—साधनत्वमात्रेपि शब्देनोक्ते भ्रान्त्या मया साक्षात्साधनत्वमेव प्रतिपन्नम्, तच्चेदानीमन्यथा जातम्, अतो नूनमस्य केनापि द्वारेण कालान्तरे फलमिति।

प्रागपि च शक्यमेवाऽपूर्वमवगन्तुम्—अनेकेषामङ्गप्रधानकर्मणां क्षणिकानामपूर्वमन्तरेण यौगपद्याऽसम्भवात्, पश्वादीनां च दृष्टकारणापेक्षत्वान्न क्षणमात्रेणोत्पत्तिः संभवतीत्यवश्यंभाव्यपूर्वम्। न च पश्वाद्युत्पत्तिमत्रं फलम्, उपभोगस्य तु चिरकालत्वाद् यावदुपभोगमवस्थास्यमानेन केन चिद्भवितव्यम्, न च क्रियायास्तावत्कालमव-

---

जनक होनेसे प्रत्यक्षादिकी तरह प्रमाण है। अतः इस शब्द प्रकरणसे चित्रादिकी पशुसाधनताके ज्ञानसे, अनन्तर फलोपलब्धिके न होनेपर भी, चित्रादिकी फल साधनता सिद्ध होती है।

शंका—प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष) से विरोध होनेके कारण शब्द अप्रमाण है, यह कहा गया है। उत्तर—नहीं, प्रत्यक्षसे विरोध नहीं, विषय भेद होनेके कारण। इसीको स्पष्ट करते हैं 'नहि' त्यादिसे। शब्द = 'चित्रया यजेत पशुकामः' यह वाक्य, अनन्तर ही चित्रा याग पशुफलका साधन है, यह नहीं बताता, जिससे विरोध हो सके। इतना कहनेसे साधनत्व मात्र ही ज्ञात हुआ। उस यागकी अपूर्व द्वारा कालान्तरमें भी फल साधनता उपपन्न होती है। इसमें दृष्टान्त है तैल पान। जैसे तैलपान कालान्तरमें बल पुष्टि आदिका वर्धक होता है, वैसा प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिए।

शंका—यह जो कहा गया है—अनुष्ठानके पूर्व शास्त्रार्थका निर्णय करते समय अपूर्वका शास्त्रार्थमें अन्तर्भाव नहीं किया ? अपूर्वको लेकर समाधान करते हैं, कि यह कथन संगत नहीं। उत्तर—यद्यपि शास्त्रार्थ निर्णय कालमें अपूर्वको नहीं लिया है। तथापि बादमें पुरुष ऐसा समझता है, कि शब्दने तो साधन मात्रको बताया है, मैंने भ्रान्तिसे साक्षात् साधन समझ लिया है। वह अब अन्यथा होगया है। अतः इसका कोई दूसरा द्वार (अवान्तर व्यापार) होना चाहिए। उसीसे कालान्तरमें फल होता है। (उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं कि) अनुष्ठानके पूर्व भी अपूर्वको समझ सकते हैं, क्योंकि अनेक अंग है तथा प्रधान कर्म हैं, ये सब क्षणिक होते हैं। इनका स्वरूपसे एक कालमें होना सम्भव नहीं। अतः अपूर्वके द्वारा सहभाव मानना होगा। अपूर्वके विना सहभावका होना सम्भव नहीं। पश्वादि फल भी दृष्ट कारणकी अपेक्षा रखते हैं। उनकी क्षण मात्रसे उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः अपूर्वका होना आवश्यक है। पश्वादिकी उत्पत्ति मात्र ही फल नहीं; किन्तु उन्हें भोगना फल है। इस उपभोगके चिरस्थाई होनेसे जबतक यह रहता है, तबतक स्थिर रहनेवाली कोई वस्तु होनी चाहिए।

स्थानं संभवतीत्यपूर्वमङ्गीकर्तव्यमिति तद्द्वारेण युक्तं कर्म कालान्तरे फलदमिति नाऽनन्तरानुपलब्ध्या शास्त्रस्य बाधः ॥ इति चित्राक्षेपपरिहारः ॥

आत्मवादारम्भः

यत्तु[1] प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तम्—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति—एतच्छब्देन प्रत्यक्षं शरीरं यज्ञायुधसंयुक्तमुपदिशतीति। तदभिधीयते—अर्थवादत्वादस्यान्यपरत्वान्न स्वार्थे प्रमाणान्तरविरोधो दोषः। न च विरोधोपि विद्यते, न ह्यनेन शरीरस्य स्वर्गगमनमुच्यते। किं तर्हि ? आत्मनो यस्यैतच्छरीरम्, सोपि हि शरीरशरीरिणोरभेदोपचारेण शरीरस्थेन यज्ञायुधित्वेन प्रत्यक्षत्वेन च व्यपदिश्यते। आत्मनो वा स्वर्गगमनं शरीरे उपचर्यते इति नास्ति विरोधः।

यजमानशब्दोपि तस्यैव यागस्वामित्वात् कर्तृत्वाच्च वाचकः। न च शक्यते तस्य कापिलवदकर्तृत्वं वक्तुम्, श्रुतिविरोधात्। सर्वत्र हि कर्तृभोक्तृशब्दयोः सामाना-

---

शंका—क्रिया ही उतने कालतक स्थिर रहती है ? उत्तर—यह नहीं कह सकते, उसके क्षणिक होनेसे यह सम्भव नहीं। अतः अपूर्वको मानना होगा। इसलिए अपूर्वके द्वारा कर्म, कालान्तरमें फल देता है, यह उपपन्न होता है। अनन्तर फलकी अनुपलब्धिसे शास्त्रका बाध नहीं होता*।

(इस प्रकार चित्राक्षेप परिहारका श्री चन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(इस प्रकार सिद्धान्ती चित्राक्षेपका परिहारकर, यज्ञायुधि वाक्यमें दृष्ट विरोधका निवारण करनेके लिए कहते हैं 'यत्तु' इत्यादिसे) यह जो प्रत्यक्ष विरुद्ध वचन कहा गया है कि 'वह यह यज्ञायुधी (यज्ञ पात्रोंको धारण करने वाला) यजमान शीघ्र ही स्वर्ग लोक पहुँच जाता है' यह शब्दसे प्रत्यक्ष शरीर ही यज्ञ-पात्रोंसे संयुक्त है, इस बातको कहता है। इसके सम्बन्धमें कहा जाता है यह अर्थवाद होनेसे अन्यपरक है (अर्थात् इस वाक्यका स्तुतिमें तात्पर्य है) अतः स्वार्थमें प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष) का विरोध दोष नहीं है। और विरोध है भी नहीं। क्योंकि इस वाक्यसे शरीरका स्वर्ग गमन नहीं कहा गया है। शंका–तब किसको कहा है ? उत्तर–आत्माको, जिसका यह शरीर है। वह भी शरीर और शरीरिका अभेद मानकर। शरीरमें स्थित यज्ञायुधित्वरूप धर्मसे प्रत्यक्ष कहा जाता है§। (दूसरा समाधान है कि) आत्माके स्वर्ग गमनका शरीरमें आरोप करते हैं, अतः विरोध नहीं।

यजमान शब्द भी उसीका वाचक है, यागका स्वामी होनेके कारण। वह कर्ता होनेसे भी आत्माका ही वाचक है। शंका—सांख्य मतकी तरह आत्मा कर्ता नहीं है। उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, श्रुतिका विरोध होनेसे। (अर्थात् हम लोग वेद प्रामाण्य वादी है, सांख्योंकी तरह

---

* शास्त्र सामान्य रूपसे कर्मका विधान करता है। यहां फलका न होना यह अनन्तर विषयक है। अर्थात् इष्टिके अनन्तर ही फल नहीं होता। अतः शास्त्र और प्रत्यक्षका विषय भेद होनेसे विरोध नहीं।

§ अर्थात् आत्माका यज्ञ-पात्र धारण कर स्वर्ग गमन प्रत्यक्षतया सम्भव नहीं। जो शरीरमें है, उसीका आत्मामें उपचारसे अभेद मानकर, 'यज्ञायुधी स्वर्गमें जाता है' यह कहा गया है।

---

१. एवं तावच्चित्राक्षेपं परिहृत्य सम्प्रति वाक्यान्तरेदृष्टविरोधं परिहर्तुमनुवदति 'यत्त्विति'।

धिकरण्यं दृश्यते। यथात्रैव—'यजमानः स्वर्गं लोकं याति' इति। तथा 'य एवं विद्वानग्निं चिनुते ऋध्नोत्येव' 'य एवं विद्वान् द्विरात्रेण यजते स्वर्गमेव लोकमेति' तथोपनिषत्स्वपि 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छां० उ०) इति कर्तृत्वाभिधायिन्या षष्ठ्याऽऽत्मनः संकल्पं प्रति कर्तृत्वमुक्तम्।

सम्भवति च सर्वगतस्याप्यात्मनो यागज्ञानप्रयत्नसंकल्पादिषु साक्षादेव कर्तृत्वम्। न हि वयं स्पन्दमेव क्रियामुपगच्छामो वैशेषिकवद्, येनात्मनः कर्तृत्वं न स्यात्, धात्वर्थमात्रस्य क्रियात्वाद्। स्पन्देष्वपि प्रयोजकत्वेनास्यैव कर्तृत्वं सम्भवति, प्रयत्नेन ह्यसौ शरीरं स्पन्दे प्रयोजयति। साक्षात्तु न सम्भवति सर्वगते स्पन्दस्याऽसम्भवात्—इत्यनेनाभिप्रायेण पुराणेषूपनिषत्सु चाऽकर्तृत्ववादाः।

शरीरातिरिक्तात्मसाधनम्

किं पुनः शरीरव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणम्? प्राणनादि लिङ्गम्, सुखादयश्च प्राणनादिशब्देन कोष्ठ्यस्यवायोरूर्ध्वाऽधोगमनवृत्तिविशेषस्य प्राणनादिशब्दवाच्यस्य हेतुभूतः प्रयत्न उच्यते। स च सुखादयश्च न शरीरधर्माः संभवन्ति, अयावच्छरीरभा-

आत्माको अकर्ता नहीं मानते) सर्वत्र कर्ता-भोक्ता शब्दोंका सामानाधिकरण्य देखा जाता है। जैसे इसी वाक्यमें 'यजमान स्वर्ग लोकमें जाता है' इसमें यजमान, कर्ता तथा भोक्ता एकार्थनिष्ठ हैं। इसी प्रकार 'जो ऐसा जानते हैं, वे अग्नि चयन करते हैं' (अर्थात् स्थण्डिलका = अग्निके आधार भूत स्थान विशेषका निर्माण करते हैं) वे समृद्धिको प्राप्त करते हैं। और 'जो ऐसा जानकर द्विरात्र नामक याग करता है, वह स्वर्गलोकको जाता है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कर्तृ-भोक्तृ शब्दोंका सामानाधिकरण्य देखा जाता है। जैसे 'इस पुरुषके संकल्पसे ही उसके पितर उपस्थित होते हैं'। इसमें कर्तृवाचक षष्ठीसे आत्मा संकल्पके प्रति कर्ता है, यह कहा गया है। अतः सर्वव्यापक आत्माका भी याग, ज्ञान, प्रयत्न, संकल्प आदिकोंमें साक्षात् कर्तृत्व हो सकता है।

हम मीमांसक स्पन्दको ही क्रिया नहीं मानते, वैशेषिकों की तरह जिससे आत्माका कर्तृत्व न हो सके। धात्वर्थ मात्रको क्रिया कहते हैं। स्पन्दमें भी आत्माका कर्तृत्व होता है, प्रयोजकत्वरूपसे। यह आत्मा प्रयत्नसे शरीरको स्पन्दरूप व्यापारमें लगाता है, साक्षात् नहीं। व्यापक आत्माका साक्षात् स्पन्द होना असम्भव है। सर्वगत आत्मामें स्पन्दका होना सम्भव नहीं, इसी अभिप्रायको लेकर, उपनिषद् तथा पुराणोंमें आत्माका अकर्तृत्ववाद है।

शंका—शरीरसे भिन्न आत्माके होनेमें क्या प्रमाण है? उत्तर—प्राणनादि तथा सुखादि हेतु ही प्रमाण हैं। (इनके द्वारा सरीरातिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है) यहां प्राणन शब्दसे उदरस्थ वायुका जो ऊपर-नीचे आना-जाना रूप व्यापार विशेष है, जो प्राणन अपाननादि शब्दका वाच्य है, उसका कारण भूत प्रयत्न कहा जाता है, वह तथा सुखादि ये दोनों शरीरके धर्म नहीं होते, क्योंकि ये यावच्छरीर भावी नहीं*। जो कार्यद्रव्योंमें रहने वाले विशेषगुण रूपादि हैं वे विरोधि दूसरे गुणों

* अर्थात् शरीर जबतक रहता है, तबतक ये रहते हैं, ऐसा नहीं कहसकते। स्वाश्रयका नाश होनेसे जिसका नाश होता है, उसीको यावच्छरीर भावी कहते हैं। जैसे शरीरके रूप आदि। उपर्युक्त प्रयत्न सुखादि उनसे भिन्न हैं। 'स्वाश्रयनाशजन्यप्रतियोगित्वं यावद्द्रव्यभावित्वम्, तदभावः अयावद्द्रव्यभवित्वम्' इसीको भाष्यमें वैधर्म्य कहा है।

वित्वात्। ये हि कार्यद्रव्यवर्तिनो विशेषगुणा रूपादयस्ते विरोधिगुणान्तराद्वा द्रव्यविनाशाद्वा विनश्यन्ति, प्राणनादयस्तु तदभावेपि नश्यन्ति मृतावस्थायामिति न शरीरगुणाः।

तथा ज्ञानमप्ययावच्छरीरभावित्वादेव न शरीरधर्मः। तथा ये प्रत्यक्षविषयाः शरीरगुणास्ते स्वयमिव परैरपि प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते। यथा रूपादयः, सुखादयस्तु प्रत्यक्षा अपि सन्तो न परप्रत्यक्षग्राह्याः। तस्मान्न शरीरगुणाः। तदिदमपि द्वयं सुखादीनां शरीरगुणत्वं निवारयदन्यगुणतां सूचयति। योसावन्यः, स आत्मा। किं च सर्वे एव विशेषगुणाः कारणेपि वर्तमाना एव कार्यद्रव्यगुणतां भजन्ते। न च शरीरकारणभूतेषु पार्थिवपरमाणुषु चैतन्यमस्तीति कथं शरीरगुणता चैतन्यस्य स्यात्? तस्मादन्यश्चेतनः।

तथा द्रव्यके विनाशसे नष्ट हो जाते हैं। प्राणनादितो शरीरके रहने पर भी नष्ट होते हैं मृतावस्थामें, अतः वे शरीरके गुण नहीं§।

इसी प्रकार ज्ञान भी शरीरका धर्म नहीं है अयावच्छरीर भावी होनेसे (अर्थात् यदि ज्ञान शरीरका धर्म होता तो मृत शरीरमें भी ज्ञानकी उपलब्धि होनी चाहिए थी नहीं होती। शरीर विनाशके बिना भी ज्ञानका विनाश होता है। अतः ज्ञान शरीरका गुण नहीं। जिसका ज्ञान गुण है, वही आत्मा है। उक्त अर्थ में दूसरी युक्ति देते हैं) 'तथा हि' इत्यादि से। जो प्रत्यक्ष विषय शरीरके गुण हैं, वे स्वयं जैसे प्रत्यक्षसे गृहीत होते हैं, वैसे दूसरे लोग भी उन रूपादिकोंको प्रत्यक्षसे देखते हैं, जैसे वे रूपादि होते हैं। सुखादि तो प्रत्यक्ष होते हुए भी परप्रत्यक्षके विषय नहीं हैं, अतः सुखादि शरीरके गुण नहीं। (अब ग्रन्थकार अपने अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं) 'तदिदं' इत्यादिसे। ये दोनो (अयावच्छरी-रभावित्व तथा पर प्रत्यक्ष अग्राह्यत्व) सुखादिके शरीर गुणत्वका निषेध करते हुए, दूसरेके गुण हैं, इस बातको सूचित करते हैं*। जो दूसरा है, वही आत्मा है§। और भी सभी विशेष गुण कारणमें रहकर ही कार्य-द्रव्यके गुणत्वको प्राप्त करते हैं।

---

§ विरोधी गुणान्तरका उदाहण है—जैसे पाकसे घटमें रक्तरूप उत्पन्न होनेपर श्यामरूप नष्ट हो जाता है। द्रव्यके विनाशसे रसादिका विनाश होता है। वैसे प्रकृतमें कार्य-द्रव्योंमें रहने वाले विशेष गुण, उक्तदोनोंके विना नष्ट नहीं होते। प्राणनादि तो शरीरका विनाश न होनेपर भी नष्ट होते हैं, अतः वे शरीरके गुण नहीं। जिसके ये गुण हैं, वही आत्मा है।

* 'सूचयति' पदसे शरीरातिरिक्त आत्मा है, इस अनुमानका ज्ञान होता है। यथा—'सुखादि गुण होनेके कारण कहीं आश्रित रहते हैं, रसादिकी तरह, जिसमें आश्रित रहते हैं, वही आत्मा है—'सुखादयः क्वचिदाश्रिताः गुणत्वात् रसादिवत्, यत्राश्रिताः स आत्मेति भावः'।

§ यहाँ पूर्व पक्षीका कहना है कि 'यज्ञायुध' वाक्यको लेकर शरीरातिरिक्त आत्माका प्रतिपादन करना व्यर्थ है। क्योंकि 'आदित्योयूपः' इस वाक्यकी तरह, इसका भी अर्थवादके रूपमें व्याख्यान हो सकता है। तब शरीरातिरिक्त आत्मा सिद्ध नहीं होगा। इसका उत्तर है कि आत्माके न माननेपर 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्योंका अप्रामाण्य होगा। ये वाक्य याग और स्वर्गके साध्य-साधनभाव-सम्बन्धको बताते हैं। स्वर्ग तो जन्मान्तर भावी है। वह भी कर्ताको ही मिलेगा, दूसरेको नहीं। जो पूर्वपक्षी बौद्ध ज्ञान मात्रको आत्मा मानेगा, उसके ज्ञानको भी क्षणिक मानना होगा। इसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका होना सम्भव

प्राभाकरमतेन देहभिन्नात्मसाधनम्

कश्चित्[1] पुनराह—सर्वार्थवित्तिषु[2] तावद्वेत्ताऽवभासते, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशयप्रसङ्गात्। न च शरीरस्य करचरणाद्यवयवसंनिवेशविशिष्टस्यास्ति तथाऽवभासः, अतोऽन्यः शरीरादात्मेति।

तत्वयुक्तम्—संनिवेशाऽप्रतिभासेपि शरीरप्रतिभाससम्भवात्। न हि संन्निवेश एव शरीरं शरीरधर्मो हि सन्निवेशः, सम्भवति च धर्माऽप्रतिभासेपि धर्मिणः प्रतिभासः, अन्यथात्मनोपि प्रतिभासो न स्यात्, तद्धर्माणां सर्वगतत्त्वादीनामर्थवित्तिष्वप्रतिभानात्। न चैकान्तिकमसमर्थवित्तिषुवेत्तृभानम्, अर्थ एव हि तदा भासते, न वेत्ता।

न च स्वपरवेद्ययोरनतिशयः। नहि वेतृभासनकृतोयमतिशयः, किन्तु कस्यचिदेव किञ्चिदाभासते नन्यस्य—इत्येतावानतिशयो नान्यः। तस्मान्न ज्ञातृप्रतिभासेन शरीरविवेकसिद्धिः। किन्तु पूर्वोक्तादेव कारणात्=ज्ञानसुखादीनां शरीरगुणत्वाऽसम्भवात् ततोऽन्य एतेषामाश्रयः, स एवात्मा।

शंका—चैतन्य गुण शरीके कारण पार्थित्र आदि परमाणुओंमें रहता है। उत्तर—नहीं रहता, क्योंकि चैतन्य शरीरका गुण यदि होता, तो उपलब्ध होता, पर होता नहीं। अतः शरीरके गुण चैतन्यके गुण नहीं हो सकते, इसलिए चैतन्य दूसरा है।

(अब प्रभाकरके शिष्य शालिकनाथ मिश्रके मतका निरास करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं 'कश्चित्तु' इत्यादिसे) यहाँ किसी (शालिकनाथ मिश्र) का कहना है कि जितने ज्ञान होते हैं, उन सबमें तीन भासते हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। (इनमें भी ज्ञान स्वयं प्रकाश है। आत्मा=कर्ता आश्रय होकर भासता है) नहीं तो अपने पराएकी विशेषता न रह जाएगी। शंका—कर चरणादि अवयवोंके सन्निवेशसे विशिष्ट शरीरका आश्रयके रूपमें भान हो? उत्तर—नहीं हो सकता। शरीरका ऐसा भान होनेपर शरीर ही ज्ञाता हो जाएगा। अतः शरीरसे अतिरिक्त ही आत्मा है, यह उनका कथन है। इसका निराकरण करते हैं 'तत्त्वयुक्तं' इत्यादिसे। यह अयुक्त है। क्योंकि अवयव विन्यासका भान होनेपर भी शरीरका भान सम्भव हो सकता है। अवयव सन्निवेश तो शरीर है नहीं। अर्थात् सन्निवेश ही यदि शरीर होता तो सन्निवेशका भान न होनेसे भी शरीरका भान होना चाहिए था) क्योंकि धर्मका भान न होनेपर भी धर्मी शरीरका भान सम्भव है। सन्निवेश तो शरीरका धर्म है। नहीं तो आत्माका भी भान नहीं हो सकेगा। आत्माके धर्म सर्वगतत्त्वादिका अर्थज्ञानमें भान नहीं होता। शंका—सभी पदार्थोंके ज्ञानोमें वेत्ताका भान अवश्य होता है। उत्तर—नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। अर्थ ही उस समय भासित होता है, वेत्ता नहीं।

नहीं। शरीरमें चैतन्य और भोक्ताको पृथक् नहीं मानते, अतः स्वर्गकामादि विधि वाक्योंका अप्रामाण्य हो जाएगा। इसी लिए 'यज्ञायुधी' वाक्यके व्याजसे देहातिरिक्त आत्माका प्रतिपादन करना, वेदप्रामाण्यकी सिद्धिके लिए ही है। इस अर्थको वार्तिकमें ऐसे स्पष्ट किया है—

'तस्माद्वेदप्रमाणार्थमात्मात्र प्रतिपाद्यते। यद्यपि प्रकृतं वाक्यं व्याख्यायेतार्थवादतः'॥

(श्लोकवा०, आत्मवाद, का० ६)

---

१. पंचिकाप्रकरणे शालिकनाथेनोक्तमर्थं निराकर्तुमनुवदति। २. सर्वथावित्तिष्विति मुद्रितपुस्तके पाठः।

बौद्ध मतेनविज्ञानमेवात्मेतिवादस्योपन्यासः

सौगतास्त्वाहुः—सिद्धे ज्ञानसुखादीनां गुणत्वे गुणिकल्पना।
न तु तत्सिद्धमस्माकं तावन्मात्रोपपत्तितः ॥ १९ ॥

न ह्याश्रयमन्तरेण ज्ञानमात्रमनुपपन्नम्, स्वतन्त्रमेव ज्ञानं किं नेष्यते? सुखादयोपि ज्ञानविषयाः स्वतन्त्रा एव, अन्यस्याश्रयस्यानुपलब्धेः। ज्ञानमेव च नीलमहं जानामीति ज्ञातृत्वेन विपर्यासितदर्शनैरध्यवसीयते, नान्यः, प्रमाणाभावात्।

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् कथं पूर्वेद्युरुपलब्धे ऽपरेद्युः स्मरणम्, इच्छा प्रत्यभिज्ञा च? न हि स्वयमनुपलब्धे तानि सम्भवन्ति—न हि देवदत्तेनोपलब्धेऽर्थे यज्ञदत्तस्य स्मरणादीनि सम्भवन्ति। सत्यम्—न सम्भवन्ति सन्तानभेदे, समानायां तु सन्तताबेकेनोपलब्धेऽन्यस्य स्मरणाद्युपपन्नं, दृष्टत्वात्। न ह्युपलब्धुः स्मर्तुश्चैकत्वं क्वचिदपि दृष्टम्, एकस्य स्थास्नोः पुरुषस्य कचिदप्यनुपलब्धत्वात्। तस्माज्ज्ञानमेव ज्ञातृ, नान्यो ज्ञातास्तीति।

शंका—वेत्ताका मान न माननेपर अपना या दूसरेका ज्ञान होनेपर उसमें कोई विशेषता न होगी। उत्तर—विशेषता है। यह जो अतिशय रूप विशेषता है, वह ज्ञाताके मानसे हुई है, ऐसी बात नहीं है। क्यों कि किसीको कोई वस्तु भासित होती है, दूसरेको नहीं होती। (जैसे देवदत्तको किसी वस्तुका ज्ञान हुआ, यक्षदत्तको नहीं हुआ) यही विशेषता है, दूसरी नहीं। अतः ज्ञाताके मानसे शरीरसे अतिरिक्त आत्माका विवेक होता है यह बात नहीं। पूर्वोक्त कारणों (अयावच्छरीर भावित्व तथा सुखादिकोंकी परप्रत्यक्ष अग्राह्यता) से ही शरीरके गुण ज्ञान सुखादिके सम्भव न होनेसे उनसे भिन्न जो सुखादिका आश्रय है, वही आत्मा है।

बौद्ध आत्माके सम्बन्धमें कहते हैं, कि (ज्ञान ही आत्मा है, उसका आश्रय नहीं, क्योंकि हम ज्ञानको गुण नहीं मानते) श्लोकका अर्थ=ज्ञान सुखादिके गुणत्व सिद्ध होनेपर गुण तो आश्रयके बिना नहीं रह सकते, अत गुणीकी कल्पना होती है, यह हमारे मतमें सिद्ध नहीं। अर्थात् ज्ञान गुण नहीं है। ज्ञान मात्रसे ही समस्त व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं ॥१९॥ (उक्तार्थकी ग्रन्थकार स्वयं व्याख्या करते हैं) आश्रयके बिना ज्ञान मात्रका होना अनुपपन्न नहीं है, अतः ज्ञानको स्वतन्त्र ही क्यों न मान लिया जाए? सुखादि भी ज्ञानके विषय स्वतन्त्र ही हैं, दूसरे किसी आश्रयकी उपलब्धि न होनेसे। ऐसे ज्ञानको ही 'मैं नीलको जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञाताके रूपसे भ्रान्त लोग समझते हैं, दूसरे नहीं, प्रमाणके न होनेसे।

शंका—ज्ञानके क्षणिक होनेसे, कल देखी हुई वस्तुके विषयमें दूसरे दिन स्मरण, इच्छा तथा प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? जिसने स्वयं जिस वस्तुको देखा नहीं, उसे स्मरणादि कैसे होंगे? देवदत्त द्वारा जाने गए पदार्थ यज्ञदत्तको स्मरण आदि नहीं होते (आदिसे इच्छा, प्रयत्न, प्रत्यभिज्ञाको समझना चाहिए) उत्तर—ठीक है, ज्ञान सन्तानका भेद होनेपर स्मरणादि नहीं होते। समान-ज्ञान सन्तानमें एक ज्ञानसे उपलब्ध वस्तुमें दूसरेके स्मरण आदि उपपन्न हो सकते हैं; प्रत्यक्ष होनेसे। क्योंकि उपलब्धा और स्मरताकी एकता कहीं देखी नहीं गई। एक स्थाई पुरुषको कहीं भी इनकी उपलब्धि नहीं होती। अतः ज्ञान ही ज्ञाता है, दूसरा ज्ञाता नहीं।

उक्तमतस्य निरासः

अत्रोच्यते—प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः पूर्वापरकालयोः।
तस्य स्थास्नोः स्फुटो भेदो विज्ञानात्क्षणभङ्गुरात् ॥ २० ॥

विषयप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेर्ज्ञातुरेकत्वकल्पनायां स्यादप्येतदुत्तरम्—सन्तानैकत्वादेवोपपद्यत इति। यदा तु ज्ञातैवैकः पूर्वापरकालयोः प्रत्यभिज्ञायते—'योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाहमनुपश्यामि' इति तदा प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञातुरेकत्वावगमात्, विज्ञानस्य च क्षणिकत्वात् ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवतीति।

किमहंप्रत्ययगोचरो ज्ञाता स्यात्? तथा सति शरीरमेव जानामि कृशोऽहं स्थूलोऽहं गच्छाम्यहमिति कार्श्यादिवुद्धिसामानाधिकरण्यादहम्बुद्धेर्गोचरः, आत्मनश्च सर्वगतस्य कार्श्याद्यनुपपत्तेः।

उच्यते—ज्ञातृविषयस्तावदहंप्रत्यय इत्यविवादम्। यो हि परामृशति स स्वात्मानम्—'अहं' इति परामृशति, परान्—'इदम्' इति। तेन निस्संशयमस्य ज्ञातृगोचरत्वम् शरीरस्य च ज्ञातृत्वं निराकृतम्, अतोऽत्यन्तसंसृष्टयोरेकत्वभ्रान्त्या सामानाधिकरण्यप्रतीतिरुष्णतोयप्रतीतिवद् भास्वरायःपिण्डप्रतीतिवच्च।

उक्त मतका निराकरण करते हैं 'अत्रोच्यते' इत्यादिसे। श्लोकका अर्थ=पूर्वोत्तरकालमें जो कर्ता प्रत्यभिज्ञाका विषय होता है, उस स्थाई पुरुषका क्षण भंगुर विज्ञानसे भेद स्पष्ट है ॥ २० ॥ विषय प्रत्यभिज्ञाकी अन्यथा अनुपपत्तिसे ज्ञाताकी एकत्व कल्पना यदि होती, तब सन्तानके एक होनेसे, आश्रयके बिना भी व्यवहार होता है, यह उत्तर हो सकता है। जब एक ज्ञाता हो पूर्वोत्तर कालमें 'जिस मैंने पहिले देखा था, वही मैं अब देख रहा हूँ' ऐसे अनुभव करता है, तब प्रत्यभिज्ञाके द्वारा ज्ञाताका एकत्व ज्ञात होता है, विज्ञान तो क्षणिक है, अतः इससे दूसरा ज्ञाता सिद्ध होता है।

शंका—क्या अहं प्रतीतिका विषय ज्ञाता है? ऐसा माननेपर शरीर ही अहं बुद्धिका विषय होगा। 'मैं जानता हूँ' 'मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं चल रहा हूँ' इत्यादि कृशता आदि ज्ञानोंका आश्रय होनेसे। आत्मा तो सर्वगत है। उसमें कृशता आदि हो नहीं सकते।

उत्तर—अहं प्रतीति ज्ञाताको विषय करती है; इसमें कोई विवाद नहीं। जो अपना परामर्श करता है, वह स्वयंको अहंसे परामर्श करता है। दूसरेका इदं रूपसे परामर्श करता है। (यहाँ पूर्व वाक्यसे 'परामृशति' पदका अनुषंग करके दूसरेका 'इदं' रूपसे परामर्श करता है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए) अतः यह ज्ञान ज्ञाताको ही विषय करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और शरीरके ज्ञातृत्वका निराकरण किया है। शंका—ज्ञाता और शरीर इनका भिन्न होनेपर मैं जानता हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि एकाश्रयकी प्रतीति कैसे होगी? उत्तर—संसृष्ट शरीर और आत्माकी एकताके भ्रमसे 'मैं कृश हूँ' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि व्यवहार सम्पन्न होते हैं। जैसे यह जल कितना उष्ण है। लोहेका चमकोला गोला जलाता है, इत्यादि अभेदकी भ्रान्तिसे जैसे एकाश्रयकी प्रतीति होती है। और अत्यन्त मिले हुए इन दोनोंकी एकताके भ्रमसे एकाश्रयकी प्रतीति होती है*।

* अर्थात् शरीर तो ज्ञाता है नहीं। जो अहं प्रत्यय ज्ञाताको विषय करता है, उसका ज्ञातासे भिन्न शरीरमें आत्माके संसर्गसे यह अभेद भ्रम होता है। अतः मैं कृश हूँ, ऐसे देह और आत्माके अभेद भ्रमसे शरीरगत कृशता आदिका आत्मामें अध्यास होता है।

शरीरात्मनो भेदोपपादनम्

तथा व्यतिरेकबुद्धिरपि दृश्यते--'ममेदं शरीरं कृशम्' इति षष्ठ्याऽस्मदर्थस्य शरीरव्यतिरेकात्, शरीरस्य च परविषयेदङ्कारास्पदत्वात्, ततोऽस्माद्विवेकावभासात् पूर्वोक्तन्यायेन च शरीरस्याऽज्ञातृत्वात्, अभेदावगमस्य च संसर्गदोषवशेन भ्रान्त्याप्युपपत्तेः। पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धेन च विना जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। जातिस्मराश्च केचिदद्यत्वेपि देहान्तररहोवृत्तं वृत्तान्तं सम्बोधयन्त उपलभ्यन्त इत्युपलब्धिसिद्धः शरीरात्मनोर्भेदः।

यद्यपि चानेन प्रकारेण शरीरात्मनोर्विस्पष्टो भेदो न सिध्येत्, तथापि तावदभेदोपि न विस्पष्टः, मम शरीरमिति विवेकस्यापि प्रतिभासात्। तत्र संमुग्धे तत्त्वे श्रुतार्थापत्त्या साक्षात् श्रुत्या वा निर्णयः। स्वर्गकामादिश्रुतयो हि शरीरातिरिक्तं परलोकफलोपभोगयोग्यं कर्तारमन्तरेणाऽनुपपद्यमानास्तमाक्षिपन्ति ताभिश्चाक्षिप्तं साक्षादेवोपनिषदः समर्थयन्ति--'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्येवमादयः, इति सिद्धः शरीरातिरिक्तो मानसप्रत्यक्षरूपाऽहंप्रत्ययगम्यो ज्ञाता।

इसी प्रकार भेदज्ञान भी अनुभव सिद्ध है। 'यह मेरा शरीर है; यहाँ षष्ठी विभक्तिसे अस्मदर्थका शरीरसे भेद स्पष्ट है। इसलिए शरीरसे अन्य विषय 'इदं' कारास्पद है। इस विवेक ज्ञान तथा पूर्वोक्त न्यायसे शरीरका ज्ञातृत्व नहीं है। अभेद ज्ञान संसर्ग दोषसे होनेके कारण भ्रम है, यह भी सिद्ध होता है। पूर्व-जन्ममें किए हुए अभ्यासकी स्मृतिके निमित्तके बिना नवजात शिशुको हर्ष, शोक, भयका निश्चय नहीं होगा। शरीरको आत्मा माननेपर। (अर्थात् आत्माके शरीरातिरिक्त होनेसे उसमें स्मृति, हर्ष, शोक, भय आदि कार्य हो सकते हैं, अतः शरीरसे भिन्न स्थाई आत्मा अवश्य मानिए। अब शरीरात्म भेदमें दूसरा उदाहरण देते हैं कि) पूर्व जन्मको स्मरण करनेवाले कुछ लोग आज कल भी, पूर्व जन्मके शरीरमें जो एकान्तमें घटित हुआ है, उसे बताते हुए देखे जाते हैं। अतः शरीर—आत्माका भेद अनुभव सिद्ध है।

यद्यपि इस प्रकारसे शरीर—आत्माका भेद स्पष्ट नहीं हो पाता, तथापि अभेद भी स्पष्ट नहीं है। यह मेरा शरीर है, इस विवेकका भी मान होता है। इस प्रकार सम्मुग्ध = सन्देहास्पद तत्त्वका श्रुतार्थापत्ति या साक्षात् श्रुतिके द्वारा निर्णय होता है। इसमें 'यजेत स्वर्गकामः*' इत्यादि श्रुतियां, शरीरातिरिक्त, परलोक फलोपभोगके योग्य कर्ताके बिना अनुपपन्न होकर, उसका आक्षेप करती हैं। उनके द्वारा आक्षिप्त कर्ताका उपनिषद् समर्थन करते हैं 'यह आत्मा अविनाशी है' इत्यादि से। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति और साक्षात् श्रुति इन दोनोंके द्वारा शरीरातिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है। वह मानस प्रत्यक्षरूप अहंप्रत्यय गम्य है। वही ज्ञाता है।

---

* शंका—श्रद्धालुओंके प्रति श्रुतिका उपन्यास करना संगत है, पर जो नास्तिक हैं; वेदको प्रमाण नहीं मानते उनके प्रति श्रुतिका उपन्यास अयुक्त है। क्योंकि श्रुतिसे उन्हें समझा नहीं सकते?

उत्तर--उनको युक्तिसे ही समझाया जाता है। जो वेदानुसारी हैं, आस्थावान् हैं, अथवा दूसरा कोई व्यक्ति जो कि भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति और विनाशको सुनकर भ्रान्त है, वेद विरोधको मानता है, उसे समझानेके लिए श्रुतियोंका उपन्यास किया गया है। इस विषयमें

आत्मनो मानसाहंप्रत्ययगम्यत्वम्

कथं पुनर्ज्ञातुर्ज्ञेयत्वम् ? न ह्येकस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं च स्वात्मनि क्रियाविरोधात् सम्भवति। तस्मान्नाहंवित्तिर्नाम घटादिवित्तिव्यतिरेकेण काचिदस्ति, घटादिवित्तावेव तु विषयवदात्मा भासत इत्युक्तम्।

कः पुनरयं स्वात्मनि क्रियाविरोधो नाम ? यस्यां क्रियायां यः कर्ता न सा तस्मिन्नेव स्वफलं जनयतीत्यर्थः। किं पुनः संवित्तिक्रियायाः फलम् ? भासनम्। किमिदं-कर्तरि न भवति ? ओमिति चेत् ? कथं तर्ह्यसौ भासते ? न ह्यसति भासने भासते इति शक्यते वक्तुम्। तस्मादर्थवित्तिष्वप्यात्मनो भासनाभ्युपगमे स्वात्मनि क्रियाविरोधस्तुल्य एव। व्यवहारयोग्यतामात्रं संवित्तेः फलम्, नान्यदिति चेत् ? भवत्वेवम्, अस्ति तावत्फलम्, तच्च विषयेष्विवात्मन्यपि संवित्तितो जायत इत्यङ्गीकृतं भवद्भिः, अतस्तुल्यो विरोधः।

(शरीरसे भिन्न आत्मा मानस प्रत्यक्षरूप अहं प्रतीतिका विषय है, यह पूर्वमें कहा गया है। इसे प्राभाकर मीमांसक नहीं मानते। अतः वे शंका करते हैं 'कथं' इत्यादिसे) कैसे ज्ञाताका ही ज्ञेयत्व हो सकता* है ? क्योंकि अपनेमें क्रियाका विरोध होनेसे एक ही क्रियामें एक व्यक्ति कर्ता और कर्म नहीं होता। इसलिए अहं प्रतीति घटादि ज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है। घटादि ज्ञानमें ही विषय घटकी तरह आत्मा भी भासता है। ज्ञाताके रूपमें नहीं भासता, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

मध्यस्थकी शंका—आत्मामें क्रिया विरोध क्या वस्तु है ? उत्तर—जिस क्रियामें जो कर्ता है, वह क्रिया अपने कर्तामें फल उत्पन्न नहीं करती है; यह इसका अभिप्राय है। शंका—ज्ञान रूप क्रियाका क्या फल है ? उत्तर—प्रकाश करना। जिसे भासन शब्दसे कहा जाता है। शंका—यह फल कर्तामें नहीं हो सकता ? उत्तर—हाँ, हो सकता है। शंका—तब यह कैसे भासित होता है ? बिना भानके यह भासित होता है, यह कह नहीं सकते। अतः सभी अर्थ ज्ञानोंमें आत्माका भी भान होता है, ऐसा माननेपर भी स्वरूप (अपने) में क्रिया विरोध समान ही है। शंका—ज्ञानका फल व्यवहार योग्यता ही है, दूसरा नहीं। उत्तर—ऐसा हो सकता है। अर्थात् फल होता है और वह फल जैसे विषयोंमें होता है, वैसे आत्मामें भी ज्ञानके द्वारा होता है। यह आपने माना है, अतः विरोध समान ही है।

वार्तिककारने स्पष्ट कहा है—

वेदादेवात्मनास्तित्वं यो नाम प्रतिपद्यते। विरोधं वात्मना ब्रूयात्तं प्रति ब्राह्मणाभिधा॥
अन्यथानुपपत्तेश्च विधिनात्मन्यपेक्षिते। अस्तित्वद्योतनादेतैरर्थाक्षिप्तसमर्थनम्॥

(श्लोकवा०, आत्मवाद० का० १४०–१४२)

---

* प्राभाकर मीमांसकोंने (प्रकरणपंचिका पृ० ३१६ में) कहा है—
बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः। नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते॥ इति॥
इसी प्रकार—'न ह्येकस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं च स्वापेक्षमुपपद्यते, स्वात्मनि क्रियावृत्तिविरोधात्। न चाहं संविद्वशेनाविरोधः स्वयं प्रकाशत्वेन विषय प्रतीतिगोचरत्वेनापि तदुपपत्तेः, विषयैः सहोपलम्भनियमश्चैवं सत्युपपन्नः' इति।

द्रष्टव्य—प्रकरणपंचिका, पृ० ३३३।

यदि परमार्थविरोधमुद्भाव्य सत्यप्यात्मनः क्रियाजन्यफलभागित्वे कर्मसञ्ज्ञा कर्मविभक्तिश्च न भवतीत्युच्यते। 'परसमवायिक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वम्' इत्यभिधानात्। तच्चाऽयुक्तम्—शब्दसाधुत्वं हि प्रयोगतोऽवगन्तव्यम्। अस्ति चात्मनः स्वकर्तृकायामेव क्रियायां कर्मव्यवहारो लोके वेदे च—यथा तावद्भाष्य एव 'स्वसंवेद्यः स भवति' इति कर्मवाचिकृत्यप्रत्ययप्रयोगः। वेदेपि—'आत्मानमुपासीत' 'आत्मानं वेद' 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यनेकशः प्रयोगः।

न च गन्तुर्गमने कर्मत्वम्, प्रयोगाभावात्। शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयं न स्वयमीश्महे। यथा हि चलनार्थत्वे समाने गच्छतिः सकर्मकः, चलतिश्चाकर्मकः प्रयोगस्य तथादर्शनात्, एवं ज्ञातुः कर्मत्वं गन्तुश्चाकर्मत्वं भविष्यति। तस्मान्मानसाहंप्रत्ययगम्य आत्मा। तथा च श्रुतिः—'स मानसीन आत्मा जनानाम्' (तै० आ० ३।११।२१) इति। तेन यद्यपि विषयवित्तिवेलायामेवात्मावभासः, तथापि न विषयवित्तिकर्तृतया[1] न वा विषयवित्ति कर्मतयाऽवभासो भवति, अव्याप्तेः[2] किन्तु मानसाहंप्रत्ययकर्मतयाऽवभासः।

शंका—यदि परमार्थरूपसे विरोधको कहकर, आत्मा क्रियाजन्य फलका भागी होता है। तो भी कर्म संज्ञा और द्वितोया कर्म विभक्ति नहीं होती; ऐसा कहा जाता है। कारण कि प्राभाकर मीमांसकोंने कार्मका लक्षण किया है 'परसमवेतक्रिया-जन्यफल-भागी' ही कर्म होता है' यह आपने कहा है❀। उत्तर—यह ठीक नहीं। अमुक शब्द साधु है यह प्रयोगसे ही ज्ञात होता है। आत्माका स्वकर्तृक क्रियामें (अर्थात् जिस क्रियामें आत्मा कर्ता होता है, उसमें) लोक-वेद दोनोंमें कर्म व्यवहार होता है। जैसे भाष्यमें हो 'स्वसंवेद्यः स भवति' इसमें कर्मके वाचक कृत्य प्रत्ययका प्रयोग है। और वेदमें भी 'आत्माकी उपासना करनी चाहिए' 'आत्माको जानना चाहिए' 'आत्मा जानने योग्य है' इस प्रकारके अनेक प्रयोग मिलते हैं।

शंका—एक ही क्रियामें आत्माको कर्म माननेपर 'देवदत्त गांवको जाता है' इस स्थलमें गमनकर्ता देवदत्तकी कर्मता होने लगेगी। उत्तर—नहीं, गन्ताकी गमनमें कर्मता नहीं होती, इस तरहके प्रयोगके न होनेसे। हम लोग प्रयोगके अधीन हैं। स्वयं शब्द साधुत्व करनेमें असमर्थ हैं। इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—'यथा हि' इत्यादिसे। जैसे 'गम्' धातु और 'चल्' धातु चलनार्थक हैं तथापि 'गच्छति' क्रिया सकर्मक होती है, 'चलति' यह अकर्मक है। इनका प्रयोग ऐसे ही देखा जाता है। इसी प्रकार ज्ञाताकी कर्मता हो सकती है। तब गन्ताकी अकर्मता हो जायगी। अतः आत्मा मानस अहं प्रतीतिका विषय है। उक्त अर्थमें यह श्रुति है—'वह आत्मा लोगोंको मानस प्रत्यय गम्य है'। इस कारणसे यद्यपि विषय ज्ञानके समय आत्माका आभास अवश्य होता है, तथापि विषय-ज्ञानमें आत्माका कर्ताके रूपमें भान नहीं होता। और न ही कर्मतया

❀ यहांपर क्रियाजन्य-फल भागी कर्म तथा कर्ता दोनों होते हैं। अतः कर्ताका निवारण करनेके लिए 'परसमवेत' ऐसा विशेषण दिया। यहां 'पर' शब्दसे कर्म कारकसे पर = भिन्न कर्ता है। उक्त लक्षणके अनुसार आत्माकी कर्म संज्ञा और द्वितीया विभक्ति नहीं होती।

---

१. मूले अशुद्धपाठस्तद्विहाय, शुद्धपाठः सन्निवेशितः। २. सर्वेषु—अर्थज्ञानेष्वात्मावभासस्याभावादित्यर्थः।

ननु शरीरवदात्मन्यप्यहमभिमानो भ्रान्तिरेव ? न, बाधाभावात्। योगिनामस्ति बाध इति चेत् ? न, प्रमाणाभावात्।

तथा हि येपि योगस्य परां काष्ठामुपागताः।
योगेश्वरेश्वरास्तेपि कुर्वन्त्यात्मन्यहंमतिम् ॥ २१ ॥
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'।
'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ २२ ॥
'यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः'।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ २३ ॥
'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'।
एवमादावहंशब्दः परस्मिन् पुंसि हि ध्रुवम्'॥ २४ ॥

न हि महद्विकारोऽहङ्कारः कृत्स्नस्य प्रभवः, नापि क्षराऽक्षराभ्यामुत्तमः, नापि ब्रह्मशव्दवाच्ये प्रधाने गर्भं दधाति, पुरुषसम्पर्ककृतत्वात् प्रकृतिक्षोभस्य।

मान होता है। सभी विषयोंके ज्ञानोंमें आत्माका भान नहीं होता। (अर्थात् आत्मा विषय-ज्ञानमें कर्ता रूपसे या कर्मरूपसे भासित नहीं होता) किन्तु मानस अहं प्रत्ययमें कर्मतया मासता है। सभी विषय—ज्ञानोंमें आत्माका भान होता है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं।

शंका—पूर्व पक्षी कहते हैं—जैसे शरीरमें अहं प्रतीति अभिमान (भ्रम) है, वैसे ही आत्मामें भी अहं प्रत्यय अभिमान (भ्रम) है। अतः शरीरसे भिन्न आत्मा होनेमें प्रमाण नहीं। उत्तर—अहं प्रतीति भ्रम नहीं है। क्योंकि उसका बाध नहीं होता, अतः प्रमाण है। शंका—हम लोगोंके अहं प्रत्ययका बाध न होनेपर भी योगियोंके अहं प्रत्ययका बाध होता है; यदि ऐसा कहा जाए तो ? उत्तर—नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी अर्थका श्लोकों द्वारा उपपादान करते हैं। अर्थ=जो महापुरुष योगकी अन्तिम कोटिको प्राप्त हुए हैं, वे योग-योगेश्वर हैं। वे आत्मामें अहं बुद्धि करते हैं ॥२१॥ जैसे भगवान्ने गीतामें कहा है—'हे अर्जुन ! मैं समस्त जगतकी उत्पत्ति तथा प्रलयका कर्ता हूँ। मैं उन सभी जन्मोंको जानता हूँ, जिन्हें तुम नहीं जानते ॥२२॥ जिससे मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। मैं इस समस्त विश्वमें व्याप्त होकर उसे धारण करता हूँ ॥२३॥ मेरा कारण जो परब्रह्म (मूल प्रकृति) है, उसमें मैं बीजका आधान करता हूँ।' इत्यादि स्थलोंमें 'अहं' शब्द परम पुरुष परमात्माके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह निश्चित है ॥२१॥ (अतः उसे भ्रम नहीं कह सकते)

(उक्त अर्थमें गीता-वचनोंका उपन्यास करके भी ग्रन्थकार सन्तुष्ट नहीं हुए, अतः वे स्वयं व्याख्या करते हैं 'न हि' इत्यादिसे) महत्तत्त्वका विकार अहंकार नहीं है। समस्त जगतका उत्पत्तिकारण अहंकार नहीं है। न ही क्षर-अक्षरसे उत्तम अहंकार है। और न ही अहंकार ब्रह्मशब्द वाच्य प्रधानमें गर्भाधान करता है। क्यों कि सृष्टिका कारण है प्रकृति-तत्त्वका क्षोम। (यह तीनो गुणोंका वैषम्य है, जो) पुरुषके सम्पर्कसे होता है। (अतः अहंकार भ्रम नहीं, किन्तु सप्रमाण है)

---

१. अत्रायंग्रन्थकार इतस्तोविप्रकीर्णानि गीतावाक्यानि श्लोकरूपेण निर्माय, स्वोक्तार्थे प्रमाणत्वेन वर्णितवानित्यवधेयम्।

तथोपनिषत्स्वपि—'ब्रह्म वा इदमग्रे आसीत्' 'तदात्मानमेवावेत्' अहं ब्रह्मास्मि' इति। मन्त्रवर्णोपि--'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (ऐ० उ०।३) इति। तस्मादहंप्रत्यय-गम्यत्वमात्मनोऽनिच्छन्तः श्रुतिविरोधादेवोपेक्षणीयाः।

यत्तु[1] निर्मुक्ताहङ्कारममकारवचनम्, तदपि पौर्वापर्येण परामृष्यमाणं नाहङ्कार-स्वरूपनिषेधार्थं भवति। एवं हि तद्वचनम्—'नास्य कश्चित्, नायंकस्यचित्, निर्मुक्ताहङ्कार-ममकार एवायम्' इति। तदयमर्थः—यस्मान्नास्य कश्चित्, तस्मान्निर्मुक्तममकारः, यस्मान्नायं कस्यचित्, तस्मान्निर्मुक्ताहंकार इति। यद्यहङ्कारस्वरूपनिषेधः स्यात्, न पूर्वेण सम्बध्येत--'यस्मान्नायं कस्यचित् तस्मादस्मिन्नहंभावो भ्रान्तिः' इति किं केन सङ्गतम्? तस्मान्नाय-महन्तास्वरूपनिषेधः।

किं तर्हि? जन्मसम्बन्धितयाऽत्मन्यहंमतिः--'अहमस्य पिता, अहमस्य पुत्रः' इत्यादिः स भ्रम इत्येवं सङ्गतं भवति। अयमात्मा न कस्य चिदपि पुत्रादिरूपेण संबन्धी जन्यजनकभावस्य शरीरविषयत्वात्। शरीरं हि शरीराज्जायते न त्वात्मात्मान्तरात्। तस्मादन्यसम्बन्धितयाऽऽत्मन्यहंमतिः कृशादिमतिवच्छरीराद्विवेकमबुध्यमानानां भ्रान्तिरिति। तदिदमस्यान्यसम्बन्धित्वनिषेधेन पुत्रादिविषयस्नेहनिवर्तनेन वैराग्यजननार्थ-

---

इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा गया है 'सृष्टिके पहिले यह जगत ब्रह्म ही था, उसने अपना साक्षात्कार किया, उसीका अभिनय है, अहं ब्रह्मास्मि' इति। मंत्र-वर्ण नाम है मंत्रका। वह भी इसी अर्थका समर्थन करता है—'मैं मनु हूँ, सूर्य भी मैं ही हूँ' (बृ० उ०, १।४।१०) अतः जो विद्वान् आत्माको अहं प्रत्यय-गम्य नहीं मानते वे श्रुतिका विरोध होनेसे उपेक्षाके पात्र हैं।

(इस प्रकार श्रुति-स्मृतिके द्वारा अहं प्रतीतिका विषय ज्ञाता सिद्धकर, अब स्वमतमें श्रुति विरोधका परिहार करनेके लिए आरम्भ करते हैं 'यत्तु' इत्यादि से) यह जो कहा है—आत्मामें अहंकार-ममकार नहीं है, उन वाक्योंके भी पूर्वापरको लेकर विचार करनेपर, अहंकार स्वरूप निषेधके लिए है, यह नहीं कह सकते। वह वचन ऐसा है कि—इसका कोई नहीं है, यह भी किसीका नहीं। अतः यह आत्मा अहंकार-ममकारसे निर्मुक्त है। इसका यह अर्थ है कि इसका कोई नहीं है, अतः ममकारसे निर्मुक्त है। और यह किसीका नहीं है, इसलिए निर्मुक्त अहंकार है। यदि कहा जाए—अहंकार स्वरूपका निषेध ही इसका अर्थ है, तो यह पूर्वसे सम्बन्धित नहीं हो सकेगा। इसीको स्पष्ट करते हैं 'यस्मात्' इत्यादि से। क्योंकि यह किसीका नहीं, अतः इसमें अहंभाव भ्रम हैं, यह कौन किससे सम्बद्ध है? यह अहन्ता स्वरूपका निषेध नहीं, तो किसका निषेध है? जन्म सम्बन्धिके रूपमें आत्मामें, जो अहंबुद्धि होती है—'मैं इसका पिता हूँ, मैं इनका पुत्र हूँ' इत्यादि, वह भ्रम है, यह संगत है। (इस सम्बन्धाभावका प्रयोजन बताते हैं) यह आत्मा पुत्रादि रूपसे किसीका सम्बन्धी नहीं होता। जन्य-जनक भाव शरीरको विषय करता है। शरीर ही शरीरसे उत्पन्न होता है। आत्मा तो आत्मासे उत्पन्न नहीं होता। इसलिए दूसरे सम्बन्धिके रूपमें आत्मामें अहं बुद्धिका होना, यथा 'मैं कृश हूँ' इत्यादि बुद्धिकी तरह, वह शरीरसे आत्माको जो पृथक् नहीं जानते, उनका यह भ्रम है। अतः यह दूसरेका सम्बन्धि नहीं है, इस निषेध तथा पुत्रादि विषय स्नेहके निवारणसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए ऐसा कहा जाता है। अहंकार स्वरूपका यह

---

१. स्वमते श्रुतिविरोधं परिहरति यत्त्विति।

मुच्यते, नाहंकारस्वरूपस्याऽयं निषेधोऽनुपयोगात्, असङ्गतत्वात् प्रमाणान्तरविरोधात्। 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वचनविरोधाच्च। तस्मादहंप्रत्ययगम्यो ज्ञाता शरीरातिरिक्त इन्द्रियव्यतिरिक्तश्च।

इन्द्रियात्मनोर्भेदः

कथमिन्द्रियभेदः? इन्द्रियाभावेपि ज्ञातुरेकस्य प्रत्यभिज्ञानात्--योहं रूपमद्राक्षं सोहं स्पृशामीति, योहमन्वभूवं सोहं स्मरामीति। मनस्तु प्रत्यक्षसिद्धय ज्ञातू रूपादिज्ञानेषु व्यतिरिक्तकरणाधीनत्वात् सुखादिज्ञानेषु भवितव्यं करणेनेत्येवं कल्प्यत इति नास्य ज्ञातृत्वमाशङ्कनीयम्।

ये तु कर्तृतयैवात्मसिद्धिः, न कर्मतयेत्याहुः तेषामात्मनि स्मरणप्रत्यभिज्ञाने नोपपद्येयाताम्, तत्रापि हि पूर्वकालसंबन्धित्वेनात्मनः प्रतिभासोऽङ्गीकरणीयः। न च सांप्रते स्मरणे पूर्वकालसम्बन्धिनः कर्तृत्वं सम्भवतीति कथं कर्तृतया सिध्येत्? तस्मादहंप्रत्ययकर्मतयैवात्मनः सिद्धिरिति रमणीयम्।

वेदान्तिमतेन शंका

अथ स्वप्रकाशत्वमात्मनः सुखादीनां च किं नेष्यते? स्वप्रकाशस्य कस्य चिदप्यदर्शनात्। सर्वस्यैव हि वस्तुनः परप्रकाश्यत्वनियमात्। स्वप्रकाशत्वे चात्मा सुषुप्तावपि प्रकाशेत, न च प्रकाशते। यथोक्तम्--'अचेतयन्नेव सुषुप्त इत्युच्यते' इति।

निषेध नहीं है। इसमें क्रमशः चार हेतु देते हैं—अनुपयोग, असंगत, प्रमाणान्तर विरोध तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्यका विरोध। अतः अहं प्रतीतिका विषय ज्ञाता शरीरसे अतिरिक्त है।

(अब आत्मा इन्द्रिय आदिसे अतिरिक्त है, यह सिद्ध करते हैं 'कथं' इत्यादिसे) आत्मा इन्द्रियोंसे भी भिन्न है। शंका—यह इन्द्रियोंसे भिन्न कैसे है? उत्तर—इन्द्रियोंके अभावमें भी एक ज्ञाताका प्रत्यभिज्ञान होता है। इसका यह आकार है कि—'जिस मैंने पहिले रूपको देखा था, वही मैं अब स्पर्श करता हूँ। और जिसका मैंने अनुभव किया था, उसका वही मैं अब स्मरण करता हूँ। (अतः इन्द्रियोंसे ज्ञाता भिन्न है) शंका—चक्षु आदि इन्द्रियोंसे आत्माका भेद सिद्ध होनेपर भी मनको ज्ञाता माना जाए? उत्तर—नहीं, मनके विषयमें ज्ञातृत्वकी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध ज्ञाता आत्माका, चक्षु आदि जो कि रूपादि ज्ञानके करण होते हैं, उनसे भेद है। वैसे ही 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि ज्ञानोंमें कोई करण होना चाहिए। वह चक्षु आदि नहीं हो सकते, अतः सुखादिके साक्षात्कार में मन ही करण है' यह परिशेषानुमानसे सिद्ध है। अतः उसके लिए ज्ञातृत्वकी शंका नहीं कर सकते।

(इसी प्रसंगमें सिंहावलोकन न्यायसे प्राभाकरके सिद्धान्तका निराकरण करते हैं—'यत्तु' इत्यादि से) जो प्राभाकर मीमांसक 'आत्मा कर्तारूपमें ही सिद्ध होता है, कर्मरूपमें नहीं' ऐसा कहते हैं, उनके मतमें आत्मामें स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकेंगे। (प्रत्यभिज्ञाका निरूपण आगे करेंगे) इन = स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञामें भी पूर्वकालिक सम्बन्धिके रूपमें आत्माका भान मानना होगा। अभी वर्तमानकालिक स्मृतिमें पूर्वकालसे सम्बन्धित आत्माका कर्तृत्व नहीं बन सकता, अतः कर्ताके रूपमें वह कैसे सिद्ध होगा? इस कारणसे अहं प्रतीतिके कर्मरूपमें ही आत्माकी सिद्धि होती है, ऐसा मानना ही सुन्दर है।

ननु सुषुप्तावपि प्रकाशत एवात्मा स्वाभाविकपरमानन्दयुक्तः, अन्यथा कथम्—'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रबोधे प्रतिसंधानं स्यात् ? अर्थान्तरं तु न किञ्चिच्छरीरम्, इन्द्रियमन्यद्वा वस्तु प्रकाशत इत्येतावान् स्वप्नजागराभ्यां सुषुप्तेर्भेदः ।

वेदान्तिमतनिरासः

नैतदेवम्—संविद्विरोधात्, न हि सुप्तानामात्मा सुखं वा प्रकाशते, नह्यभासमानं व्यवहारमात्रेण प्रकाशत इति शक्यमङ्गीकर्तुम् ।

किं च—सुष्वापादुत्थिताश्चैवं निर्विद्यन्ते हि कामुकाः ।
वृथेयमन्तरेणैव कामिनीं यामिनी गता ॥ २५ ॥
आश्लिष्टामप्यबुद्ध्वैनां मृतवच्छयितं मया ।
भुक्त्वा च परमानन्दं तस्य च स्मरणादयम् ॥ २६ ॥
स्वल्पाल्पसुखहान्यैवं निर्वेदो नावकल्पते ।
तत्सुखं विस्मृतं चेत् स्यात् सुखमस्वाप्समित्ययम् ॥ २७ ॥
व्यवहारो न युज्येते, दुःखाननुभवेत्त्वियम् ।
सुखव्यवहृतिस्तस्माद् गुणवृत्त्येति निश्चयः ॥ २८ ॥

(अद्वैत वेदान्ती आत्मा तथा सुखादिको स्वयं प्रकाश मानते हैं । उनका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं 'अथ' इत्यादि से) शंका—आत्मा तथा सुखादिको स्वप्रकाश क्यों नहीं मानते ? उत्तर—स्वप्रकाश नामकी कोई वस्तु नहीं है. और न ही दिखाई देती है । सभी वस्तुएँ दूसरेसे प्रकाशित होती हैं, यह नियम है । ऐसा माननेपर कर्ता-कर्म-भावका एकमें होनारूप विरोध भी नहीं है) दूसरी बात है कि आत्माको स्वप्रकाश माननेपर सुषुप्तिमें भी आत्माका भान होने लगेगा। भान तो नहीं होता । जैसे कहा गया है—'न जानते हुए भी यह सोया हुआ-सा प्रतीत होता है' ।

शंका—सुषुप्तिमें भी स्वभावतः परमानन्दसे युक्त आत्मा प्रकाशित होता ही है, नहीं तो 'मैं सुखसे सोया' ऐसा जागनेपर अनुभव कैसे होगा ? दूसरा पदार्थ शरीर, इन्द्रिय या कोई अन्य वस्तु तो प्रकाशित होती नहीं । यही स्वप्न और जाग्रतसे सुषुप्तिका भेद है । (अर्थात् जाग्रदवस्थामें दूसरे अर्थोंका प्रकाशन भी होता है, सुपुप्ति अवस्थामें तो केवल आत्माका ही प्रकाश होता है, यही इनमें अन्तर है)

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, अनुभवका विरोध होनेसे । सोए हुए व्यक्तिका आत्मा या सुख भासित नहीं होता । जो पदार्थ भासित नहीं होता, वह व्यवहार मात्रसे प्रकाशित होता है, ऐसा नहीं माना जा सकता) उक्त अर्थको श्लोकोंसे स्पष्ट करते हैं 'किंच' इत्यादिसे । अर्थ= सुषुप्तिसे उठे हुए कामुक लोग ऐसा खेद व्यक्त करते हैं, कि इस कामिनीके बिना रात व्यर्थ ही बीत गई ।।२५।। गलेसे लिपटी हुई उस कामिनीको बिना समझे मैं मरे हुएके समान सोया रहा । परमानन्दको भोगकर उसके स्मरण मात्रसे थोड़े सुखकी हानिसे इस प्रकारका खेद नहीं होता । वह सुख भुला दिया है, यदि ऐसा कहें, तो इससे 'मैं सुखसे सोया था' यह व्यवहार नहीं बन सकेगा । दुःखानुभवके अभावमें सुखका व्यवहार गौणीवृत्ति (उपचार) से हुआ है, ऐसा निश्चित है ।।२६-२८।।

प्रबुद्धा[1] हि सुषुप्तावगतं किं चिदपि दुःखमसंस्मरन्तः स्मरणानुपपत्त्यैव[2] सुषुप्त्यवस्थायां मे न किं चिदपि दुःखमासीदित्यवगम्य तत्रैव सुखव्यवहारं गुणवृत्त्या- कुर्वन्तस्तथा[3] च व्यवहरन्ति —एतावन्तं कालमहमात्मानमप्यबुद्ध्वा शयितोस्मीति। तस्मात् सुषुप्तावप्रकाशान्नात्मनः स्वप्रकाशत्वम्। अतो मानसप्रत्यक्षगम्य एवायमिति स्थितम्।

आत्मनोऽणुत्वनिरासेन विभुत्वव्यवस्थापनम्

स पुनरयमात्मा—अणुः, शरीरपरिमाणः, विभुर्वेति चिन्तनीयम्। तत्राणु- परिमाणत्वे युगपच्छिरः पादयोर्वेदनानुपपत्तिः। अयौगपद्येप्यतिशैघ्र्याद् यौगपद्यावगतिरिति चेत्? स्यादेवं यद्यणुत्वं कुतश्चित् सिद्धं स्यात्, तदसिद्धौ दृष्टानुसारादनणुत्वमेव युक्तम्। तत्र शरीरपरिमाणत्वे सावयवः स्यात्। द्विविधमेव हि निरवयवद्रव्यम्—अणु विभु वा।

इसीको स्पष्ट करते हैं जागे हुए पुरुष सुषुप्तिमें जाने हुए कुछ भी दुःखका स्मरण न करते हुए, स्मृतिके न होनेसे ही, 'सुषुप्ति अवस्थामें मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ' ऐसा समझकर उसी दुःखाभावमें ही गौणीवृत्तिसे (उपचार) से सुखका व्यवहार करते हैं। जैसे इतनी देरतक मैं अपनेको भी न समझकर सोया था। अतः सुषुप्तिमें आत्माका प्रकाश न होनेसे आत्मा स्वप्रकाश नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा मानस प्रत्यक्षका ही विषय है, यह सिद्ध हुआ॥। (अर्थात् जब सुषुप्तिमें आत्माका प्रकाश नहीं होता तो सुखादिके प्रकाशित होने की चर्चा तो दूरकी बात है। अतः आत्मा मानस प्रत्यक्ष गम्य है)

अब आत्माके सम्बन्धमें दूसरा विचार करते हैं कि आत्मा अणु है या शरीर परिमाण है (या मध्यम परिमाण है? जैसा कि जैनाचार्य मानते हैं)? अथवा विभु है? इनमें अणु परिमाण माननेपर एक ही कालमें जो सिर पैर आदिमें सुख दुःखादिका अनुभव होता है, वह नहीं होगा।

शंका—एक ही समयमें सुख-दुःखका अनुभव साथ-साथ नहीं होता, किन्तु अति शीघ्र होनेसे सुख-दुःख युगपद् हो रहे हैं, ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए कोई दोष नहीं, अतः आत्मा अणु परिमाण है।

उत्तर—यदि आत्मा किसी प्रमाणसे अणु सिद्ध होता तो ऐसा माना जा सकता था। उसमें कोई प्रमाण तो है नहीं, अतः अणु सिद्ध न होनेसे अनुभवके अनुसार अणु भिन्न ही आत्मा मानना युक्त है, अणु परिमाण नहीं।

शंका—आत्माके अणु न होनेपर उसे शरीर परिमाण माना जाए? उत्तर—नहीं, ऐसा माननेपर आत्मा सावयव हो जाएगा। क्यों कि निरवयव द्रव्य दो प्रकारके होते हैं अणु या विभु।

॥ ज्ञानघनपादाचार्यने 'तत्त्वशुद्धि' नामक ग्रन्थमें, आत्मा स्वयं प्रकाश है, इसका समर्थन किया है। यथा—'इह खलु भाट्टमतानुसारिणो वर्णयन्ति न स्वयंप्रकाश आत्मा, अहं-प्रत्यय- ग्राह्यत्वात्' इत्यादि। (त० शु०, प्रकरण ३३, पृ० १९९) इससे भाट्ट मीमांसकोंके पक्षका निराकरण किया है। उसीका प्रकृतमें शास्त्रदीपिकाकारने खण्डन किया है।

१. संग्रहेणोक्तं गौणमर्थं स्वयं विशदयति 'प्रबुद्धा हि' इत्यादिना। २. स्मरणानुपपत्त्या इति क्वचित्पाठः। ३. कुर्वन्ति तथा चेति 'क' पुस्तके पाठः।

तदसौ शरीरसम्मितः सन् सावयवः स्यात्। तत्र बह्ववयवकल्पना, तावतां चान्यूनानधिकानामवयवानां पुत्तिकाहस्तिदेहयोरतिसंकोच-विस्तारकल्पनं नातीव हृदयमनुरञ्जयति। तस्माद्विभुत्वमेव युक्तम्। तथा च श्रुतिः—'अनन्तमपारम्' इति, (बृ० उ०) भगवद्गीतासु च वचनम्—

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः' इति। (गीता २।२४) ये चोपनिषत्स्वणुत्ववादाः, पुराणेषु च 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम्' इत्यादयः, ते सूक्ष्मग्रहणगोचरत्वाभिप्रायाः।

ननु विभुत्वे सर्वशरीरेष्वेक एवात्माऽस्तु, किं नानात्मभिरभ्युपगतैः? नैवम्—एकत्वे सति यथा करणभेदेपि कर्तुरेकत्वाच्चक्षुषा दृष्टमर्थं मनसा स्मरति त्वचा च प्रत्यभिजानाति—यमहमदर्शं तमहं स्पृशामीति तथा देवदत्तशरीरस्थेनात्मना दृष्टमर्थं यज्ञदत्तः प्रत्यभिजानीयात्, शरीरभेदेप्यात्मनः प्रत्यभिज्ञातुरेकत्वात्। कर्तुरेकत्वेपि मनोभेदाद् व्यवस्थेति चेत्? न करणत्वान्मनसः। करणभेदस्य चक्षुरादेर्भेदव्यवस्थापकत्वाऽयोगादित्युक्तम्।

यदि आत्मा शरीरमें समाकर रहेगा, तो सावयव हो जाएगा। अर्थात् उसके अनेक अवयवोंकी कल्पना करनी होगी। जो कम-वेशी नहीं है, उन अवयवोंका पुत्तिका* = दीमकके शरीरमें अत्यन्त संकोच तथा हाथीके शरीरमें अत्यन्त विस्तारकी कल्पना करनी पड़ेगी। पर यह बात मनमें बैठती नहीं। अतः मध्यम परिमाणके असम्भव होनेसे विभु परिमाण मानना ही उपयुक्त है। इसमें श्रुति ही प्रमाण है 'आत्मा अनन्त है, अपार' है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है कि—'यह आत्मा नित्य, व्यापक, निर्विकार एवं शाश्वत है'। इन प्रमाणोसे आत्मा विभु सिद्ध होता है।

शंका—आत्माको विभु माननेपर उपनिषद् तथा पुराणोमें आत्माको अणु कहा गया है—'यह आत्मा अणु है, मनसे ही स्मरण करने योग्य है'—'एषाऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि। और पुराणोमें इसे अंगूठेके आकारका बताया गया है। यथा—'अंगूठेके आकारके पुरुषका सत्यवानके शरीरसे यमराजने आकर्षण किया' इत्यादि वाद कैसे उपपन्न होंगे?

उत्तर—इनमें कोई दोष नहीं है। ये वाद सूक्ष्मके ग्रहणके तात्पर्यसे कहे गए हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण आत्मा दुर्ज्ञेय है। बड़े यत्नसे उसका ज्ञान होता है, यही इन वादोंका तात्पर्य है।

(अब एकात्मवादी वेदान्तीकी ओरसे ग्रन्थकार शंका करते ते 'ननु' इत्यादिसे) शंका—आत्माके विभु होनेपर भी सभी शरीरोमें एक ही आत्मा रहे? अनेक आत्माओंके माननेसे क्या लाभ? उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, आत्माके एक होनेपर, जैसे इन्द्रियोंका भेद होनेपर भी चक्षुसे देखे हुए अर्थका मनुष्य मनसे स्मरण करता है और त्वक्से प्रत्यभिज्ञाका अनुभव करता है कि जिसे मैंने देखा था, उसका मैं स्पर्श कर रहा हूँ। उसी प्रकार देवदत्तके शरीरमें रहनेवाले आत्मासे देखे हुए अर्थकी, यज्ञदत्त भी प्रत्यभिज्ञा करेगा। शरीर भेद होनेपर भी प्रत्यभिज्ञाके कर्ता आत्माके एक होनेसे (अतः एक आत्मा मानना ठीक नहीं) शंका—कर्ताके एक होनेपर भी मनके भेदसे व्यवस्था हो जाएगी? उत्तर—नहीं, मन तो करण है। करण भेद चक्षु आदिके भेदकी व्यवस्था नहीं कर सकता, यह कह दिया गया है।

---

* 'शब्दार्थकौस्तुभ' कोषमें पुत्तिका शब्दकी व्युत्पत्तिकी है—पुत्तम् इतस्ततो भ्रमणमस्ति-अस्याः पुत्त + ठन्, टाप। एक प्रकारकी अत्यन्त छोटी मधुमक्खी, या दीमक।

चक्षुरादिकरणानामव्यवस्थापकत्वेपि मनः करणं व्यवस्थापकमिति चेत्? न, करणत्वाविशेषात्। स्यादप्येषा कल्पना यद्येकात्मत्वे दृढं प्रमाणं स्यात्? न तु तदस्ति।

ये त्वात्मैकत्ववादाः[1] श्रुतिषु स्मृतिषु पुराणेषु वा, ते 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'। (मुं० उ०) 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता) 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५।१७) इत्यादिभिरात्मभेदवचनैः प्रत्यक्षादिभिश्च[2] विरोधान्नैकान्ततः शक्नुवन्त्यात्मैकत्वं निश्चाययितुम्।

वचनानां हि मिथो विरोधे, सिद्धवस्तुविषयत्वेन च विकल्पसम्भवे प्रमाणान्तरान्निर्णयः स्यात्। तच्च प्रमाणान्तरं भेद एव समर्थमित्यैकात्म्यवादानामवैलक्षण्यपरत्वं पूर्वोक्तन्यायेनावगन्तव्यम्। विस्पष्टं चैतद्वायुदृष्टान्तोपादानात्—

'वेणुरन्ध्रादिभेदेन भेदः षड्जादिसञ्ज्ञितः।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः'[3] ॥ इति ॥

नहि वायुद्रव्यं सर्वत्रैकम्, व्यक्तिभेदस्य स्पष्टत्वात्। अविलक्षणस्वभावस्य तु वायोर्वेणुरन्ध्रकृतं षड्जादिवैलक्षण्यम्, एवमात्मनोपि पशुमनुष्यादिवैलक्षण्यं देहसम्ब-

---

शंका—चक्षु आदि करणोंकी व्यवस्था न होनेपर भी मनरूप करण व्यवस्थापक हो जाए? उत्तर—नहीं, करणत्व धर्ममें कोई विशेषता न होनेसे। (अर्थात् जैसे चक्षु आदि करण भेदके व्यवस्थापक नहीं होते, वैसे मन भी नहीं होगा। यदि मन व्यवस्थापक हो तो चक्षु आदि क्यों नहीं हो सकते? क्योंकि करणत्व तो समान है) यह कल्पना भी तब चरितार्थ हो सकती है, यदि एक आत्माके माननेमें कोई दृढ़ प्रमाण होता। प्रमाण तो है नहीं (अतः एकात्मवाद पक्ष ठीक नहीं) और भी बात है कि—श्रुति-स्मृति-पुराण-उपनिषद् आदिमें जो एकात्मवादके प्रतिपादक वाक्य हैं, उनका, 'निष्कलमष होकर परम साम्यको प्राप्त करता है' 'मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए हैं' 'उत्तम पुरुष तो दूसरा है' इत्यादि आत्मभेदके प्रतिपादक वाक्योंके साथ तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ आत्मैकत्व वादका विरोध होगा। अतः ये वाद नियमतः आत्मैकत्वका निश्चय नहीं करा सकते।

वचनोंका परस्पर विरोध होनेपर और सिद्धवस्तु विषय होनेके कारण विकल्पका होना सम्भव नहीं। (अर्थात् क्रियामें विकल्प होता है, सिद्धवस्तुमें नहीं) अतः प्रमाणान्तरसे ही निर्णय होगा। और वे प्रमाणान्तर प्रत्यक्षादि भेद प्रतिपादनमें ही समर्थ हैं। अभेद या एकत्वमें नहीं। अतः श्रुति, स्मृति, पुराण आदिमें जो एकात्मवाद हैं, वे आपसमें विलक्षण नहीं हैं, यही इसमें तात्पर्य है। पूर्वोक्त न्यायसे तात्पर्यको समझना चाहिए, यह बात वायुके दृष्टान्तसे स्पष्ट है। विष्णु पुराणमें जड़भरतका उपाख्यान प्रसिद्ध है। श्लोकका अर्थ=जैसे अभेद व्यापी वायुका वेणु-रन्ध्रोंके भेदसे षड्जादि नामसे स्वरोंका भेद होता है, वैसे ही उस महान् आत्माका भेद होता है। (इसकी ग्रन्थकार स्वयं व्याख्या करते हैं 'नहि' इत्यादिसे) सभीमें वायु द्रव्य एक ही है, व्यक्तियोंका भेद स्पष्ट होनेसे। वायुके स्वभावमें तो कोई विलक्षणता नहीं। वेणु-रन्ध्रोंसे ही षड्जादिकी विलक्षणता होती है। इसी प्रकार आत्माकी भी यह पशु है, यह मनुष्य है, इत्यादि विलक्षणता शरीर सम्बन्धसे

---

१. 'एकमेवाद्वितीयमि'त्यादिश्रुतिरेवात्र प्रमाणम्, इति शंकां स्वमतेन परिहरति ये त्विति।
२. सर्वप्रत्यक्षादिभिरिति 'ख' पुस्तके पाठः। ३. विष्णुपुराण, अंश २, अ० १४, श्लोक ३२

न्धकृतम्, न स्वाभाविकमित्ययमेवार्थः। वायोरिति, तस्येति चैकवचनं सामान्याभिप्रायम्। तस्मात् प्रतिशरीरं भिन्ना एवात्मानः सर्वगता नित्याः। एवं च बद्धमुक्तादिव्यवस्थापि[1] युक्ततरा भवति।

॥ इत्यात्मवादः ॥

मोक्षवादारम्भः

कः पुनरयं मोक्षो नाम? विचित्रवासनावशेन विचित्रनीलपीतादिरूपेण प्रवहतो ज्ञानसन्तानस्य निश्शेषवासनोच्छेदान्नीलपीतादिवैचित्र्यं हित्वा केवलं संविन्मात्रेणाऽवस्थानमिति केचित्।

अपरे तु दीपसन्तानस्येव ज्ञानसन्तानस्योपरमम्।

हुई है, स्वाभाविक नहीं, यही इसका तात्पर्यार्थ है※। मूल श्लोकोंमें 'वायोः' और 'तस्य' ये दोनों एक वचनान्त हैं। इनमें विलक्षणता नहीं हैं; इसके बोधनमें ही इनका तात्पर्य है। सामान्याभिप्रायम्=अवैलक्षण्याभिप्रायमित्यर्थः।' इसलिए प्रतिशरीर भिन्न ही आत्मा हैं। वे सर्वगत और नित्य हैं, ऐसा माननेपर 'यह बद्ध है, यह मुक्त है' इत्यादि व्यवस्था भी युक्तियुक्त है।

(इस प्रकार आत्मवाद प्रकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(अब प्रसंग संगतिसे मोक्षस्वरूपका वर्णन करते हैं। प्रश्न ही से उपक्रम है।) मोक्ष क्या वस्तु है? (इसपर विज्ञानवादी योगाचारका मत बताते§ हैं 'विचित्र' इत्यादिसे) विचित्र वासनाओंके अनुसार यह नील है, यह पीत है इत्यादि विचित्र रूपसे प्रवाहित होनेवाली ज्ञान सन्तानका सम्पूर्ण वासनाओंके उच्छेदसे, नील-पीतादिकी विचित्रताको छोड़कर, केवल संविन्मात्रसे रहना ही मोक्ष है, यह विज्ञान वादीका मत है।

(अब शून्यवादी माध्यमिकका मत बताते हैं 'अपरे तु' इत्यादिसे) दूसरे बौद्ध (माध्यमिक) दीप सन्तानकी तरह प्रवाहित होनेवाले ज्ञान-सन्तानकी उपरतिको मोक्ष मानते हैं। इसमें प्रमाण

※ भ्रान्तिः सा, भेदरूपं हि गुरू में तदितीष्यते।
इदं ममेदृशं चक्षुर्मनो मे श्रान्तमित्यपि। इन्द्रियेष्वपि भेदेन व्यवहारश्च दृश्यते॥
ममेत्येतस्य मुख्यार्थो नात्मनोऽन्यः प्रतीयते। तेनासौ भेदहेतुः स्याद् भेदश्च ज्ञानहेतुकः॥
ये चेहाज्ञातनानात्वास्तेषां देहेष्वहंमतिः। तत्राप्यात्माभिमानेनेत्यहं बुद्धिर्ध्रुवात्मनि॥
ये तु विज्ञातनानात्वास्ते देहेष्वनहंकृताः। जानाम्यहमितीदं तु ज्ञानं नैव निवर्तते॥
अविनाशीस्वरूपेण पुरुषो या तु नाशिता। मात्राणां साधिकाराणां भूतादीनामसंज्ञिता॥ इति॥
(श्लोकवा० आत्मवाद, का० क्रमशः १२८, १३१, १३२, १३३, १४७)

§ जैसा कि बौद्धोंने प्रमाणवार्तिक में कहा है—
बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावोनावधार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः॥
नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्यानानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैवप्रकाशते॥
तस्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसम्भवा। चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥ इति॥

---

१. बुद्धमुक्तव्यवस्थेति 'ग' पुस्तके पाठः।

उभयमप्येतद्बाह्यार्थाभावमूलमिति, तत्सद्भावप्रतिपादनेनैव निराकृतम्।

अद्वैतवेदान्तिमतेन मोक्षस्यानुवादः

अपरे तु प्रपञ्चविलयमपवर्गमाहुः—अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रबोधेनैव ब्रह्मविद्ययाऽविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते। तथा हि श्रुतिः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत्' इति। (बृ० उ०। अ० ४) तदिदमपि प्रपञ्चस्याऽविद्यानिर्मितत्वनिराकरणेन परमार्थत्वप्रतिपादनान्निरस्तमेवेति।

'आत्मैवेदं सर्वम्' इति सर्वस्यात्मा भोक्तेत्यर्थः। यथा 'यः कामयेत राष्ट्रं स्याम्' राष्ट्रस्य भोक्तेत्यर्थः। यथा—'यः कामयेत सर्वमिदं भवेयम्' इति सर्वस्य भोक्ता भवेयमित्यर्थः। तथा—'आत्मा सर्वम्' इति सर्वस्यात्मा भोक्तेत्यर्थः।

देते हैं—जैसे दीप शिखा शान्त हो जाती है❀। (योगाचार मतमें ज्ञान रूपसे रहना, माध्यमिक मतमें ज्ञान-सन्तानकी उपरति इन) दोनोंका बाह्यार्थका न होना ही मूल है। अतः पूर्वमें बाह्यार्थ की प्रतिष्ठासे ये दोनों मत निरस्त हो जाते हैं।

(अब अद्वैत वेदान्तीके मतसे मोक्ष स्वरूपका वर्णन करते हैं 'अपरे तु' इत्यादिसे) अद्वैत वेदान्ती तो प्रपंच विलयको अपवर्ग कहते हैं। यह प्रपंच अविद्यासे निर्मित है। जैसे जाग्रद् अवस्थाके ज्ञानसे स्वाप्न प्रपंचका बाध होता है, वैसे ही ब्रह्मविद्यासे ही अविद्याका विनाश होता है। तब प्रपंच अपने आप विलीन हो जाता है। (अर्थात् कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश होना स्वाभाविक है। अविद्याका विलय होनेपर (उसका कार्य प्रपंच भी लीन हो जाता है) श्रुति ही इसमें प्रमाण है—'जिस अवस्थामें (व्यवहार अवस्थामें) द्वैतकी तरह होता है तब दूसरा दूसरेको देखता है, जिस अवस्थामें (परमार्थ दशामें) जिस साधकका सब कुछ आत्मा हो चुका है, वह किससे किसको देखेगा' (उक्त मतका निरास करते हैं 'तदिदं' से लेकर 'निरस्तमेव' इत्यन्त तक) उक्त, मतका भी, प्रपंच अविद्या निर्मित नहीं है, ऐसे निराकरणकर, प्रपंच पारमार्थिक है, इसका प्रतिपादन पूर्वमें कर चुके हैं, अतः उक्त मत तो निरस्त ही है।

शंका—यदि प्रपंच पारमार्थिक है, तो 'यह सब आत्मा ही है' इत्यादि श्रुतिसे क्या कहा जाता है? उत्तर—यह सब आत्मा ही है, इसका यह अर्थ है कि इन सबका आत्मा ही भोक्ता है। जैसे कोई चाहता है 'मैं राष्ट्र हो जाऊँ'। अर्थात् सम्पूर्ण राष्ट्रका मैं भोक्ता हो जाऊँ। (क्योंकि जीवका राष्ट्र होना सम्भव नहीं। अतः उक्त वाक्यमें राष्ट्र शब्दकी राष्ट्रके भोक्तापनमें लक्षणा है)

❀ 'तदाहुः—प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य तायिनः' इति। यहाँ मूलमें 'उपरमम्' इसके बाद 'मोक्षं वदन्ति' ऐसा अध्याहारकरके पंक्तिका अर्थ लगाना चाहिए। शून्यवादीने ऐसा निरूपण किया है कि चार प्रकारकी भावनासे समस्त वासनाओंकी निवृत्ति होनेपर निर्वाण शून्यरूप सिद्ध होता है। इसीसे हम लोग कृतार्थ हैं। यहाँ माध्यमिक और योगाचारमें अन्तर इतना है कि योगाचारके मतमें बाह्य वस्तु नहीं है, केवल ज्ञान है। मोक्षमें ज्ञानका स्वरूपसे अवस्थान होता है या उसका अभाव होता है। शून्यवादीके मतमें ज्ञान भी मोक्षमें निवृत हो जाता है। अतः ज्ञान सन्तानका विनाश ही उनके मतमें मोक्ष है।

यत्तु 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इति द्वैतभावस्य भ्रान्तित्ववचनम्, तदौपचारिकम् यथा खलु स्वप्नप्रपञ्चेन्द्रजालमृगतोयादिः कियन्तं चित्कालं दृष्टिपथमापन्नः पश्चाद्विलीनो भोग्यतामतिवर्तते तथाऽयं शरीरेन्द्रियविषयरूपप्रपञ्चोऽप्यस्यात्मनः कियन्तश्चित्कालमुपभोग्यः सन् पश्चाद्विनाशादनुपभोग्यो भवति —इत्यनेन सादृश्येन भ्रान्तिरित्युपचारेणोच्यते पुरुषाणां विषयभोगेष्वास्थानिवर्तनेन मुक्तावभिरुचिं जनयितुम्।

यदपि—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इति मुक्तावात्मनोऽद्वितीयत्ववचम्' तदपि न प्रपञ्चस्वरूनिषेधार्थम्, किन्तु सत एव प्रपञ्चस्यात्मसम्बन्धनिषेधार्थम्, अस्येति वचनात्। न ह्यत्रैतावदुच्यते—'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्' इति। किं तर्हि? 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव' अभूत[1] इति। तेनास्यायमर्थः—यत्र = यस्यामवस्थायां मुक्तावित्यर्थः। अस्य = आत्मनो दृश्यत्वेन दर्शनसाधनत्वेन दर्शनायतनत्वेन वा न किं चिदन्यत् सम्बन्धि विद्यते, किं त्वात्मैवास्य सर्वम्, नान्यत् किंचित्। तदा केन कं पश्येदिति। यथा लोके यस्य न किं चिदपि बान्धवो वित्तं वास्ति स एवं वदति—'न मे किंचिदस्ति अहमेव सर्वम्'। तत्र सम्बध्यन्तरं न किं चिदस्तीत्येतात्रद्विवक्षितम्, एवं मुक्तावात्मैवात्मनः सर्वमिति सम्बन्ध्यन्तराभावमात्रं विवक्षितम्। न प्रपञ्चस्वरूपाभावः। तस्मान्न प्रपञ्चविलयो मोक्षः, किन्तु प्रपञ्चसम्बन्धविलयः।

जैसे 'जो चाहता है कि 'यह सब मैं हो जाऊँ' इसका अर्थ है—सबका मैं भोक्ता बनूँ। इसी प्रकार 'आत्मा ही सब है' इसका यह अर्थ है सबका आत्मा भोक्ता है।

इस प्रकार उक्त मतका व्याख्यान कर 'यत्तु' इत्यादिसे अपने मतसे इसकी व्याख्या करते हैं—'जहाँ द्वैतकी तरह होता है' जो इत्यादि वाक्य द्वैत भावको भ्रान्ति बताते हैं, वे औपचारिक हैं। इसीका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं—जैसे स्वप्नप्रपंच, इंद्रजाल, मरुमरीचिमें जल आदि कुछ देरतक दृष्टिगोचर होकर, बादमें विलीन होते हुए उपभोगके विषय नहीं होते, वैसे ही शरीर, इन्द्रिय, विषयरूप प्रपंच भी इस आत्माका कुछ कालतक उपभोग होकर, बादमें नष्ट होनेसे उपभोगके योग्य नहीं रहता। इसी सादृश्यको लेकर भ्रम है, यह उपचारसे कहा जाता है। उसका फल है—जीवोंकी विषय भोगोंसे आस्था हटाकर, मोक्षमें रुचि उत्पन्न करना।

और यह जो—'जिस अवस्थामें साधक जीवका यह सब आत्मा ही हो चुका है' इत्यादि मुक्ति अवस्थामें आत्माके विषयमें अद्वितीयत्वका प्रतिपादक वाक्य है, वह भी प्रपंच स्वरूपका निषेध करनेके लिए नहीं है। किन्तु विद्यमान प्रपंचके आत्म-सम्बन्धके निषेधके लिए है। क्योंकि 'अस्य' यह षष्ठी है। इससे सम्बन्ध ज्ञात होता है। अतः सम्बन्धका निषेध है, प्रपंचका निषेध नहीं। इसीकी अपने मतसे व्याख्या करते हैं 'नह्यत्र' से। यहाँ इस वाक्यमें 'यह सब आत्मा ही है' यह नहीं कहा गया है। तो क्या कहा गया है? यह कहा गया है कि 'जिसका यह सब आत्मा ही है'। सारांशके रूपमें इसका यह अर्थ है कि मुक्ति अवस्थामें यह आत्मा दृश्य होकर, या दर्शनका साधन होकर, या दर्शनका अवच्छेदक होकर भी किसी दूसरेका सम्बन्धी नहीं। किन्तु इस साधक जीवका आत्मा ही सब कुछ है। दूसरा कोई नहीं। तब कौन किससे किसको देखेगा? इसीमें लोकोक्तिका उद्धरण देते हैं—जैसे लोकमें जिसका कोई भाई बन्धु या धन आदि नहीं होता, वह इस प्रकार

---

१. आत्मैवेति 'ग' पुस्तके पाठः।

त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति—भोगायतनं—शरीरम्, भोगसाधनानीन्द्रियाणि, भोग्याः – शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षाऽनुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

किमिदमात्यन्तिकत्वम्? पूर्वोत्पन्नानां शरीरेन्द्रियविषयाणां विनाशः, अनुत्पन्नानां चात्यन्तिकोऽनुत्पादः। कथमत्यन्तानुत्पत्तिः? उत्पादकयोर्धर्माधर्मयोर्निश्शेषयोः परिक्षयात्। सोयं प्रपञ्चसम्बन्धो बन्धः, तद्विमोक्षश्च मोक्षः।

कहता है कि 'मेरा कोई नहीं है, सब कुछ मैं ही हूँ। इसका दूसरा सम्बन्धि कोई नहीं, यहां इतना ही अर्थ विवक्षित है। उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं इस प्रकार मुक्ति अवस्थामें आत्माका आत्मा ही सब कुछ है, अतः दूसरे सम्बन्धिका अभाव मात्र ही विवक्षित है। प्रपंच स्वरूपका अभाव नहीं। इसलिए प्रपंच विलय मोक्ष है। यह पक्ष ठीक नहीं। 'किन्तु' इत्यादिसे अपना पक्ष बताते हैं प्रपंच सम्बन्ध ही बन्ध है, प्रपंच सम्बन्धका विलय ही मोक्ष है।

प्रपंच जीवको तीन प्रकारसे बांधता है—भोगायतन-शरीर है। (अर्थात् शरीरावच्छेदेन ही आत्मामें सुख-दुःख आदिका उपभोग होता है) भोग साधन इन्द्रियां चक्षु आदिक हैं। भोग्य शब्दादि विषय हैं। भोगसे सुख-दुःख-विषय अपरोक्ष अनुभव कहा जाता है। उक्त इन तीन प्रकारके बन्धनोंका आत्यन्तिक विलय ही मोक्ष है।

शंका—प्रपंच विलयमें आत्यन्तिक विशेषण दिया गया है, यह क्या वस्तु है? उत्तर—पूर्वमें उत्पन्न शरीर, इन्द्रिय, विषय इन तीनों का विनाश तथा अनुत्पन्न शरीर, इन्द्रिय, विषयोंका आत्यन्तिक अनुत्पाद (सर्वथा उत्पन्न न होना) यही आत्यन्तिकता है। शंका—शरीर, इन्द्रिय, विषयोंकी अत्यन्त = सर्वथा अनुत्पत्ति कैसे? उत्तर—शरीरादिके उत्पादक धर्माधर्मका निःशेष = सर्वथा क्षीण होनेसे। यही प्रपंचका सम्बन्ध ही बन्ध है और उस सम्बन्धका छूटना ही मोक्ष है॥।

॥ अर्थात् सुख-दुःखादि आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद ही मोक्ष है। सुख-दुःखका उच्छेद भी उसके कारण भूत धर्म-अधर्मके उच्छेदसे होता है। धर्म-अधर्म भी दो प्रकारका है—उत्पन्न और उत्पाद्य। अर्थात् एक उत्पन्न हो चुका है। एक अनागतमें होने वाला है। उनमें उत्पन्न धर्म और अधर्मका उपभोगसे ही उच्छेद होता है। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे तथा आत्मज्ञानसे उनका विरोध है। उत्पाद्य वे कहलाते हैं जो काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे होते हैं। बिना अनुष्ठान किए उनकी उत्पत्ति नहीं होती। और विहित कर्मोंको न करनेसे तथा निषिद्धका अनुष्ठान करनेसे जो अधर्म होता है, उसका विहित कर्मोंके अनुष्ठानसे तथा निषिद्ध कर्मोंके न करनेसे परिहार होता है। अर्थात् सभी धर्माधर्म नष्ट हो जाते हैं। शरीरारम्भके कारण न होनेसे, वर्तमान शरीरका नाश होनेपर आत्मा बिना शरीरका रह जाता है। इस प्रकार शरीरसे भिन्न आत्माको जो जानता है, उसका पूर्व कर्मोंके उपभोगसे क्षय होता है। वर्तमान शरीरका पात होने पर, अनागत कर्म नहीं हैं। शरीरादि सम्बन्ध भी नहीं है। यही मोक्ष है। श्लोकवार्तिकमें इसका इसप्रकार निरूपण किया गया है—

न च क्रियायाःकस्याश्चिदभावः फलमिष्यते। तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात्पूर्वं क्रियाक्षये॥
उत्तरप्रचयासत्त्वाद्देहो नोत्पद्यते पुनः। कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं नः प्रवर्तते॥

आनन्दमोक्षवादानुवादनिरासौ

नन्वेवमशेषधर्मक्षयान्मुक्तस्य न किं चित्सुखं स्यात्। ततश्चाऽपुरुषार्थो मोक्षः स्यात्। नैष दोषः—न हि धर्मजन्यो मुक्तस्यानन्दः, तथा सत्युत्पत्तिमत्वाद् विनाशी स्यात्, तत्राऽपुनरावृत्तिश्रुतेर्विरोधः स्यात्। स्वाभाविकस्त्वात्मानन्दः संसारेणाभिभूतः सन् निर्मुक्तसंसारस्याभिव्यक्तो भोग्यो भवति, स्वाभाविकत्वे चानन्दस्य। 'आनन्दं ब्रह्म' (बृ० उ०) इत्यादिश्रुतिसहस्रं प्रमाणम्।

ननु सुखाभावेपि श्रुतिरस्ति—'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति? (छां० उ०। अ० ८)। सत्यम्, विषयसुखाभिप्रायं त्वेवंजातीयकम्, अन्यथाऽऽनन्दश्रुतिविरोधात्। अथ सुखाभाववचनबलेनानन्दवचनमेव दुःखाभावाभिप्रायं किमिति न व्याख्यायते? सुखाभाववचनानामत्यल्पत्वात्, तेषामेवान्यथाकरणं युक्तम्, न भूयसामानन्दवचनानाम्। किं चानन्दशब्दस्य दुःखाभावपरत्वेऽत्यन्तस्वार्थहानिः स्यात्, सुखशब्दस्य तु सामान्यवचनस्य विशेषेऽपिव्याख्याने[1] नातीव स्वार्थहानिरिति तदेव युक्तम्।

शंका—मोक्ष अवस्थामें सभी धर्माधर्मका क्षय होनेसे मुक्त पुरुषको कुछ भी सुख नहीं होगा। अतः मोक्ष पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा। उत्तर—यह दोष नहीं है। क्योंकि मुक्त पुरुषका आनन्द धर्मसे जन्य नहीं। धर्मसे जन्य मानने पर आनन्द उत्पत्तिमान् होगा। अर्थात् कार्य हो जाएगा। जो कार्य होता है वह विनाशी होता है। मोक्षको तो सभी नित्य मानते हैं। और सुनिए मुक्त पुरुष पुनः नहीं लौटता—'न स पुनरावर्तते' इस श्रुतिका विरोध होगा। स्वाभाविक जो आत्मानन्द है, वह संसारसे अभिभूत होकर रहता है। वह आनन्द जो संसारसे मुक्त हो गए हैं, उनमें अभिव्यक्त होकर, उनका भोग्य होता है। मुक्तिमें आनन्द स्वाभाविक है। इनमें आनन्दको ब्रह्म जानो 'आनन्दं ब्रह्मेतिव्यजानात्' इत्यादि हजारों श्रुतियां प्रमाण हैं।

शंका—मोक्षावस्थामें सुख नहीं होता, इसमें भी श्रुति प्रमाण है। जिसका शरीर नहीं रहता उसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। उत्तर—ठीक है। उक्त श्रुति वैषयिक सुखके तात्पर्यसे कही गई है। नहीं तो आनन्द श्रुतिसे उसका विरोध होगा। शंका—सुखाभाव परक वचनोंके बलसे आनन्द वचन ही दुःखाभाव परक हैं, ऐसा व्याख्यान क्यों न किया जाए? उत्तर—दुःखाभाव परक वाक्य कम हैं। आनन्द परक वाक्य अधिक हैं। अतः भूयोऽनुग्रहन्यायसे* सुखाभाववचनोंको ही अन्य परक लगाना युक्त है। अधिक जो आनन्दपरक वाक्य हैं उनका अन्यथाकरण युक्त नहीं और आनन्द शब्दको दुःखाभावपरक माननेमें स्वार्थका त्याग करना पड़ेगा। यह ठीक नहीं। सुख शब्द तो सामान्य रूपसे नित्य सुख और विषय सुखमें रहता है। उसका विषय सुख अर्थ करनेपर स्वार्थ हानि नहीं होती। इसलिए वही युक्त है।

* भूयोऽनुग्रहन्याय—जहाँ अनेक धर्म हों और दूसरी ओर एक धर्म हो, उन दोनोंमें किसे अपनाया

तदभावेन कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते। मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः॥
नित्यनैमित्तिकेकुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥
(श्लोकवा० सम्बन्धाक्षेपपरिहार, का० १०७-११०)

१. विशेषव्याख्यानेऽपि इति 'ग' पुस्तके पाठः।

ननु विद्यमानोप्यानन्दोऽननुभूयमानोऽकिंचित्कर एव, नच मुक्तस्य सर्वकरण-हीनस्यानन्दानुभवः सम्भवति। स्वप्रकाशोयमानन्द इति चेत्? न, संसारावस्थायाम-प्रकाशात्। ननु तत्राप्यानन्दस्वभावः पुरुषः प्रकाशत एव आत्मनि प्रेमोत्पत्तेः। न ह्यसुखे प्रेमोत्पत्तिः सम्भवति, नाप्यविज्ञाते सुखे। किमिदानीमस्माभिरात्मा सुखरूपोनु-भूयते? सत्यमिति ब्रुवाणस्यातिसाहसिकस्य नोत्तरं वाच्यम्। यदि संसारिणोपि परमानन्दमनुभवेयुः, ततो मुक्तस्य न कश्चिदतिशय इति, तदेवापुरुषार्थत्वं मोक्षस्यापद्येत। अतो बलादसुखरूपस्याप्यात्मनः प्रेमविषयत्वं दृष्टत्वादङ्गीकर्तव्यम्।

अथ स्वप्रकाशोप्यानन्दः संसारावस्थायामभिभूतो न प्रकाशते? कोयं प्रकाश-मानस्याऽभिभवो नाम? प्रकाशनिवारणं ह्यभिभवः, न च प्रकाशमानस्याऽप्रकाशनं सम्भवति। यदि तु नैव प्रकाशते संसारावस्थायाम्? तस्यामवस्थायामसतः प्रकाशस्य मुक्तावस्थायामुत्पद्यमानस्य कारणं वक्तव्यम्। विज्ञानमेव च प्रकाशाख्यस्य फलस्य कारणम्, तच्चेन्द्रियाधीनम्। न च मुक्तस्येन्द्रियाणि सम्भवन्तीति कथमानन्दानुभवः स्यात्?

शंका—विद्यमान आनन्द भी जबतक अनुभवका विषय नहीं होता, तबतक वह अकिंचित्कर ही है। मुक्त पुरुष सभी इन्द्रियोंसे विहीन होता है। उसे आनन्दका अनुभव नहीं हो सकता। यदि माना जाए यह आनन्द स्वप्रकाश* है? उत्तर—नहीं। संसारावस्थामें आनन्दका प्रकाश न होनेसे।

शंका—मुक्ति दशामें भी आनन्द स्वभाव आत्मा प्रकाशित होता ही है, आत्मामें प्रेम उत्पन्न होनेसे। सुखके न रहनेपर प्रेम उत्पन्न नहीं होता। और न ही अज्ञात सुखमें प्रेम उत्पन्न होता है।

उत्तर—क्या अब हमलोग आत्माको सुख रूपसे अनुभव करते हैं? हाँ कहनेवाले अत्यन्त साहसी व्यक्तिको उत्तर न देना ही श्रेयस्कर है। यदि संसारी लोग भी परम आनन्दका अनुभव करते तो, मुक्त पुरुषकी और उनकी कोई विशेषता न रह जाएगी। वही मोक्षकी अपुरुषार्थता हो जाएगी। इसलिए दृष्ट होनेसे सुखरूप आत्माकी प्रेमास्पदता माननी ही चाहिए।

शंका—स्वप्रकाश आनन्द भी संसार अवस्थामें अभिभूत होकर, प्रकाशित नहीं होता। उत्तर—बताइए प्रकाशमानका अभिभव होना क्या वस्तु है? प्रकाशका निवारण ही तो अभिभव कहलाता है। प्रकाशमान् वस्तुका अप्रकाशन सम्भव नहीं। शंका—यदि संसार अवस्थामें आनन्द प्रकाशित नहीं होता तो, अविद्यमान प्रकाशका मुक्ति दशामें उत्पन्न होनेका कारण बताइए। विज्ञान ही प्रकाश नामक फलका कारण है। वह इन्द्रियाधीन (इन्द्रियजन्य) है। मुक्त पुरुषकी इन्द्रियाँ नहीं होती। उसे आनन्दानुभव कैसे होगा?

---

* अर्थात् विद्वानोंका कहना है कि आत्मामें अनौपाधिक प्रेम कृमी कीटादिका भी नित्य सिद्ध है—'प्रेमानुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः स प्रत्यगात्मनि कृमेरपिनित्यसिद्धः' इति।

जाए, किसे त्यागा जाए? ऐसी शंका होनेपर, विरुद्ध धर्मका समावेश होनेसे अनेक धर्मोंका ही ग्रहण होना चाहिए, एकका नहीं, यही भूयोऽनुग्रहन्याय है। जैसे—'विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्' इत्यादि। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि सुख शब्द दुःखाभाव परक है, आनन्द शब्द नहीं। इसका विशेष विवरण द्वादश अध्यायमें देखना चाहिए।

उच्यते—बाह्येन्द्रियाण्येव मुक्तस्य निवर्तन्ते, मनस्तु तस्यामवस्थायामनुवर्तते इति, आनन्दश्रुतिबलादेवाध्यवसीयते। एवं ज्ञानं च 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इतिश्रुतेः, विज्ञानघनश्रुतेश्च। तस्मान्मुक्त्यवस्थायां मानसप्रत्यक्षेण परमानन्दमनुभवन्नात्माऽवतिष्ठते।

तदुक्तम्—'निजं यत्त्वात्मचैतन्यमानन्दश्चेष्यते च यः।
यच्च नित्यविभुत्वादि तैरात्मा नैव मुच्यते'॥ इति।
यत्तु—'तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते[1]।
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्'[2]॥

इतिवार्तिकं तत्परमतमित्येवमानन्दमोक्षवादिनो मतम्[3]।

अपरे[4] त्वाहुः—अभावात्मकत्ववचनमेव स्वमतम्, उपपत्त्यभिधानात्। आनन्दवचनं तूपन्यासमात्रत्वात् परमतम्, न हि मुक्तस्यानन्दानुभवः सम्भवति, करणाभावात्। मनः स्यादिति चेत्? न, अमनस्कत्वश्रुतेः—'अमनोऽवाक्' इति।

उत्तर—मुक्त पुरुषकी बाह्य इन्द्रियाँ नहीं होतीं। मन तो उस अवस्थामें भी अनुगमन करता है, ऐसा आनन्द श्रुतिके बलसे माना जाता है। इसी प्रकार ज्ञान भी रहता है—'विज्ञाताका जो विज्ञान है, उसका लोप नहीं होता, यह श्रुति है। 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा विज्ञानघन है, यह प्रतिपादित होता है। (मुक्त दशामें आत्मस्वरूपका नाश नहीं होता। उस समय ज्ञान भी रहता है) अतः मुक्ति अवस्थामें मानस प्रत्यक्षसे परमानन्दका अनुभव करते हुए आत्मा रहता है। इसमें प्रमाण देते हैं 'तदुक्तं' से। अर्थ—जो स्वाभाविक आत्म चैतन्य तथा आनन्द है और जो नित्य विभुत्व आदि धर्म हैं, उनसे आत्मा कभी विमुक्त नहीं होता*'।

(ग्रन्थकार 'यत्तु' इत्यादिसे अनुवाद करते हैं—) यह जो कहा गया है कर्मका क्षय होनेसे ही कारणके अभावमें मुक्त होता है, मोक्ष अभावात्मक है। इसके बिना मोक्षके नित्य होनेमें कोई कारण नहीं, यह वार्तिकका अर्थ है। यह वार्तिक किसी दूसरेका मत है, ऐसा आनन्दरूप मोक्ष माननेवालेका कथन है।

---

* अर्थात् उस समय मन भी नहीं रहता। क्योंकि श्रुति इसका निषेध करती है। यह सब सांख्य मतके निराकरण प्रसंगमें कह दिया गया है। यहाँ सन्देह होता है कि आनन्द रूप मोक्ष है, इस पक्षका वार्तिकने स्वयं खण्डन किया है, तब यह पक्ष वार्तिक-सम्मत कैसे हो सकता है? इसका उत्तर है—कि मोक्षमें यह अनित्य है ऐसा दोष दिया गया है। इसका परिहार किया जा सकता है। अतः आनन्दरूप मोक्ष है, यही वार्तिककारका अभिमत पक्ष है, ऐसा किसी व्याख्याताका मत है। अपने पक्षका तो वार्तिककारने स्वयं समर्थन किया है। उसमें युक्ति भी दी है। और इस पक्षके अनन्तर दूसरे पक्षका उपन्यास भी नहीं किया गया हैं, अतः यही पक्ष वार्तिककारको अभिमत है।

---

१. श्लो० वा० सं० क्षेप०, का १०६। २. श्लोकवा० सं० क्षेप०, का १०७।

३. परमतनिराकरणप्रसंगेनोक्तत्वादित्यर्थः। ४. स्वामिप्रेतं वार्तिकाभिप्रायमाह अपरेत्वाहुरिति। एतदनन्तरं मतान्तरानुपन्यासात्, अत्र च युक्त्यभिधानात्, तदेव वार्तिककृन्मतमस्ति।

मोक्षावस्थायां ज्ञानाभावस्योपपादनम्

यत्तु—'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति, तज्ज्ञानशक्त्याभिप्रायम्, अन्यथा हि सुषुप्तावपि ज्ञानानुवृत्तिरुक्ता स्यात्। सा च संविद्विरुद्धेत्युक्तम्। विस्पष्टं चास्य शक्त्यभिप्रायत्वम्। एवं हि श्रूयते—'यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन् वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् 'न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्'।

एवमन्यान्यपि वाक्यानि—'जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति, न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यते' 'न श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यये'—'न स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' 'न ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति, तत्र तत्र दृष्टि-घ्राति-श्रुति-स्पृष्टि-शब्दाश्चक्षुर्घ्राणश्रोत्र-त्वगिन्द्रियजन्यानां रूप-गन्ध-शब्द-स्पर्श विषयाणां विज्ञानविशेषाणां वाचकाः, नार्थान्तरविषयाणाम्, नापि विज्ञानसामान्यस्य। न चैषां ज्ञानविशेषाणां सुषुप्तौ मुक्तौ वा कथं चिदप्यपरिलोपः सम्भवति। न हि तदानीमिन्द्रियाणि सन्ति, नापि गन्धादयो ज्ञायन्ते। तदुभयाभावे च न श्रुत्यादिशब्दवाच्यज्ञानविशेषाः सम्भवन्ति।

दूसरे लोग तो कहते हैं कि अभावात्मक वचन ही अपना मत है। अर्थात् वार्तिककारको यही पक्ष अभिमत है, क्योंकि उसमें युक्तिका कथन है। आनन्द वचन तो उपन्यास मात्र होनेसे दूसरेका मत है। क्योंकि मुक्त जीवको आनन्दका अनुभव नहीं होता, इन्द्रियोंका अभाव होनेसे। शंका—इन्द्रिय न हों, मन तो है, इसलिए आनन्दका अनुभव हो सकता है। उत्तर—नहीं श्रुति बताती है मन नहीं है 'जिसके मन और वाणी नहीं है' यह श्रुतिका अर्थ है❀।

अब 'इन्द्रिय और विषयके अभावमें विज्ञाताके विज्ञानका नाश नहीं होता' इस वाक्यको अपने मतसे व्याख्या करते है—'यत्तु' इत्यादि से। यह श्रुति मोक्ष दशामें ज्ञानका नाश नहीं बताती, किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि उस समय ज्ञान-शक्तिका नाश नहीं होता। नहीं तो सुषुप्ति अवस्थामें भी ज्ञानकी अनुवृत्ति होती है, ऐसा कहना होगा। यह अनुभव विरुद्ध है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। और इसका शक्ति ही अभिप्राय है ऐसा स्पष्ट रूपसे कह भी सकते हैं। श्रुतियाँ इस बातको बताती हैं—'यह जो उसको नहीं देखता, वह देखता हुआ भी नहीं देखता है, द्रष्टाकी दृष्टिका नाश नहीं होता, अविनाशी होने से। वह दूसरा कुछ है नहीं, जिसको दूसरा पृथक् देख सके'।

इसी प्रकारके जो और भी वाक्य हैं, उनका भी शक्तिके अभिप्रायसे व्याख्यान करना चाहिए। जैसे—'सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता है, क्योंकि सूंघने वालेकी घ्राण करनेकी शक्तिका लोप नहीं होता है। इसी प्रकार 'श्रोताकी श्रुतिका नाश नहीं होता' 'जो स्पर्श करने वाला है उसको

❀ अर्थात् मुक्त पुरुषका आनन्दभोक्तृत्व तथा मनकी सत्ताको श्रुतियाँ स्पष्ट बताती हैं—'स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके' 'स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा, स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' सूत्रञ्च—संकल्पादेव तच्छ्रुतेः'

ननु यथा प्रकाश्यासंनिधावपि सवितुः प्रकाशकत्वं नित्यम्, एवमिन्द्रियाभावेपि नित्यैव दृष्टिरिति चेत् ? स्यादेवं यदि ज्ञानमात्रं दृष्ट्यादिशब्दानां वाच्यं स्यात्, न तु तथास्ति, लोकप्रसिद्ध्यभावात्। यथा लोके च शब्दार्थावधारणम्, न यथेच्छम्। न हि लोके गन्धादन्यद् घ्राणं जिघ्रतीत्युच्यते, गन्धमपि यदा घ्राणादन्येनानुमानादिना जानाति तदा न जिघ्रतीत्युच्यते, तस्माद् घ्राणादीन्द्रियजन्यगन्धादिविषयज्ञानविशेषवाचिनोघ्रात्यादि-शब्दाः। न च तेषां सुषुप्तौ मुक्तौ वा सम्भवत्यपरिलोपः, तस्माद् घ्राणादिशक्तावेव प्ररोचनार्थं घ्राणाद्युपचारः। यथा 'तेन ह्यन्नं क्रियते' इति शक्तिवर्तमानत्वेन प्ररोचनार्थं 'क्रियते' इति वर्तमानत्वोपचारः[1], तस्मात् 'न ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्येतदपि शक्त्यभिप्रायमेव।

स्पृष्टिका नाश नहीं होता' 'ज्ञाताके ज्ञानका विपरिलोप नहीं होता' इस प्रकार तत् तत् वाक्योंमें❀ दृष्टि, घ्राति, श्रुति, स्पृष्टि शब्द क्रमशः चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, त्वगिन्द्रियसे होनेवाले जो ज्ञान विशेष हैं, जिनके क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श विषय होते हैं, उन ज्ञानोंके वाचक हैं। अन्य विषयक ज्ञानोंके वाचक नहीं। विज्ञान सामान्यके भी वाचक नहीं। (यहाँ विज्ञान शब्दसे अनुमान समझना चाहिए) इन ज्ञान विशेषोंका सुषुप्तिमें या मुक्तिमें किसी भी प्रकार भान नहीं होता, यह बात नहीं, क्योंकि उस समय न इन्द्रियाँ हैं न गन्ध आदि विषय हैं, जो ज्ञानके विषय होते हैं। इन दोनोके अभावमें श्रुति, स्पृष्टि आदि शब्दके वाच्य ज्ञान विशेष नहीं हो सकते§।

शंका—इन्द्रिय और विषयके अभावमें ज्ञान हो सकता है, जैसे प्रकाश्य घटादिकी असन्निधिमें भी सूर्य प्रकाश करता है, यह नित्य सिद्ध है। वैसे इन्द्रियोंके अभावमें दृष्टि नित्य ही है।

उत्तर—यह तब हो सकता है यदि दृष्टि आदि शब्दोंका ज्ञान मात्र वाच्य होता। ऐसा तो

❀ ग्रन्थकारने मूलमें जो प्रतीक रूपमें श्रुतियां दी हैं, वे सम्पूर्ण रूपसे इस प्रकार हैं—

'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' ॥ २३ ॥

'यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति। न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत' ॥ २४ ॥

'यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् वैतन्नशृणोति। न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्' ॥ २७ ॥

'यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वैतन्न स्पृशति। न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत्' ॥ २९ ॥

'यद्वै तन्न विजानाति। विजानन् वै तन्न विजानाति। नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' ॥ ३० ॥

(द्रष्टव्य बृ० उ०, अ० ४, ब्राह्मण ३)

§ अर्थात् यथाश्रुत अर्थ माननेपर वाक्य अनर्थक हो जाएंगे। इसलिए उनका ज्ञान शक्तिके बोधनमें तात्पर्य है, ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिए।

---

१. तत्प्रवाहमध्यपतित्वादिति 'ख' पुस्तके पाठः।

यत्त्वादित्यप्रकाशकत्ववदिति, किं तस्य प्रकाशकत्वमभिप्रेतम् ? यदि तिमिरोत्सारणम् ? तन्नित्यमस्त्येव, सर्वदा ह्यसावव्यवहितेषु देशेषु तिमिरमुत्सादयत्येव, न त्वेवमात्मा सर्वदा शृणोति सुषुप्तावश्रवणात्। अथ ज्ञानजनकत्वमादित्यस्य प्रकाशकत्वम् ? न तन्नित्यम्, तत्सामर्थ्यमेव तत्रापि नित्यम्। तस्माज्ज्ञानशक्त्यभिप्रायमिदं नित्यत्वाभिधानम्।

एषा ह्यत्र वचनव्यक्तिः—तदेतत् सुषुप्तौ मुक्तौ वात्मा न पश्यति पश्यन्नेव द्रष्टुं

नहीं है, लोक प्रसिद्धि न होनेसे*। लोकमें घ्राणेन्द्रिय गन्धसे अन्य किसी विषयको सूंघती है, यह नहीं कहा जाता। गन्धको भी जब घ्राणेन्द्रियसे भिन्न अनुमानादिसे जानता है तो 'सूंघता है' यह नहीं कहा जाता। अब उक्त अर्थका निगमन करते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे। अतः घ्राणादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले गन्ध आदि, ज्ञान विशेषके वाचक हैं घ्राति आदि शब्द। सुषुप्ति या मुक्तिमें उनका नाश नहीं होता, ऐसी बात नहीं, किन्तु नाश होता है। अतः शक्तिमें स्तुतिके लिए ही घ्राणादिका उपचार किया है। इसमें दृष्टान्त देते हैं 'यथा' इत्यादिसे§। जैसे 'उससे अन्न किया जाता है' ऐसे शूर्पमें शक्तिके न रहने पर भी वर्तमानके रूपमें स्तुति करनेके लिए 'क्रियते' यह वर्तमानताका उपचार किया जाता है। अतः 'ज्ञाताके ज्ञानका विपरिलोप नहीं होता' यह वाक्य भी शक्तिके तात्पर्यसे ही कहा गया है।

यह जो कहा गया है कि आदित्यका प्रकाश नित्य है, वैसे ही यह ज्ञान नित्य है, इत्यादि। इसका उत्तर देते हुए विकल्प करते हैं—उसकी प्रकाशकता आपको किस रूपसे अभिमत है। इसमें दो विकल्प हैं—जैसे सूर्यका अन्धकारको दूर करना ही उसकी प्रकाशकता है ? या ज्ञान जनकता है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि उसकी प्रकाशकता नित्य है ही। सदा यह आदित्य अव्यवहित देशोंमें अन्धकारका नाश करता ही है। आत्मा तो ऐसा नहीं है; क्योंकि सर्वदा श्रवण नहीं करता है। सुषुप्तिमें श्रवणका अभाव हो जाता है (अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं)

तब दूसरा पक्ष लीजिए ज्ञान जनन ही आदित्यकी प्रकाशकता है, वह तो नित्य नहीं है। अतः सामर्थ्य = शक्तिसे ही वहां भी नित्य है। इसलिए 'दृष्टुः दृष्टेर्विपरिलोपो न विद्यते, अविनाशित्वात्' इत्यादि श्रुतियोंका ज्ञानशक्तिमें ही तात्पर्य है। अर्थात् ज्ञानशक्तिको लेकर ही नित्य कहा गया है। यहां इस वचनका विन्यास इस प्रकारका है—'यह जो सुषुप्ति या मुक्तिमें आत्मा नहीं देखता है, देखते हुए देखनेका सामर्थ्य होनेपर भी नहीं देखता है' अन्यथा दृष्टा आत्माकी

---

* शब्द-शक्तिका निश्चय लोकमें व्युत्पन्न पुरुषके व्यवहारसे होता है। अपनी इच्छासे नहीं, यों भाष्य तथा वार्तिककारने कहा है—'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि तदर्थान्येव' (मी० द० भा०, पृ० १)

श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, का १३२ में भी कहा गया है कि—

वृद्धप्रयोगगम्याश्च शब्दार्था सर्व एव नः। तेन यत्र प्रयुक्तोऽयं न तस्मादपनीयते ॥ इति ॥

§ चातुर्मास्य प्रकरणमें 'शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते' यह वाक्य पढ़ा गया है। शूर्पसे होम करना चाहिए क्योंकि उससे अन्नका परिष्कार आदि किया जाता है। यहाँ जब अन्न क्रियामें करण होता है शूर्प, उस कालमें होम साधन तो होगा नहीं। शक्ति उसमें है, अतः यहाँ स्तुतिके लिए वर्तमानताका उपचार किया गया है। उसीके समान यहाँ भी समझना चाहिए।

शक्नुवन्नेव न पश्यति। नहि द्रष्टुरात्मनो या दर्शनशक्तिस्तस्याः कदा चिदपि लोपो विद्यते। सा ह्यविनाशिनीति, न द्रष्टुर्द्वितीयमन्यद् दर्शनसाधनं चक्षुर्व्यापाररूपम्, दृश्यं वा तस्यामवस्थायामस्ति, यतो दर्शनं स्यात्। यद्यपि दृश्यं रूपादिकं स्वरूपतस्तस्यामवस्थायामस्ति, तथापि दृश्यता = दर्शनयोग्यता तस्यामवस्थायां नास्तीति तेन रूपेणाभावाद् दृश्यं नास्तीत्युच्यते। तस्मात्साधनान्तरवैकल्यात् तस्यामवस्थायां न पश्यति, न शक्तिवैकल्यात्। शक्तिस्तु न कदा चिदपि लुप्यते इति। एवमन्येषामपि वाक्यानां योजना। तथा ज्ञानशक्त्यपरिलोप एव ज्ञानापरिलोप उच्यते, ज्ञातिशब्दश्चात्रानुमानादिज्ञानपरः, चक्षुरादिज्ञानानां स्वशब्दैरुक्तत्वात्।

एवम्—'विज्ञानं ब्रह्म' 'विज्ञानघनः' इत्यादीनामपि शक्तिपरत्वं वेदितव्यम्। स्वयमेव श्रुत्या शक्तिपरत्वं व्याख्यातम्—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' इति। भूतेन्द्रियनाशादात्मापि प्रमाणागोचरत्वमापन्नो विनष्ट इव भवतीति। न तस्येतः प्रेतस्य = मुक्तस्य संज्ञास्तीति। एवं याज्ञवल्क्येनोक्ते मैत्रेयी चोदयति स्म—'अत्रैव भगवान् मा मोहितवान्—विज्ञानघन[1] इति, न चास्ति संज्ञेति विरुद्धाभिधानात्' इति। षष्ठाध्याये तु विनाशाविनाशविरोधश्चोदयिष्यत इति विवेकः। एवंचोदितो याज्ञवल्क्यः परिहारमाह—'न वा अरे अहं मोहम् = 'परस्परविरुद्धं ब्रवीमि'

दर्शन शक्तिका कभी भी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशिनि है। अतः दृष्टा पुरुषका दूसरा कोई दर्शनका साधन = चक्षुका व्यापार या दृश्य वस्तु उस अवस्थामें नहीं है। अतः उस रूपसे अभाव होनेसे दृश्य नहीं है, यह कहा जाता है। इसलिए साधनान्तरकी विकलतासे उस अवस्थामें नहीं देखता है, न कि शक्तिकी विकलतासे। शक्ति तो कभी भी लुप्त नहीं होती। इस प्रकार और जो छः पर्याय हैं, उन्हें भी इसी तरहसे शक्तिके तात्पर्यसे लगाना चाहिए। ऐसे ही ज्ञान शक्तिका लोप न होना ही ज्ञानका अपरिलोप कहलाता है। यहाँ ज्ञाति शब्द अनुमानादि ज्ञान परक है यह पूर्वमें कह चुके हैं, क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानोंके स्ववाचक शब्दोंसे दृष्ट्यादि शब्द कहे गए हैं।

शंका—ऐसे (ज्ञाति = ज्ञान आदि शब्दोंका शक्तिपरक व्याख्यान करनेपर 'विज्ञान ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंकी कैसे व्याख्या करेंगे?) उत्तर—इस प्रकार 'विज्ञान ब्रह्म है' 'विज्ञानघन है' इत्यादि श्रुति वाक्योंकी भी शक्तिपरक व्याख्या समझनी चाहिए। शंका—(ज्ञानादि शब्दोंकी शक्तिपरक व्याख्या करनेपर, श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना आदि दोष हो जाएँगे?) उत्तर—स्वयं ही श्रुति शक्तिपरक व्याख्यान कर देती है। जैसे 'विज्ञानघन ही इन भूतोंसे निकल कर, उनके नाशके अनन्तर यह भी नष्ट होता है, इस रूपसे भूत और इन्द्रियोंके नाशसे आत्मा भी प्रमाणका विषय न होकर, विनष्टकी तरह हो जाता है। उस प्रेतकी अर्थात् मुक्तकी कोई संज्ञा नहीं रहती। (अतः श्रुतिकृत व्याख्यानमें उपर्युक्त दोष नहीं) इस प्रकार याज्ञवल्क्यके कहनेसे मैत्रेयीने प्रश्न किया कि भगवन्! आपने तो यहींपर मुझे मोहमें डाल दिया। वह यह है कि आप उस आत्माको विज्ञानघन भी कहते हैं और उसकी संज्ञा नहीं है यह भी कहते हैं। इस कथनका तो पूर्वापर विरोध है। (उक्त विरोध चतुर्थ अध्यायमें बताया गया है) छठे अध्यायमें तो विनाश-अविनाश

---

१. अर्थतोऽनुवादोऽयम्, न तु श्रुतेरानुपूर्वी।

'अलं वा अरे इदं विज्ञानाय' अत्रात्मतत्त्वं सर्वास्ववस्थासु विज्ञानायसमर्थमित्यर्थः, तेन विज्ञानघनत्वाभिधानं सामर्थ्याभिप्रायमिति व्याख्यातं भवति। सम्भवति च शक्तस्यापि ज्ञानाभाव इति नास्ति विरोध इत्यभिप्रायः। अनया श्रुत्या सर्वविज्ञानश्रुतयः शक्त्यभिप्राया व्याख्याताः।

यदि शक्तिरस्ति, तस्यामवस्थायां ततः केन ज्ञानानुत्पत्तिः? ज्ञानसाधनानामिन्द्रियाणां ज्ञेयानां च विषयाणामभावात्। तदाह—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्?' इत्यादि। तदेतत् प्रागेव व्याख्यातम्। एवमर्थान्तरज्ञाने साधनाभावान्निराकृते सति आत्मानमेव मुक्तावस्थायां जानात्वित्याशङ्क्याह—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति, न ह्यात्मापि विना साधनेन ज्ञातुं शक्यते, मनसा खल्वसौ संसारावस्थायां ज्ञायते। न च मुक्तस्य मनस्सम्बन्धोस्ति,

---

नाशका विरोध कहा जाएगा; यह दोनोंका विवेक है*। इस प्रकार पूछे जानेपर याज्ञवल्क्य उसका परिहार करते हैं—'अरी मैं मोह नहीं करता' अर्थात् 'मैं परस्पर विरुद्ध वचन नहीं करता हूँ, अतः ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए यह पर्याप्त है। यहाँपर आत्माका स्वरूप सभी अवस्थाओंमें विज्ञानके लिए समर्थ है; यह उसका अर्थ है। अतः आत्माको विज्ञान-घन कहना उसकी सामर्थ्यके अभिप्रायसे व्याख्यात हुआ है। सशक्तके ज्ञानका अभाव भी हो सकता है; यह सम्भव है। अतः कोई विरोध नहीं, यह तात्पर्य है। इस श्रुतिसे सर्वविज्ञान श्रुतियोंकी भी शक्तिके अभिप्रायसे व्याख्याकी गई है।

शंका—यदि शक्ति है तो उस अवस्थामें किस कारणसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता? उत्तर—ज्ञानके साधन इन्द्रियां तथा ज्ञेय विषय हैं, उनके न रहनेसे। इसी बातको श्रुति बताती है—'जिस अवस्थामें द्वैतकी तरह होता है, उस अवस्थामें दूसरा दूसरेको देखता है; जिस अवस्थामें उसका सब कुछ आत्मा ही हो गया है, तब किससे किसको देखेगा' इत्यादि। इसका पूर्वमें व्याख्यान हो चुका है। इस प्रकार दूसरे अर्थका ज्ञान-साधन न होनेसे निराकृत होनेपर आत्माको ही मुक्ति अवस्थामें जान लें, यह आशंका कर, श्रुति बताती है—'अरी मैत्रेयी! विज्ञाताको किससे जानें? आत्मा बिना साधनके नहीं जाना जा सकता। मनसे ही वह संसारावस्थामें जाना जाता है। मुक्तका मनसे कोई सम्बन्ध नहीं, अतः किससे उसको जानें? इस प्रकार स्पष्ट ही मुक्त पुरुषमें

---

* शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणके अन्तर्गत वृहदारण्यक उपनिषद् है। उसमें छः अध्याय हैं। प्रथम, द्वितीय अध्यायका नाम आगम काण्ड है। तृतीय, चतुर्थ अध्यायको ऋषि काण्ड या याग्यवल्क्य काण्ड कहते हैं। पंचम, शष्ठ अध्यायोंको खिल काण्ड कहा जाता है; परन्तु ब्राह्मणके क्रमसे इसके आठ अध्याय हैं। उसमें प्रथम दो अध्याय प्रवर्ग्य नामक कर्मके प्रतिपादक हैं। अतः ये कर्मकाण्डके अन्तर्गत हैं। ब्राह्मण क्रमसे चौथे अध्याय तथा छठे अध्यायमें याग्यवल्क्य-मैत्रेयीका संवाद है। उसमें आत्माको विज्ञानघन कहा गया है। साथ ही 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' कहा है। इन दोनोंमें विरोध है। छठे अध्यायमें विनाश-अविनाशका विरोध बताया गया है। पर विषय भेद होनेसे विरोध नहीं है। सिद्धान्त पक्षमें आत्मज्ञान ही को प्राप्त करे; यह निर्णय किया गया है।

आत्मनः ज्ञानानन्दस्वरूपस्य खण्डनम्

अतः 'केनात्मानं जानतु' इति व्यक्त एव मुक्तस्यात्मज्ञानस्याभावः[1], ज्ञानशक्तिमात्रस्यावस्थानं श्रुत्या दर्शितम्, तस्मान्निसम्बोधो[2] निरानन्दश्च मोक्षः।

ननु नात्मनोऽन्यद्विज्ञानम्, आनन्दो वा, किन्त्वात्मैव ज्ञानमानन्दश्च, 'विज्ञानं ब्रह्म' 'आनन्दं ब्रह्म' इति श्रुतेः। आत्मा च सुषुप्तितुरीययोरपि भवतीति कथं विज्ञानस्य चानन्दस्य चाभावः? नैतदेवम्—यद्धि वस्त्वन्तरप्रकाशजननस्वभावं वस्तु = यस्मिन् सति किमप्यर्थान्तरं प्रकाशत एव, तल्लोके विज्ञानशब्देनोच्यते। न चात्मनि सति किं चिदन्यत् शकाशत एव। विद्यमानेपि तस्मिन् सुषुप्त्यवस्थायामर्थान्तरस्य कस्यचिदप्यदर्शनात्। अतो न ज्ञानमात्मा।

ननु प्रकाशजननस्वभावोपि सहकारिवैकल्यान्न जनयेत्। सत्यं न जानयति, यस्मिंस्तु सहकारिसंन्निधाने तत्कृते वाऽन्यस्मिन्नागन्तुके सति नियमेन प्रकाशत एवार्थान्तरम्, तज्ज्ञानशब्दवाच्यम्।

तथा गीतिश्रवण - प्रियालिङ्गन-चन्द्रदर्शन—मधुरास्वाद—सुरभिघ्राणादिजन्यमाह्लादमानन्दसुखशब्दावभिदधाते। न चैवंरूपत्वमात्मनोस्ति। यथा ह्यन्यसुखे षुसुखरूपं प्रत्यभिज्ञायते, नैवमात्मनि प्रत्यभिजानीमः, येनानन्दशब्दस्याभिधेयः स्यात्।

आत्मज्ञानका अभाव है। ज्ञान-शक्ति मात्र आत्माका होना श्रुतिसे दिखाया गया है। अतः मोक्षमें न ज्ञान रहता है, न आनन्द। इसलिए विना ज्ञान और बिना आनन्दका मोक्ष है।

(अद्वैतवेदान्तीका कहना है, कि आत्मा ज्ञान तथा आनन्दरूप है, उनके इस कथनका निरास करनेके लिए अनुवाद करते हैं 'ननु' इत्यादिसे) शंका—आत्मासे ज्ञान या आनन्द भिन्न होता तो आत्मा ज्ञान-आनन्द-स्वरूप न होता। किन्तु आत्मा ही ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप है इस बातको श्रुति बताती है—'ब्रह्म विज्ञान है' 'आनन्द ही ब्रह्म है' इत्यादिसे। अतः आत्मा ज्ञानरूप और आनन्दरूप है। ऐसा होनेपर सुषुप्ति तथा मुक्ति अवस्थामें भी आत्मा रहता ही है। तब ज्ञान तथा आनन्दका अभाव कैसे होगा? उत्तर—यह ऐसा नहीं है। क्योंकि जिस वस्तुका दूसरी वस्तुको प्रकाशित करना ही स्वभाव है, उस वस्तुके रहनेपर दूसरी किसी न किसी वस्तुका प्रकाश होता ही है, उसीको लोकमें 'विज्ञान' शब्दसे कहते हैं। आत्माके रहनेपर किसी दूसरी वस्तुका प्रकाश होता ही है, यह नहीं कह सकते। आत्माके रहनेपर भी सुषुप्ति अवस्थामें दूसरे किसी पदार्थका दर्शन नहीं होता, अतः आत्मा ज्ञान नहीं है।

शंका—आत्मा ज्ञान स्वरूप है। दूसरी वस्तुको प्रकाशित करना उसका स्वभाव भी है तथापि सहकारी कारणके न रहनेसे प्रकाश नहीं करेगा। उत्तर—ठीक है, नहीं उत्पन्न करता है। जिस सहकारीका कारणके पास रहनेसे या उससे भिन्न दूसरे आगन्तुक कारणके रहनेपर, नियमसे अर्थान्तर प्रकाशित होता ही है; वही ज्ञान शब्दका वाच्य है।

इसी प्रकार गीतिकाका श्रवण, प्रियाका आलिंगन, चन्द्रमाका दर्शन, मधुर रसका आस्वादन, सुरभि गन्धका आघ्राण आदिसे पैदा होनेवाले आह्लाद-आनन्द शब्दसे और सुख शब्दोंसे कहे

१. आत्मज्ञानाभाव इति 'ग' पुस्तके पाठः। २. निःसम्बन्ध इति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।

यनि पुनर्यदेवात्मरूपं प्रतीयते, तस्यैव ज्ञानमिति च, आनन्दमिति च संज्ञेत्युच्यते ? न सा लौकिकी, नापि वैदिकी । यदि परं वृद्ध्यादिवत् परिभाष्येत् ? तदस्तु यथाकामम् । यत्तु 'विज्ञानं ब्रह्म' 'आनन्दं ब्रह्म' इति च सामानाधिकरण्यम् , तद् धर्ममात्रवचनत्वेन धर्मधर्मिणोरभेदान्नीलोत्पलादिवदुपपन्नम् ।

नन्वानन्दादिशब्दा गुणमात्रनिष्ठा न नीलादिवद्गुणिनि वर्तन्ते ? सत्यम् न बाहुल्येन वर्तन्ते, कदाचित्तु गुणमात्रवचनानामपि गुणिनि प्रयोगो भवति । यथा शीतो मधुरो रसः स्निग्धो गुरुश्चेति रसशब्दो द्रव्ये प्रयुज्यते, अन्यथा शीतादिशब्दसामानाधिकरण्याऽयोगात् । किं च 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति मत्वर्थीयनिर्देशादात्मानन्दयोर्भेदोऽवगम्यते । तथा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' 'स एको ब्रह्मणः आनन्दः' इति षष्ठ्यानन्दाद् ब्रह्म व्यतिरिच्यते ।

किं च 'न मे साम्प्रतं किंचिदपि सुखम् , दुःखमेव तु सर्वात्मना मम' इति सुखाभावे दुःखानुभवे चानुसन्धीयमानस्यात्मनः कथमानन्दरूपता स्यात् ? किं च स्वप्रकाशानन्दरूपमात्मानमभ्युपगच्छतामस्माकं चैतावदविवादम्—सुषुप्तितुल्या मुक्तिरिति ।

जाते हैं । आत्माका ऐसा स्वरूप तो नहीं है, जैसे अन्य सुखोंमें सुखरूपकी प्रत्यभिज्ञा होती है । इस प्रकार आत्मामें सुखकी प्रत्यभिज्ञाका ज्ञान हम लोग नहीं करते हैं । जिससे वह आनन्द शब्दका वाच्य हो ।

शंका—यदि कहा जाए जो कुछ आत्माका स्वरूप प्रतीत होता है, उसीकी ज्ञान और आनन्द संज्ञा है, ऐसा कहा जाता है ।

उत्तर—नहीं, यह संज्ञा न लौकिक है, न वैदिक । यदि कहा जाए 'वृद्धिरादैच' 'अदेङ्गुणः' इत्यादिकी तरह यह संज्ञा पारिभाषिक है, तो यथेच्छ होवे, कोई आपत्ति नहीं । शंका—'तब विज्ञान ब्रह्म है' 'आनन्द ब्रह्म है' ऐसा सामानाधिकरण्य कैसे होगा ? उत्तर—विज्ञान आदि शब्द उसके धर्म मात्रके वाचक होते हैं । धर्म और धर्मीका अभेद मानकर सामानाधिकरण्य उपपन्न होता है । इसमें दृष्टान्त है नीलोत्पल । (अर्थात् नील उत्पलका धर्म है । धर्म और धर्मीका अभेद मानकर, सामानाधिकरण्य होता है, वैसे प्रकृतमें समझना चाहिए)

शंका—नीलादि शब्द गुण और गुणी दोनोंके वाचक होते हैं, आनन्द शब्द तो गुण मात्र का वाचक है, अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकमें विषमता है । उत्तर—ठीक है, बहुलतासे नहीं रहते । कदाचित् गुणमात्रके वाचक शब्दोंका गुणीमें प्रयोग होता है । जैसे 'यह रस मधुर है, शीतल है, स्निग्ध है तथा गरिष्ठ भी है । यहाँ रस शब्द द्रव्यमें प्रयुक्त हुआ है । अन्यथा शीत आदि शब्दोंका सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा । और सुनिए—'रसको पाकर यह जीव आनन्दित होता है' यह श्रुति है । इसमें मत्वर्थीय प्रत्ययका निर्देश है इसका यह अर्थ है 'आनन्द जिसका है वह आनन्दी कहलाता है, अतः मत्वर्थीय प्रत्ययसे आत्मा और आनन्दका भेद स्पष्ट प्रतीत होता है । इसी प्रकार 'ब्रह्मानन्दको जाननेवाला' 'यह एक ब्रह्मका आनन्द है' इन श्रुतियोंमें 'ब्रह्मणः आनन्दः' ऐसे षष्ठी विभक्तिका निर्देश है । इससे भी आनन्दसे ब्रह्म भिन्न होता हैं । अतः उपर्युक्त तीन कारणोंसे आत्मा और आनन्द दोनों भिन्न हैं । (अतः आत्माकी आनन्दरूपता सिद्ध नहीं होती)

संसारानुवृत्त्यननुवृत्तिमात्रं भिद्यते, अन्यत्सर्वं तुल्यम्। तथा च श्रुतिरपि—'ता एताः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं यन्ति, अहरहरागच्छन्ति' इति सुषुप्तिं ब्रह्मलोकशब्देन वदन्ती तुल्यत्वमेतयोर्दर्शयति। सुषुप्तिश्चास्माकमपि गोचरः, न च तत्रानन्दानुभवोस्तीति व्यक्त मेतत्। तस्मान्निरानन्दो मोक्षः, दुःखपरिलोपाच्च पुरुषार्थत्वम्।

सुखलोपादपुरुषार्थत्वमपीति चेत्?

नैवमल्पं हि संसारे सुखं तदपि सूरयः।
बहुप्रयाससाध्यत्वाद् दुःखमेवानुजानते ॥२९॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखान्यनुदिनं नृणाम्।
स्वयमेव विना यत्नान्निपतन्ति सहस्रधा ॥३०॥
विहिताऽकरणान्नित्यं प्रतिषिद्धनिषेवणात्।
महदामुष्मिकं दुःखं यन्नरैर्नैव गम्यते ॥३१॥
बहुदुःखपरिष्वक्तं यन्नाम स्वल्पकं सुखम्।
सुरापानादिसुखवद्वर्जनीयं विवेकिनाम् ॥३२॥
एवं भूतेपि संसारे ये रक्ताः सुखतृष्णया।
न तेषामधिकारोस्ति मुक्तिशास्त्रे कथं चन ॥३३॥

और सुनिए—'आजकल मुझे कुछ भी सुख नहीं है, सभी प्रकारसे दुःख ही दुःख है'। इस प्रकार मुझे सुखाभावमें दुःखानुभवका अनुसन्धान होता है। अर्थात् सुखाभावरूप दुःखानुभवका अनुसन्धान करनेवाले आत्माकी आनन्दरूपता कैसे हो सकती है? और स्वप्रकाश आनन्द रूप आत्मा है, ऐसा माननेवाले वेदान्तियोंके साथ हम मीमांसकोंका इतने अंशमें कोई विवाद नहीं कि मुक्ति सुषुप्तिके तुल्य है और संसारकी अनुवृत्ति सुषुप्तिमें है, मुक्तिमें नहीं है। बस इतना फर्क है। और सब तो समान ही है। श्रुति भी इसी अर्थको बताती है—'ये प्रजाएं प्रतिदिन ब्रह्मलोक जाती हैं और प्रति दिन आती हैं'। इसी प्रकार सुषुप्तिको 'ब्रह्मलोक' शब्दसे कहती हुई श्रुति इन दोनोंको समानताको दर्शाती है। सुषुप्ति तो हम लोगोंको प्रत्यक्ष है, किन्तु वहाँ आनन्दका अनुभव नहीं होता, यह स्पष्ट है। अतः मोक्ष निरानन्द है। दुःखका अत्यन्तिक उच्छेद होनेसे पुरुषार्थ भी है।

शंका—यदि आप मोक्षमें दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ मानते हैं, तो उस समय सुखका भी सर्वथा उच्छेद होनेसे वह पुरुषार्थ नहीं होगा। उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते। श्लोकोंका अर्थ = संसारमें सुख बहुत कम होता है। उसके भी अत्यन्त प्रयत्न साध्य होनेसे उस सुखको विद्वान् लोग दुःख ही समझते हैं ॥ २९ ॥ मनुष्योंको प्रतिदिन जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख स्वयं ही बिना प्रयत्नके हजारों कारणोंसे आ पड़ते हैं ॥ ३० ॥ और विहित कर्मोंके न करनेसे, प्रतिदिन निषिद्ध कर्मोंके सेवनसे बड़े ही पारलौकिक दुःख होते हैं, जिनका मनुष्योंको ज्ञान नहीं होता ॥ ३१ ॥ अनन्त दुःखोंसे युक्त थोड़ा बहुत सुख भी सुरापानादि सुखके समान विवेकी पुरुषोंके लिए त्याज्य है ॥ ३२ ॥ इस प्रकारके दुःख बहुल, सुख स्वल्प संसारमें, सुखकी तृष्णासे आसक्त व्यक्तियोंका, मुक्ति शास्त्रमें किसी भी प्रकार अधिकार नहीं है ॥ ३३ ॥ जो संसारसे उद्विग्न हैं, जिन्होंने संसारकी उत्कृष्ट

संसाराद्‌द्विजन्ते ये दृष्टलोकपरावराः ।
त एव खलु मुच्यन्ते न तु यः प्राकृतो जनः ॥३४॥
तेषामेवापवर्गाख्यः पुरुषार्थो महात्मनाम् ।
तेषामेवाधिकारश्च मुक्तिशास्त्रे मनीषिणाम् ॥३५॥
तेनाऽभावात्मकत्वेपि मुक्तेर्नाऽपुरुषार्थता ।
सुखदुःखोपभोगो हि संसार इति शब्द्यते ॥३६॥
तयोरनुपभोगं तु मोक्षं मोक्षविदो विदुः ।
श्रुतिरप्येतमेवाह भेदं संसारमोक्षयोः ॥३७॥
न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रियविहीनता ।
अशरीरं वा व सन्तं स्पृशतो न प्रियाऽप्रिये॥३८॥
आनन्दात्मकमात्मानं ये वदन्ति स्वयंप्रभम् ।
तन्मतेपि च संसारान्मुक्तेरेतावती भिदा ॥३९॥
आत्मा ह्यानन्दरूपोसौ संसारेपि प्रकाशते ।
तावानेव स मोक्षेपि नाधिक्यं तस्य किंचन ॥४०॥
अथ संसारवेलायामानन्दो न प्रकाशते ? ।
न ह्यप्रकाशनं युक्तं स्वप्रकाशस्य वस्तुनः ॥४१॥
यद्यसौ न प्रकाशेत किं तर्ह्यन्यत् प्रकाशते ? ।
आत्मस्वरूपमिति चेत् ? ननु चानन्द एव तत् ॥४२॥

अपकृष्ट वस्तुओंको जान लिया है, वे ही मुक्त होते हैं। जो प्राकृत सामान्य जन हैं, वे मुक्त नहीं होते ॥ ३४ ॥ संसारसे विरक्त तथा अपवर्गको चाहनेवाले महाँपुरुषोंके लिए ही मोक्ष पुरुषार्थ है और उन्हीं विद्वनोंका मुक्ति-शास्त्रमें अधिकार है ॥ ३५ ॥ इससे अभावात्मक मुक्तिमें अपुरुषार्थताकी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सुख-दुःखका उपभोग हो संसार कहलाता है ॥ ३६ ॥ उन सुख-दुःखोंका उपभोग न करना ही मोक्ष है, ऐसा मोक्षको जाननेवाले विद्वान् लोग कहते हैं। भगवती श्रुति भी इसी प्रकार संसार और मोक्षका भेद बताती है ॥ ३७ ॥ जब तक शरीरका सम्बन्ध रहता है, तब तक सुख-दुःखका अभाव नहीं होता। जब शरीरका सम्बन्ध नहीं रहता तो सुख-दुःख भी स्पर्श नहीं करते* ॥ ३८ ॥ जो अद्वैत वेदान्ती आत्माको आनन्दात्मक तथा स्वयं प्रकाश मानते हैं, उनके मतमें भी संसारसे मुक्तिका यही भेद है, कि संसारमें सुख-दुःखका स्पर्श होता है, मुक्तिमें उसका अभाव है ॥३९॥ आत्मा आनन्द रूप होकर संसारमें भी प्रकाशित होता है। वैसे ही यदि मोक्षमें भी हो. तो उसकी कोई विशेषता न रह जाएगी ॥ ४० ॥ यदि संसारावस्थामें आनन्दका भान नहीं होता, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वयं प्रकाशित होनेवाली वस्तु प्रकाश न करे, यह कभी सम्भव नहीं ॥ ४१ ॥ आप ही बताइए कि यदि आत्मा प्रकाशित नहीं होता, तो दूसरा कौन प्रकाशित होता है ? यदि कहो कि आत्माका स्वरूप ही भासित होता है, तो आनन्द भी तो आत्माका

---

* उक्त अर्थकी प्रतिपादिका यह श्रुति है—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । (छा० उ०, प्रपा० ३।१०।१)

तच्चेत् प्रकाशते नूनमानन्दोपि प्रकाशते।
तेन शब्दादिविषयजन्ययोः सुखदुःखयोः ॥४३॥
निवृत्तिरेव संसारादपवर्ग इतीर्यते।
ततश्च सुखलोपेन मुक्तेरपुरुषार्थता ॥४४॥
यद्यस्माकं भवेत्तर्हि तुल्यैषा भवतामपि।
सुखहानिमतस्तस्य भूयोदुःखविवर्जनात् ॥४५॥
मोक्षस्य पुरुषार्थत्वमावयोरुभयोः समम्।
सुखदुःखविहीनोऽतो मुक्तः स्वस्थोऽवतिष्ठते ॥४६॥

सिद्धान्ते मुक्तिस्वरूपकथनम्।

किमिदं स्वस्थ इति? येह्यस्यागमापायिनो धर्मा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारास्तानपहाय यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञान-शक्ति-सत्ता-द्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते[1] इत्यर्थः। यदि तु संसारावस्थायामविद्यमानोप्यानन्दो मुक्तावस्थायां जन्यत इत्युच्यते, ततो जनिमत्वादनित्यो मोक्षः स्यात्। केन चासावनुभाव्यः? न हि स्वप्रकाशत्वं कस्यचित्सम्भवतीत्युक्तम्। न च मनसाऽनुभवः सम्भवति, मुक्तस्य मनसोऽभावात्, अमनस्कत्वश्रुतेरित्युक्तम्। अत एव 'नित्योप्यानन्दः संसारदशायामभिभूतत्वादननुभूतोपिमुक्तावऽ-

स्वरूप ही है ॥४२॥ वह यदि प्रकाशित होता है, तो निश्चित आनन्द प्रकाशित होता है। इस कारणसे शब्द-स्पर्श आदि विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले सुख-दुःखोंकी निवृत्ति ही संसारसे अपवर्ग कहलाता है। इसलिए सुखके लोपसे मुक्तिमें अपुरुषार्थताकी शंका करना युक्त नहीं ॥ ४३-४४ ॥ क्योंकि जो हम लोगोंको इष्ट है, वह आपको भी अभीष्ट है, अतः दोनोंमें समानता है। सुख हानिमान् मोक्ष है※। अर्थात् मोक्षमें सुख नहीं होता और बहुत दुःखोंके वर्जनसे पुरुषार्थता आप और हम दोनोंमें समान है। अतः सुख-दुखसे विहीन मुक्त जीव स्वस्थ ही रहता है ॥ ४५-४६ ॥

(पूर्वमें यह कहा गया है कि सुख और दुःखसे विहीन मुक्त आत्मा स्वस्थ रहता है) अब प्रश्न है कि यह स्वस्थता क्या वस्तु है? (अर्थात् स्वस्थ किसको कहते हैं) उत्तर—उत्पत्ति तथा विनाश धर्मवाले बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म, संस्कार पर्यन्त जो गुण हैं, उन्हें छोड़कर आत्माका अपना स्वाभाविकरूप है—ज्ञान, शक्ति, सत्ता या द्रव्यत्वादिक। उन्हीं में मुक्त पुरुष रहता है (अर्थात् बुद्धि आदि संस्कार पर्यन्त धर्मोंको छोड़कर अपने स्वरूपमें रहना ही स्वरूपस्थता है। ज्ञान-शक्ति आदि तो उसके स्वरूपके अन्तर्गत ही हैं) जब संसारावस्थामें अविद्यमान भी आनन्द मुक्तावस्थामें उत्पन्न होता है, यह कहें तो उत्पत्तिमान् होनेसे मोक्ष अनित्य हो जाएगा। अब बताइए कि वह किसका अनुभाव्य होगा? यह पूर्वमें कह चुके हैं कि किसी चीजकी स्वप्रकाशता नहीं होती। शंका—यदि कहा जाए मनसे अनुभव हो सकता है। उत्तर—नहीं, मुक्तात्माके मनका अभाव होनेसे। इसमें 'अमना' यह श्रुति प्रमाण है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अतएव इससे यह जो कहा जाता है—'नित्य भी आनन्द संसारावस्थामें आवृत होनेके

※ 'अथ सुखहानिमतोऽपि मोक्षस्य दुःखनिवृत्यैवपुरुषार्थत्वं तदस्माकमपितुल्यमित्याह-तस्येति'।

१. यस्मिन्नवतिष्ठत इति 'ख' पुस्तके पाठः।

भिभवे निवृत्ते मनसाऽनुभूयते' इत्येतदपि निरस्तम् ।

किं च सुखविशिष्टात्मानुभवः पुरुषार्थः । न सुखमात्रानुभवः न च मुक्तावात्मानुभवः सम्भवति, 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कण्ठेनैव श्रुत्यानिषिद्धत्वात् 'अलं वा अरे इदं विज्ञानाय' इति च श्रुत्या विज्ञानशब्दस्य शक्तिपरत्वं व्याचक्षाणया मुक्तौ शक्तिमात्रमवतिष्ठते, न ज्ञानमिति व्यक्तमेवोक्तमिति श्रुतिविरुद्धं मुक्तस्य विज्ञानमशक्यमभ्युपगन्तुम्। न ह्यस्याः श्रुतेः प्रियाप्रियाऽस्पर्शश्रुतेश्च तत्त्व-कथनं मुक्त्वा कथंचिदन्यपरत्वं सम्भवति। विज्ञानश्रुतयस्तु शक्तावेव विज्ञानोपचारं कुर्वन्ति प्ररोचनार्थतयेत्युपपन्नम् । एवमानन्दश्रुतयोपि पुरुषार्थत्वसामान्यात् सुखत्वोपचारेण प्ररोचनार्थतया प्रवृत्ताः ।

उक्तं चैतत्—'वचनयोर्विरोधेऽन्यतो निर्णयः' इति! विरोधश्चात्रानन्दप्रियाऽभाववचनयोः। न चाऽभाववचनं वैषयिकाभिप्रायम्, इतरत्तु स्वाभाविकाभिप्रायमिति शक्यं वक्तुम्। उभयत्रापि सामान्योपादानात्, अत्यन्तसमानविषयत्वात्। अतः

कारण अनुभवका विषय नहीं होता, मुक्ति दशामें आवरण निवृत्त होनेपर मनसे अनुभव किया जाता है, यह भी निरस्त हुआ।

और सुनिए—सुख विशिष्ट आत्माका अनुभव ही पुरुषार्थ कहलाता है, सुख मात्रका अनुभव नहीं। मुक्ति दशामें आत्माका अनुभव नहीं होता, इस बातका श्रुति स्पष्टतया निषेध करती है। श्रुतिका अर्थ = 'अरी मैत्रेयी! सबको जाननेवाले ज्ञाताको किससे जाना जाए?' अर्थात् उसे जाननेका कोई साधन नहीं। और सुनिए—'अरी मैत्रेयी! यह उपदेश आत्म साक्षात्कारके लिए पर्याप्त है'। इस श्रुतिसे विज्ञान शब्द शक्तिपरक है, ऐसी व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि मुक्ति दशामें शक्ति मात्र ही रहती है, ज्ञान नहीं रहता है, यह स्पष्ट ही कहा गया है। अतः मुक्त आत्माका श्रुति विरुद्ध आत्मज्ञान माननेके योग्य नहीं। उक्त श्रुति और प्रियाप्रियस्पर्श श्रुति 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इन दोनोंके तत्त्व कथनको छोड़कर, किसी भी प्रकारसे अन्यपरकताका होना सम्भव नहीं। 'विज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां तो शक्तिमें ही विज्ञान शब्द औपचारिक है, यह बताती हैं। स्तुतिके लिए यह उपपन्न है।

इसी प्रकार 'आनन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां भी पुरुषार्थत्वके सामान्यसे सुखत्वका उपचार करते हुए स्तुतिके लिए प्रवृत्त हैं। (अर्थात् सुख और दुःखाभाव दोनोंमें पुरुषार्थता समान है, अतः दुःखाभावमें सुखत्वका उपचार है) यह उचित भी है।

इसी बातको कहा है कि 'दो वचनोंके विरोधमें दूसरेसे निर्णय होता है'। अब प्रकृतमें 'आनन्दं ब्रह्म' यह श्रुति आनन्दको बताती है। 'न प्रियाप्रिये स्पृशतः' यह श्रुति प्रियाभावको कहती है। यहाँ दोनों वचनोंमें विरोध है। इस विरोधका परिहार दूसरेसे निर्णीत होता है।

शंका—यदि कहा जाए—'प्रियाभाव वचन वैषयिक सुख परक है, 'आनन्दं ब्रह्म' यह वचन स्वाभाविक सुख परक है।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों वचनोंमें सामान्यका ग्रहण है। अतः दोनों अत्यन्त समान विषयक हैं। इसलिए पूर्वोक्त वचनके अनुसार आनन्द वचन दुःखाभाव परक है।

प्रमाणान्तरवशादानन्दवचनं दुःखाभावपरम्, इतरत्तु यथाश्रुतमिति न्याय्यम्। तस्मात्[1] सुखदुःखादिसमस्तवैशेषिकात्मगुणोच्छेदो मोक्षः[2]। सुखदुःखोच्छेदश्च धर्माऽधर्मयोरुच्छेदात्। धर्माधर्मयोरुच्छेदश्चोत्पन्नानां धर्माधर्माणामुपभोगेन, नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन, आत्मज्ञानेन च निरोधात्,[3] उत्पाद्यानां च काम्यानुष्ठाननिमित्तानां धर्माणां तदननुष्ठानेनानुत्पादात् विहिताकरण-प्रतिषिद्धानुष्ठाननिमित्तानां चाधर्माणां विहितानुष्ठानेन प्रतिषिद्धाऽकरणेन च परिहारात्, असति शरीरारम्भे पूर्वशरीरनिपाते च, अशरीरोवस्थितो मुक्तो भवति।

प्रियाभाव वचन यथाश्रुत है, ऐसा मानना ही उचित है। (उक्त अर्थका ही 'बहुकृत्वोपि पथ्यं वदितव्यं' इस न्यायसे पूर्वमें उक्त अपने सिद्धान्तको ही पुनः कहते हैं 'तस्मात्' से 'मुक्तो भवति' इति तक) उक्त सुख-दुःखादि, उत्पत्ति विनाशशील समस्त जो आत्माके विशेष गुण हैं, उनका उच्छेद ही मोक्ष है। शंका—सुख-दुःखका उच्छेद कैसे होगा ? उत्तर—धर्म और अधर्मके उच्छेदसे होगा। धर्माधर्मका उच्छेद भी उत्पन्न धर्माधर्मके उपभोगसे होता है। और नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठान तथा आत्मज्ञानसे उच्छेद होता है। क्योंकि उनसे इनका विरोध है❀। इस प्रकार उत्पन्न धर्मा-धर्मका नाश होता है। ऐसे उत्पाद्य जो धर्माधर्म हैं, जो काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे उत्पन्न होते हैं, उनके अननुष्ठानसे अनुत्पाद है। और जो अधर्म विहित कर्मोंके न करनेसे तथा निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाले हैं, उनका परिहार विहित कर्मोंके अनुष्ठानके द्वारा तथा प्रतिषिद्ध कर्मोंके न करनेसे होता है§। शरीरका आरम्भ न होनेसे तथा वर्तमान शरीरका पात होनेपर बिना शरीर सम्बन्धके आत्मा स्वस्वरूपमें अवस्थित = मुक्त होता है।

(इस प्रकार आत्मवाद प्रकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।)

❀ यहाँ 'ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि गीता वचनोंका भी यही तात्पर्य है। और यहाँ 'ज्ञान' शब्द उपासना परक है।

§ अर्थात् काम्य-निषिद्ध कर्म अपने अपने फलका भोग करानेके लिए शरीरका आरम्भ करते हैं। जो शरीर की उत्पत्ति नहीं चाहता, उसे ये दोनों कर्म नहीं करने चाहिएँ। और नित्य-नैमित्तिक कर्म पूर्व संचित अधर्मके क्षयके लिए करनें ही चाहिएँ। इसी प्रकार आत्मोपासना भी पूर्व संचित कर्मोंके क्षयके द्वारा ही मोक्षका साधन है। शंका—अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म ही स्वर्गार्थ भी होते हैं, वे मोक्षके साधन कैसे होंगे ? उत्तर—फल-कामनासे क्रियमाण कर्म ही फल देकर जीवको बाँधते हैं, जो फलाभिसन्धि रहित हैं, वे तो मोक्षके ही साधन बनते हैं। इसी अभिप्रायको लेकर गीतामें भी भगवानने कहा है—'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यंकर्म करोति यः' इत्यादि। और शरीरसे आत्मा भिन्न है, इस प्रसंगमें अपुनरावृत्ति श्रवण केवल अर्थवाद मात्र है। शरीरसे अतिरिक्त आत्माको जा नेवाला ही देह सम्बन्धसे विरक्त होकर, उक्त मोक्ष साधनोंके अनुष्ठानसे युक्त होता है, यह अर्थवादका विषय है।

---

१. बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यमिति न्यायेनोक्तमेवार्थं पुनराह तस्मादिति।
२. एतदर्थसंवादकं वार्तिकमस्माभिः पूर्वमेव लिखितम्, तदत्रानुसन्धेयम्।
३. 'क' पुस्तके विरोधादिति पाठो दृश्यते।

आत्मज्ञानस्य क्रत्वर्थत्ववर्णनम्

नन्वात्मज्ञानं क्रत्वर्थम् ? सत्यम्, पुरुषार्थमपि तत्, संयोगभेदात्। यत्तावत्—'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यादिना शरीराद्यतिरिक्तनित्यात्मस्वरूपसद्भावज्ञानम्, तत्पारलौकिकफलकर्मानुष्ठानौपयिकत्वात् कर्मज्ञानवदेव सामर्थ्यतः क्रतुसंयोगात् क्रत्वर्थम्। यथा हि ज्योतिष्टोमादिवाक्याध्ययनं दृष्टेनैवानुष्ठानौपयिकं ज्ञानं जनयतीति,

---

शंका— धर्म-अधर्मका आत्म ज्ञानसे उच्छेद होता है, यह कहा गया है। यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मज्ञान क्रतुका उपकारक होनेसे क्रत्वर्थ कहलाता है। उत्तर—ठीक है, वह आत्मज्ञान पुरूषार्थ भी होता है। संयोगके भेदसे। (अर्थात् संयोग पृथक्त्व न्यायसे विनियोजक वाक्योंका भेद है❀) यह जो कहा गया है—'अरो मैत्रेयी ! यह आत्मा अविनाशी है' इत्यादि वचनोंसे शरीरसे अतिरिक्त नित्य आत्माके स्वरूप सद्‌भावका ज्ञान दृष्टोपयोगी होनेसे क्रत्वर्थ है, यह ज्ञान कर्मानुष्ठानके लिए उपयोगी है। उस कर्मका फल पारलौकिक है (अर्थात् पारलौकिक फल साधन कर्मानुष्ठानका उपाय है) अतः कर्मज्ञानकी तरह सामर्थ्य रूप लिंगसे§ क्रत्वर्थ होता है, क्रतु संयोग होनेसे। उक्त अर्थका ही 'यथा हि' से उपपादन करते हैं। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्योंका अध्ययन दृष्ट अर्थज्ञान रूप प्रयोजनसे कर्मानुष्ठानके

❀ यहाँ संयोग नाम है विनियोजक वाक्यका। उसका भेद उभयार्थ होनेमें हेतु है। अर्थात् एक ही द्रव्य या कर्मका सम्बन्ध बोधक वाक्य जहाँ भिन्न भिन्न है, (उससे वह उभयार्थक होता है। यथा—'दध्ना जुहोति' दहीसे हवन करे। 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' दधिसे इन्द्रियको प्राप्त करे; इस पहिले वाक्यसे दधि होमार्थ (क्रत्वर्थ) है। द्वितीय वाक्यसे इन्द्रियके लिए है। अतः विनियोजक वाक्योंका भेद होनेसे दधि उभयार्थ होता है। इसीको संयोगपृथक्त्व न्याय कहते हैं। सूत्र है—'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (मी०मा० द० ४।३।३) एकके उभयार्थ होनेमें संयोगपृथक्त्व वाक्य भेद कारण है। प्रकृतमें आत्मज्ञान क्रत्वर्थ है, यह 'अविनाशि वा अरे' इत्यादि वाक्यसे ज्ञात होता है। 'आत्मानमुपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे पुरुषार्थ मालूम होता है, अतः विनियोजक वाक्यके भेदसे आत्मज्ञान उभयार्थ है।

§ अर्थात् सामर्थ्यको लिंग कहते हैं। उसीका दूसरा नाम है रूढी। यह दो प्रकारका है। जो सम्बन्ध बोधक दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता, वह निरपेक्ष सामर्थ्य कहलाता है। दूसरा सामान्य सम्बन्धके बोधक प्रमाणान्तरकी अपेक्षा रखता है, वह प्रमाणान्तरके ही प्रकरण होते हैं सन्निधि या समाख्या। पहिलेका उदाहरण है अर्थज्ञान कर्मानुष्ठानका अंग होता है। अर्थज्ञानके बिना कर्मोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता। 'बुध्वा कर्माणि कुर्वीत' यह शास्त्रका कथन है। अतः यह अर्थज्ञान निरपेक्ष लिंगका उदाहरण है। ऐसे प्रकृतमें शरीरसे अतिरिक्त आत्माका ज्ञान क्रतुका अंग है, इसका विनियोजक 'अविनाशी वा' इत्यादि वाक्य है। अतः यह दूसरे लिंगका उदाहरण है। और दूसरा उदाहरण भी सुनिए—'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मंत्र है। यह बर्हिर्लवनका प्रकाशन करता है। किन्तु इस मंत्रके बिना भी बर्हिर्लवन सिद्ध होता है। अतः मंत्र बर्हि स्वरूपमें अनर्थक है। इस आनार्थक्यका परिहार करनेके लिए मंत्र प्रकरणसे अदृष्टार्थ होता है। अर्थात् इस मंत्रसे लवन करनेके कारण यागापूर्व होता है। अतः प्रकरण सहकृत लिंगसे मंत्र लवनका अंग होता है।

तदर्थतयैवाध्ययनविधिना विधीयते, तथा 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यादिवाक्यानामप्यध्ययनविधिरेव कर्मानुष्ठानोपयोग्यात्मज्ञानार्थतां विधत्ते। तद् यदि प्रमाणान्तरेणात्मनः शरीरादिविवेको नैकान्ततः सिध्यति, ततो दृढविवेकप्रतिपादकानामुपनिषद्वाक्यानां विस्पष्टमेव फलम्। यथोक्तम्—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्रयुक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन'[1] ॥ इति ॥

अथ त्वन्यतोपि सिध्यति ? ततो यथैवान्यथापि क्रतुज्ञानसम्भवेध्ययनोपात्तवेदवाक्यावगतकर्मरूपाणामेव पुंसां कर्मस्वधिकारः, तथैवाध्ययनोपात्तोपनिषद्वाक्यावगतात्मतत्त्वानामेवाऽधिकार इत्यध्ययनविधिबलादेव कल्प्यते।

उपयोगी ज्ञानको उत्पन्न करता है। अतः उसके अंगके रूपमें अध्ययनविधिसे अध्ययनका विधान होता है। उसी प्रकार 'अरे यह आत्मा अविनाशी है' इत्यादि वाक्योंके अध्ययनको भी अध्ययन विधि ही कर्मानुष्ठानका उपयोगी जो आत्मज्ञान है, उसके अंग रूपसे अध्ययनका विधान करती है। इसलिए यदि प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि) से आत्माका शरीरादिसे भेद नियमसे नहीं सिद्ध होता, तो अवाधित विवेकका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् वाक्योंका स्पष्ट ही फल है, कि आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न है। (शंका—'मैं स्थूल हूँ, मैं जाता हूँ' इत्यादि अनुभवसे शरीरमें ही अहन्ताका अनुभव होनेसे आत्माका शरीर आदिसे विवेक पुष्ट नहीं होता। उत्तर—विवेक पुष्ट करनेके लिए वेदान्त वाक्य ही मुख्य साधन हैं) इसी बातको वार्तिककारने आत्मवादके अन्तमें स्पष्ट कहा है। अर्थ='इस प्रकार भाष्यकारने नास्तिक (बौद्ध मत) का निराकरण करते हुए युक्तिके द्वारा आत्माके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। इस विषयका निष्कृष्ट=अवाधित ज्ञान=उपनिषदोंके निषेवणसे प्रपुष्टताको प्राप्त करता है*।

शंका—यदि दूसरे से भी विवेक सिद्ध होता, तो प्रकारान्तरसे क्रतुका ज्ञान सम्भव है। उत्तर—सम्भव नहीं, अध्ययनके द्वारा परिगृहीत वेदवाक्योंसे कर्म स्वरूपको जिन्होंने जान लिया है, अर्थात् वेदाध्ययनके द्वारा तत् तत् विधि वाक्योंका जिन्होंने ज्ञान प्राप्तकर लिया है, उन पुरुषोंका ही कर्मोंमें जैसे अधिकार होता है, वैसे ही अध्ययनके द्वारा परिगृहीत उपनिषद् वाक्योंसे जिन्होंने आत्मतत्त्वको जान लिया है, उन्हींका कर्मोंमें अधिकार है, यह अध्ययनविधिके बलसे ही कल्पना की जाती है।

---

* अर्थात् नित्य आत्माकी सत्ता मात्रसे वेदका प्रामाण्य सिद्ध होता है ? यह भाष्यकारने कहा है। जो आत्मविषयक ज्ञानको प्रपुष्ट करना चाहते हैं, उन्हें वेदान्तोपदिष्ट श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें प्रयास करना चाहिए। यहाँ भाष्यकारने नित्य आत्माके प्रतिपादक वेदान्त वाक्योंका उद्धरण दिया है। आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है, इन वाक्योंका उदाहरण नहीं दिया। यदि उदाहरण देते तो कर्म ही जिनकी शरण है, उनका कर्मोंमें शैथिल्य पड़ जाता। अतः भाष्यकारने उन उपनिषद् वाक्योंका उद्धरण नहीं दिया।

---

१. श्लोक वा०, आत्मवाद, का० १४८।

यत्वात्मसद्भावप्रतिपादनोपक्रमे विधिसरूपं वाक्यम्—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यादि, तद्वक्ष्यमाणस्यार्थस्यातिगहनत्वान्महोपयोगत्वाच्च 'कथं हि नामालस्यं हित्वा श्रद्धाविशेषेण वक्ष्यमाणमर्थं प्रतिपद्येत' इत्येतावन्मात्रार्थम्। तस्मादेतज्ज्ञानं दृष्टोपयोगित्वात् क्रत्वर्थम्।

आत्मज्ञानस्याभ्युदयनिःश्रेयसरूपफलार्थत्वम्

यानि पुनरितिकर्तव्यताविशेषयुक्तान्युपासनात्मकानि विधीयन्ते, तेषां क्रतौ दृष्टोपयोगाभावाददृष्टफलत्वम्। अदृष्टं च फलं वाक्यशेषाद् द्विविधम्—अभ्युदयरूपं निःश्रेयसरूपं च। 'सर्वान् कामानाप्नोति'। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' इत्याद्यभ्युदयफलम्। 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि निःश्रेयसफलमिति विवेकः'।

आत्मनित्यत्वेनाधिकरणोपसंहारः।

यत्तु 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय, तान्येवाऽनुविनश्यति, न प्रेत्य-

---

(इस प्रकार शरीरातिरिक्त आत्मज्ञानका क्रतुमें विनियोग बताकर) जो आत्मतत्त्वके प्रतिपादनके प्रसंगमें विधिवाक्योंके समान वाक्य हैं, 'अरे आत्मा दर्शन करने योग्य है' इत्यादिक, उनसे वक्ष्यमाण अर्थके अति गहन और अत्यन्त उपयोगी होनेसे लोग आलस्यको त्यागकर, अत्यधिक श्रद्धासे वक्ष्यमाण अर्थको कैसे समझेंगे, उनका इतना मात्र अर्थ है। (अर्थात् आत्मज्ञान क्रत्वर्थ है, उन वाक्योंसे एतावन्मात्र अर्थ कहा गया है) उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं 'तस्मादेतत्' इत्यादिसे। इसलिए यह आत्मज्ञान दृष्टोपयोगी होनेसे क्रत्वर्थ है*।

(क्रत्वर्थ आत्माज्ञानको बताकर पुरुषार्थरूप आत्मज्ञानको 'यानि' इत्यादिसे 'विवेकः' इत्यन्त ग्रन्थसे कहते हैं) जो उपासनाएँ इतिकर्तव्यतारूप गुण विशेषोंसे विशिष्ट विहित होती है, उनका क्रतुमें दृष्ट उपयोग न होनेसे अदृष्ट ही फल है। यह अदृष्ट फल भी दो प्रकारका है—एक अभ्युदयरूप तथा दूसरा निःश्रेयस रूप है। (ये दोनों फल वाक्यसे प्रतिपादित होते हैं) क्रमशः वाक्यशेषोंको बताते हैं 'सर्वांश्च' इत्यादिसे। अर्थ=यहाँ (श्रुतिमें काम शब्द 'काम्यन्त इति कामाः' इस कर्मपरक व्युत्पत्तिसे फलपरक है, अतः) 'साधक सभी फलोंको प्राप्त करता है' यह अर्थ है। 'वह ब्रह्मज्ञानी साधक सभी फलोंका उपभोग करता है' इत्यादि यहाँ अभ्युदय फल है। 'वह साधक पुनः नहीं लौटता' इत्यादि निःश्रेयस फल है। इस प्रकार इन दोनोंको विशेषता है§।

(श्रुति और युक्तिके द्वारा आत्माको नित्य सिद्ध किया। अब वाक्यान्तरसे उत्पन्न हुए भ्रमका निवारण करनेके लिए आरम्भ करते हैं 'यत्तु'से) जो यह कहा गया है 'विज्ञानघन ही

---

* वार्तिकमें इसका विवरण इस प्रकार है—

'आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्। कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते'। विवेकज्ञानस्य पारलौकिकफलेषु ज्योतिष्टोमादिषु प्रवृत्तिर्दृष्टमेव प्रयोजनमित्यर्थः।

§ यहाँ यह ध्यानदेने योग्य है कि दृष्ट प्रयोजनके न होनेसे उपासना रूप ज्ञान कर्ममें या पुरुषमें उपकारक नहीं है, अतः अदृष्टकी कल्पना करनी पड़ती है। इस पक्षमें भी अङ्गताके बोधक श्रुति लिंगादि प्रमाणोंके न होनेसे क्रत्वर्थका होना सम्भव नहीं, अतः वाक्यशेष द्वारा बताया हुआ अभ्युदय या निःश्रेयस फल ही मानना होगा, वही पुरुषार्थ है।

सञ्ज्ञास्ति' इत्यनेन ब्राह्मणेन भूतचैतन्यमुक्तमित्याशङ्क्यते, तत् स्वयमेव ब्राह्मणेनात्रैव 'मा भगवन् मोहान्तं प्रापितवान् पूर्वमजरामृतत्वमभिधाय, अधुना विनाशीत्यभिधानात्' इति पूर्वपक्षं चोद्याख्यमुक्त्वा सिद्धान्तपरिहार उक्तः। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' इत्युक्त्वा, कथं तर्हि विनाशवचनमित्याशङ्क्य 'मात्रासंसर्गस्त्वस्यभवति' इत्युक्तम्। मात्राशब्देन भूतेन्द्रियाणि धर्माधर्मौ च विकारशब्दवाच्या उच्यन्ते।

एतदुक्तं भवति—विज्ञानघनशब्देन ज्ञानशक्तिस्वभावस्यात्मनोऽभिधानम्, स ह्येतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय = मुक्तो भूत्वा तान्येवानुविनश्यति = भूतविनाशात् सोपि विनष्ट इव भवतीति, भूतस्थो ह्यसौ स्वयं प्रत्यक्षेण गृह्यते, परैश्च शरीरचेष्टालिङ्गकेनानुमानेन। मुक्तस्तु प्रमाणपथातिवर्तनाद्विनष्ट इव भवतीति विनश्यतीत्युच्यते। तदनेन प्रकारेण मात्राणामेव विनाश इत्युच्यते, नात्मन इत्यविरोधः।

तदुक्तम्—'अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो या तु नाशिता।
मात्राणां साधिकाराणां, भूतादीनामसंज्ञिता'[1] ॥ इति।

इन भूतोंसे निकलकर, उनका नाश होनेपर पश्चात् यह भी विनष्ट हो जाता है, मरनेके बाद कोई संज्ञा नहीं रहती' इत्यादि ब्राह्मण वचनोंके द्वारा भूतोंका ही चैतन्य है, जो कहा गया है, उसका स्वयं ब्राह्मण वाक्योंसे ही यहींपर परिहार किया है। 'आपने मुझको मोहमें डाल दिया है, पूर्वमें वह आत्मा अजर-अमर है यह कहकर, अब अविनाशी है ऐसा कहनेसे' ऐसे पूर्व पक्ष कहकर परिहाररूप सिद्धान्त कहा है 'अरे यह आत्मा अविनाशी है, यह अनुच्छित्ति धर्मा है'* अर्थात् जिसका उच्छेदरूप धर्म नहीं, यह कहा गया है। तब कैसे कहते हैं कि वह अविनाशी है? ऐसी आशंकाकर, 'उस आत्माकी मात्राका संसर्ग होता है' यह कहा गया है। यहाँ 'मीयन्त इति मात्राः' इस व्युत्पत्तिसे भूत तथा इन्द्रियां, उनके कारण धर्माधर्म जो विकार शब्दसे कहे जाते हैं, वे सब मात्रा शब्दका अर्थ हैं। (इस व्याख्यानसे संतुष्ट न होकर ग्रन्थकार विस्तारसे व्याख्या करते हैं 'एतदुक्तं भवति' इत्यादिसे) यह कहा जाता है कि विज्ञानघन शब्दसे ज्ञान-शक्ति स्वभाव आत्माका अभिधान है। 'वह इन भूतोंसे निकलकर = मुक्त होकर, उनके बाद ही नष्ट होता है'। (यहाँ 'तान्येवानुविनश्यति'में 'इव' शब्दको जोड़कर अर्थ करना चाहिए। तब उसका अर्थ होगा =) भूतोंके विनाशसे वह भी विनष्टकी तरह होता है। क्योंकि वह भूतोंमें रहता है; अतः स्वयं प्रत्यक्षसे गृहीत होता है। दूसरे लोग शरीरकी प्रवृत्तिरूप लिंग है जिस अनुमानका उससे आत्माको जानते हैं। मुक्त आत्मा तो प्रमाण-मार्गातीत होनेसे विनष्टकी तरह होता है। अतः वहाँ विनष्ट होता है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकारसे मात्राओंका ही विनाश बताया गया है, आत्माका नहीं। अतः कोई विरोध नहीं। उक्त अर्थका वार्तिकके द्वारा समर्थन करते हैं—

---

* मैत्रेयीका प्रश्न सुनकर याज्ञवल्क्यने जो उत्तर दिया, अर्थात् सिद्धान्त कहा उसका वर्णन वार्तिकमें इस प्रकार है—
सदसन्नाश्यनान्यात्मपरकीर्तनमूढया। चोदितः पूर्वपक्षोऽयमितिसिद्धान्तमब्रवीत् ॥
(श्लोकवा०, आत्मवाद, का० १४६)

---

१. श्लोकवा०, आत्मवाद, का० १४७।

किमिदम्—'भूतादीनामसंज्ञिता' इति ? यदि तावत् 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इत्यस्य व्याख्यानम् ? तदयुक्तम्—न हि 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' इत्यनेन भूतादीनामसंज्ञित्वमुच्यते। किं तर्हि ? आत्मन एव मुक्तस्य संज्ञाभावोऽनेनोच्यते। तस्यैवोपायाभावेन 'तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यन्तेन विज्ञानाभावोपपादनात्। सत्यम्, नेदमस्यव्याख्यानम्, प्रकरणार्थोपसंहारस्त्वयम्—यत् एवं पूर्वोक्तेन न्यायेन भूतचैतन्यं न सम्भवति, ब्राह्मणेनापि तथैवोक्तम्, तस्माद् भूतेन्द्रियाणामसंज्ञित्वमचैतन्यम, अन्यस्तु तेभ्यो नित्यश्चेतनः, तस्य स्वर्गगमनसम्भवान्न 'स्वर्गं लोकं याति' इत्यस्य प्रत्यक्षविरोधः ॥ इति पंचमाधिकरणम् ॥ ५ ॥

'तदुक्तं' इत्यादिसे। पुरुष स्वरूपसे अविनाशी होता है। जो नाश बताया गया है, वह धर्माधर्म, पांच भूत, इन्द्रियाँ उनकी असंज्ञिता है§। (अर्थात् उनका नाम नहीं रहता)

शंका—यह जो कहा गया है—भूत, इन्द्रियां, धर्माधर्म आदिकोंकी असंज्ञिताका न होना, यह असंज्ञिता क्या चीज है ? यदि कहें मरनेके बाद संज्ञा नहीं रहती, यह इसकी व्याख्या है तो यह ठीक नहीं। मरनेके बाद संज्ञा नहीं है, इससे भूतादियोंकी असंज्ञिता नहीं कही जाती। तो क्या कहा जाता है ? इससे तो मुक्त आत्माकी संज्ञाका अभाव कहा जाता है' उसीके जाननेका उपाय न होनेसे 'किससे किसको देखें' इत्यादिसे आरम्भकर 'अरी मैत्रेयी ! सबको जाननेवालेको किससे जाना जाए ?' इत्यन्त ग्रन्थसे विज्ञानाभावका उपपादन है। ठीक है, यह इसका व्याख्यान नहीं, किन्तु यह प्रकरणार्थका उपसंहार है, जिससे पूर्वमें कही हुई युक्तिसे भूत चैतन्यका होना सम्भव नहीं। ब्राह्मण वाक्यने भी उसी अर्थको कहा है; अतः भूत और इन्द्रियोंका असंज्ञित्व ही अचैतन्य है। उससे भिन्न नित्य चेतन आत्मा है। (ज्ञानशक्ति ही उसका स्वभाव है, यह पूर्वमें कह चुके हैं) उसका स्वर्ग गमन सम्भव होनेसे वह स्वर्ग जाता है; इसका प्रत्यक्ष विरोध है नहीं।

अधिकरण सार—

'अग्नि होत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य विषय है। संशय है कि यह धर्म का बोधक है कि बोधक ? पूर्वपक्ष है—अबोधक है। क्योंकि लोकमें आप्तवाक्यका शक्तिग्रह पूर्वक ही प्रामाण्य देखा गया है। शक्तिग्रह भी लोक प्रसिद्ध अर्थमें ही ज्ञात होता है। धर्म तो अलौकिक है। अतः उसमें शक्तिग्रह होना असम्भव है। इससे विधिके अवबोधक होनेसे धर्ममें प्रामाण्य नहीं है। यह पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्त यह है कि धर्ममें शक्तिग्रह हो सकता है। शक्ति-ग्राहक प्रमाणोंमें प्रसिद्ध पद सहोच्चारण भी एक कारण है. अतः शक्तिग्रह सम्भव हानेसे विधिवाक्य धर्मका बोधक होनेसे

---

§ अर्थात् मोक्ष दशामें ज्ञानशक्ति ही जिसका स्वभाव है, उस आत्माका अभिधान है, ज्ञान मात्रका नहीं। वह आत्मा भूतोंसे मुक्त होकर उनके पश्चात् विनष्ट होता है। उनको मात्र शब्दसे कहे जानेवाली इन्द्रियां तथा अधिकार शब्दसे कहे जानेवाले धर्माधर्मके सम्बन्धके नाशसे वह पुरुष नष्ट होता है, ऐसा कहा जाता है। प्रमाणका विषय न होनेसे यह विनाश गौण है। मुक्त पुरुषके ज्ञानका कारण न रहनेसे ज्ञान नहीं होता। इसका विशेष विवेचन 'न्यायरत्नाकर, पृ० ७०७ पर देखना चाहिए।

षष्ठं शब्दनित्यताधिकरणम्

कर्मैके तत्र दर्शनात् ६। अस्थानात् ७। करोतिशब्दात् ८। सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ९। प्रकृतिविकृत्योश्च १०। वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ११। समन्तु तत्र दर्शनम् १२। सतः परमदर्शनं विषयानागमात् १३। प्रयोगस्य परम् १४। आदित्यवद् यौगपद्यम् १५। वर्णान्तरमविकारः १६। नादवृद्धिपरा १७। नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् १८। सर्वत्र यौगपद्यात् १९। संख्याभावात् २०। अनपेक्षत्वात् २१। प्रख्याभावाच्च योगस्य २२। लिङ्गदर्शनाच्च २३॥ इति॥

शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वं स्वाभाविकमिति यदुक्तम्, तदाक्षिप्यते—शब्दस्यानित्यत्वात्। न ह्यभिनवस्य शब्दस्य वृद्धव्यवहारपरम्परया स्वाभाविकं प्रत्यायकत्वं शक्यते ग्रहीतुम्, अगृहीतमपि चेत् स्वभावतश्चक्षुरादिवत् प्रत्याययेत्? प्रथमश्रवणेपि प्रत्याययेत्। तस्मादनित्यत्वे शब्दस्य देवदत्तादिशब्दवत् पुरुषकृतमेव प्रत्यायकत्वमापद्यते।

धर्ममें प्रमाण है। अतः स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त होनेसे संवाद आदिकी अपेक्षा नहीं। इसलिए विधिवाक्य धर्मका बोधक है और प्रमाण भी है।

(इस प्रकार विधिवाक्यप्रामाण्य अधिकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(इस अधिकरणमें कुल १८ सूत्र हैं। उनमें 'पहिले छः सूत्र पूर्व पक्षके प्रतिपादक हैं। उनके अनन्तरके छः सूत्र उक्त पूर्वपक्षका निरास करनेके लिए हैं और अवशिष्ट छः सूत्रोंसे सिद्धान्तका समर्थन किया गया है। यह उक्तार्थका संग्रह है—

'षड्भिः सूत्रैः पूर्वपक्षस्तावद्भिस्तन्निराकृतिः।
पुनरन्यैस्तु सिद्धान्तः षड्भिरित्येष संग्रहः॥ इति॥)

[कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥ सूत्रार्थ=एके=कुछपूर्वपक्षवादी नैयायिक, शब्दको कर्म (प्रयत्न जन्य) मानते हैं। क्योंकि तत्र=कर्म (प्रयत्न) होनेसे दर्शनात्=शब्दका श्रवण होता है, अतः कार्य होनेसे शब्द अनित्य है ॥६॥ अस्थानात् ॥७॥ (उच्चारणके अनन्तर)=क्षण भी न रहनेसे शब्द विनष्ट होता है, यह अनुमान करते हैं ॥७॥ करोति शब्दात् ॥८॥=शब्द करो या मत करो ऐसा करोति शब्दका व्यवहार होता है; इससे भी शब्द अनित्य है ॥८॥]

औत्पत्तिक सूत्रमें यह जो कहा गया है शब्दको अर्थप्रत्यायकता स्वाभाविक है, उसीपर आक्षेप करते हैं 'शब्दस्य' इत्यादिसे। शब्दके अनित्य होनेसे नए शब्दकी वृद्धोंकी व्यवहार परम्परा के अनुसार स्वाभाविक अर्थ बोधकताको नहीं मान सकते। अज्ञात होनेपर भी स्वभावसे ही चक्षु आदि इन्द्रियोंकी तरह प्रथम बार सुननेसे ही शब्द अर्थका प्रत्यायक होना चाहिए। अतः शब्दके अनित्य होनेपर देवदत्त आदि शब्दोंकी तरह पुरुषकृत ही अर्थबोधकता होती है॥। (अतः सम्बन्ध नित्य है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती।

॥ यहां शंका है कि पंचम सूत्रमें सम्बन्ध नित्य होनेसे वेदका प्रामाण्य सिद्ध हो गया, अतः शब्दाधिकरणका आरम्भ व्यर्थ है। और यह विचार निष्प्रयोजन भी है; क्योंकि सम्बन्धके नित्य न होनेपर भी वेदका प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है। शब्द अनित्य वादियोंके मतमें अनित्य शब्दसे भी अर्थका ज्ञान होता है और व्यवहार अनादि है।

कथं पुनरनित्यत्वं शब्दस्य ? प्रयत्नाऽनभिव्यङ्ग्यत्वे सति तदनन्तरमुपलब्धेर्घटादिवत् तज्जन्यत्वमध्यवसीयते। अन्यथा किमिति तदनन्तरमेवोपलभ्यते, न पूर्वम्। उपलब्धस्य च द्रागेव तिरोभावाद्विनाशित्वमध्यवसीयते। न चासिद्धमनभिव्यङ्ग्यत्वम्, अभिव्यक्त्ययोगात्। सा हि प्रतिबन्धकनिरासेन वा संस्कारविशेषाधानेन वा। न तावत् प्रतिबन्धनिरासः, प्रतिबन्धकानुपलब्धेः। स्तिमिता वायवः श्रोत्रमाच्छाद्यावस्थिताः शब्दोपलब्धिं प्रतिबध्नन्ति, तेषु प्रयत्नोत्थापितैः कौष्ठ्यैर्वायुभिरुत्सारितेषूपलभ्यते शब्द इति चेत ? एवं तर्हि सर्वे शब्दाः सर्वगतत्वाच्छ्रोत्रं प्राप्यावस्थिताः प्रतिबन्धकेषूत्सारितेषु युगपच्छ्रूयेरन्।

अथ संस्काराधानम् ? तत्रापि त्रैविध्यम्—शब्दस्य वा संस्कारमादध्युः कौष्ठ्या वायवः श्रोत्रस्य वोभयोर्वा। शब्दस्य चेत् ? तस्यैकत्वात् सर्वगतत्वादनवयवत्वेनाऽवयवसंस्कारायोगात्। स्रुघ्नस्थैर्वायुभिः संस्कृतः शब्दः पाटलिपुत्रेप्युपलभ्येत, तदिदमुक्तम्—

शंका—शब्दकी अनित्यता कैसे ? उत्तर—प्रयत्नके बिना शब्द अभिव्यक्त नहीं होता, प्रयत्नके अनन्तर ही उपलब्ध होता है अतः घटादिकी तरह शब्दमें प्रयत्न जन्यताका अनुमान करते हैं§। नहीं तो प्रयत्नके वाद ही क्यों उपलब्ध होता है ? पहिले क्यों नहीं ? और उपलब्धका शीघ्र ही तिरोभाव होनेसे विनाशिताका भी अनुमान होता है। शंका—शब्द प्रयत्नके अनन्तर व्यक्त होता है, यह सिद्ध नहीं है। अभिव्यक्तिका सम्बन्ध न होनेसे (अर्थात् शब्द अभिव्यंग्य नहीं हो सकता) अभिव्यक्ति पक्षका निरास करनेके लिए विकल्प करते हैं 'सा हि' इत्यादिसे। वह शब्दकी अभिव्यक्ति प्रति बन्धकके निराससे होती है अथवा संस्कार विशेषके आधानसे, ये विकल्प हैं। इसमें प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं कि प्रतिबन्धकका निरास नहीं हो सकता, क्योंकि अभिव्यक्तिके प्रतिबन्धककी उपलब्धि नहीं होती। निश्चल जो वायु हैं, वे श्रोत्रेन्द्रियको आच्छादितकर, शब्दोपलब्धिके प्रति बन्धक बन जाते हैं। उनको प्रयत्नसे उत्पन्न उदरस्थ वायुसे हटा देनेपर शब्द उपलब्ध होता है, ऐसा यदि हो, तो ? सभी शब्द व्यापक होनेसे श्रोत्रेन्द्रियमें रहते हैं। प्रतिबन्धकको हटा देनेपर उनका युगपत् श्रवण होना चाहिए।

शंका—संस्कार आधान पक्षमें भी तीन प्रकार होते हैं। प्रथम प्रकार है—उदरस्थ वायु शब्दका संस्कार करती है। दूसरा प्रकार है श्रोत्रका संस्कार करती है। तीसरा प्रकार है—श्रोत्र और शब्द दोनोंका संस्कार करती है। यहाँ प्रथम पक्षमें दोष देते हैं 'शब्दस्य' इत्यादिसे। उदरस्थ वायु शब्दका संस्कार करती है, इस पक्षमें शब्द तो एक है। वह सर्वव्यापक है, अतः शब्दके

---

§ अनुमानका यह स्वरूप है—'शब्दः जन्यः, प्रयत्नानन्तरमुपलभ्यमानत्वात्, घटवत्' यहाँ शब्दः यह पक्ष है, जन्यत्व साध्य है, प्रयत्नके अनन्तर उपलब्ध होता है, यह हेतु है; और घट दृष्टान्त है।

इसका उत्तर है कि शब्दको अनित्य माननेपर शक्तिग्रहका होना सम्भव नहीं। अतः शब्दकी अर्थबोधकता न होनेसे वेदसे बिना कारणके अर्थप्रतीति होगी बोधकत्व होनेसे वेदका अप्रामाण्य होगा। अतः वेद प्रामाण्य सिद्धिके लिए ही यहाँ शब्दनित्यत्वको सिद्ध करना आवश्यक है।

'तत्र सर्वैः प्रतीयेत' इत्यादिना। श्रोत्रसंस्कारपक्षेप्ययमेव दोषः।

यदि काणाद–कापिल–वैदिकमतेनाकाशम्, अहङ्कारः, दिग्वा श्रोत्रम्, तस्यैकत्वात् सर्वगतत्वादनयवत्वाच्च सर्वपुंसामेकमेव श्रोत्रं स्यात्। नचैकदेशस्थैरपि ध्वनिभिः संस्कृतमिति कः सर्वेषां शब्दोपलब्धिं वारयेत्? तदिदम्—'आकाशश्रोत्रपक्षे च' इत्यादिना श्रोत्रादेरियमेवदिक' इत्यन्तेन दर्शितम्। अस्मिंश्च पक्षे श्रोत्रस्य सर्वशब्दसाधारणत्वादेकशब्दोपलब्ध्यर्थमपि संस्कृतं श्रोत्रं प्रसङ्गात् सर्वान् शब्दान् घटार्थोन्मीलितमिव नेत्रं समानदेशस्थान् पटादीनवबोधयेत्। तदिदम्—'सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रम्' इत्यादिना दर्शितम्।

अयं च दोषः पूर्वोपक्षिप्तेपि शब्दसंस्कारपक्षे दर्शयितव्यः। सर्वे हि शब्दाः श्रोत्रदेशेऽवस्थिताः, तत्रैकस्मिन् संस्क्रियमाणे बलादन्येषामपि संस्कारः स्यादेव। नहि

निरवयव होनेसे उसका अवयवोंके द्वारा संस्कार नहीं बन सकता। अन्यथा जो वायु स्रुघ्न=आगरा में बहती है, उससे संस्कृत शब्द पटनामें भी उपलब्ध होगा। इस अर्थको वार्तिककारने स्पष्ट किया है। अर्थ='यदि शब्दका संस्कार माना जाए तो इस पक्षमें सभीको शब्दका ज्ञान होगा' इत्यादिसे❀। (निरवयव तथा व्यापक शब्दका एकदेशमें संस्कार होना सम्भव नहीं। यह सम्पूर्ण श्लोकका अर्थ है) उक्त दोषका श्रोत्र संस्कार पक्षमें भी अतिदेश करते हैं कि इस पक्षमें भी यही दोष है। काणाद=वैशेषिक मतमें कर्णशष्कुलीसे अवच्छिन्न आकाश श्रोत्र है। कापिल=सांख्याचार्योंके मतमें अहंकार ही श्रोत्र है। वैदिक=मीमांसक मतमें दिक् ही श्रोत्र है। इन तीनों पक्षोंमें शब्दके एक, सर्वव्यापक तथा निरवयव होनेसे सभी पुरुषोंकी एक ही श्रोत्रेन्द्रिय होगी। वह भी एकदेशमें रहनेवाली ध्वनियोंसे संस्कृत हुई, अतः सभी पुरुषोंके शब्द साक्षात्कारको कौन रोक सकता है? उक्त अर्थका वर्णन वार्तिककारने किया है। अर्थ=आकाशको श्रोत्र माननेपर, वह विभु है, अतः प्राप्तितो सबको समान ही होगी। फिर दूर होनेपर भी शब्दोंका ज्ञान क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा। ऐसे प्राणि मात्रका श्रोत्र एक ही हो जाएगा और एकके शब्द श्रवण कालमें सभीको शब्द सुनाई देगें; क्योंकि श्रोत्रके निरवयव होनेसे धर्माधर्मके द्वारा संस्कृत आकाश भाग तो होगा नहीं। यही दोष वैशेषिक पक्षमें भी होगा। सांख्य मतमें भी श्रोत्रादिके विभु होनेसे यही दोष होने लगेगा। ऐसा दिग्दर्शन कराया है। (इस श्रोत्र संस्कार पक्षमें दूसरा दोष भी दिखाते हैं, 'अस्मिन्' इत्यादिसे) इस पक्षमें श्रोत्र इन्द्रिय सभी शब्दोंके लिए साधारण है। एक शब्दकी उपलब्धिके लिए संस्कृत श्रोत्रेन्द्रिय प्रसंगतया सभी शब्दोंका बोधन करेगी। इसमें दृष्टान्त है कि घटके प्रकाशनके लिए खुले हुए नेत्र एक देशमें रहनेवाले सभी पटादियोंको जैसे प्रकाशित करते हैं; वैसे प्रकृतमें भी समझना। इसी बातको वार्तिककारने भी दर्शाया है। अर्थ='एक बार संस्कृत श्रोत्रेन्द्रिय सभी शब्दोंका प्रकाशन करेगी' उक्त अर्थका दृष्टान्त द्वारा विश्लेषण करते हैं—क्या घटके लिए खुले हुए नेत्र पटका प्रकाशन नहीं करेंगे? अर्थात् करेंगे।

❀ पूरा श्लोक इस प्रकार है—

तत्र सर्वैः प्रतीयेत् शब्दः संस्क्रियते यदि। निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशेऽहि संस्क्रिया॥

(श्लो० वा०, शब्दनित्त्वाधिकरण)

समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां कस्यचित्संस्कारः कस्यचिच्चाऽसंस्कार इति व्यवस्था सम्भवति, घटादावदर्शनात् । तदिदमुक्तम्—'एतदेव प्रसङ्क्तव्यम्' इत्यादिना ।

उभयसंस्कारपक्षे तूभयेपि दोषाः समुच्चित्य दर्शयितव्याः, तस्मान्न प्रयत्नाभिव्यङ्ग्यः शब्दः, तज्जन्यस्त्वसौ प्रादेशिकश्च । श्रोत्रं च कर्णशष्कुल्येव । तथा सति हि कैश्चिदेव कश्चिदेव शब्दः श्रूयत इत्युपद्यते, अन्यथा श्रोत्रव्यवस्था शब्दव्यवस्था चोभयमपि न स्यात् ।

किं च नानादेशस्थैश्च वक्तृभिरुच्चारितः शब्दो युगपन्नानादेशेषूपलभ्यते 'तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नम्' इति भाष्यम् (पृ० ७४) । तत्र नित्यस्यानुपपन्नमितिप्रतिज्ञा, एकस्येति हेतुः, नित्यो ह्यसावेकः स्यात्, एकस्य चानुपपन्नं नानादेशेषूपलम्भनमिति । ननु नावश्यं नित्यत्वे कत्येकत्वं भवति, अनेकान्येव हि गकारादीनि नित्यानि भवन्तु ? इत्यत आह—'असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्' इति । एतदुक्तं भवति—

उक्त दोषको पूर्वमें कहे हुए शब्द संस्कार पक्षमें भी दिखाना चाहिए । क्योंकि सभी शब्द श्रोत्र देशमें रहते हैं । वहाँ एकका संस्कार होनेसे अनायास ही दूसरोंका भी संस्कार हो ही जाएगा । एकदेशमें जो पदार्थ होते हैं; और एकेन्द्रिय ग्राह्य हैं, उनमेंसे किसीका संस्कार होता है, किसीका नहीं, ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती । घटादिमें ऐसी व्यवस्थाके न दिखाई देनेसे; इसका अर्थ कह दिया गया है । यह वार्तिकमें भी कहा गया है । अर्थ=इस दोषको शब्द संस्कार पक्षमें भी समझना चाहिए । और उभय संस्कार पक्षमें भी दोनों दोषोंको मिलाकर दिखाना चाहिए* । अतः शब्द प्रयत्नसे अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु उससे उत्पन्न होता है । तथा परिच्छिन्न भी होता है । और कर्णशष्कुलीको ही श्रोत्र कहते हैं; ऐसा माननेपर कुछ लोग ही किसी शब्दको सुन सकेंगे, सभी नहीं; यह सिद्ध होता है । नहीं तो श्रोत्रकी व्यवस्था तथा शब्दकी व्यवस्था दोनों ही नहीं बन सकेंगीं ।

['सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥ ९ ॥ सत्वान्तरे=दूसरे मनुष्योंमें अर्थात् अनेक देशोंमें शब्दका यौगपद्यात्=युगपत् उपलम्भ होनेसे शब्द अनित्य है ।]

(अब ग्रन्थकार शब्द अनित्य है, इस बातको बताते हैं । उसके लिए भाष्यका उद्धरण देते हैं । उसमें अपनी ओरसे कुछ शब्द जोड़ देते हैं । जैसे भाष्यमें 'नानादेशेषु युगपच्छब्दमुपलभामहे' यह पाठ है । ग्रन्थ कारने तो 'नाना देशैश्चवक्तृभिः' इत्यादि जोड़कर उपपादन किया है । ये उनके अपने शब्द हैं । पूर्व पक्षको पुष्ट करनेके लिए ऐसा किया गया है ।) अनेक देशोंमें रहने वाले वक्ता पुरुषोंसे उच्चरित शब्द एक ही समय अनेक देशोंमें उपलब्ध होते हैं । एक और नित्य शब्दके लिए ऐसा होना युक्त नहीं, यह भाष्य है । उक्त वाक्य सन्दर्भमें शब्दका नित्य होना अनुपपन्न है, यह प्रतिज्ञा है । 'एकस्य' से हेतुका निर्देश है । इसका यह अर्थ हुआ कि नित्य शब्द यदि एक होता तो उसका अनेक देशोंमें उपलब्ध होना अयुक्त है ।

* अर्थात् विषयका संस्कार होनेपर समानदेशमें रहनेके कारण संस्कारमें कोई विशेषता नहीं रहेगी । स्थिर वायुके आनेसे इसका संस्कार नहीं होगा । आवरणके हट जानेसे उस देशमें रहनेवाले सभी शब्दोंका भी ज्ञान होने लगेगा । शब्दको एक माननेपर, एक शब्दका संस्कार होता है, दूसरेका नहीं होता, यह नहीं कह सकते । और एक स्थानमें रहता है, ऐसा माननेपर सभी शब्दोंका ग्रहण होगा, या किसीका नहीं होगा । इत्यादि दोषोंको समझना चाहिए ।

प्रत्यभिज्ञाख्यविशेषप्रत्ययबलेन ह्यस्तनाऽद्यतनगकारयोरेकत्वावगमान्नित्यत्वमाश्रीयते। अस्ति चासावविशेषप्रत्ययो युगपन्नानावक्तृभिरुच्चारितेपि गकारे नहि तत्रापि प्रत्ययविशेषोस्ति, असति च विशेषे नित्यस्य नानेकत्वं सम्भवति। अनेकत्वे हि प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यमस्माकमिव भवतोपि स्यात्, तदप्रामाण्ये च नित्यत्वानुपपत्तिः। तस्मान्नित्यत्वे सत्येकत्वमङ्गीकर्तव्यम्, एकस्यचानुपपन्नं नानादेशोपलम्भनमिति।

वार्तिकोपि—'यौगपद्योपलम्भाद्वा भेदो भेदाच्च कार्यता' इति द्वयमुपक्षिप्य यथा यौगपद्योपलम्भाद् भेदो भवति तथा दर्शितम्—'अविभुत्वे हि युगपत्' इत्यादिना स्फुटेऽन्यत्वेऽवकल्पते' इत्यन्तेन। यथा च भेदात्कार्यता भवति नाऽकार्यस्य नित्यस्य भेदोऽवकल्पते। तथा दर्शितम्—'नित्यत्वे त्वेकबुद्धिः स्यात्' इति। न हि नित्यत्ववादिना प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वमिष्यते। तथा च वक्ष्यते—'अपि चैकरूप्ये सति देशभेदेन कामं

शंका—यह कोई आवश्यक नहीं है कि शब्द नित्य होनेसे एक ही होता है, क्योंकि अनेक गकारादि भी नित्य होवें तो क्या हानि है? उत्तर—उसके विषयमें कहते हैं कि विशेषता न होनेपर नित्यकी अनेकता नहीं हो सकती। यह भाष्य हैं—'असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्'। उक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं 'एतदुक्तं' से। इससे यह कहा गया है प्रत्यभिज्ञा नामक विशेष ज्ञान है। उसीके बलसे आज और कलका गकार इन दोनोंकी एकताका ज्ञान होनेसे दोनोंको नित्य माना जाता है। यह सामान्य ज्ञान है। एक ही समयमें अनेक वक्ता पुरुषोंसे उच्चारित गकारमें, ज्ञान विशेषतो है नहीं, विशेषताके न रहने पर, नित्यकी अनेकता सम्भव नहीं। अनेक होनेपर 'यह गकार है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा जैसे हमारे मतमें अप्रमाण है, वैसे आप सिद्धान्तीके मतमें भी अप्रमाण हो जाएगी। उसके अप्रमाण होनेपर नित्यता सम्भव नहीं हो सकेगी। अतः नित्य होनेपर शब्दको एक मानना होगा। इसप्रकार एक शब्दका अनेक देशोमें उपलब्ध होना युक्त नहीं। यही अर्थ वार्तिकमें भी कहा गया है (वार्तिक ऊपर देखें) अर्थ=युगपत् शब्दका उपलम्भ होनेसे भेद होगा। भेदसे कार्यता सिद्ध होगी। इस प्रकार शब्दका भेद और कार्यता दोनोंको कहकर जैसे युगपत् उपलब्धिसे भेद होता है, वैसे वार्तिकमें दर्शाया गया है। अर्थ='विभु न होनेपर एक शब्द एक साथ अनेक रूपसे उपलब्ध नहीं होता इत्यादिसे 'स्फुटेऽन्यत्वेऽवकल्पत' इत्यन्त ग्रन्थ तक। (सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य होनेसे घटादिके समान शब्द एक देशी होगा। अर्थात् परिच्छिन्न होगा। अतः शब्दका विभुत्व सिद्ध नहीं होता। अतः दूसरेके मुखमें शब्दका भेद होगा। शब्दको एक माननेपर वह एक देशमें रहेगा। जहाँ प्रयोग होता हैं, वहीं पर गृहीत होगा दूसरे मुखमें नहीं। यदि शब्दको कार्य मानते हैं, क्रियाका भेद होनेसे प्रत्येक क्रियामें फल भेद होगा। इससे सादृश्यके कारण भेदके स्पष्ट होनेपर भी एक बुद्धि होना सम्भव है) जैसे भेदसे कार्यता होती है, अकार्य नित्यका भेद होता नहीं, इस बातको भी वार्तिककारने बताया है। अर्थ='शब्दको नित्य मानने पर एक ज्ञान होगा' (इसको भ्रान्ति नहीं कह सकते भ्रान्तिका कोई कारण न होनेसे। यथेच्छ देशका भेद हो इस न्यायसे जो शब्दमें, एकता ज्ञात हुई, उसका विरोध होता है, यह वार्तिकका तात्पर्य है)

जो सिद्धान्ती शब्दको नित्य मानता है, वह प्रत्यभिज्ञाको भ्रान्ति=अप्रमाण नहीं मानता इसी बातको आगे कहते हैं 'अपि च' इत्यादिसे। यह भाष्य सन्दर्भ है। उसका अर्थ है—और एक

देशा एव भिन्नाः स्युः, न तु शब्दः' इति। न हि तदप्रामाण्ये नित्यत्वं सिध्यति, प्रमाणान्तराभावात्। अतो नित्यत्वे सत्येकत्वं स्यात्। तच्च नानादेशोपलम्भेन विरुध्यत इति। ततश्च यौगपद्योपलम्भाद् भेदः, भेदे च प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यम्, तदप्रामाण्ये च नित्यत्वाभावात् कार्यत्वम्। तदेतदानुपूर्व्यं स्वतन्त्रसिद्धम्। दृढे चानित्यत्वे दीपवत् सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा भवति, तस्मादनित्यः शब्द इति प्राप्ते—

सिद्धान्तः

अभिधीयते—प्रयत्नानन्तरं दृष्टेर्नैकान्त्यात् कार्यता ध्वनेः।
तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि युज्यते तत्र दर्शनम्॥ ४७॥

यत्तु कथमभिव्यङ्ग्यत्वम्? इति, श्रोत्रसंस्कारेणेति ब्रूमः। यत्त्वाकाशस्य, अह-

---

रूप होने पर देशके भेदसे यथेच्छ देश ही भिन्न होंगे। शब्द तो नहीं। प्रत्यभिज्ञाके अप्रामाण्य होने पर नित्यता नहीं सिद्ध होती, दूसरे प्रमाण न होनेके कारण। अतः शब्दको नित्य मानने पर उसे एक भी मानना होगा। उसका अनेक देशोंमें उपलब्ध होना विरूद्ध है। अतः युगपत् उपलब्धि होनेसे भेद होता है और भेद होनेसे प्रत्यभिज्ञाका प्रामाण्य नहीं होगा। अप्रामाण्य होनेपर शब्दकी नित्यता नहीं हो सकती। अतः शब्दमें कार्यता सिद्ध होती है, यह पूर्वोक्त क्रमसे ज्ञात होता है। इस प्रकार शब्दमें अनित्यताके दृढ़ होनेसे दीपके समान सादृश्यको लेकर प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः शब्द अनित्य है। इस प्रकार पूर्व पक्ष प्रक्ष प्राप्त हुआ।

(पूर्व पक्षमें और दो सूत्र हैं। उनमें प्रथम सूत्र है—प्रकृति-विकृत्योश्च ॥ १० ॥ यहाँ दर्शनात्का अध्याहार करना चाहिए। अर्थ = 'दध्यत्र इस स्थलमें 'इकार' प्रकृति है। 'यकार' विकृति है। यदि शब्द नित्य होता है तो इनका प्रकृति-विकृति भाव नहीं बन सकता था। जो विकृत होता है, वह अनित्य होता है, अतः प्रकृति-विकृति भावके दर्शनसे शब्द अनित्य है ॥१०॥)

वृद्धिश्चकर्तृभूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥ अर्थ = कर्तृ = कर्ताओंके भूम्ना = बाहुल्यसे, अस्य = इस शब्दका, वृद्धिः = महत्व उपलब्ध होता है। (अनेक वक्ताओं द्वारा शब्दका उच्चारण करनेपर महान् शब्द सुना जाता है। यह अभिव्यक्ति पक्षमें नहीं होगा। कार्य पक्षमें अवयवकी वृद्धि होनेसे शब्दका महत्व बन सकता है। अतः शब्द अनित्य है। इस अर्थका वार्तिकमें उपबृंहण है—

हेतुवृद्ध्यनुसारित्वात्कार्यतास्य घटादिवत्।
नहि दीपसहस्रेऽपिव्यञ्जके वर्धते घटः ॥ इति ॥)

(उपर्युक्त पूर्व-पक्षका निराकरण करनेके लिए छः सूत्र हैं 'समन्तु तत्र दर्शनम्' इत्यादि। उन्हींका श्लोकोंके द्वारा प्रतिपादन करते हैं।) अर्थ = प्रयत्नके अनन्तर शब्दकी उपलब्धि होनेसे शब्दको नियमसे कार्य नहीं कह सकते। (अर्थात् प्रयत्नके बाद शब्दका उपलब्ध होना अनित्य और नित्य दोनों पक्षोंमें समान है) वह शब्दकी उपलब्धि प्रयत्नसे होनेपर, अभिव्यंग्य पक्षमें भी संगत होती है ॥ ४५ ॥ (श्लोककी इस व्याख्यासे सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, उसीको बताते हैं = समन्तु तत्र दर्शनम् ॥ १२ ॥ तत्र = प्रयत्नरूप कर्म होनेपर, शब्दकी दर्शन, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति पक्षमें समानता है ॥ १२ ॥)

ङ्कारस्य वा श्रोतत्वे तत्संकारे च[1] सर्वत्र पुंसामुपलब्धिः स्यादित्युक्तम्, तत्र ब्रूमः—यदि तयोः श्रोत्रत्वे भवेदयं दोषः ? कर्णशष्कुली[2] श्रोत्रं भवतु, सा च प्रतिपुरुषं भिन्नेति नातिप्रसङ्गः। यद्यपि चाऽऽकाशमेव श्रोत्रम्, तत्तु न साक्षात् संस्क्रियते, किन्त्वधिष्ठानद्वारेण। ततश्च यद्यपि श्रोत्रं सर्वेषामेकम्, तथाप्यधिष्ठानानां भिन्नत्वात् तत्संस्कारव्यवस्थया श्रवणस्य व्यवस्था भविष्यति।

नन्वेकत्वे सतीन्द्रियस्य यद्यप्यधिष्ठानानि भिन्नानि, तथाप्येकेनाप्यधिष्ठानेन संस्कृतेनेन्द्रियस्य संस्कृतत्वात् सर्वपुंसामिन्द्रियं संस्कृतमिति, सर्वेषामुपलब्धिः स्यादेव।

तदुक्तम्—'नन्वेकस्मिन्नधिष्ठाने लब्धसंस्कारमिन्द्रियम्।
बोधकं सर्वदेहेषु स्यादेकेन्द्रियवादिनः'॥ इति।

सर्वदेहवर्तिनां पुंसामित्यर्थः।

अत्रोत्तरम्—'पुंसां देहप्रदेशेषु विज्ञानोत्पत्तिरिष्यते।
तेन प्रधानवैदेश्याद् विगुणा सा तु संस्कृतिः'॥ इति।

(अब पूर्व पक्षमें जो दोष दिया गया है, उसका निवारण करते हैं) 'यत्तु' इत्यादिसे। यह जो कहा गया है कि कैसे शब्दकी अभिव्यक्ति होती है ? इसका उत्तर है—श्रोतके संस्कारसे शब्दकी अभिव्यक्ति होती है। ऐसा हम कह सकते हैं। यह जो कहा गया है आकाशको श्रोत्र माना जाए ? या अहंकारको श्रोत्र माना जाए ? दोनों पक्षोंमें श्रोत्रका संस्कार होगा। सभी पुरुषोंका आकाशरूप तथा आहंकारिक श्रोत्र एक ही है, अतः सभीको शब्दोपलब्धि होनी चाहिए, यह जो कहा गया है, उसका उत्तर देते हैं—वैशेषिक सम्मत आकाशको तथा सांख्य सम्मत अहंकारको श्रोत्र माननेपर पूर्व पक्षीने जो दोष दिया है, वह लागू हो सकता है यदि कर्णशष्कुलीको भी श्रोत्र माना जाए। वह प्रतिपुरुष भिन्न होती है। (अर्थात् प्रतिपुरुष कर्णशुष्कलीका भेद होनेसे, जिसका श्रोत्र संस्कृत है उसीको शब्द सुनाई देगा, दूसरेको नहीं) अतः उक्त दोष नहीं है। इसी बातको 'यद्यपि' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। यद्यपि आकाशको ही श्रोत्र माना जाए, तो भी उसका साक्षात् संस्कार नहीं हो सकता, निरवयव होनेसे। किन्तु अधिष्ठान=कर्ण शष्कुलीके द्वारा होगा। यद्यपि श्रोत्र सभी पुरुषोंका एक ही है तथापि अधिष्ठानोंके भेदसे संस्कारकी व्यवस्था होगी; उससे शब्द श्रवणकी भी व्यवस्था हो जाएगी। शंका—इन्द्रियके एक होनेपर भी अधिष्ठान तो भिन्न-भिन्न हैं, तथापि एक अधिष्ठानका संस्कार होनेपर, इन्द्रियका भी संस्कार होगा। अतः सभी पुरुषोंकी इन्द्रियोंके संस्कृत होनेसे, उनसे सभीको शब्दकी उपलब्धि होगी ही। इसी अर्थको वार्तिककारने कहा है। अर्थ='ननु' पद शंका परक है। जो इन्द्रियोंको एक मानता है, उस पक्षमें एक अधिष्ठानमें संस्कार की गई इन्द्रियोंसे सभी शरीरोंमें रहनेवाले पुरुषोंको शब्दोंका ज्ञान होने लगेगा। वार्तिकमें 'सर्व देहेषु' यह वाक्य है। उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अतः ग्रन्थकारने सभी शरीरोमें रहने वाले पुरुषोंका ऐसा प्रकृतोपयोगी अर्थ किया। इसका उत्तर भी वार्तिकमें दिया है।

अर्थ=शरीर देशमें ही पुरुषोंके ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है। (अर्थात् शरीरावच्छेदेन ही आत्मामें ज्ञान होता है) अतः प्रधान और अंगोंका देश भेद होनेसे वह संस्कार उपकारक नहीं होगा। इसका अर्थ ग्रन्थकारने स्वयं किया है। भोगके आयतन अपने शरीरमें ही सभी पुरुषोंका ज्ञान उत्पन्न होता हैं, अन्यत्र नहीं। यह अधिष्ठान संस्कार शब्द ज्ञानका अंग है; क्योंकि अंगोंका

---

१. संस्कारत्वे इति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः। २. 'तत्कर्णशष्कुली भवतु' इति मुद्रित पुस्तके पाठः।

अयमर्थः—स्व-शरीरे एव भोगायतने सर्वपुंसामपि ज्ञानमुत्पद्यते, नान्यत्र। शब्द-ज्ञानाङ्गं चायमधिष्ठानसंस्कारः, प्रधानसमानदेशत्वं चाङ्गानां गुणः, तेन देहान्तरवर्तिनः, पुरुषस्य यत् स्वदेहे निष्पादयितव्यं विज्ञानं तस्य तद्देहगत एव संस्कारो निष्पादको भवति, न देहान्तरगतः। स हि तत्प्रधानभूतेन ज्ञानेन विदेशत्वाद् विगुणः।

ननु संस्कार्यस्यैकत्वात् तद्द्वारत्वाच्च संस्काराङ्गभावस्य देशभेदोऽकिंचित्कर एव। यथा बर्हिरेकत्वात् तत्संस्काराणामातिथ्याकालानामप्युपसदग्नीषोमीयाङ्गत्वं न विहन्यते। तद्वदत्रापि स्यात्? न, अदर्शनात्, न ह्येकस्मिन्नधिष्ठाने संस्कृते[1] सर्वेषां ज्ञानमुपलभ्यते, अतः साधारणमपीन्द्रियं विज्ञानसमानदेशसंस्कारसचिवमेव ज्ञानमुत्पादयति, नान्यथेति दर्शनबलादध्यवसीयते, ततो नातिप्रसङ्गः।

न चावश्यमेकमेवेन्द्रियम्—यद्यप्याकाशमेकमनवयवं च, तथापि तस्य प्रादेशिकैर्घटादिभिर्ये संयोगाः, तेपि प्रादेशिकाः, ततश्च कर्णशष्कुलीसंयोगानां प्रतिपुरुषं भिन्नत्वात् तदवच्छिन्नस्य चाकाशस्य श्रोत्रत्वात् सत्यपि स्वरूपैकत्वेऽवच्छिन्नरूपाणां श्रोत्राणां भेदाद् व्यवस्थासिद्धिः। एवमहङ्कारभागे, दिग्भागे च श्रोत्रे द्रष्टव्यम्।

प्रधानके साथ समान देश होना उपकारक है। अतः दूसरे शरीरमें रहनेवाले पुरुषको यदि अपने शरीरमें ज्ञान उत्पन्न करना हो तो उसका उसी देश गत संस्कारसे ज्ञानका निष्पादक होता है, देहान्तरसे नहीं। वही देहान्तर गत संस्कार प्रधान भूत ज्ञानसे भिन्न देश होनेसे उपकारक नहीं है।

शंका—संस्कार्य इन्द्रीके एक होनेसे उसके द्वारा ही संस्कार अंग होता है। अतः देश भेद अकिंचित्कर ही है (अर्थात् हानिकारक नहीं है) इसीको श्रौत दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं 'यथा' इत्यादिसे। जैसे कुशाके एक होनेसे, उसका संस्कार आतिथ्या नामक इष्टि = याग आरम्भके समय करने पर भी वह कुशा उपसदिष्टी (उपसन्नामक याग) तथा अग्निषोमीयकी भी अंग होती है। वैसा प्रकृतमें भी होगा*।

उत्तर—नहीं, दिखाई न देनेसे एक अधिष्ठानमें सभीका ज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रिय साधारण होनेपर भी ज्ञानके समान देशके संस्कारके सहित ही, ज्ञानकी उत्पादिका होती है; अन्यथा नहीं, ऐसा अनुभवके बलसे निश्चित किया जाता है। अतः कोई दोष नहीं ('लोके कर्मार्थलक्षणम्' यह न्याय है। अर्थात् प्रयोजनके अनुसार कर्मकी आवृत्ति होती है)

यह कोई आवश्यक नहीं है कि एक ही इन्द्रिय आकाश हो और निरवयव हो; तथापि उसके परिच्छिन्न घटादियोंके साथ जो संयोग होंगे, वे भी परिच्छिन्न होगें। अतः कर्णशष्कुली संयोगोंके

---

* 'यदातिथ्यायां बर्हिः तदुपसदाम्, तदग्निषोमीयस्य' यह वाक्य श्रुत है। इसका अर्थ है आतिथ्या कालमें जिस कुशाका संग्रह किया जाता है, वही उपसदिष्टि तथा अग्निषोमीय पशुयाग इन दोनोंकी भी अंग होती है। अर्थात् उस बर्हि व्यक्तिका एक ही बार आतिथ्यामें ही संस्कार किया जाता है। पुनः पुनः संस्कार नहीं होता। वैसे ही प्रकृतमें भी संस्कारके योग्य इन्द्रियके एक होनेसे, देशभेद, कर्ण-शष्कुली रूप अधिष्ठान भेद अकिंचित्कर ही है।

(द्रष्टव्य—मी० द० ४।२।१३)

---

१. 'संस्कृते' इति 'क' पुस्तके नास्ति।

यत्तु—'सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रकाशयेत्' इत्युक्तम्, तत्रोच्यते—ध्वनयो हि ताल्वादिस्थानविशेषसम्पर्काद् विजातीया विलक्षणसामर्थ्या निष्पद्यन्ते। ततश्च कश्चिदेव ध्वनिः कस्य चिच्छब्दस्यानुगुणं संस्कारमाधत्ते, न सर्वसाधारणमित्युपलब्धि-व्यवस्था कल्प्यते। शब्दसंस्कारपक्षेपि कश्चिदेव ध्वनिः कंचिच्छब्दं संस्करोति, न सर्वः सर्वमिति, युक्ततरैव व्यवस्था।

दृष्टा च समानेन्द्रियग्राह्याणामप्यभिव्यञ्जकव्यवस्था। सावित्रं हि तेजो घटादीना-मेवाभिव्यञ्जकम्, न नक्षत्राणाम्। निम्बत्वक् चन्दनगन्धस्यैवाभिव्यञ्जिका, न गन्धान्तरा-णाम्, तस्माददोषः।

न च शब्दसंस्कारे सर्वपुंसामुपलब्धिप्रसङ्गः, ध्वनीनां प्रादेशिकत्वात्, तद्देशे शब्दः संस्क्रियते न सर्वत्र। अतः संस्कृतेन शब्देन यस्येन्द्रियं संनिकृष्टम्, स एव शृणोति, नान्य इत्युपपन्नम्।

प्रति पुरुष भिन्न होनेसे तदवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है। इस प्रकार स्वरूपमें एकता होनेपर भी तदवच्छिन्नरूप श्रोत्रोंके भेदसे व्यवस्था सिद्ध होगी॥। इसी प्रकार अहंकार भाग श्रोत्र है, दिग्भाग ही श्रोत्र है, इन पक्षोंमें भी समझना चाहिए।

जो एक बार संस्कार किया हुआ श्रोत्र सभी शब्दोंको प्रकाशित कर देगा, यह पूर्वपक्षमें कहा गया है; उसीका उत्तर देते हैं—'तत्रोच्यते' इत्यादिसे। ध्वनियां ताल्वादि स्थान विशेषके सम्पर्कसे विजातीय तथा विलक्षण सामर्थ्यवाली उत्पन्न होती हैं। उनसे कोई एक ध्वनि किसी शब्दके अनुगुण संस्कारको उत्पन्न करती है। सर्व साधारण संस्कारको नहीं; अतः उपलब्धिकी व्यवस्था मानी जाती है§।

शब्द संस्कार पक्षमें जो पूर्व पक्षीने दोष दिया था उसका भी परिहार करते हैं 'शब्दसंस्कार पक्षेपि' से। शब्द संस्कार पक्षमें भी कोई ध्वनि किसी शब्दका ही संस्कार करती है, सभी सबका नहीं। अतः व्यवस्था उचित ही है।

(विजातीय ध्वनि ही किसी शब्दका संस्कार करती है, सभी सबका नहीं उसीका समर्थन करते हैं 'दृष्टा च' इत्यादिसे) समान इन्द्रियोंसे ग्राह्य पदार्थोंमें भी अभिव्यंजककी व्यवस्था देखी जाती है। सूर्यका तेज घटादिका ही अभिव्यंजक होता है, नक्षत्रोंका नहीं। और सुनिए—नीमकी त्वचा चन्दन गन्धकी अभिव्यंजिका होती है, अन्याय गन्धोंकी नहीं। इसलिए कोई दोष नहीं।

॥ अर्थात् आकाश मात्र श्रोत्र नहीं है, किन्तु धर्माधर्मके द्वारा परिगृहीत जो विशिष्ट शक्ति है, तादृश शक्ति विशिष्ट कर्णशष्कुली ही तत्परिच्छिन्न श्रोत्र है। जिस पुरुषकी ऐसी कर्ण शष्कुली है, उसीको शब्द सुनाई देता है। जिसकी ऐसी नहीं है, घर्माधर्मके लोपसे वातादि दोषसे दूषित होनेसे आकाश होते हुए भी उक्त शक्तिके रहनेसे, यह बहिरा है, शब्द नहीं सुनता है, इत्यादि व्यवस्था होती है।

§ अर्थात् शब्दोपलम्भरूप व्यवस्थाको देखकर प्रति वर्ण संस्कारके कारण ध्वनिकी जाति विशेषको कल्पना करते हैं। उसका संयोग ही श्रोत्रका संस्कार है, स्थिर वायुका निवारण नहीं। अतः ताल्वादिका संयोग—विभागही शब्दका कारण है, उससे विजातीय और विलक्षण सामर्थ्यसे भी व्यवस्था मानी जाती है।

शब्दस्यानेकदेशोपलम्भसमर्थनम्

युगपद्देशभेदश्च स्यादेकस्यापि सूर्यवत् ।
ये विन्ध्यनिलया ये च कामरूपे व्यवस्थिताः ॥ ४८ ॥

शंका—शब्द-संस्कार पक्षमें सभी पुरुषोंको शब्दकी उपलब्धि हो, यह आपत्ति नहीं कर सकते। उत्तर—ध्वनिके परिच्छिन्न होनेसे उसी देशमें रहनेवाला शब्द संस्कृत होता है, सभी जगहका नहीं। अतः संस्कृत शब्दसे जिसकी इन्द्रियां सम्बद्ध हैं, वही शब्द सुनता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार सब ठीक है।

[सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥ 'अस्थान' इस सूत्रका परिहार सूत्र है सतः परम्, इत्यादि। अर्थ = परम् = जो शब्दके अनित्य होनेमें दूसरा कारण बताया है, उसमें सतः = विद्यमान शब्दका ही, अदर्शने = अनुपलब्धि है, अभाव नहीं, क्योंकि; विषय = शब्दके प्रति, अनागमात् = अप्राप्तिसे। अर्थात् शब्दके अभिव्यंजक संयोग विभागका अभाव होनेसे, शब्दके अभावसे नहीं।

'करोति शब्दात्' इसका परिहार सूत्र है = प्रयोगस्य परम् ॥१४॥ अर्थ = परम् = यह जो दूसरा कारण कार्य पक्षमें बताया है, वह प्रयोगस्य = प्रयोगके अर्थात् उच्चारणके तात्पर्यसे है, उत्पत्तिके अभिप्रायसे नहीं। शब्दंकुरूका अर्थ है शब्द प्रयोग करो]

(पूर्व पक्षमें 'सत्वान्तरे च यौगपद्यात्' इस सूत्रसे जो कहा गया है, उसका परिहार सूत्र है 'आदित्यवद्यौगपद्यम्❀ ॥१५॥ इसका यह अर्थ है कि जैसे एक ही आदित्य अनेक देशोंमें अनेक

❀ शब्दोत्पत्तिके विषयमें वैशेषिकोंका कहना है कि संयोग, विभाग या शब्दसे शब्दकी निष्पत्ति होती है। 'संयोगाद्वा विभागाद्वा शब्दाद्वा शब्दनिष्पत्तिः' ॥ इति, (वै० द०, सू० २।२।३) अर्थात् = भेरी दण्ड संयोग या वेणु दलके विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। वह वीचीतरंग न्यायसे या कदम्बमुकुल न्यायसे अपने समान जातीय शब्दोंको उत्पन्न करता है। इस प्रकार श्रोत्र पर्यन्त शब्दका विस्तार होनेपर, न पहिला शब्द गृहीत होता है, न मध्यम, अपितु अन्तिम शब्द श्रोत्रसे गृहीत होता है। यह पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि वृद्धव्यवहारमें यह देखा जाता है कि सभी लोग एक ही शब्द दूसरेको सुनाना चाहते हैं। शब्दान्तरको सुनानेके लिए शब्दान्तर नहीं कहते; अतः विवक्षाके अनुसार शब्दका श्रवण सर्व-सम्मत है। शब्द सन्तान पक्षमें वक्ता दूसरे पक्षको कहता है, श्रोता दूसरे पक्षको सुनता है, अतः यह विवक्षा के अनुसार नहीं है। और यह भी कह सकते हैं कि संयोग या विभाग शब्दके आरम्भक नहीं होते। संयोग-विभाग होनेसे, ताल्वादि संयोग विभागकी तरह = संयोगविभागौ न शब्दारम्भकौ, संयोगविभागत्वात्, ताल्वादि संयोग-विभागवत्'। इसी प्रकार शब्द भी शब्दका आरम्भक नहीं होता; अन्त्य शब्दकी तरह। इसलिए वैशेषिक सम्मत शब्दोत्पत्तिका प्रकार ठीक नहीं। अतएव भाष्यकारने शब्दोत्पत्तिका जो प्रकार बताया है, वही संगत है। वह भाष्य इस प्रकार है— "अभिघातेन हि प्रेरितावायवस्स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानास्सर्वतोदिक्कान्संयोग-विभागानुत्पादयन्तो यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते, तेन वायोरप्रत्यक्षत्वात्संयोगविभागा नोपलभ्यन्ते। अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द उपलभ्यते, नो परतेष्वतो न दोषः। अत एवानुवातं दूरादुपलभ्यते शब्दः, न प्रतिवातमिति'।

प्राग्भागे ह्यात्मनः सर्वैरुद्यन् भास्वान् निरीक्ष्यते।
प्रत्यग्भागे तथास्तं यन् मध्याह्ने चोपरि स्थितः॥ ४९॥
भिन्नाश्च तेषां प्राग्भागास्तथा प्रत्यक् तथोपरि।
तेष्वस्य दृश्यमानस्य विस्पष्टा भिन्नदेशता॥ ५०॥

तथा यस्मिन् यावद्दूरे देशे कैश्चित्सूर्योदयो दृश्यते, तद्देशवर्तिनोऽन्येपि ततः परस्तात् तावति पश्यन्ति, ततोप्यस्ति देशभेदः। न च सूर्यनानात्वमाशङ्कनीयम्, न हि केचिद्भिन्नं सूर्यं पश्यन्ति।

किं पुनरेकदेशस्थस्यैव सवितुर्नानादेशोपलम्भे कारणम्? उच्यते—अतिदूरवर्तिनोऽस्य यथावद्देशमजानन्तः स्वसन्निधिमध्यस्यन्तो देशभेदं मन्यन्ते। विस्पष्टं चैतत्। तथाहि—योऽपराह्णे यस्मिन् यावद्दूरे देशे सूर्यं पश्यति—'अस्मिन् क्षेत्रेऽस्मिन् पर्वते सूर्यः' इति स सवितारमीक्षमाण एव तद्देशे गतस्ततः परस्तात् तथैव तं पश्यति, तेनावगम्यते सर्वेषां देशानामग्रतः स्थितोऽसौ संनिहितवदवभासत इति। ये चादित्यापेक्षया

पुरुषोंसे गृहीत होता है, वैसे ही एक ही शब्द अनेक देशोंमें अनेक वक्ताओंसे गृहीत होता है, अतः शब्द अनेक नहीं हैं और कार्य भी नहीं। इसी अर्थको श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं—) एक ही समयमें सूर्यकी तरह एक शब्दका भी देश भेद हो सकता है। जो व्यक्ति विन्ध्याचलमें रहते हैं, और जो कामरूप (गौहाटी) में रहते हैं॥४८॥ वे सभी अपने सामनेके देशमें उदय होते हुए सूर्यको देखते हैं, वैसे पश्चिम भागमें सूर्यको अस्त होते हुए देखते हैं। मध्याह्नमें सूर्यको ऊपर देखते हैं॥४९॥ उनका प्राग् = पुरोवर्ती देश, पश्चिम देश तथा ऊपरके देश भिन्न भिन्न हैं। उन देशोंमें देखे जानेवाले सूर्यकी भिन्नदेशता स्पष्ट है॥५०॥

इसी प्रकार जिस पक्षमें जितनी दूरमें जो सूर्योदयको देखते हैं, उस देशमें रहनेवाले और भी व्यक्ति उतनी ही दूरीमें, उसी देशमें सूर्यको देखते हैं, इसलिए देश भिन्न हैं।

शंका—क्यों न माना जाए सूर्य अनेक हैं? उत्तर—कोई भी अनेक सूर्योंको नहीं देखता। शंका—एक देशमें रहनेवाले सूर्यका भिन्न-भिन्न देशोमें दिखाई देनेका क्या कारण है? उत्तर—अत्यन्त दूरीमें रहनेवाले सूर्यके यथार्थ देशको न जानते हुए लोग, अपने समीप होनेका आरोपकर, देश भेद मानते हैं। (अर्थात् दूर स्थित सूर्यमें समीपताके अध्यासमे उसके नाना देशोमें होनेका भ्रम होता है) यह स्पष्ट है। इसीका विवेचन करते हैं 'तथाहि' से। जो अपराह्ण = सायं कालमें जिस देशमें, जितनी दूरीमें सूर्यको देखता है, इस प्रदेशमें इस पर्वतमें सूर्य है, वह सूर्यको देखता हुआ ही उस देशमें पहुँचकर, उसके आगे उसी प्रकार उतनी दूरमें, उतने देशमें सूर्यको देखता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सभी देशोंके सामने रहनेवाला यह सूर्य सन्निहितके समान अवभासित होता है। इसी प्रकार सूर्यकी अपेक्षा थोड़ी दूरमें पर्वत है, वह भी दो या तीन योजनमें रहनेवाले पुरुषोंको समान रूपसे

इस प्रसंगमें आकाश, दिशा तथा कालको भी प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, जो नैयायिकोंको अभीष्ट नहीं। इनमें यह भी विशेषता है कि ये सब विषयोंके विशेषण होकर इन्द्रियोके विषय होते हैं, साक्षात् नहीं। अतः मानमेयोदयकारने पृ० १८७ पर स्पष्ट कहा है—
'व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते। अभिष्टं भट्टपादोक्तिमाधुर्यनभिलाषिणाम्'।

स्तोकदेशाः पर्वताः, तेपि द्वियोजनस्थितानां त्रियोजनस्थितानां च पुरुषाणां तुल्यवदव-भासन्ते, तस्मादेकत्वेपि सम्भवति नानादेशोपलम्भः।

उदाहरणान्तरम्, तथैकमेव मुखं भिन्नेष्वादर्शेषु युगपद् दृश्यते। ननु प्रतिबिम्ब-नामार्थान्तरं तत्र दृश्यते? न, तस्याऽभावादनुपलम्भाच्च। न हि मूर्तमध्ये मूर्तान्तरं सम्भवति। किं च शरावस्थमुदकं भूमेरुपरि नाभिदघ्ने धारयित्वा तस्योपरिष्टादरत्नि-दघ्ने स्वमुखं कुर्वन्नुदकस्याधस्तादरत्निमात्रे मुखप्रतिबिम्बं पश्यति, तस्मिंश्च देशे पार्श्वस्थाः पुरुषा न किं चिदपि पश्यन्ति, तेन दृश्यादर्शननिरस्तः प्रतिबिम्बाख्योर्थो न शक्योऽ-भ्युपगन्तुम्। तस्मादादर्शतेजसा जलेन च प्रतिहतं नायनं तेजः परावृत्त्य गृह्णातीति युक्तम्। तस्मादनैकान्तिको नानादेशोपलम्भो न ननात्वं शब्दस्य साधयति।

ननु सवितुः सान्निध्याध्यासाद् युक्ता नानादेशावगतिः, शब्दे तु कथम्? सर्वगत-त्वात्, सर्वगतो हि शब्दो भिन्नदेशैर्ध्वनिभिः स्वे स्वे देशोऽभिव्यज्यमानो भिन्नदेशोऽवभा-सते। ध्वनयो हि श्रोत्रदेशमागत्यापि शब्दं व्यञ्जन्तः स्वोत्पत्तिदेशमिव शब्दं भासयन्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते।

भासित होता है। अतः एक होनेपर भी नाना देशोमें उपलब्धि हो सकती है। (निष्कर्ष यह है कि सूर्य दृष्टान्तसे शब्दको एक सिद्ध किया और नाना देशोमें उसकी उपलब्धिको भ्रम सिद्ध किया)।

इसी प्रकार एक ही मुख भिन्न-भिन्न दर्पणोमें एक साथ देखे जाते हैं। (इससे मुख नाना नहीं हैं, किन्तु एक है, अनेकताकी प्रतीति भ्रम है) शंका—प्रतिबिम्ब नामक दूसरा पदार्थ दिखाई देता है। उत्तर—प्रतिबिम्ब अर्थान्तर नहीं है। उसका अभाव होनेसे और उपलब्धि न होनेसे। क्योंकि दर्पण भी मूर्त है, मुख भी मूर्त है। एक मूर्तमें दूसरे मूर्तका प्रवेश सम्भव नहीं। अतः प्रतिबिम्ब पृथक् वस्तु नहीं। और सुनिए—कसोरेमें जल भरा हुआ है। वह भूमिपर रक्खा हुआ है। नाभि तक झुककर उसके ऊपर बारह अंगुलीपर अपने मुखको रखकर, जलके नीचे अरत्नि=बारह अंगुलसे मुखके प्रतिबिम्बको देखता है। उस देशमें आस-पास रहनेवाले व्यक्ति तो कुछ भी नहीं देखते। अतः जो यह दृश्यादर्शनसे निरस्त है, ऐसा वह प्रतिबिम्ब नामक पदार्थ स्वीकार करने योग्य नहीं। इसलिए दर्पणकी चमक और जल इन दोनोंसे नेत्रोंका तेज सामने टकराकर, लौटकर मुखको ग्रहण करता है। देशान्तरसे उसका देश गृहीत नहीं होता, ऐसा मानना ही युक्त है। अतः नाना देशोमें उपलम्भ व्यभिचारी है। यह व्यभिचारी हेतु शब्दका नानात्व नहीं सिद्धकर सकता।

शंका—सूर्यकी समीपताके अध्याससे अनेक देशोमें उपलब्धि हो सकती है, पर शब्दके विषयमें यह कैसे होगा? उत्तर—शब्द तो सर्वगत है, अतः भिन्न देशोंकी ध्वनियोंसे अपने-अपने देशमें अभिव्यक्त शब्द भिन्न देशोंवाला भासित होता है। क्योंकि ध्वनियाँ श्रोत्र देशमें आकर शब्दको व्यक्त करती हुईं, अपने उत्पादक देश वाले सब्दकी तरह आभास कराती हैं, यह अनुभवके बलसे माना जाता है*।

---

* यथा—'व्यापको हि शब्दो यदा भिन्नदेशे युगपद्गतैर्ध्वनिभिरभिव्यज्यते तदा शब्दोऽपि तत्तद्देशेऽ-वगम्यते। ध्वनिनां च पूरितान्तरालच्छब्दोऽप्यन्तरालेऽनवगम्यमानो विच्छिन्न इव भासते। अतो ध्वनेरल्पदेशत्वाच्छब्देऽप्यविभुत्वभ्रान्तिरिति'। अन्यच्चोक्तं—

ननु प्राप्यकारि श्रोत्रम्, न च ध्वन्युत्पत्तिदेशः श्रोत्रेण प्राप्यत इति कथं तस्य श्रोत्रेण ग्रहणम् ? तदग्रहे च कथं तद्विशिष्टशब्दग्रहः ? उच्यते—नायं श्रोत्रतस्तद्देशविशिष्टशब्दप्रत्ययः, किन्तु श्रोत्रं हि स्वदेशस्थितं शब्दं बोधयदपि न देशविशिष्टं बोधयति, किन्तु स्वरूपमात्रेण। यतस्तु दिश आगता ध्वनयस्तया विशिष्टं शब्दं बोधयन्ति, सा हि दिक् श्रोत्रप्राप्ता शक्यते श्रोत्रेण ग्रहीतुम्। यद्यपि न स्वातन्त्र्येण दिशः श्रोत्रग्राह्यत्वम्, तथापि शब्दे गृह्यमाणे तद्विशेषणतया दिगपि श्रोत्रेण गृह्यते इति दृष्टत्वादङ्गी क्रियते कालवत्। यथा हि कालो न स्वातन्त्र्येणेन्द्रियैर्गृह्यते, अथ च विषयेषु स्वेषु गृह्यमाणेषु तद्विशेषणतया सर्वैरपीन्द्रियैर्गृह्यते तद्वत्। ततश्चास्यां दिशि शब्द इति विशिष्टग्रहणं तावत् सिद्धम्।

ध्वनयश्च क्रमेण मन्दीभवन्तः प्रत्यासन्नाद् दूराद् दूरतराच्च देशादागतास्तीव्रं मन्दं मन्दतरं च शब्दं बोधयन्ति। बोधविशेषाच्च ध्वन्युत्पत्तिदेशः प्रत्यासन्नदूरादिरूपेणानुमानाद् हृदयदेशमागच्छति। तत्र यः शब्दस्य परमार्थदेशः श्रोत्रदेशस्तस्याऽग्रह-

शंका—श्रोत्रेन्द्रिय विषयको प्राप्तकर ग्रहण करती है। (अर्थात् विषय देशमें जाकर शब्दरूप विषयको ग्रहण करती है) किन्तु शब्दोत्पत्तिका देश श्रोत्रेन्द्रियसे प्राप्य नहीं, अतः शब्दोत्पत्ति देशका श्रोत्रसे ग्रहण कैसे होगा ? उसका ग्रहण न होनेसे उत्पत्ति देश-विशिष्ट शब्दका ग्रहण कैसे होगा ? उत्तर—श्रोत्रसे देश विशिष्ट शब्दका ज्ञान नहीं होता, किन्तु श्रोत्र अपने देशमें स्थित शब्दका बोधन करता हुआ भी देश विशेषका बोधन नहीं कराता। स्वरूप मात्रका ही बोधन कराता हैं। जिस दिशासे ध्वनियां निकलती हैं, उसी देशसे विशिष्ट शब्दका ज्ञान कराती है। वह दिशा श्रोत्रसे प्राप्त है। अतः श्रोत्रसे उसका ग्रहण सम्भव है। यद्यपि श्रोत्र स्वतन्त्र रूपसे दिशाका ग्रहण नहीं करता तथापि शब्दका ग्रहण होनेपर उसके विशेषण रूपसे दिशाका भी श्रोत्रसे ग्रहण होता है, यह अनुभव बलसे स्वीकार किया जाता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कालकी तरह। जैसे काल स्वतन्त्र रूपसे इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता। अपने विषयोंका ग्रहण होनेपर उनके विशेषणरूपसे सभी इन्द्रियोंसे काल गृहीत होता है। (अतः काल इन्द्रिय वेद्य है। कहा भी गया है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते') इसलिए इस दिशामें यह शब्द है यह विशिष्ट ग्रहण सिद्ध ही है।

(अब विचार है कि यदि ध्वनियां शब्दको ग्रहण करती हैं, तो उनके सुननेमें तीव्र, मन्द, मन्दतर बोध कैसे होगा ? इसका उत्तर है—जो ग्राह्य होता है, वह भ्रम है। इसीका उपपादन करते हैं 'ध्वनयः' इत्यादिसे) ध्वनियां क्रमशः मन्द होती हुईं, समीप, दूर तथा दूरतर देशसे आई हुईं, तीव्र, मन्द और मन्दतर शब्दका ज्ञान कराती हैं। ज्ञान विशेषसे ध्वनियोंका उत्पत्ति देश प्रत्यासन्न, दूरादिके रूपमें अनुमान प्रमाणके द्वारा मनमें आ जाता है। (अर्थात् देश विशेषका अनुमान होता है, वह श्रोत्रसे गृहीत नहीं होता) वह जो शब्दका परमार्थ देश है श्रोत्रदेश उसका

जलपात्रेषु चैकेन नानेकः सवितेक्ष्यते। युगपत् न च भेदस्य प्रामाण्यं तुल्यवेदनात्॥
इष्टं च नेत्रप्रवृत्तिभेदादेकस्यापि चन्द्रादेरनेकधा दर्शनम्। यथाहु :—
ईषन्निमीलितेऽङ्गुल्या यया चक्षुषि दृश्यते। पृथगेकोऽपि भिन्नत्वाच्चक्षुर्वृत्तेस्थैव नः॥
अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौरेण तेजसा। स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम्॥ इति॥

णाद् दिग्विशिष्टस्य शब्दस्वरूपस्य ध्वन्युत्पत्तिदेशस्य च ग्रहणात् त्रयाणां[1] संसर्गभ्रमादेवंविधः प्रत्ययो भवति—प्राच्यां दिश्येतावदन्तराले शब्द इति। तस्मादभिव्यञ्जकदेशभेदादुपपन्नं नित्यस्यापि नानादेशोपलम्भनमित्यदोषः।

नन्वयं दोषो यदसतिबाधके भ्रान्तित्वम्, प्रत्यभिज्ञायां वा कः पक्षपातो येन सा भ्रान्तिर्न स्यात्? अयमस्ति पक्षपातः—न ह्यसम्भवति तद्भ्रान्तित्वे भ्रान्तित्वमङ्गीकर्तुं युक्तम्। नानादेशोपलब्धेस्त्वपरिहार्यं भ्रान्तित्वम्। अनित्यत्वपक्षेऽपि श्रोत्रगत एव शब्दः[2] परमार्थतो गृह्यते, श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वात्। न च वक्तृमुखगतः, येन तद्देशग्रहणस्याऽभ्रान्तित्वं स्यात्।

शब्दप्रत्यक्षे बौद्धमतखण्डनम्

यदपि सौगतोऽप्यप्राप्यकारित्वमेवाङ्गीकुर्वन्नभ्रान्तित्वं समर्थयते, तदयुक्तम्—'अप्राप्यकारित्वे हि संनिकृष्टविप्रकृष्टस्थितौ युगपच्छब्दमुपलभेयाताम्, तयोस्तु क्रमेणोपलब्धिर्न कथंचिदप्यप्राप्यकारित्वे समर्थयितुं शक्या।

ग्रहण न होनेसे, तथा दिशा-विशिष्ट शब्द स्वरूपका और ध्वनि उत्पत्ति देशोंके ग्रहणसे इन तीनोंके संसर्ग भ्रमसे इस प्रकारका ज्ञान होता है कि पूर्व दिशामें इतनी दूरमें यह शब्द है। अतः अभिव्यंजक देशके भेदसे नित्य शब्दकी भी अनेक देशोंमें उपलब्धि सिद्ध होती है। इसलिए कोई दोष नहीं।

शंका—बिना बाधक ज्ञानके भ्रान्तिका होना यह दोष है। तब प्रत्यभिज्ञामें क्यों पक्षपात है कि उसे भ्रान्ति नहीं मानते? (अर्थात् एक शब्दके अनेक देशोंमें उपलब्ध होनेको आप भ्रम कहते हैं, 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञाको आप भ्रम नहीं मानते, इसका क्या कारण है? यह भी तो दोष है।)

उत्तर—यह पक्षपात है कि बिना भ्रमके भ्रान्तिको मानना युक्त नहीं। (अर्थात् शब्दका प्रत्यभिज्ञामें बाध नहीं है, इसलिए वह भ्रम नहीं) नाना देशोपलब्धिको तो भ्रान्ति मानना अनिवार्य है। अनित्यत्व पक्षमें भी श्रोत्र गत ही शब्द परमार्थतः गृहीत होता है) श्रोत्रेन्द्रियके प्राप्यकारि होनेसे वक्ताके मुखमें होनेवाले शब्दका ग्रहण नहीं होता, जिससे उस देशका ग्रहण भ्रम न माना जाय (अतः शब्दकी नाना देशोमें उपलब्धि भ्रम नहीं है)।

शंका—(यदि इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं तो श्रोत्र देशमें रहनेवाले शब्दका ग्राह्य जो ध्वनिदेश है, उससे सम्बन्ध न होनेसे इस दिशामें यह शब्द है, यह सम्बन्धकी प्रतीति भ्रान्ति हो सकती है, पर ऐसा तो नहीं है) बौद्ध भी इन्द्रियको अप्राप्यकारी मानते हैं, अतः यह भ्रान्ति नहीं है, ऐसा बौद्ध समर्थन करते हैं*।

उत्तर—यह पक्ष ठीक नहीं, अप्राप्यकारिता पक्षमें समीप और दूरस्थित पुरुष एक ही समयमें शब्दको ग्रहण करते। अप्राप्य कारिता पक्षमें क्रमशः उन दोनोंको शब्दकी उपलब्धिका समर्थन

---

* अर्थात् यदि बाह्य वस्तु होती तो उससे इन्द्रिय—सम्बन्ध भी स्थापित हो सकता था, जब बाह्य है ही नहीं तो किससे सम्बन्ध होगा? अतः शब्द तथा ध्वनि देशका सम्बन्धग्रह भ्रम नहीं है।

---

१. तयोरिति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

२. शब्द इति 'क' 'ग' पुस्तकयोर्नास्ति।

किं च क्षणिको वा शब्दः स्यात् स्थायी वा ? यदि क्षणिकः ? ततः प्रत्यासन्नै-र्गृहीतमात्रो नष्टः कथं विप्रकृष्टैः पश्चाद् ग्रहीतुं क्षमः। स्थायित्वं तु सौगतानामनभिमत-मेव। स्थायित्वे च प्रत्यासन्नानां शब्दश्रवणं चिरकालमनुवर्तेत। तस्मादप्राप्यकारित्वा-संभवादवर्जनीयं नानादेशोपलब्धेर्भ्रान्तित्वम्। अस्यानुत्पन्नत्वपक्षे[1] तु ध्वनीनां क्रमेणास-न्नदूरगमनाद् गत्वरत्वेन चैकस्मिन् श्रोत्रे चिरमनवस्थानादुपपन्ना क्रमेणशब्दोपलब्धिः[2], चिरकालाननुवृत्तिश्च। तस्मान्नैकान्ततस्तावदनित्यत्वम्।

अर्थप्रतीत्यनुपपत्त्या[3] तु नित्यत्वमेव युक्तम्, न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्याऽन्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्वं सम्भवति, संबन्धग्रहणासंभवादगृहीतसंबन्धस्य चाऽप्रत्यायक-त्वात्। न चान्यस्मिन गृहीतसंबन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं संभवति, न हि गोशब्दे गृहीत-संबन्धेऽश्वशब्दः प्रत्याययति।

नहीं कर सकते§।

इसी पक्षमें दूसरा दोष देते हैं 'किंच' से। और सुनिए—शब्द क्षणिक है या स्थाई है ? ये दो विकल्प हैं। इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं। यदि शब्दको क्षणिक माना जाए तो समीप रहने वालोंसे गृहीत मात्र ही नष्ट हुआ शब्द, बादमें दूरस्थ लोगों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हो सकता। यदि दूसरा पक्ष मानें तो यह बौद्धोंको स्वीकार नहीं, क्योंकि वे सबको क्षणिक मानते हैं। और स्थायित्व पक्षमें समीपमें रहनेवालोंको चिरकाल पर्यन्त निरन्तर शब्द सुनाई देता रहेगा। उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे। इसलिए प्राप्यकारिताके असम्भव होनेसे अवश्य ही अनेक देशोंमें शब्दकी उपलब्धि भ्रम है। पर पक्षमें दोष देकर, अपने पक्षमें युक्ति देते हैं 'अस्मत्पक्षे तु' इत्यादिसे। सिद्धान्त पक्षमें तो ध्वनियोंके समीप देश तथा दूर देशमें क्रमशः जानेसे, तथा विनाशी होनेसे एक ही श्रोत्रमें बहुत देर तक रहना सम्भव नहीं। अतः क्रमसे शब्दकी उपलब्धि तथा चिरकालतक न रहना युक्ति संगत है। इसलिए नियमसे शब्दकी अनित्यता नहीं होती; किन्तु वक्ष्यमाण रीतिसे नित्यता ही युक्त है।

(अब शब्दकी नित्यता सिद्ध करते हैं 'अर्थ' इत्यादिसे। शब्द श्रवणके अनन्तर अर्थ-प्रतीति होती है। यदि शब्द अनित्य होता तो उसके अनन्तर अर्थ प्रतीति नहीं होनी चाहिए थी, अतः) अर्थ प्रतीतिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे शब्दका नित्य होना ही युक्त है। प्रत्येक उच्चारणमें जो नए-नए शब्द उत्पन्न होते हैं, सम्बन्ध ग्रहके न होनेसे, उनकी अर्थ बोधकता सम्भव नहीं। और अगृहीत शक्तिक शब्द अर्थका बोधक नहीं हो सकता।

---

§ यहां श्रोत्रेन्द्रियको प्राप्यकारि मानना होगा। प्राप्यकारिता स्वीकार करनेपर श्रोत्र देशमें होनेवाले शब्दको प्रत्यक्ष कहना होगा। श्रोत्रका ध्वनि देशमें गमन सम्भव नहीं। श्रोत्र देशमें विद्यमान शब्दका ध्वनि देशके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी श्रोत्र देशस्थ शब्द और ध्वनि देशका जो सम्बन्ध है, उसकी प्रतीति भ्रम है यह सिद्ध हुआ। इसी अर्थको वार्तिककारने स्पष्ट किया है। यथा—'तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे। स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः॥इति॥

---

१. 'अस्मत्पक्षेतु' इति 'ख' पुस्तके पाठः। २. क्रमेणोपलब्धिरिति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।
३. अर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्या, अर्थानुपपत्या, इति च पुस्तकान्तरपाठः।

सत्यम्—असदृशो हि न प्रत्याययति, यस्त्वन्योपि गृहीतसम्बन्धेनार्थवता शब्देन सदृशः शब्दः, स प्रत्याययतीति चेत् ? न, तदसम्भवात्। नहि कश्चिदपि मुख्योर्थवान् सम्भवति, सर्वेषां तुल्यत्वेन सम्बन्धाऽग्रहणात् । न हि द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धस्य सम्बन्धग्रहणं सम्भवति, अन्वयव्यतिरेकाऽभावात्।

शंका—दूसरे शब्दका शक्तिग्रह हुआ, दूसरा शब्द अर्थका प्रत्यायक हो, यह सम्भव नहीं । इसीको व्यतिरेक मुखसे बताते हैं 'न हि' इत्यादिसे । गो शब्दका शक्तिग्रह होनेपर अश्व शब्द अर्थका प्रत्यायक नहीं होता । उत्तर—ठीक है, असदृश = विजातीय शब्द अर्थका प्रत्यायक नहीं होता यथा अश्व शब्द गोरूप अर्थका प्रत्यायक नहीं होता । जो शब्द गृहीत सम्बन्ध है तथा अर्थवान् है, जो उस शब्दके सदृश है, वह अर्थका प्रत्यायक होता है, ऐसा नहीं कह सकते, उसके असम्भव होनेसे । इस पक्षमें कोई शब्द मुख्य अर्थवान् नहीं होता । सम्बन्धका ग्रहण न होनेसे । यह सभीके लिए समान है। शक्तिग्रहमें यह नियम नहीं है कि दो या तीन बार अज्ञान सम्बन्धका अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे, शक्ति सम्बन्ध गृहीत नहीं होता❀ ।

['प्रकृतिविकृत्योश्च' इस सूत्रसे इकारके स्थानपर यकार होता है। जो यकारके रूपसे विकारको प्राप्त करती है इकार, वह अनित्य है; यह कहा गया है। इसका परिहार करनेवाला सूत्र है—'वर्णान्तरमविकारः ॥ १६ ॥ अर्थ = (इकारका यकार विकार है, यह जो कहा गया है, वह) वर्णान्तरम् = दूसरा वर्ण है, अविकारः = विकार नहीं है; ॥ १६ ॥ (पूर्व पक्षीके मतमें शब्द गुण है । सिद्धान्तमें द्रव्य और विभु है; उसका विकार तो होता नहीं, अतः यह अनित्यताका प्रयोजक नहीं । और व्याकरण शास्त्र नियम रूप है, अपूर्व रूप नहीं ।)

पूर्वपक्षका सूत्र है 'वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य' इसका परिहार करनेवाला सूत्र है 'नादवृद्धिपरा' ॥ १७ ॥ अर्थ = (शब्दकी जो) वृद्धि कही गई है, वह संयोग—विभागरूप जो नाद = ध्वनि है, उसीकी वृद्धि है, परा = उसीमें इसका तात्पर्य है (शब्दमें नहीं) निरवयव होनेसे । अर्थात् अनेक वक्ताओं द्वारा गकारका उच्चारण होनेपर संयोग—विभागरूप नाद उत्पन्न होते हैं। वे पृथक्-पृथक् शब्दको व्यक्त करते हुए, स्वगत वृद्धिका शब्दमें आरोप करके, शब्दमें महत्व व्यवहारको उत्पन्न करते हैं; अतः ध्वनिकी वृद्धि है शब्दकी नहीं । भाष्यकारने भी इसी अर्थको कहा है—'वायवीयाः संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जयन्तो नादशब्दवाच्याः । तेन नादस्यैषा वृद्धिर्न शब्दस्य' इति ॥

वार्तिककारने दृष्टान्त देकर इसे और भी पुष्ट किया है—

वर्णोऽनवयवत्वात्तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति । व्योमादिवदतो सिद्धा वृद्धिरस्य स्वरूपतः ॥ इति ॥

इस प्रकार छः सूत्रोंसे परपक्षका निराकरणकर, उतने मात्रसे अपना सिद्धान्त स्थिर नहीं होता, यह समझकर, महर्षि जैमिनिने सूत्रका उपन्यास किया = 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' ॥ १८ ॥ यह सिद्धान्त सूत्र है । तु शब्द पूर्व पक्षका व्यावर्तक है । शब्द पद पूर्व प्रकरणसे अनुवृत्त है । इसका अर्थ हुआ = नित्यः = शब्द नित्य है । (इसमें हेतु है =) दर्शनस्य परार्थत्वात् = दृश्यते

❀ अर्थात् शब्दका श्रवण होनेपर अर्थ प्रतोति होती है । शब्द श्रवणके अभावमें अर्थ प्रतीति नहीं होती; यही अन्वय-व्यतिरेक शक्ति ग्रहका निश्चायक है । नहीं तो शक्ति ग्रह नहीं होता ।

शब्दानित्यत्वपूर्वपक्षस्तत्खण्डनञ्च

अथ व्युत्पत्तिसमये सदृशेषु शब्देषु द्वित्रेषूपलब्धेषु पश्चाच्छ्रूयमाणः संबन्धग्रहणं लब्ध्वाऽर्थवान् भवति, तदुत्तरकालास्तत्साहश्यात प्रत्याययन्तीत्युच्यते। तद्युक्तम्, य एवोपलब्धशब्दान्तरेण पश्चाच्छ्रूयमाणोऽर्थवान् निरूप्यते स एवाश्रुतशब्दान्तराणां पुरुषाणां प्रथमश्रुतोऽनर्थक इति विरोधापत्तेः।

तदुक्तम्—'अप्रतीतान्यशब्दानां तत्कालेऽसावनर्थकः।
स एवान्यश्रुतीनां स्यादर्थवानितिविस्मयः''[1] ॥ इति।

अथाऽर्थवानेवायम्, अप्रतीतान्यशब्दास्त्वन्वयव्यतिरेकवैकल्यादर्थवत्त्वं न जानन्तीत्युच्यते? तथा सति तदुत्तरकालानामपि शब्दानामेवमर्थवत्त्वसम्भवात् किमिति साहश्येन प्रत्यायकत्वम्। तदुक्तम्—'अथाऽस्य विद्यमानोपि' इत्यादिना।

शब्दः अनेनेति दर्शनम् = इस व्युत्पत्तिसे दर्शन शब्द उच्चारण परक है। परार्थत्वात् = उच्चारण परार्थ होता है; अतः परार्थ पद अर्थ प्रत्यायनके लिए है। अर्थात् यदि उच्चारण मात्रसे शब्द नष्ट होता तो अर्थ ज्ञानके लिए शब्दका उच्चारण न होता। क्योंकि शक्ति ग्रह न होनेसे शब्द अर्थका बोधक नहीं होता। इसलिए जितने शब्द हैं, वे सब नए नए होंगे। उनसे अर्थबोध नहीं होगा। अर्थ प्रतीति तो होती है। अतः शब्द नित्य है। यहां अर्थापत्ति विपक्षित है; अनुमान नहीं। इससे यह जो नैयायिक दोष देते हैं, कि परार्थत्व दर्शनका धर्म है, शब्दका धर्म नहीं, यह पक्षवृत्ति न होनेसे अनुमान नहीं बन सकता। अतः कहा भी है—

अनुमानप्रयोगे हि वक्तुमित्यादि युज्यते। अर्थापत्तिरियं चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता ॥
सम्बन्धदर्शनं चास्य नानित्यस्योपपद्यते। सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद्ध्रुवं कालान्तरेऽस्थितिः ॥इति।]

शंका—यदि कहा जाए शक्ति-ग्रहके समय सजातीय दो-तीन शब्दोंके उपलब्ध होनेसे बादमें सुनाई देने वाला शब्द शक्तिग्रहको प्राप्तकर, अर्थवान् होता है और उसके बाद होने वाले शब्द अर्थवत् शब्दोंके साहश्यको लेकर, अर्थके प्रत्यायक होते हैं।

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि जो उपलब्ध दूसरे शब्दोंके साहश्यसे बादमें सुनाई देने वाला शब्द अर्थवान् कहलाता है, वही शब्द जिन पुरुषोंनें और शब्दोंको नहीं सुना है उनके लिए प्रथम वार सुना हुआ शब्द निरर्थक हो जाएगा; यह विरोध रूप आपत्ति होगी। इसी बातको वार्तिकारने बताया है। (वार्तिक ऊपर देखिए) अर्थ = जिनसे दूसरे शब्द सुने नहीं गए हैं, ऐसे लोगोंके लिए उस समय वह शब्द अनर्थक होता है। वही शब्द अन्य शब्दोंमें अर्थवान् होता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥

शंका—यदि कहा जाए वह शब्द अर्थवान् होकर ही, अप्रतीत अन्य शब्द हैं जिनको, अर्थात् जिन्होंने अन्य शब्दोंको नहीं सुना है, वे पुरुष अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे अर्थवत्ताको नहीं जान पाते हैं। उत्तर—वैसा होने पर उनके उत्तर कालके शब्दोंकी भी अर्थवत्ताके सम्भव न होनेसे साहश्यके द्वारा अर्थ बोधकता क्यों मानी जाए? इसलिए वार्तिककारने कहा है 'यदि कहाजाए उसके रहने पर भी अन्य शब्दोंकी तरह बोधकता नहीं रहती, अतः यह शब्दका भी मुख्य अर्थ होना युक्त है'। शब्द शाहश्यको लेकर वाचकत्व क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा।

---

१. श्लोकवा० शब्दनि०, का० २५०।

अथोत्तरकालस्य शब्दस्य कांश्चिदगृहीतसम्बन्धान् प्रत्यप्रत्यायकत्वादानर्थक्यमेवाश्रीयते, ततो योऽसावर्थवत्त्वेनाभिमतः शब्दः, यत्सादृश्यादुत्तरेषां प्रत्यायकत्वम्, सोपि केषांचिदप्रत्यायक इत्यनर्थक एवेति सर्वेषामानर्थक्यं स्यात्। तदुक्तम्—'अनर्थकत्वमस्य स्यात्' इत्यादिना।

किं च व्युत्पत्तिकालवर्ती शब्दोऽर्थवान्, उत्तरे तु व्यवहारकालवर्तिनस्तत्सादृश्यात् प्रत्याययन्तीतिब्रुवाणस्य विरुद्धमापद्यते—य एव हि केषांचिद् व्युत्पत्तिकालवर्ती स एवान्येषां व्यवहारानुपातीत्येकस्यैवार्थवत्वं मुख्यम्, तत्सादृश्याद् गौणमिति विरोधः। तदुक्तम्—'अर्थवत्सदृशत्वेन' इति, तस्मान्न सादृश्येन प्रत्यायकत्वमित्येकत्वमेव शब्दस्याश्रयितव्यम्।

अथ गत्वादिसामान्यमेकमाश्रित्य वाचकत्वं समर्थ्येत ? तन्न, तदभावात्—व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते नान्यथा।

शंका—यदि मानाजाए उत्तर कालीन शब्दके सम्बन्धको जिन्होंने ग्रहण नहीं किया, ऐसे पुरुषोंके प्रति शब्दके अर्थ-प्रत्यायक न होनेसे यदि उसे अनर्थक हो मानते हैं, तो ? उत्तर—तब जो अर्थवत्वेन अभिमत शब्द है, जिसके सादृश्यसे उत्तर कालीन शब्दोंको भी प्रत्यायकता आपको दृष्ट है, वह शब्द भी कुछ लोगोंके लिए अर्थ बोधक नहीं होता, अतः वह सबके लिए अनर्थक ही है। इस प्रकार सभी शब्दोंकी अनर्थकता हो जाएगी। उक्त अर्थका प्रतिपादक वार्तिक है। अर्थ = उस शब्दको जिसने नहीं सुना है, उसके प्रति वह अनर्थक है। अर्थात् अर्थवान् नहीं होगा। इसी प्रकार उसके पूर्व शब्दोंके भी सादृश्य होनेसे अर्थ-प्रत्यायकता नहीं होगी, अतः सभी शब्दोंकी अनर्थकता हो जाएगी*।

और सुनिए शक्तिग्रह कालमें विद्यमान गो शब्द किसी पुरुषके प्रति अर्थवान् होता है, उत्तर कालीन शब्द व्यवहार कालमें रहकर और लोगोंके लिए पूर्व शब्दोंके समान गौण अर्थका बोधक होता है, ऐसा कहने वालोंके लिए यह विरोध आता है, कि जो शब्द कुछ लोगोंके लिए शक्तिग्रहकालमें मुख्य रहता है, वही अन्य लोगोंके लिए व्यवहार कालमें गौण होता है; अतः एक ही शब्दकी अर्थवत्ता मुख्य है। उसके सादृश्यसे अन्यत्र गौण है यह विरोध है। जैसेकि वार्तिकमें कहा गया है 'अर्थवत्' इत्यादि§। प्रायशः इस वार्तिककी ग्रन्थकारने ही व्याख्याकी है। अतः सादृश्यसे शब्दकी बोधकता नहीं हो सकती। इससे शब्दको एक ही मानना चाहिए।

शंका—यदि कहा जाए शब्दका भेद होने पर भी गत्वादि सामान्य एकको मानर, वाचकताका समर्थन किया जाए ? उत्तर—यह नहीं हो सकता, गत्वादि सामान्यका अभाव होनेसे। (इसका निरास स्फोटवाद प्रकरणमें कर चुके हैं) शंका—बताइए सामान्य कहां माना जाए ? उत्तर—व्यक्तियोंके भेदसे सामान्य सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। (अर्थात् गकारादि व्यक्तियोंका भेद तो है न हीं। विवेकके अग्रहणसे प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्षके द्वारा गकारादि व्यक्तिकी एकता ही मालूम पड़ती है। भेदज्ञात नहीं होता, इसलिए गत्वादि सामान्य नहीं है)

---

* पूरी कारिका इस प्रकार है—

अनर्थकत्वमस्यस्यादथानन्यश्रुतीन्प्रति। पूर्वस्मिन्नपितत्सत्वात्सर्वानर्थकताभवेत ॥

§ अर्थवत्सदृशत्वेन यो वा श्रुतवतां मतः। मुख्योऽसावश्रुतीनां स्यात् तदेकत्वेन युज्यते ॥

शालिकनाथमतस्य निरासः

कश्चित् पुनराह—सत्यपि व्यक्तिभेदे निष्प्रमाणकमेव सामान्यम्। यत्र हि भेदावगतौ सत्यामेवाऽभेदावगतिः, तत्र सामान्यम्। इह तु सन्नपि व्यक्तिभेदो नावगम्यते। अतोऽत्र विवेकाग्रहणादेव प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिरूपा नालं सामान्यं साधयितुमिति।

तत्त्वयुक्तम्—सति हि व्यक्तिभेदे कथमन्तरेण सामान्यं प्रत्यभिज्ञा स्यात्। विवेकाग्रहणादिति चेत्? कोयं विवेकाग्रहो नाम? ह्यस्तनाद्गकाराद्यतनस्य गकारस्य यद् व्यावृत्तं रूपं तन्न गृह्यते इत्यर्थः। किं तर्हि गृह्यते? अद्योच्चारितेपि गकारेऽवश्यं किं चिद्रूपं गृह्यते। व्यावृत्तं चेन्न गृह्यते, व्यक्तमनुवृत्तग्रहणम्। अनुवृत्तं च सामान्यमित्युच्यते। तस्मात् सिध्यति सामान्यम्। न च सादृश्यादेव प्रत्यभिज्ञासिद्धेरलं सामान्येनेति वक्तव्यम्, अवयवसामान्ययोगात्मकत्वात् सादृश्यस्य, वर्णानां चाऽनवयवत्वात्।

ननु सम्बन्धिसामान्यमात्रं सादृश्यम्, अतोऽनवयवानामपि ताल्वादिस्थानसामान्यं सादृश्यं भविष्यति? न, अश्रावणत्वात्, श्रवणजन्या हीयं प्रत्यभिज्ञा, तदस्याः श्रवणग्राह्य मेवालम्बनं वक्तव्यम्। न च ताल्वादिसामान्यं श्रावणम्, अतो गत्वादिसामान्यनिबन्धनेयं प्रत्यभिज्ञा सिध्यति। एवं सति व्यक्तिभेदे सामान्यम्, तदभावात्तु नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्। अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम्।

शंका—कोई (प्राभाकर मातानुयायी शालिकनाथ मिश्र) शंका करते हैं—व्यक्ति भेद होनेपर भी सामान्यको नहीं मान सकते, अतः वह निष्प्रमाणक है। जहां भेदका ज्ञान होने पर अभेदका भी ज्ञान होता है, वहां सामान्य माना जाता है। प्रकृतमें विद्यमान भी व्यक्ति भेद ज्ञात नहीं होता। अतः इसमें विवेकके अग्रहणसे जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह भ्रमरूप है, इसलिए प्रत्यभिज्ञा सामान्यको सिद्ध नहीं कर सकती। उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं, व्यक्ति भेद होने पर, जातिके विना प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? (व्यक्तिके एक होनेसे प्रत्यभिज्ञा नहीं है, किन्तु) विवेकाग्रहसे ही प्रत्यभिज्ञा होती है, यदि ऐसा कहें? यह विवेकाग्रह क्या वस्तु है? कलके गकासे आजके गकारका कोई पृथक् रूप गृहीत नहीं होता, यही विवेकाग्रह है। शंका—तब क्या गृहीत होता है? उत्तर—आज उच्चारित गकारमें अवश्य ही कुछ रूप गृहीत होता है। यदि भिन्न रूपका ग्रहण नहीं होता तो अनुवृत्तका ग्रहण होता है, यह स्पष्ट है। अनुगत रूप ही सामान्य कहा जाता है, अतः सामान्य सिद्ध होता है। शंका—सादृश्यसे ही प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होती है, सामान्यकी आवश्यकता नहीं। उत्तर—अवयव सामान्यका योग ही सादृश्य कहलाता है। वर्ण तो निरवयव हैं (उनका सादृश्य कैसे होगा? अतः सादृश्यको लेकर प्रत्यभिज्ञाको सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए सामान्यको मानना चाहिए)

शंका—यदि कहा जाए सम्बन्धि सामान्य ही सादृश्य है, अवयव सामान्यका योग नहीं, अतः वयव रहित वर्णोंका ताल्वादि स्थानोंका सामान्य ही सादृश्य हो सकता है। उत्तर—नहीं, श्रवणका विषय न होनेसे, श्रवणेन्द्रियसे 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उसका श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य ही आलम्बन कहना होगा। ताल्वादि स्थान सामान्य, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं, अतः गत्वादि सामान्यको लेकर ही प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होती है। उक्त प्रकारसे व्यक्ति भेदके सिद्ध

प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यस्थापनम्

कि पुनरिदं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। पूर्वानुभवजनितसंस्कार-सध्रीचीनेन्द्रियजन्यत्वाद् ग्रहणस्मरणरूपमिदमेकं ज्ञानम्। तत्र पूर्वानुभूतोंऽशः स्मर्यते, स्मर्यमाणेन तु तेन सहैकत्वविशिष्टं वर्तमानं रूपं प्रत्यभिज्ञया प्रत्यक्षेण गृह्यत इति वेदितव्यम्। तस्मान्नित्यः शब्दः। प्रदीपे तु प्रभामण्डलस्याऽवयवविश्लेषमन्तरेणा-ऽत्यन्तानुपपत्तेर्विश्लिष्टावयवस्य चाऽवयविनोऽवश्यम्भावी विनाशः, विनष्टे च पूर्वस्मिन् प्रदीपे पश्चात्तनमवश्यं प्रदीपान्तरमेव भवति। दृढे च भेदे प्रत्यभिज्ञा सादृश्यनिमित्तेति कल्प्यते। शब्दे तु न किं चिद्भेदे प्रमाणमस्तीति विशेषः।

क्षणभंगवादेन पूर्वपक्षः

ननु सर्वभावानां क्षणिकत्वात् कथं शब्दस्य नित्यता ? किं पुनः सर्वक्षणिकत्वे प्रमाणम् ? प्रत्यक्षं तावत् तत्कालसत्तां बोधयति, न कालान्तरनिषेधं करोति।

होनेपर, सामान्य सिद्ध होता है। उसके अभावमें सामान्य है ही नहीं, यही कहना होगा। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञासे शब्दका नित्यत्व सिद्ध हुआ।

शंका—आपने शब्दकी नित्यतामें प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण माना है ? प्रत्यभिज्ञा प्रमाणका क्या स्वरूप है ? उत्तर—यह प्रत्यक्ष है। पूर्वानुभवसे संस्कार होते हैं। उनके सहित इन्द्रियके द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान एक है। इसमें दो अंश हैं एक ग्रहण है, दूसरा स्मरण। इन दोनोमें पूर्वमें अनुभूत अंशका स्मरण होता है। स्मृतिके विषयके साथ एकत्व विशिष्ट जो वर्तमान रूप है, वही प्रत्यभिज्ञाका रूप प्रत्यक्षसे गृहीत होता है, यह समझना चाहिए। इसलिए शब्द नित्य है*।

(शंका—प्रदीपमें भी वही यह दीप है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उससे दीपकी भी नित्यता सिद्ध होगी ? उत्तर—नहीं) प्रदीपमें प्रभा मण्डलके अवयव विभागके बिना सर्वथा उपपत्ति न होनेसे विभक्त अवयवोंवाले अवयवीका विनाश होना अवश्यम्भावी है। पूर्व प्रदीपके नष्ट होनेपर, बादमें होनेवाला प्रदीप तो अवश्य ही दूसरा प्रदीप होता है। इस प्रकार भेदके स्पष्ट होनेसे प्रत्यभिज्ञा सादृश्यको लेकर होती है, ऐसी कल्पनाकी जाती है। (अर्थात् प्रदीपमें प्रत्यक्ष ही भेद ग्राहक प्रमाण है, अतः यहाँ उपर्युक्त दोष नहीं) शब्दके भिन्न होनेमें तो कोई प्रमाण नहीं, यह दोनोंका वैषम्य है।

शंका—सभी पदार्थ क्षणिक होते हैं। सबमें शब्द भी तो आता है। वह भी क्षणिक है। उसकी नित्यता कैसे होगी ? पुनः शंका—सभी पदार्थोंके क्षणिक होनेमें क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष तो उस कालकी सत्ताका बोधन कराता है। कालान्तरमें सत्ताका निषेध नहीं करता। इसीको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे यह नील है, ऐसा

* यहां ग्रन्थकारने प्रत्यभिज्ञाका प्रत्यक्ष-प्रमाणमें अन्तर्भाव किया है। इस अंशमें नैयायिक तथा मीमांसकका मतैक्य है। जैसेकि 'अत्रोच्यते। एकमेवेदं विज्ञानं प्रत्यभिज्ञासमाख्यानम्।..........
..................तस्मात्तत्तेदन्तास्पदस्य पद्मरागस्य तदवभासिनोऽनुभवस्य चैकत्वमनुभवाद्वा अनुमानाद्वा तदवभासलक्षणफलाऽभेदजन्मनः सिद्धम्'।

दृष्टव्य-न्यायकणिका-टीका, पृ० १२५।

नीलप्रत्यक्षमिव न पीतिमानं निषेधति। दृश्यादर्शनेन तु तस्य निषेधः। न च संप्राप्त कालान्तरं दृश्यम्, येन दृश्यादर्शनात् तन्निषेधः स्यात्। न चान्यदपि प्रमाणं पश्यामः।

पश्यामः—स्वभावहेतुकं प्रमाणं सत्तामात्रानुबन्धिसाध्यविषयत्वादिति। कथं पुनः सत्तामात्रानुबन्धसिद्धिः? क्षणिकतायाः विपक्षे बाधकप्रमाणप्रवृत्तेः। क्षणिकत्वविपक्षे ह्यक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्ध्या बाध्यमाना सत्ता क्षणिकत्वेन व्याप्यमाना तदनुमापयति।

किं पुनः सत्ताया व्यापकम्? क्रमाऽक्रमाविति ब्रूमः। तथा हि—अर्थक्रियाकारितैव सत्ता, नान्या। न हि स भावः[1] सत्तां लभते, यो न काञ्चिदर्थक्रियामारभते, यतः स्वज्ञानस्यापि सर्वे भावाः कारणम्। यदपि किंचिदज्ञायमानमपि सत्त्वेन सम्भाव्यते, तदपि सर्वज्ञविज्ञानं[2] प्रत्यालम्बनत्वादर्थक्रियाकारि, अर्थक्रियाकारितैव[3] सत्ता। यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति। सा च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, न चाऽक्षणिकत्वे ते सम्भवतः। स्थायी हि पदार्थो न तावदर्थक्रियाः सर्वा युगपत्कर्तुमर्हति, तथा सति द्वितीये क्षणे कृत्याभावादर्थक्रियाकारित्वविरहादसल्लक्षणापत्तेः[4] क्षणिकत्वमेव

प्रत्यक्ष होता है, यह प्रत्यक्ष नीलको ही सिद्ध करता है, पीतका निषेध नहीं करता। सदृश्य पदार्थके अदर्शनसे ही उसका निषेध है, ऐसा नहीं कह सकते। अभी कालान्तर तो दृश्य नहीं है, जिससे दृश्यादर्शनके द्वारा उसका निषेध हो सके। पुनः शंका—प्रत्यक्ष न हो, दूसरा कोई प्रमाण हो? उत्तर—दूसरा प्रमाण नहीं देखते हैं।

स्वभाव हेतुक अनुमान ही इसमें प्रमाण है। जो साध्य क्षणिकत्व है, वह सत्ता मात्रका नियामक है। सद्वस्तुका स्वभाव ही है क्षणिक होना। क्योंकि यह नियम है—जो सत् है, क्षणिक होता है। उसीका प्रश्न पूर्वक उपपादन करते हैं—'कथं' इत्यादिसे। सत्ता मात्रसे व्याप्ति कैसे होगी? विपक्षमें क्षणिकत्वका बाधक प्रमाण प्रवृत्त होनेसे। क्षणिकत्वका विपक्षी अक्षणिकत्व है व्यापकानुब्धिसे बाधित जो सत्ता है, वह क्षणिकताकी व्याप्य होकर, उसका अनुमान कराती है। शंका—सत्ताका व्यापक कौन है? उत्तर—क्रम और अक्रम। इसीका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं। अर्थक्रिया कारिता ही सत्ता है। (अर्थात् जो प्रयोजनको साधता है, वही सत् होता है दूसरा नहीं) वह पदार्थ सत्ताको कभी प्राप्त नहीं करता, जो कभी अर्थक्रियाको नहीं उत्पन्न करता। क्योंकि अपने ज्ञानके सभी पदार्थ कारण होते हैं। जो कुछ अज्ञात है, किन्तु सद्रूपसे सम्भावित है, वह भी सर्वज्ञके ज्ञानका आलम्बन होता है, अतः अर्थक्रियाकारी है। इसलिए अर्थक्रियाकारिता ही सत्ता है। जो अर्थक्रियाकारी है वही परमार्थ सत् है। वह सत्ता क्रम और यौगपद्यसे व्याप्त है। अक्षणिकता माननेपर उन दोनोंका होना सम्भव नहीं। स्थाई पदार्थ सभी अर्थक्रियायोंको एक कालमें नहीं कर सकता। ऐसा होनेपर दूसरे क्षणमें कोई कार्य न होनेसे अर्थक्रिया कारिताके अभावसे असल्लक्षण हो जाएगा। अतः क्षणिकता ही सिद्ध होगी। क्रम भी नहीं

१. स्वभाव इति 'ख' पुस्तके पाठः। २. सर्वंविज्ञानमिति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।
३. तदर्थक्रियाकारितेति 'क' पुस्तके पाठः। ४. अतल्लक्षणापत्तेरिति 'ख' पुस्तके पाठः।

स्यात्। नापि क्रमः सम्भवति—स हि भावः सर्वार्थक्रियासमर्थः किमिति कांचिदेवारभते, नाऽन्याम्, समर्थस्य क्षेपायोगात्।

सहकार्यपेक्षया विलम्बत इति चेत्? न, सहकारिणो ह्यकिंचित्करा अनपेक्ष्याः। किंचित्कराश्चेत्? यत्तैः क्रियते, तदेव कार्यसाधनं स्यात्। तदनन्तरं कार्यनिष्पत्तेः। भावस्त्वकारणमेव[1] न स्यात्। न ह्यागन्तुकेऽतिशये कार्यमारभमाणे भावस्य कारणता सम्भवति, भिन्नत्वात्। अभेदे वा भावोपि तत्कालजन्मा क्षणिक एव स्यात्। भेदाऽभेदौ तु विरुद्धावेव, तस्मान्नाऽक्षणिकस्य सत्ता सम्भवतीति सिद्धं सन्मात्रानुबन्धित्वं क्षणिकतायाः।

क्षणभंगे युक्त्यन्तरवर्णनम्

किं च कृतकानां भावानामवश्यम्भावी विनाशः, तेनापि क्षणिकत्वं घटादीनाम्। तथाहि—'यद् येषां ध्रुवभावि न तत्र तेषां हेत्वन्तरापेक्षा। ध्रुवभावी च कृतकानां विनाश इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। ध्रुवभाविता हि निषिध्यमानहेत्वन्तरापेक्षित्वव्याप्ता, अग्न्युष्णत्वादिषूपलब्धा स्वव्यापकमनपेक्षत्वमुपस्थापयन्ती तद्विरुद्धं सापेक्षत्वं प्रतिक्षिपति।

बन सकता। वह स्थाई पदार्थ सभी अर्थक्रियाओंको करनेमें समर्थ हो तो, क्यों एक ही अर्थक्रिया को आरम्भ करता है? दूसरीको नहीं? समर्थको देर नहीं करनी चाहिए, (उसे तो सभी क्रियाएं एक साथ कर देनी चाहिएँ)

शंका—यदि कहें पदार्थ सभी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है, सहकारी कारणकी आकांक्षासे विलम्ब होता है? उत्तर—नहीं- सहकारी कारण अकिंचित्कर है? या किंचित्कर है? अर्थात् सहकारिसे कारणमें कोई अतिशय या उपकार होता है या नहीं होता? प्रथम पक्षमें उसकी अपेक्षा नहीं। दूसरे पक्षमें उन्हींसे अर्थक्रिया होगी। उसके अनन्तर कार्य होनेसे वही कार्यका साधन भी होगी। अर्थात् वही कारण हो जाएगी। आगन्तुक अतिशयसे कार्य होनेपर भाव=पदार्थको कारणता सम्भव नहीं, अतिशयसे भिन्न होनेसे। अभेद पक्षमें तो भाव=पदार्थ और उस कालमें उत्पन्न होनेवाला अतिशय दोनों भी क्षणिक ही होंगे। (अर्थात् एकरूपता होनेसे पदार्थ क्षणिक ही सिद्ध होगा) भेदाभेद तो परस्पर विरुद्ध हैं। जो क्षणिक नहीं है, उसकी सत्ता नहीं होती, अतः सिद्ध हुआ कि क्षणिकता सत्ता मात्रकी अनुबन्धिनी है।

क्षणिकतामें दूसरी युक्ति देते हैं 'किंच' से। जो भाव पदार्थ कार्य हैं, उनका विनाश अवश्यं भावी है। इससे भी घटादिको क्षणिकता सिद्ध होती है। इसीका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं। जिन पदार्थोंका जो होना अवश्यं भावी है, उसमें उनको दूसरे कारणोंको अपेक्षा नहीं रहती। भाव कार्योंका विनाश अवश्यंभावी है, यह व्यापकविरुद्ध व्याप्तोपलब्धि है*। इससे व्याप्याभावका अनुमान होता है, यह अग्निकी उष्णतामें देखा गया है। अतः वह अपनी व्यापक अनपेक्षताका

---

* धर्मकीर्तिने अनुपलब्धिके ग्यारह भेद बतलाए हैं। उनमें पाँचवां प्रकार है विरुद्धव्याप्तोपलब्धि। उत्पन्न पदार्थका विनाश होना यह स्वभाव है। उसमें दूसरे हेतुको अपेक्षा नहीं होती। इसीको यहाँ ग्रन्थकारने बताया है। इसका विशेष विवेचन न्यायबिन्दु पृ० ३८ पर देखिए।

---

१. भावस्तत्कारणमेवस्यादिति 'क' पुस्तके पाठः।

अथ वा हेत्वन्तरापेक्षाणां वाससि रागादीनामध्रुवभावित्वव्याप्तेस्तद्विरुद्धं ध्रुवभावित्वं व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या विनाशस्य हेत्वन्तरापेक्षां निवारयति। निरपेक्षश्च विनाशः स्वाभाविको जन्मानन्तरमेव भवतीति सिद्धः क्षणभङ्गः।

मुसलप्रहारादयस्तु विसदृशसन्तानहेतवः, न विनाशस्य। प्रतिपत्तारस्तु सदृशपराऽपरोत्पत्त्या क्षणानां भेदमलक्षयन्ततस्तत्त्वभ्रान्त्या विनाशमबुध्वा मुसलप्रहारानन्तरं विसदृशसन्तानदर्शिनस्तदैव विनाशं मन्यमाना मुसलादेर्विनाशहेतुतां मन्यन्ते। परमार्थतस्तु न केपि विनाशहेतवः, हेत्वन्तरजन्मा च विनाशो न तावद् भावादभिन्नो भवितुमर्हति, हेतुभेदात्। भिन्नत्वे तु तस्मिन् जातेपि भावस्य पूर्ववदुपलब्धिः स्यात्। पटजन्मनि घटवत्। तस्मात् स्वहेतुत एव भावा विनाशस्वभावा जायन्ते इति क्षणभङ्गसिद्धिः।

किं च प्रयत्नरक्षितानामपि घटादीनां कियतापि कालेनाऽवयवक्षयविश्लेषवशेन विनाशो दृश्यते विनैव मुसलप्रहारादिभिः। सोयमुत्पत्तिप्रभृति किंचित् किंचिदन्यथात्वमन्तरेण नोपपद्यते, प्रत्यक्षेणैव चान्यथात्वमभिनव—पुराणावस्थयोरज्ञातघटोत्पत्तिकालैरपि पुरुषैरुपलभ्यते। न चैकस्यैव घटस्य नानारूपत्वं सम्भवति, नानात्वैकत्वयो-

---

उपस्थापन करती हुई, अनपेक्षताकी विरोधिनी सापेक्षताका निवारणकर देती है। (इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्तिके द्वारा प्रकृत अर्थको सिद्धकर, अन्वय-व्याप्तिके द्वारा भी उसे सिद्ध करते हैं 'अथवा' इत्यादिसे) अथवा हेत्वन्तरकी अपेक्षा रखनेवाले वस्त्र गत रागादिमें अवश्यं भाविता नहीं। उसी व्याप्तिके द्वारा उस अध्रुवभाविताकी विरोधिनी जो ध्रुवभाविता है, वह विनाशकी हेत्वन्तरापेक्षाका निवारण कर देतो है, व्यापक विरूद्धोपलब्धि होनेसे। उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं कि निरपेक्ष विनाश स्वाभाविक है। वह जन्मके अनन्तर ही होता है। इस प्रकार क्षणभंग सिद्ध हुआ।

शंका—(विनाश तो कार्य है, वह कारणकी अपेक्षा रखता है। कारण मुसल प्रहारादि है। तब आप कैसे कहते हैं विनाश हेत्वन्तर निरपेक्ष है?)

उत्तर—मुसल-प्रहार आदि तो भिन्न सन्तानके कारण हैं, विनाशके नहीं। देखनेवाले लोग सदृश उत्तरोत्तर क्षणोंके भेदको न देखते हुए, तत्त्वकी भ्रान्तिसे विनाशको न जानते हुए, मुसल प्रहारके अनन्तर विजातीय सन्तानको देखकर, उसी समय विनाशको समझते हुए, मुसलादि ही विनाशके कारण हैं, ऐसा समझ बैठते हैं। वास्तवमें तो कोई विनाशका कारण नहीं। अच्छा तो यह बताइए कि दूसरे कारणसे होनेवाला विनाश भाव पदार्थसे भिन्न है कि अभिन्न? प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि विनाश होनेपर भी पदार्थकी पहिलेकी तरह उपलब्धि होनी चाहिए। पटकी उत्पत्ति होनेपर घट पृथक् दिखाई देता है। वैसा प्रकृतमें समझिए। अतः अपने कारणोंसे ही पदार्थ विनाश स्वभाववाले उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्षणभंगकी सिद्धि होती है।

और सुनिए प्रयत्नसे सुरक्षित घटादि पदार्थोंका कुछ कालके बाद, अवयवोंके क्षरण तथा पृथक् होनेसे मुसल प्रहारके बिना भी विनाश देखा जाता है। यह उत्पत्तिसे लेकर कुछ न कुछ परिवर्तनके बिना सिद्ध नहीं होता। जिन लोगोंने घटोत्पत्ति कालको नहीं समझा, उन्हें भी नई और पुरानी अवस्थाका अन्यथात्व प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शंका—यदि कहें एक ही घटके नानारूप होते हैं, अतः अन्यथा भावका दर्शन होता है। उत्तर—नहीं, एक घटका नानारूप होना सम्भव

विरोधात्। तस्मात् प्रतिक्षणमन्यत्वं घटादेः। प्रयोगश्च भवति—

विवादाध्यासिता भावाः सत्त्वात् क्षणविनाशिनः।
दीपवत् प्रत्यभिज्ञापि स्यात् प्रदीपवदेव नः॥ ५१॥

क्षणभंगवादखण्डनम्

अत्राभिधीयते--न तावदर्थक्रियाकारितैव सत्ता, सतो ह्यर्थक्रियाकारिता, न तु सैव सत्ता। न च सर्वस्य भावस्यार्थक्रियाकारितानियमः, अतत्कारिणोपि सम्भवात्। न च ज्ञानकारणत्वमपि सर्वस्य नियतम्, अज्ञायमानस्यापि स्वरूपसद्भावसम्भवात्। न च सर्वज्ञविज्ञानं प्रति, आलम्बनहेतुताऽतीताऽनागतानां भावानां सम्भवति, सम्प्रत्यविद्यमानानां हेतुत्वानुपपत्तेः। हेतुत्वे वा सर्वज्ञज्ञाननिष्पत्तौ सर्वेषां व्यापृतत्वात् क्रमानभ्युपगमेन च पुनर्व्यापारानुपपत्तेः, तल्लक्षणत्वाच्च सत्तायाः सर्वज्ञज्ञानानन्तरमेव समस्तस्य जगतः शून्यताप्रसङ्गः, इति यत्किंचिदेतत्।

सम्भवति च भावानां क्रमेणार्थक्रियाकारित्वम्[1], सहकारिव्यपेक्षया विलम्बोपपत्तेः। सहकारिणश्चातिशयमागन्तुकं भावाद् भिन्नमभिन्नं वा जनयन्त उपकुर्वन्त्येव[2]।

नहीं। क्योंकि नानात्व और एकत्वमें परस्पर विरोध है। अतः घटादि प्रतिक्षण अन्यत्व = भिन्न भिन्न हैं। उक्त अर्थका अनुमान श्लोकसे करते हैं। अर्थ = 'विमत भाव पदार्थ क्षणिक होते हैं, सत्त्व होनेसे। दृष्टान्त है—दीप। प्रत्यभिज्ञा भी सादृश्यको लेकर होती है। हमारे मतमें दीपकी तरह प्रत्यभिज्ञा भी सिद्ध होती है॥ ५१॥

अब सिद्धान्त कहते हैं 'अभिधीयते इत्यादिसे। जो पूर्व पक्षीने कहा है—अर्थक्रियाकारिता ही सत्ता है, ऐसी बात नहीं है। सत् धर्मोंकी अर्थक्रियाकारिता होती है, वही सत्ता नहीं है। सभी पदार्थोंकी अर्थक्रियाकारिता होनेका नियम है, ऐसा भी नहीं। अर्थक्रियाकारि न होते होते हुए भी पदार्थका होना सम्भव है। ज्ञानके प्रति विषय कारण होता है, यह भी सबके लिए नियम नहीं। अज्ञात पदार्थकी स्वरूप सत्ताका होना भी सम्भव है। यह जो पूर्वपक्षीने कहा था कि सर्वज्ञ बुद्धके ज्ञानके प्रति सभी पदार्थ विषय होते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थ अतीत भी होते हैं, अनागत भी होते हैं, उनका सर्वज्ञ ज्ञानके प्रति आलम्बन होना सम्भव नहीं। जो पदार्थ है ही नहीं उसकी कारणता अयुक्त है। यदि कारण माना जाए तो सर्वज्ञ बुद्धको ज्ञान होनेपर सभी पदार्थोंके व्याप्त होनेसे उनका क्रम तो है ही नहीं। अतः पुनः व्यापारकी अनुपपत्ति है। अर्थक्रियाकारिता ही उनका स्वरूप होनेसे सर्वज्ञका ज्ञान होनेके अनन्तर ही समस्त जगतकी शून्यताका प्रसंग होने लगेगा, अतः यह कुछ भी नहीं है। (अर्थात् क्षणिकताका होना असंगत है)

पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रियाकारिताका होना सम्भव है। उसमें सहकारि कारणको अपेक्षासे देर होना उचित है। और सहकारी कारण भावसे भिन्न आगन्तुक अतिशयको उत्पन्न करते ही हैं। उसीका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं 'यथा' इत्यादिसे। जैसे बीजका पृथ्वी और जलसे संयोग होनेसे

* इसका विशेष विवेचन न्यायकणिका टीका, पृ० १२६, पर देखना चाहिए।

१. अर्थक्रियाकरणत्वमिति मुद्रितपुस्तके पाठः। २. कुर्वन्त्येनेति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठ।

यथा बीजस्य क्षितिसलिलसंयोगेऽतिशयः, तदलाभे स्थायिनोपि बीजस्य प्रागङ्कुरानारम्भः, लाभेत्वारम्भ इति न काचिदनुपपत्तिः ।

नन्वेवं संयोगस्यैव कारणत्वं स्यान्नतु बीजस्य ? नैवम्, संयोगमात्रात्तदुत्पत्त्यदर्शनात्। न हि क्षितिसलिलसंयोगोऽङ्कुरं जनयति। बीजविशिष्टस्य तु संयोगस्य कारणत्वे विशेषणीभूतस्य बीजस्यापि कारणत्वमङ्गीकार्यम्। यस्तु सहकार्यपेक्षां अपह्नुते[1] तस्य क्षितिसलिलसंयोगानपेक्षात् कुसूलस्थादेव बीजादङ्कुरो जायेत।

नन्वन्त्यक्षणप्राप्तः समर्थ एव भावोऽनपेक्षो जनयितुम्, निरपेक्षोप्यसौ सहकारिभिर्विना नास्तीति तैर्विना न करोति, कुसूलस्थं हि बीजमन्यदेव, अन्यच्चेदं क्षितिसलिलसंयुक्तं यतोऽङ्कुरो जायते ? सत्यम्, इदं त्वत्र वक्तव्यम्—यदिदमन्त्यक्षणप्राप्तं क्षितिसलिलसंयुक्तमङ्कुरजनकम्, तद् यदि कृषीवलप्रयत्नविरहात् कुसूलस्थमेव स्यात् तदापि किमङ्कुरं जनयति ? ओमिति चेत् ? किमर्थं तर्हि कृषीवलस्य प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रयासः, विदुषां च स्वर्गापवर्गार्थं चैत्यवन्दनादिप्रयासः, तदुपदेशश्च देशिकानामनर्थकः स्यात्, अन्त्यक्षणप्राप्ताद्विज्ञानादेव धर्माधर्मानपेक्षात् स्वर्गापवर्गसिद्धेः। तस्मात्सहकार्यपेक्षाऽङ्गीकर्तव्या। ततश्च सहकारिसन्निधिक्रमेण सम्भवति स्थायिनोपि भावस्य क्रमे-

---

अतिशय होता है। उसके अभावमें स्थाई बीज भी पहिले अंकुर उत्पन्न नहीं करता। उसकी प्राप्ति होनेपर बीज अंकुरको उत्पन्न करता है, अतः इसमें कोई असंगति नहीं।

शंका—सहकारि कारणसे अतिशय माननेपर संयोग ही कारण होगा, बीजकी कारणता नहीं। उत्तर—ऐसा नहीं, केवल पृथ्वी-जलके संयोगसे अंकुरकी उत्पत्ति देखी नहीं जाती। क्योंकि पृथ्वी-जलका संयोग अंकुरको उत्पन्न नहीं करता। बीजसे युक्त पृथ्वी जलका संयोग कारण मानना होगा। तब विशेषणरूप बीजकी भी कारणता गलेपादुका न्यायसे माननी ही होगी जो वादी सहकारी कारणको अपेक्षाको नहीं मानता उसके मतमें पृथ्वी जलके संयोगको बिना अपेक्षा किए ही कुसूलस्थ बीजसे अंकुर होने लगेगा।

शंका—यदि कहा जाए भावपदार्थ तो कार्योत्पत्तिमें समर्थ ही है, तथापि अन्तिम क्षणको प्राप्तकर निरपेक्ष होकर कार्य उत्पन्न करता है। निरपेक्ष होते हुए भी यह पदार्थ सहकारि कारणोंके बिना अन्तिम क्षणको प्राप्त नहीं है। अतः सहकारि कारणोंके बिना कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे कुसूलस्थ बीज दूसरा है, पृथ्वी-जलसे संयुक्त बीज दूसरा, जिससे कि अंकुर उत्पन्न हाता है। उत्तर—ठाक है, किन्तु यहां यह कहना आवश्यक है कि यह अन्तिम क्षणको प्राप्त बोज ही पृथ्वी जलसे संयुक्त होकर, अंकुरका जनक होता है, तब कृषिवल=किसानके प्रयत्नके बिना भी कुसूल स्थित बीज अंकुरको उत्पन्न क्यों नहीं करता ? यदि हाँ कहोगे तो ? सोच विचार कर बीज बोने वाले किसानका प्रयत्न किस लिए है ? अर्थात् व्यर्थ है। और सुनिए-विद्वानोंका स्वर्ग या अपवर्गकी प्राप्तिके लिए अग्निहोत्र चैत्रवन्दन आदिका प्रयास तथा आचार्योंके उपदेश भी निरर्थक हो जाएंगे। क्योंकि अन्तिम क्षणको प्राप्त विज्ञानसे ही स्वर्ग और अपवर्गको सिद्धि हो जाएगी। उस ज्ञानको धर्माधर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः सहकारिको अपेक्षा माननी चाहिए। सहकारि कारणोंका समीपताके

---

१. न मनुते इति 'क' पुस्तके पाठः ।

णार्थक्रियाकरणमिति विपक्षे बाधकप्रमाणाभावादनियता क्षणिकत्वेन सत्ता नालं तदनुमापयितुम्। न च ध्रुवभावितया विनाशस्य हेत्वन्तरानपेक्षत्वम्, घटसन्ताने कपालसन्तानस्य ध्रुवभाविनो मुसलप्रहारादिहेत्वन्तरापेक्षादर्शनादनैकान्तिकत्वात्।

ननु हेत्वन्तरेण भावाद् भिन्ने विनाशे जाते विनाशिनोपि भावस्य पूर्ववदुपलब्धिः स्यात्, तस्मात् स्वाभाविको विनाशः। किमिदं स्वाभाविकम्[1] ? इति। भावस्वभावादेव विनाशो जायते, न हेत्वन्तरादित्यर्थः।

ननु भावादपि जातो विनाशो भावाद् भिन्नश्चेत् ? तुल्य एव दोषः पूर्ववदुपलब्धिः स्यादिति। अथाऽभिन्न एव विनाशो भावात् ? ततोविनाशस्याऽप्रत्यक्षत्वाद् भावोप्यप्रत्यक्षः स्यात्। अत्यन्तविपरीतस्वभावयोश्च भावाभावयोरेकत्वाभिधानं साहसमात्रम्।

अथापि विनाशो नाम न किंचिद् भिन्नमभिन्नं वा तत्त्वम्, तुच्छत्वादिति। ततो जातस्य भावस्याऽसति विनाशे नित्यत्वमेव स्यादिति सुसमर्थितः क्षणभङ्गः। तस्माद् भिन्नेनापि विनाशेन भावस्योपलब्ध्यादि निरस्यत इत्यकामेनाप्यभ्युपगन्तव्यम्।

क्रमसे अस्थाई पदार्थमें भी क्रमसे अर्थक्रिया कारिता होती है। अतः क्षणिकताके विरोधी स्थायित्व पक्षमें भी बाधक प्रमाणके न होनेसे अव्यापक क्षणिकतासे सत्ता इस अर्थक्रिया कारिताका अनुमान नहीं करा सकती।

यह जो पूर्व पक्षीने कहा था अवश्यंभाविता विनाशके दूसरे किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं रखती। घट सन्तानमें अवश्य होने वाली कपाल सन्तानका मुसल प्रहार आदि दूसरे कारणकी अपेक्षाके देखनेसे व्यभिचारी है। (अर्थात् जहाँ जहाँ ध्रुवभाविता है वहाँ वहाँ हेत्वन्तर अनपेक्षत्व है, इस व्याप्तिका व्यभिचार है; यह ऊपर कह चुके हैं। यह क्षणिकताको सिद्ध नहीं कर सकता) शंका— यदि कहा जाए दूसरे कारणसे विनाश होता है। वह भावसे भिन्न है। उससे विनाश होने पर भी घटादि भाव पदार्थकी पूर्वकी तरह उपलब्धि होनी चाहिए। वह तो नहीं होती, अतः स्वाभाविक विनाश होता है।

आपने विनाशको स्वाभाविक बताया। यह क्या वस्तु है ?❀ भावका स्वभावसे ही विनाश होता है, दूसरे कारणसे नहीं। यदि विनाशको भावसे अभिन्न माना जाए तो विनाशके अप्रत्यक्ष होनेसे भाव भी अप्रत्यक्ष होगा, यह मानकर दोष दिया गया है। परमार्थ दृष्टिसे विनाश और भावका अभेद हो नहीं सकता। इसीको कहते हैं 'अत्यन्त' इत्यादिसे। जिनका स्वभाव अत्यन्त विपरीत है, उन भाव और अभावको एक कहना साहस मात्र है। यदि कहें विनाश कोई भावसे भिन्न या अभिन्न तत्त्व नहीं, तुच्छ होनेसे। तब उत्पन्न भावका विनाश न होनेसे वह नित्य ही होगा। आपने क्षण भंगका बड़ी अच्छी तरहसे समर्थन किया। इससे भावसे भिन्न विनाशसे उपलब्धि आदिका निरास होता है, यह न चाहते हुए भी मानना होगा।

❀ यहां 'किमिदम्' इत्यादि सिद्धान्तीका प्रश्न है। और क्षणभंगवादीका उत्तर है 'भावस्वभावादिति' अतः विनाश कोई अलग वस्तु नहीं। अर्थात् जैसे विनाशके पूर्वकालमें घटकी उपलब्धि होती है वैसे ही विनाशके उत्तर कालमें भी उपलब्धि होनी चाहिए।

---

१. किमिदं स्वाभाविकत्वमिति 'ख' पुस्तके पाठः।

यत्तु प्रतिक्षणमवस्थाभेद इति, भवतु नैतावताऽवस्थावतो भावस्य प्रतिक्षणं विनाशेन भवितव्यम्, प्रमाणाभावात्। नानाऽवस्थानामपि युगपदेकस्मिन् धर्मण्यविरुद्धानाम्, क्रमेण विरुद्धानां च सम्भवात्। ततश्च नूतनाद्यवस्थाः क्रमेणानुभूय पुराणावस्थां प्राप्तस्य प्रयत्नरक्षितस्यापि युक्तोऽवयवविश्लेपाद्विनाशः। न च सत्तया दीपदृष्टान्तमात्रेण घटादेरपि क्षणिकत्वम्, सत्तायाः संदिग्धविपक्षव्यतिरेकादहेतुत्वात्। प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्।

न च सादृश्यात्तदुपपत्तिः, अवयवसामान्याऽसम्भवात्। अनुवृत्तं हि सामान्यं भवति[1], न च सर्वक्षणिकवादिनामनुवृत्तं किंचित्सम्भवति। सम्भवे वा न सर्वं क्षणिकम्[2]। तस्मान्न सर्वभावानां क्षणिकत्वम्, न तरां शब्दस्य। तस्य ह्यन्तेपि विनाशो नास्ति, यतः सूक्ष्मविनाशकल्पना स्यात्। तस्मान्नित्यः शब्दः। प्रयोगश्च भवति—नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्।

यह जो पूर्व पक्षीने कहा था प्रतिक्षण भाव पदार्थोंका अवस्थाभेद होता है, इसलिए सब पदार्थ क्षणिक सिद्ध होते हैं, इसपर सिद्धान्तीका कहना है कि अवस्था भेद होवे, इतनेसे अवस्थावान् पदार्थका प्रतिक्षण विनाश होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं। नाना अवस्थाओं, जिनका आपसमें कोई विरोध नहीं, उनका एक ही धर्मीमें युगपत् होना सम्भव है। और विरुद्ध अवस्थाओंका एक ही धर्मीमें क्रमसे होना भी सम्भव है। (अतः केवल अवस्था भेदसे क्षणिकताकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह इसका निष्कर्ष है) इसलिए नवीन आदि अवस्थाओंका क्रमशः अनुभव करके, पुरानी अवस्थाओंको प्राप्त भाव पदार्थ, जो कि प्रयत्नसे सुरक्षित है, उसका भी अवयवोंके विश्लेषसे विनाश युक्त ही है। दीप दृष्टान्त मात्रसे विपक्षमें (स्थायित्व पक्षमें) सत्ताके सम्भव होनेसे हेतु व्यभिचारी है। अतः सत्ता घटादिकी क्षणिकतामें हेतु नहीं बन सकती। 'विमतं सत्' इस प्रतिज्ञाका प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षसे विरोध होनेसे विपक्षमें सत्ताका व्यतिरेक सन्दिग्ध है। इसलिए भी क्षणिकताका अनुमान नहीं हो सकता। शंका—प्रत्यक्षका प्रत्यभिज्ञासे प्रत्यक्ष विरोध बताया गया है*।

उत्तर—अवयव सामान्यके असम्भव होनेसे अनुगत ही सामान्य होता है। सभीको क्षणिक मानने वाले बौद्धोंके मतमें अनुगत कोई सामान्य नहीं हो सकता। यदि सम्भव हो तो सभी पदार्थोंकी क्षणिकता सिद्ध नहीं होगी। यही रस्सा-कसी है। अतः सभी पदार्थोंकी क्षणिकता हो नहीं सकती। शब्दकी क्षणिकता तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। शब्दका अन्तमें भी विनाश नहीं होता, जिससे सूक्ष्म विनाश (प्रतिक्षण विनाश) की कल्पना हो सके। अतः शब्द नित्य है। उक्त अर्थमें अनुमान बताते हैं—'शब्द नित्य है, श्रवणेन्द्रिय जन्य ज्ञानका विषय होनेसे, शब्दत्वकी तरह§।

---

* अर्थात् प्रत्यभिज्ञासे प्रत्यक्षका विरोध है नहीं, क्योंकि सादृश्यको लेकर प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि हो सकती है। यह वही दीप ज्वाला है, इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षमें सादृश्यको लेकर ही पूर्व पक्षी और सिद्धान्तीकी अभीष्ट सिद्धि माननी होगी।

§ इस प्रकार युक्तियों द्वारा उपपादित अर्थका अनुमान द्वारा समर्थन किया है। 'शब्दो नित्यः श्राव-

---

१. सम्भवतीति 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः। २. न सर्वक्षणिकत्वमिति 'क' पुस्तके पाठः।

शब्दत्वसामान्यसमर्थनम्

न च शब्दत्वं नास्तीति भ्रमितव्यं प्रत्यभिज्ञानात् । अरण्ये हि गच्छन्तोऽश्रुतपूर्वं शब्दविशेषं श्रुत्वा कस्यायं प्राणिनः शब्द इति संदिहन्ते । न च सामान्यदर्शनमन्तरेण विशेषसंशयो घटते । तथाऽवान्तरजातिरपि वर्गतृतीयगकारादिष्वनुवृत्ता ककारादिभ्यो व्यावृत्ता काचिदस्ति ।

अवान्तरसामान्यसाधनं तत्प्रयोजनकथनं च

तथा वर्गप्रथमेषु द्वितीयेषु चतुर्थेषु पञ्चमेषु च यथास्वमनुवृत्ताः सन्ति जातयः । कथमवगम्यन्ते[1] ? प्रत्यभिज्ञानादेव । तथा हि—कियत्यपि दूरदेशे दकारमुच्चारितं श्रुतवतां गकारादिषु संशयो भवति, न चायं संशयो शब्दत्वनिबन्धनो गकारादिष्वभावात् । अतोस्ति तृतीयादिष्वनुवृत्तमन्येभ्यो व्यावृत्तं रूपम्, यदुपलम्भादेष संशयः । तथा धकारोच्चारणे भकारादिषु संशयः नान्येषु । तेन चतुर्थेष्वप्यस्ति सामान्यम् । एवं प्रथमेषु द्वितीयेषु पञ्चमेषु च यथास्वं सामान्यानि । तैरेव दृष्टान्तैः शब्दस्य श्रावणत्वहेतुना नित्यत्वानुमानम् ।

ननु शङ्खादिनादानामनित्यत्वेपि श्रावणत्वादनैकान्तिको हेतुः ? न, तेषामपि प्रत्यभिज्ञया नित्यत्वात् । यदि तेषु प्रत्यभिज्ञा नास्ति, ततो 'ध्वन्यन्यत्वे सति' इति

शंका—उक्त अनुमानमें शब्दत्वको दृष्टान्त किया है । शब्दत्व तो है ही नहीं । उत्तर—ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए । प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षसे शब्दत्व सिद्ध है । उसीका उपपादन करते हैं 'अरण्ये' इत्यादिसे । बनमें जाते हुए लोग अश्रुत पूर्व शब्दको सुनकर यह किस प्राणीका शब्द है, ऐसा सन्देह करते हैं । सामान्य धर्मके दर्शनके विना किसका यह शब्द है ऐसा विशेष संशय नहीं होता । (इसलिए शब्दत्व सामन्य मानाना होगा) इसी प्रकार आवान्तर जातिको भी मानना होगा । जैसे वर्गके तृतीय गकारादियोमें अनुगत ककारादिसे भिन्न कोई अवान्तर जाती है । उसी प्रकार वर्ग प्रथम वर्ग द्वितोय वर्ग चतुर्थ तथा वर्ग पंचममें भी क्रमशः अनुगत जातियाँ रहती हैं । शंका—यह कैसे ज्ञात होता है ? उत्तर—प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षसे ही । इसीका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं । कुछ दूरीमें उच्चरित शब्दको सुनने वालोंको गकारादियोंमें संशय होता है । यह संशय दत्व=दकारको लेकर नहीं होता, क्योंकि गकारादियोंमें उसका अभाव है । अतः तृतीयादि अक्षरोंमें अनुगत तया अन्यसे पृथक् कोई रूप है, जिसके देखनेसे यह संशय होता है । वैसे धकारसे उच्चारणमें भकारादिमें संशय होता है, दूसरेमें नहीं । इससे अतुर्थ वर्णमें भी सामान्य है । इसी प्रकार प्रथम द्वितीय, पंचम वर्णोंमें भी यथाक्रम सामान्य होते हैं । इन्हीं दृष्टान्तोंसे शब्दके श्रावण प्रत्यक्ष विषयत्व रूप हेतुसे नित्यताका अनुमान होता है ।

णत्वात्, शब्दत्ववत् । यहाँ सन्देह है कि उक्त अनुमानमें श्रावणत्व हेतुका वायुके धर्म ध्वनियोंमें व्यभिचार है । वे भी तो श्रावण प्रत्यक्षकी विषय हैं । इसका उत्तर है कि उक्त हेतुमें 'ध्वनि धर्मान्यत्वे सति' यह विशेषण देना चाहिए । इसी अर्थको विद्वानोंने कहा है, यथाहुर्वृद्धाः—'हेतुरेवत्वसी स्पष्टो नित्यत्वस्योपलम्यते । भूतावयवधर्माख्यध्वन्यन्यत्वविशेषितः ॥ इति ॥

---

१. अवगम्यत इति 'क' पुस्तके पाठः ।

विशेषणाद्व्यभिचारः। यदा चानित्यत्वं ध्वनीनां तदा कार्यस्याऽनाश्रितस्यानुपपत्तेरा-श्रयभूतेन केनचिद्द्रव्येण भवितव्यम्। तस्य चाऽनेकत्वे प्रमाणाभावादेकत्वे द्रव्यस्यै-कद्रव्याश्रितस्याऽभावाद्, द्रव्यान्यत्वे शब्दस्य संयोगविभागयोरनपेक्षकारणत्वाभावाद-कर्मत्वे सति पारिशेष्याद् गुणत्वमेव ध्वनीनां भवति।

परिशेषन्यायेन ध्वनेः वायुगुणत्वकथनम्

तत्र पार्थिवभेर्यादिगुणत्वे, तरङ्गाद्याप्यद्रव्यगुणत्वे वा श्रवणप्राप्त्यसम्भवान्न तद्ग्राह्यत्वं सिध्येत्। तस्मान्न पृथिव्यादिगुणत्वम्। वायुगुणत्वं तु युक्तम्। वीणामुख-शङ्खादिसंयोगाद् भेरीदण्डसंयोगादन्यतो वा निष्पद्यमाना वायवस्तच्छब्दविशेषगुणका निष्पन्नाः सर्वासु दिक्षु प्रविशमानाः श्रोत्रेण संयुज्यन्ते, ततश्च संयुक्तसमवायात्तद्गतः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते। यस्मादेव वायुगुणः शब्दः, तस्माद् यत्कैश्चिदुच्यते—'शब्दलि-ङ्गमाकाशम्' इति तन्निरस्तम्।

शंका—शंख आदि नाद = ध्वनियोंके अनित्य होनेपर भी साध्याभाववत्में श्रावणत्व हेतुके जानेसे हेतु व्यभिचारी है। उत्तर—नहीं, ध्वनियोंका भी प्रत्यभिज्ञासे नित्यत्व सिद्ध होनेसे। यदि उनमें प्रत्यभिज्ञा नहीं है तो 'ध्वन्यन्यत्वे सति = ध्वनि भिन्नत्वे सति, यह विशेषण देना चाहिए। इससे व्यभिचार नहीं रहता। 'यदा च' इत्यादिसे इस विषयमें अपने मतको दर्शाते हैं—जब ध्वनियाँ अनित्य हैं तो कार्य बिना आश्रयके नहीं रह सकता। अतः ध्वनियोंका आश्रय कोई द्रव्य होना चाहिए। आश्र-द्रव्यके अनेक होनेमें कोई प्रमाण न होनेसे एक ही द्रव्य है, ऐसा मानना होगा। वह एक द्रव्यमें आश्रित होकर नहीं रह सकता। अतः वह द्रव्यसे भिन्न है। इसी प्रकार शब्द कर्मसे भी भिन्न है। क्योंकि संयोग विभागसे जो निरपेक्ष है वही कर्म है*। अतः शब्द कर्मसे भी भिन्न है। अतः परिशेष न्यायसे ध्वनियोंका गुणत्व ही सिद्ध होता है§।

(इस प्रकार ग्रन्थकार गुणत्व सिद्ध होनेपर अपने मतसे वायु गुणत्वका प्रतिपादन करते हैं) 'तत्र' इत्यादिसे। नाद = ध्वनिके पार्थिव भेरी आदिका गुण होनेपर श्रवणेन्द्रियकी प्राप्ति (अर्थात् श्रवणेन्द्रियसे संयोग) सम्भव नहीं। तरंग आदि जलीय द्रव्यका गुण होनेसे भी श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति = संयोग न होनेसे, ध्वनि श्रवणेन्द्रिय जन्य-ज्ञानका विषय नहीं हो सकेगी। अतः ध्वनि

---

* एक द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमितिकर्मलक्षणम्। (वै० द०, सू० १।१।१७)

§ अर्थात् द्रव्य तो अनेक द्रव्याश्रित ही देखा गया है। एक द्रव्यमें आश्रितका द्रव्यत्व होना सम्भव नहीं। इसलिए ध्वनियोंको द्रव्यसे भिन्न ही मानना होगा। कर्मका लक्षण न होनेसे उनका कर्मत्व भी सम्भव नहीं। अतः परिशेषन्यायसे भाट्ट मीमांसक मतमें ध्वनियोंका गुणत्व सिद्ध हुआ। यहाँ यह ध्यानमें रहे कि शब्दके विषयमें अनेक मत हैं। उनमें साख्योंका कहना है कि सत्व-रजस्तम स्वभाव शब्द होता है। जैन मतसे शब्द पुद्गलसे आरब्ध है। वैशेषिक मतमें शब्द आकाशका गुण है। तादात्म्य सम्बन्धसे शंखादि विषयक भी शब्द होता है। शिक्षाकारके मतमें अर्थ वाचकरूप शब्दात्मना परिणत वायु ही शब्द है। वैयाकरणोंके मतमें स्फोट ही शब्द है। इन सबसे भिन्न भाट्ट मीमांसकोंका अपना मत है कि ध्वन्यात्मक शब्द वायुका गुण है। वर्णात्मक शब्द तो द्रव्य है, वह नित्य है, यह आगे ग्रन्थकार कहेंगे।

वर्णानांद्रव्यत्वसाधनम्

वर्णानां तु नित्यानां द्रव्यत्वमेवाङ्गीक्रियते। नन्वेषामपि शब्दत्वाद् ध्वनिवद् गुणत्वानुमानमिति चेत् ? न, वर्णा न गुणा ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वाच्छब्दत्ववद् दिग्वत् कालवच्चेति प्रतिसाधनसद्भावात्। यथा च दिक्कालयोः श्रावणत्वम्, तथा प्रागेवोक्तम्। यत्तु स्पर्शविरहित्वे सत्येकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपादिवच्छब्दस्य गुणत्वमिष्यते, तस्यापि यथोक्तमेव प्रतिसाधनमित्यास्तां तावत्। तस्माद् ह्यस्तनाद्यतनयोः प्रत्यभिज्ञाना-द्वर्णानां न तावत् प्रत्युच्चारणमन्यत्वम्। एवं चोच्चारणं शब्दस्य न कारणम्, किन्त्व-भिव्यञ्जकमिति सिद्धम्। न चोच्चारणादन्यत् कारणं सम्भवतीत्यकार्यत्वम्, अत एवाविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः। इदमेव हि नित्यत्वम्—यत्स्वरूपसद्भावे सत्युत्पत्तिविनाश-रहितत्वम्।

॥ इति षष्ठं शब्दनित्यताधिकरणं समाप्तम् ॥

पृथिव्यादिका गुण नहीं। वायुका गुण होना ही युक्त है। उसीका उपपादन करते हैं 'मुख' इत्यादिसे। मुख—शंखादिके संयोगसे या भेरी दण्ड संयोगसे निष्पन्न होनेवाले शब्द विशेष ही जिनका गुण है, ऐसे वायु भी दिशाओंमें प्रविष्ट होकर श्रोत्रेन्द्रियसे संयुक्त होते हैं। अतः स्वसंयुक्त* समवायसे वायुगत शब्द ही श्रोत्रसे गृहीत होता है, जिससे वायुका गुण है शब्द। अतः जो वैशेषिक यह कहते हैं 'शब्द लिंग आकाश है' उनका यह कहना निरस्त हुआ§।

(इस प्रकार शब्द मात्रका वायु गुणत्व प्राप्त होने पर वर्णात्मक शब्दोंकी विशेषता बताते हैं वर्णानामित्यादिसे) नित्य वर्णोंको तो द्रव्यत्व ही माना जाता है। शंका—शब्दत्व हेतुसे जैसे ध्वनिमें गुणत्वका अनुमान किया है, वैसे शब्दत्व हेतुसे इनके भी गुणत्वका अनुमान हो ? उत्तर—नहीं, वर्ण गुण नहीं होते, इसमें अनुमान ही प्रमाण है। 'वर्ण गुण नहीं होते, ध्वनिसे भिन्न होनेसे तथा श्रावण होनेसे, शब्दत्वकी तरह। दिशा और काल भी दृष्टान्त हैं। इस सत्प्रतिपक्ष हेतुके विद्यमान होनेसे दिशा और कालमें जैसा श्रावणत्व है वैसा पहिले सिद्ध किया है। (अतः वर्णात्मक शब्द गुण नहीं है, किन्तु द्रव्य है) शंका—नैयायिकोंने अनुमानसे शब्दको गुणत्व माना है। अनुमान इस प्रकार है—'शब्द गुण है, स्पर्श रहित होनेसे तथा एकेन्द्रिय ग्राह्य होनेसे, रूपादिकी तरह 'शब्दो गुणः स्पर्शरहितत्वे सति-एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्रूपादि वत्' इति। इस अनुमानसे नैयायिकोने शब्दको गुण माना है। उसका सत्प्रतिपक्ष मूलोक्त अनुमानको ही समझना चाहिए। अतः बस कीजिए।

इसलिए कल और आजके वर्णोंकी 'वे ही ये वर्ण हैं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होनेसे प्रत्येक उच्चारणमें वर्णोंका भेद नहीं, वे ही वर्ण हैं। अतः उच्चारण शब्दका कारण नहीं, किन्तु अभिव्यंजक है

---

* यहां 'स्व' पदसे श्रोत्रको लेना चाहिए। तत्संयुक्त है वायु, उसमें समवायसे ध्वनियां रहती हैं। अतः उक्त सन्निकर्षसे वायुके गुण नादका श्रोत्रसे ग्रहण होता है।

§ यहां मूलमें 'शब्दलिंगमाकाशम्' ऐसा पाठ है। किन्तु वैशेषिकसूत्रमें 'परिशेषलिङ्गमाकाशस्य' यह पाठ है। पूर्व सूत्रसे गुणका अनुषंग होता है। इसी प्रकार प्रशस्तपाद भाष्यमें, परिशेषात्गुणोभूत्वाकाशस्याधिगमे लिङ्गम् (वै० द० पृ० २५) इन सूत्रभाष्यको मनमें रखकर ग्रन्थकारने 'शब्द लिङ्गमाकाशम्' ऐसा कहा है।

वाक्याधिकरणम् (तद्भूताधिकरणम्)

सू०—उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्याऽतन्निमित्तत्वात् ॥ २४ ॥

'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोर्थस्य तन्निमित्तत्वात् २५। लोके संनियमात्-प्रयोगसंन्निकर्षः[1] स्यात २६।' इति।

इससे यह सिद्ध हुआ उच्चारणसे अन्य कारण नहीं हो सकता। इसलिए शब्द कार्य नहीं। जब कार्य नहीं तो विनाश न होनेसे नित्यत्वकी सिद्धि होती है। अब नित्यत्वका परिष्कृतरूप बताते हैं 'इदं' इत्यादिसे। नित्यता यही है कि स्वरूपके रहनेपर उत्पत्ति और विनाशका न होना (उत्पत्ति विनाश रहितको नित्य माननेपर तुच्छमें अतिव्याप्ति होगी इसका वारण करनेके लिए 'स्वरूप सद्भावे सति यह विशेषण दिया गया है ध्यान रहे कि यह लक्षण घटक नहीं, किन्तु परिचायक है) नैयायिकोने नित्यत्वका यह लक्षण किया है कि जो प्रागभावका प्रतियोगी नहीं होता तथा ध्वंसका प्रतियोगी नहीं होता वही नित्य है। 'प्रागभावो प्रतियोगित्वेसति ध्वंसाप्रतियोगित्वम् ॥

[सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १।१।१६। यह सिद्धान्त सूत्र है। अर्थ=इस हेतुसे भी शब्द नित्य है, क्योंकि गो शब्दसे सर्वत्र सभी गौओमें युगपद् ज्ञान होता है, अतः यह शब्द आकृति वचन है। आकृतिका शब्दके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते। अतः सम्बन्ध नित्यताके द्वारा शब्दका नित्यत्व साधा जाता है। शब्दका नाश न होने पर उसकी नित्यताका होना सम्भव नहीं।

संख्याभावात् ॥ १।१।२० ॥ अर्थ=संख्या=आठ बार गो शब्दका उच्चारण किया गया है, ऐसा लोग कहते हैं। आठ गो शब्द उच्चारित हैं ऐसा तो नहीं कहते। इससे एकत्व ज्ञात होता है। शब्दको भिन्न मानने पर आठ गो शब्द हैं, ऐसा कहना होगा, यह तो सम्भव नहीं। और कृत्वसुच प्रत्ययकी अनुपपति भी है। यह प्रत्यय क्रियाकी आवृत्तिके परिगणनमें विहित है। 'क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच' यह पाणिनि सूत्र है। इससे भी शब्दका एकत्व तथा नित्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रसंगसे भाष्यकारने ज्ञान और कर्मको लेकर नित्यत्वका आक्षेप कर समाधान किया है। यह भाष्य है 'न हि ते प्रत्यक्षे अथ प्रत्यक्षे तेऽपि नित्ये एवेति। यहाँ ज्ञान शब्दसे विकारको नहीं ले सकते। ज्ञान सिद्धान्त पक्षमें प्रत्यक्ष नहीं है। यदि आत्मा ज्ञान शक्ति स्वभाव है तो नित्य ही है। इसी प्रकार शुक्लादि गुणोंको नित्यता और एकताको भी समझना चाहिए। भेद ज्ञान तो आश्रयके भेदसे सिद्ध है। यह वार्तिक है—'एतयैवदिशावाच्या शुक्लादेरपि नित्यता'।

अनपेक्षत्वात् ॥१।१।२१॥ अर्थ=शब्द नित्य है, अवयव संयोगादि कारणकी अपेक्षा न होनेसे। अतः असम्भावित विनाश होनेसे शब्द नित्य है। भाष्यकारने उदाहरण देकर इसका विश्लेषण किया है।

यह जो शिक्षाकारका कहना है—'वायु ही शब्द बन जाता है'। इस पक्षमें अवयव संयोगसे शब्दकी वृद्धि तथा संयोगके विनाशसे शब्दका विनाश होगा, इस शंकाका निराकरण करनेके लिए यह सूत्र है 'प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥१।१।२२॥ अर्थ=प्रकृष्टाख्या=प्रख्या=प्रत्यभिज्ञा। वायुके अवयव संयोग विशेषका अन्वय शब्दमें ज्ञात नहीं होता अतः वायु शब्दका कारण है, (यह पक्ष ठीक नहीं। इसका विवरण भाष्यमें दिया है। यदाहभाष्यकारः—'वायवीयश्चेच्छब्दो भवेत् वायोः सन्निवेश-

१. संनियमनादिति मुद्रितपुस्तके पाठः।

यद्यपि पदपदार्थसम्बन्धस्यापौरुषेयत्वाद् वृद्धव्यवहारादेवार्थावगतिः सिध्यति, तथापि वाक्यार्थरूपे धर्मे पुरुषसंकेतानपेक्षत्वे[1] न किंचिन्मूलं सम्भवतीत्यप्रामाण्यं धर्मे चोदनायाः।

तथा हि—प्रत्येकं वा पदानि वाक्यार्थमवगमयेयुः, तत्संघातः वाक्यं वा पदार्था वा ? न तावत् प्रत्येकं पदेभ्यो वाक्यार्थप्रतीतिर्दृश्यते, न पदानां वाक्यार्थविशेषैः सम्बन्धग्रहणमस्ति, न च सम्भवति, अनन्तत्वाद्वाक्यार्थानाम्। वेदार्थस्य च प्रमाणान्तरागोचरत्वात्, तेन सम्बन्धग्रहणमत्यन्तासम्भाव्यम्। अनन्तवाक्यार्थसाधारणत्वाच्च पदार्थानां प्रत्येकं वाक्यार्थविशेषप्रतिपादनमनुपपन्नम्। अगृहीतसम्बन्धत्वादेव च पदसंघातवाक्यपदार्थानामपि न सम्भवति प्रत्यायकत्वम्। नचागृहीतसम्बन्धः शब्दोर्थं प्रत्याययति, बालानामप्रतीतेः, प्रतीतौ व्युत्पत्तिवैयर्थ्याच्च।

विशेषः स्यात्। न च वायवीयानवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः, तस्मान्न वायुकारणकः शब्दः, अतो नित्य इति। (शा० भा० पृ० ९१) यह विषय वार्तिकमें भी स्पष्ट है।)

शब्द नित्य है इस पक्षमें लिंगदर्शनाच्च ॥१।१।२३॥ यह सूत्र है। लिंग सामर्थ्य को कहते हैं। वह दो प्रकारका है। शब्दसामर्थ्य और अर्थसामर्थ्य। पहिलेका उदाहरण है कुशाका लवनमंत्र। दूसरेका उदाहरण है श्रुवसे अवदान करना। यह अंगता बोधक प्रमाणोंमें आता है। इससे भिन्न लिंगको प्रकृतमें समझना चाहिए। अन्य परक वाक्य यदि अन्यार्थका द्योतक हो तो उसे लिंग कहते हैं। शब्दकी नित्यतामें वह लिंग है। 'वाचा विरूपनित्यया' यह मंत्र है। अर्थ = नित्या वाक् वेद वाक् है। यह अन्य परक है। अग्निकी स्तुतिमें इसका विनियोग है। यह अग्नि पदार्थक् है। अतः इस लिंगसे शब्द नित्य सिद्ध होता है। यह अर्थ भष्यमें स्पष्ट है। 'अन्यपरं हीदंवाक्यं वाचो नित्यतामनुवदतीति' ॥

अधिकरण सार—'यजेत स्वर्गकामः इत्यदि पदरूप शब्द विषय है। यहाँ संशय है कि वह अनित्य है या नित्य है। पूर्व पक्ष है वर्णात्मक होनेसे अनित्य है। गकार उत्पन्न है, गकार विनष्ट है—'गकार उत्पन्नः, गकारो विनष्टः यह अनुभव होता है। शब्द उत्पत्ति-विनाशशील होनेसे घटादिकी तरह अनित्य है यह पूर्व पक्ष है।

सिद्धान्त है कि शब्द नित्य है। अबाधित प्रत्यभिज्ञाके बलसे। 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा है। इसका बाधक तो कोई है नहीं, अतः शब्द नित्य है। उच्चारण प्रयत्न शब्दका अभिव्यंजक होता है, जनक नहीं। अतः गकारके अभिव्यंजक उच्चारणका वर्णमें आरोप कर उत्पत्ति-विनाशका व्यवहार होता है। अतः वह भ्रम है। इसलिए शब्द नित्य है।]

(इस प्रकार शब्द नित्यता अधिकरणका श्री चन्द्र प्रभानामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ)

(पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी आपेक्ष संगति है) यद्यपि पद और पदार्थोंका सम्बन्ध अपौरूषेय होनेसे वृद्ध व्यवहारसे ही अर्थका ज्ञान सिद्ध हो जाता है तथापि वाक्यार्थ रूप धर्ममें पुरुष संकेतकी अपेक्षा न होनेसे वाक्यार्थ ज्ञानका कोई मूल = कारण नहीं हो सकता। अतः विधिवक्य धर्ममें अप्रमाण है। इसी बातका 'तथाहि' से उपपादन करते हैं। वाक्यमें पद हैं। वे प्रत्येक

---

१. अनपेक्षत्वादिति 'क' पुस्तके पाठः।

यद्यपि पदमज्ञातसम्बन्धं न प्रत्यायकम्, तथापि पदसंघातो वा, पूर्वपूर्ववर्णज-नितसंस्कारसहितो वाक्यान्त्यवर्णो वा, निरवयवो वाक्यस्फोटो वा सम्बन्धग्रहणाऽनपेक्ष एव वाक्यार्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत् ? न, अव्युत्पन्नानामपि प्रसङ्गात्। व्युत्पत्ति-वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेत्युक्तम्। अथ पदार्थवेदनमपि वाक्यार्थप्रतीतावङ्गम्, अतस्तद्रहिताना-मप्रतीतिर्न दोषः। व्युत्पत्तिश्च पदार्थानां नाऽनर्थिकेत्युच्यते। तदयुक्तम्। यदि हि पदेभ्यो-ऽर्थान्तरभूतं वाक्यं पदार्थव्यतिरिक्तं वाक्यार्थं साक्षादेव वाचकतया प्रतिपादयति, कस्तदा पदार्थवेदनस्योपयोगः ? तदनुपयोगे च पदार्थव्युत्पत्तिरनर्थिका वाक्यार्थं प्रतिपित्सताम्। न च पदार्थाद्वाक्यार्थावगतिः, असम्बन्धात्।

वाक्यार्थका बोधन कराते हैं। अथवा पद संघात रूप वाक्य अर्थका बोधक है। या पदार्थ ही वाक्यार्थका बोधकराते हैं, ये तीन विकल्प हैं*। प्रत्येक पदसे वाक्यार्थकी प्रतीति नहीं होती। पदोंका वाक्यार्थ विशेषोंसे सम्बन्धका ग्रहण नहीं है। सम्बन्धका होना सम्भव भी नहीं, क्योंकि वाक्यार्थ अनन्त हैं। और वेदार्थके प्रमाणान्तरोंका विषय न होनेसे उससे सम्बन्धका ग्रहण अत्यन्त असम्भव है। अनन्त वाक्यार्थोंके पदार्थ साधारण हैं। वे प्रत्येक वाक्यार्थ विशेषका प्रतिपादन नहीं कर सकते और सम्बन्ध ग्रह न होनेसे ही पदसंघातरूप वाक्य भी वाक्यार्थका प्रत्यायक नहीं हो सकता। पदार्थ भी वाक्यार्थका बोधन नहीं कर सकते। और जिस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं है, वह शब्द भी अर्थका बोधक नहीं होता, क्योंकि बालकोंको अर्थकी प्रतीति नहीं होती। यदि प्रतीति होती हो तो शक्ति ग्रहव्यर्थ है।

शंका—यद्यपि पद अगृहीत शक्तिक अर्थका बोधक नहीं होता तथापि पद समुदाय या पूर्व-पूर्व वर्णोंके अनुभवसे उत्पन्न संस्कारोंके सहित वाक्यका अन्त्य वर्ण या निरवयव वाक्य स्फोट सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षाके बिना वाक्यार्थका बोधक होता है, यदि ऐसा कहें तो ? उत्तर—नहीं, अव्युत्पन्न पुरुषोंको भी ज्ञान होने लगेगा। और व्युत्पत्तिकी व्यर्थता पहिले ही कही जा चुकी है। यदि कहें पदार्थका ज्ञान भी वाक्यार्थ बोधका अंग है, अतः जिसको पदार्थ ज्ञान नहीं है, उन्हें अंगके न रहनेसे वाक्यार्थका ज्ञान न होना कोई दोष नहीं। और जो यह कहा गया है कि पदार्थोंकी व्युत्पत्ति भी अनर्थक नहीं है, यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदोंसे वाक्य अर्थान्तर है, वाक्यार्थ तो पदार्थसे अतिरिक्त है। अतः वाक्य साक्षात् ही वाक्यार्थका वाचक रूपसे प्रतिपादन करता है। तब पदार्थ ज्ञानका

---

* यों कहा है—पदार्थपदसम्बन्धे नित्यत्वे साधितेति वः।
नैववेदप्रमाणत्वं वाक्यार्थं प्रति सिद्धयति ॥ (श्लोकवा० पृ० ८४५)

इनमें पहिले दो विकल्प पूर्व पक्षके हैं। अन्तिम सिद्धान्त पक्षका है। यहां शंका है कि आकृति वादमें पदार्थ नित्य है, ऐसा सिद्ध किया है, अतः पद पदार्थका सम्बन्ध अपौरुषेय है, यह कहना अयुक्त है। इसका उत्तर है कि शब्द नित्यत्वकी तरह आकृतिकी भी नित्यता तथा एकत्व प्रत्यभिज्ञासे सिद्ध है। जिसने एक गो व्यक्तिको देखा है उसे दूसरे व्यक्तिको देखनेसे यह वही है यह निश्चय होता है। किन्तु यागादिका स्वर्ग साधनत्व रूप अंश ही धर्म है। वही वाक्यार्थ है। वह एक पदसे तो नहीं कहा जा सकता अतः संकेतका ग्रहण न होनेसे वाक्यार्थ निर्मूल है। उसीको दिखानेके लिए सम्भव कारणोंको बतलाकर क्रमशः उनका निराकरण करते है।

ननु सामान्यं पदार्थः, विशेषो वाक्यार्थः, सम्बन्धश्च सामान्यविशेषलक्षणः। सत्यम्। नियतविशेषावगतिस्तु न सिध्यति, सर्वविशेषसाधारणत्वात्सामान्यस्य। ततश्च गामानयेति पदावगतमानयनसामान्यं विशेषाक्षेपोन्मुखमपि न गोरेवानयनमाक्षिपेत्। ततश्च न गोरेवानयनं प्रतीयेत। न चाकाङ्क्षा-संनिधि-योग्यत्वैर्नियमः, सत्स्वपि तेष्वदर्शनात्। न हि प्रत्यक्षेण गामुपलभ्य 'कस्येयम्' इति जिज्ञासमानः सन्निहितमपि देवदत्तं स्वामिनमध्यवस्यति। तस्मान्निर्मूलो वाक्यार्थः साङ्केतिकः। न च वेदे सङ्केतयितास्तीत्यप्रामाण्यम्।

अथ वा वेदवाक्यानामपि पौरुषेयत्वमाश्रित्य पुरुषप्रामाण्यादेव प्रामाण्यमङ्गीकर्तव्यम्। युक्तं च सर्ववाक्यानां पौरुषेयत्वदर्शनादेव वेदवाक्यानामपि पौरुषेयत्वम्। अथ पुरुषाणामीदृशेऽर्थे प्रामाण्यं न सम्भवति? ततोऽप्रामाण्यमेवास्तु, न त्वनपेक्षं प्रामाण्यं सिध्यतीति पूर्वः पक्षः।

क्या उपयोग है ? और उसका उपयोग न होनेसे, जो वाक्यार्थको जानना चाहते हैं उनके लिए पदार्थकी व्युत्पत्ति भी अनर्थक हो जायगी। शंका—यदि कहें जैसे पद-पदार्थका सम्बन्ध होता है, वैसे ही पदार्थ-वाक्यार्थका भी सम्बन्ध हो ? उत्तर—नहीं, पदार्थ और वाक्यार्थका सम्बन्ध न होनेसे तथा पदार्थोंका भी परस्पर सम्बन्ध न होनेसे वाक्यार्थका ज्ञान होना दुर्लभ है।

शंका—यदि कहें पदार्थ सामान्य है, वाक्यार्थ विशेष है, अतः इन दोनोंका सामान्य विशेष लक्षण ही सम्बन्ध है। उत्तर—ठीक है, नियत विशेषका ज्ञान तो नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि सामान्य सभी विशेषोंके प्रति साधारण है। अतः 'गौ को लाओ' इस पदसे ज्ञात आनयन सामान्य विशेषका आक्षेप चाहता है। तो भी गौ के ही आनयनका आक्षेप नहीं करता। इसलिए गौ का ही आनयन प्रतीत नहीं होगा। शंका—वाक्यार्थ ज्ञानमें आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता कारण हैं। उनसे नियत विशेष वाक्यार्थका नियम हो जाएगा। उतर—नहीं, आकांक्षा आदिके रहनेपर भी नियत शाब्दबोध नहीं होता। (यही सन्निधि मात्रके अभिप्रायसे दोष है। शब्द सन्निधिमें यह दोष नहीं हो सकता, ऐसा समझना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हैं 'न हि' इत्यादिसे) प्रत्यक्ष गौ को देखकर, यह किसकी है, ऐसी जिज्ञासा करनेवाला पुरुष सन्निहित देवदत्तको, 'यही उसका स्वामी है' ऐसा निश्चय नहीं कर सकता। अतः वाक्यार्थ निर्मूल है, पारिभाषिक है। (शंका—'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' यह कहा गया है। चोदना तो वाक्य ही है, अतः वही वाक्यार्थ प्रतीतिका कारण है, तब कैसे कहते हैं, कि निर्मूल है ? उत्तर—ठीक है, वाक्य होनेपर भी सम्बन्ध-ग्रह न होनेसे वाक्यार्थ प्रतीतिका कारण नहीं हो सकता, अतः सांकेतिक है) वेदमें तो संकेत कर्ता पुरुष है नहीं, अतः वेद वाक्योंका अप्रामाण्य हो जाएगा।

'अथवा' इत्यादिसे पक्षान्तर बताते हैं। वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं, ऐसा मानकर पुरुषके प्रामाण्यसे ही प्रामाण्य मानना चाहिए। यह युक्त भी है कि सभी वाक्योंके पौरुषेय होनेसे वेद वाक्योंका भी पौरुषेय होना उचित ही है। यदि कहें पुरुषोंका अतीन्द्रिय पदार्थोंमें प्रामाण्य नहीं हो सकता, अतः अप्रामाण्य ही रहे। निरपेक्ष प्रामाण्य नहीं सिद्ध हो सकता यह पूर्व पक्ष है।

वाक्यस्य वाक्यार्थबोधकत्वम्

अत्र केचिदाहुः— वाक्येनैव हि वाक्यार्थः साक्षादेवाभिधीयते।
उपलक्षणतश्चास्य सम्बन्धग्रहसम्भवः ॥ ५२ ॥
वाक्यं गोपदयुक्तं यत् तत्-सास्नादिमदन्वितम्।
वाक्यार्थं वदतीत्येवं व्युत्पत्तिः सुकरैव हि ॥ ५३ ॥
सत्यं व्युत्पत्तिरेवं स्यात् तथापि तु न वाक्यतः।
वाक्यार्थावगतिर्युक्ता तिरोभावेपि दर्शनात् ॥ ५४ ॥
पूर्वभागेषु वाक्यस्य विस्मृतेष्वपि दृश्यते।
वाक्यार्थावगतिः पुंसां पदार्थस्मृतिशालिनाम् ॥ ५५ ॥

[उत्पत्तौवाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥ १।१।२४ ॥ वा = अथवा, उत्पत्ती = शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धके नित्य होनेपर भी, अवचनास्युः = विधिवाक्य वाक्यार्थके प्रतिपादक नहीं होते। अर्थात् अप्रमाण होते हैं। क्यों ? अर्थस्य = पदार्थके, अतन्निमित्तत्वात् = वाक्यार्थके निमित्त न होनेसे]

(इस प्रकार पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर वैयाकरणोंकी ओरसे समाधान करते हैं 'अत्र केचित्' इत्यादिसे) यहाँ केचित् = वैयाकरण कहते हैं॥। अर्थ = पद समुदाय रूप वाक्य ही वाक्यार्थ संसर्गका साक्षात् अभिधायक है। इसका उपलक्षणसे संगति ग्रह होना सम्भव है ॥ ५२ ॥ गो पद युक्त वाक्य सास्नादिसे युक्त वाक्यार्थको कहता हैं, अतः इस प्रकार शक्ति ग्रह हो सकता है ॥५३॥ तथापि ठीक है, इस प्रकार शक्तिग्रह हो सकता है। वाक्यसे वाक्यार्थका ज्ञान होना युक्त नहीं। पदोंका तिरोभाव होनेपर भी वाक्यार्थ होता है। वाक्यके पूर्व भागके विस्मृत होनेपर भी (अर्थात् वाक्यांश पदोंका विस्मरण होनेपर भी) पदार्थोपस्थितिवाले पुरुषोंका वाक्यार्थ ज्ञान दिखाई देता है ॥ ५४–५५ ॥

॥ ग्रन्थकारने पूर्व पक्षमें पदार्थका वाक्यार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह हेतु बताया। इसका मूल है वार्तिक। उसमें जाति या व्यक्ति पक्षमें संसर्ग वाक्यार्थ नहीं हो सकता। भेद भी वाक्यार्थ नहीं हो सकता। इन वैयाकरणों द्वारा अभिमत वाक्य विकल्पोंका निरास किया। धात्वर्थ यागादिका कर्म तथा करणत्व सम्बन्धसे द्वितीया तृतीया आदि विभक्तियोंके न रहनेसे भावनामें अन्वय नहीं हो सकता। प्रयाजादिका सम्बन्ध होना तो दूर रहा। और उपसर्ग तथा निपात वाचक नहीं, द्योतक हैं। यथा—

क्रियते संशयोत्पत्तेर्नोपसर्गनिपातयोः। तयोरर्थाभिधाने हि व्यापारो नैव विद्यते ॥

अतः वाक्यार्थ निर्मूल और पारिभाषिक है। इसका विशेष विवरण भूमिकामें देखिए।

लघुचन्द्रिकाकारने 'अत एवान्विताभिधान वादिन आहुः' यह अवतरणिका देकर, 'वाक्येनैव' इत्यादि श्लोकसे कहा है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकार यहाँ वैयाकरणोंके मतका निरास करते हैं। इसके बाद प्राभाकर मतका खण्डन करते हैं, अतः लघुचन्द्रिकाकारका कथन आपाततः समझना चाहिए। क्योंकि स्वयं ग्रन्थकारने वैयाकरण मतका निरासकर 'येऽपि' इत्यादि ग्रन्थसे वैयाकरण मतमें जो दोष दिया है, उसे अन्विताभिधान वादीके मतमें भी दिखाया है। द्रष्टव्य-अद्वैतसिद्धिकी टीका 'लघुचन्द्रिका' पृ० ६७३।

यथैव विस्मृतपूर्ववर्णानामन्तिमवर्णमात्रान्न[1] पदार्थावगतिर्भवति, तथैव वाक्यावयवेषु पूर्वपदेषु विस्मृतेषु वाक्यार्थावगतिर्न स्यात्। दृश्यते हि विस्मृतपूर्वपदानामपि दीर्घतमेषु वाक्येषु वाक्यार्थावगतिः[2]। न च स्वरूपेण विस्मृतेपि स्मर्यमाणपदार्थवशादेव तद्वाचिपदयोगितां वाक्यस्यानुमाय ततो वाक्यार्थावगतिरिति वक्तुं युक्तम्, अस्यां प्रणाड्यां प्रमाणाभावात्। अनुसन्धीयमानैरेव हि पदार्थैः साक्षादेव हि वाक्यार्थप्रतीतिसम्भवे को नामेदृशीं कल्पनामवलम्बते। सम्भवति च पदार्थेभ्यो वाक्यार्थावगतिरिति वक्ष्यामः।

अन्विताभिधानवादस्यानुवादनिरासौ

येप्याकाङ्क्षितसंनिहितयोग्यार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायीनि पदान्येव वाक्यार्थप्रतीतिनिमित्तमिति ब्रुवते, तेषामपि विस्मृतेषु केषुचित्पदेषु वाक्यार्थावगतिर्न स्यादिति तुल्यमेव दूषणम्। किंचैवं वादिनां प्रतिपदं वाक्यभेदः स्यात्, न क्वचिदेकवाक्यता सिद्ध्येत्। गामानयेति गोपदमानयनकर्मभूतां गां प्रतिपादयति, तथानयतिरपि गोकर्मकमानयनम्, तयोश्च भेदाद् भिन्न एव वाक्ये स्याताम्।

उक्त अर्थका ग्रन्थकार स्वयं विवरण करते हैं 'यथैव' इत्यादिसे जैसे पदके पूर्व वर्णोंका विस्मरण होनेपर भी अन्तिम वर्ण मात्रसे पदार्थका ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार वाक्यके अवयव भूत पूर्व पदोंका विस्मरण होनेपर भी वाक्यार्थका ज्ञान नहीं होगा। देखा जाता है कि अत्यन्त विस्तृत वाक्योंमें पूर्व पदोंका विस्मरण होनेपर भी वाक्यार्थका ज्ञान होता है। शंका—यदि कहा जाए स्वरूपसे पदोंका विस्मरण होनेपर भी स्मर्यमाण पदार्थोंके द्वारा ही उसके वाचक पद सम्बन्ध विशिष्ट वाक्यका अनुमान करें, उससे वाक्यार्थ ज्ञान हो सकता है, ऐसा कह सकते हैं। उत्तर—नहीं, ऐसी परम्परा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। शंका—दूसरी गति न होनेसे परम्पराका आश्रयण करते हैं। उत्तर—नहीं कर सकते। वक्ष्यमाण सिद्धान्तसे गतिका होना सम्भव है। स्मर्यमाण पदार्थोंसे साक्षात् ही वाक्यार्थ प्रतीति सम्भव होनेपर कौन ऐसा व्यक्ति है कि ऐसी क्लिष्ट कल्पनाका अवलम्बन करेगा। पदार्थोंसे ही वाक्यार्थ-ज्ञान हो सकता है, ऐसा सिद्धान्त-निरूपण प्रसंगमें आगे कहेंगे।

(इस प्रकार वैयाकरणोंसे पूर्वपक्षका निराकरण कराकर, प्राभाकर मीमासकोंके द्वारा कहे गए समाधानका निरास करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं 'येऽपि' इत्यादिसे) जो प्राभाकार मीमांसक पद ही आकांक्षित तथा सन्निहित और योग्य अर्थान्तरसे अन्वित स्वार्थको कहते हैं (अर्थात् अन्वित स्वार्थको कहते हुए पद ही वाक्यार्थ प्रतीतिके निमित्त हैं) ऐसा कहते हैं, उनके मतमें भी वैयाकरणोंके मतकी तरह दोष ज्योंका त्यों होगा। इसीको बताते हैं 'तेषाम्' इत्यादिसे। उन प्राभाकर मीमांसकोंको भी वाक्यसे कुछ पदोंका विस्मरण होनेपर भी वाक्यार्थका ज्ञान नहीं होगा, यह दोष समान है। इसी अन्विताभिधान पक्षमें दूसरा दोष देते हैं 'किंच' इत्यादिसे। और सुनिए अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसकोंके मतमें प्रति पद वाक्य भेद होने लगेगा। कहीं भी एक वाक्यता नहीं सिद्ध होगी। शंका—(सहोच्चारित पदोंकी स्पष्ट ही एक वाक्यता ज्ञात होती है।

१. पदानामिति 'क' 'ग' पुस्तकयोर्नास्ति। २. वाक्यावगतिरिति 'क' पुस्तके पाठः।

अथान्वितभेदे सत्यप्येकस्यैवान्वितस्य प्रधानभूतत्वात् प्रयोजनैकत्ववशेनवाक्यैकत्व-मुच्यते ?' तदयुक्तम् , नह्यनेकं विशिष्टं प्रतिपादयतां प्रयोजनैकत्वमात्रेणैकवाक्यता भवति, यदि स्यात् ? 'यजेत स्वर्गः फलं पशुर्हविरग्निर्देवता' इत्यत्राप्येकवाक्यता स्यात् । सर्वेषां द्रव्यदेवता- फलविशिष्टयागानुष्ठानप्रयोजनत्वात् । तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यस्य 'समिधो यजति' इत्यादिभिरेकप्रयोजनत्वाद्वाक्यैकत्वं स्यात् ।

नन्विष्टमेवैकवाक्यत्वम् , यथा वक्ष्यति -- 'तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात्' इति । भाष्यकारोपि—'वाक्यं ह्येकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणाम्' इति । सत्यम्, प्रकरणानुमेयं तु तत्रैकवाक्यत्वम्' न प्रत्यक्षम्, अन्यथा वाक्यविनियोज्यत्वापत्तेः । एवं गामानयेत्यत्रापि एकवाक्यता[1] साक्षान्न स्यात् , इष्यते चासौ । तस्माद् यत्रैकवाक्यत्वम् , तत्राऽपर्यवसितव्यापाराणामेव पदानामेकस्मिन्नर्थे पर्यवसानं वक्तव्यम् ।

त्वन्मतेचानयतिर्गवान्वितानयनं प्रतिपाद्य पर्यवस्यति, गोपदमपि गव्येवानयनान्विते पर्यवसितमिति स्यादेव वाक्यभेदः । न हि गोपदस्यानयने गवान्विते पर्यवसानम्,

कैसे कह सकते हैं कि एक वाक्यता नहीं होगी ? उत्तर—ठीक है, अन्वित अर्थका भेद होनेसे वाक्यभेद होगा । उसी उक्त वाक्य भेदको उदाहरणके द्वारा स्पष्ट करते हैं 'गां' इत्यादिसे) 'गामानय' इस वाक्यमें गो पद आनयन कर्मक गौका प्रतिपादन करता है । वैसे ही 'आनयति' भी गोकर्मक आनयनको बताता है । उन दोनोंका भेद होनेसे भिन्न ही वाक्य हो जाएँगे । शंका—यदि कहा जाए अन्वित अर्थका भेद होनेपर भी एक ही अन्वित अर्थ प्रधान है, वही प्रयोजन है, अतः एक प्रयोजन होनेसे एक वाक्यता कही जाती है । उत्तर—यह ठीक नहीं, अनेक विशिष्टोंका प्रतिपादन करनेवाले पदोंके प्रयोजनके एकत्व मात्रसे एक वाक्यता नहीं होती । यदि मानें तो 'यजेत' याग करे यहाँ स्वर्ग फल है । पशु हवि है । अग्नि देवता है । यहाँ भी एक प्रयोजन होनेसे एक वाक्यता हो जाएगी । क्यों कि उपर्युक्त सभीका द्रव्य, देवता, फलविशिष्ट यागानुष्ठान ही प्रयोजन है । और 'दर्शपूर्णभास याग करें' । इसकी 'समिद्याग करें' इत्यादिके साथ एक वाक्यता होगी, एक प्रयोजन होनेसे । अतः अन्वितका भेद होनेपर भी एक प्रयोजनके द्वारा एक वाक्यता नहीं मान सकते ।

शंका-- यदि कहें उपर्युक्त स्थलोंमें एक वाक्यता इष्ट ही है; इस बातको सूत्रकार स्वयं कहते हैं—'वही वाक्य है' अर्थात् एक वाक्य है, इत्यादिसे । क्योंकि एक अर्थका प्रतिपादक होनेसे । इसका भाष्य करते हुए शबर स्वामीने भी कहा है—'दर्शपूर्णमासोंके साथ प्रोक्षण आदि तथा प्रयाजादि धर्मोंका एक ही वाक्य है ।

उत्तर—वहाँ एक वाक्यता प्रकरणसे अनुमेय = कल्पना करने योग्य है, प्रत्यक्ष नहीं है । अन्यथा वाक्यसे विरोध होने लगेगा । (अर्थात् वह प्रकरणसे विनियोज्य है, वाक्यसे नहीं, यह अनिष्ट हो जाएगा । उक्त दूषणका लौकिक वाक्यसे अतिदेश करते हैं 'एवं' इत्यादिसे) इस प्रकार 'गौको लाओ' इस स्थलमें भो साक्षात् एक वाक्यता नहीं होगी और वह इष्ट है । अतः जहाँ एक वाक्यता है, वहाँ जिन पदोंका व्यापार पर्यवसित नहीं है, उन्हीं पदोंका एक अर्थमें पर्यवसान कहना होगा । आपके मतमें 'आनयति' गवान्वित आनयनका प्रतिपादन कर पर्यसवन्न होता है । अर्थात् निराकांक्ष हो जाता है।

१. 'क' 'ग' इति पुस्तकयोः प्रत्यक्षेत्यधिकः पाठः ।

येनैकवाक्यता स्यात्। अथ गोपदमप्यानयनमेव गवान्वितमभिदध्यात्? अनेकार्थत्वं स्यात्, गोश्चानयनस्य चाभिधानात्। न हि गोरन्यतः सिद्धिर्यतस्तामनभिधाय तद्विशिष्टमानयनमेवाभिदध्यात्।

किं च 'अतिशोभनो राजपुरुषः' इत्यत्रातिशयान्वितस्य शोभनगुणस्य राजान्वितस्य च पुरुषस्य पुनः परस्परान्वयो गम्यते—समासे हि परस्परान्वयपूर्वकः पदार्थान्तरान्वयः, तेनाऽन्वितयोरेवात्रान्वयः। न चासावभिधानतः सिध्यति—पुरुषशब्दो हि पुरुषस्यैवार्थान्तरान्वयमभिधत्ते तस्यैव स्वार्थत्वात्। अतो नान्वितान्वयमलमभिधातुम्। एवं शोभनशब्दोऽपि स्वार्थस्यैव शोभनत्वस्यान्वयमाह नान्यान्वितस्य। अतोऽस्त्यन्वयोऽवश्यं[1] पदार्थनिबन्धन इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

किं च 'रूढिर्योगाद्बलीयसी शीघ्रप्रवृत्तित्वात्' इत्यविवादम्, अन्विताभिधाने च विपरीतं बलाबलं स्यात्। अश्वकर्ण इति समुदायो यावद् वृक्षजातिं स्मारयति, तावदे-

'गो' पद भी आनयनान्वित गौ में पर्यवसित होता है। अतः वाक्य-भेद हो ही जाएगा। अन्यथा 'गो' पदका गवान्वित आनयनमें पर्यवसान हो तो एकवाक्यता नहीं होगी। शंका—यदि कहें 'गो' पद गवान्वित आनयनको ही कहता है, तो अनेकार्थत्व होगा। गौ और आनयनका अभिधान होनेसे, गौ की दूसरेसे सिद्धि है ही नहीं, जिससे गौ को विना कहे गो विशिष्ट आनयनको कह सके। (अतः अनेकार्थ प्रतिपादक होनेसे एक वाक्यता सिद्ध नहीं होगी, जो अभीष्ट है)।

और आन्विताभिधान वादमें दोष देते हैं 'किं च' इत्यादिसे। और सुनिए राजपुरुष अतिशोभन है 'अतिशोभनो राजपुरुषः' इस स्थलमें अतिशयसे अन्वित शोभन गुण तथा राजाके साथ अन्वित पुरुषका भी परस्पर अन्वय ज्ञात होता है। यह नियम है कि समासमें परस्पर अन्वय होकर ही पदार्थान्तरका अन्वय होता है। अतः अन्वित (अतिशयसे अन्वित शोमन गुण तथा राजासे अन्वित पुरुष इन दोनों) का ही यहाँ अन्वय होता है। यह अन्वित अर्थोंका अन्वय अभिधानसे सिद्ध नहीं होता। समस्यमान पदोंके बीचमें किसी एकसे भी अन्वितका अन्वय नहीं होता। उसीका उपपादन करते हैं 'पुरुष' इत्यादिसे। पुरुष शब्द अर्थान्तरसे पुरुषके ही अन्वयको कहता है; क्योंकि वही उसका स्वार्थ है। अतः पुरुष पद अन्वितान्वयको कहनेमें असमर्थ है। इसी प्रकार शोमन शब्द भी स्वार्थ शोमन गुणके ही अर्थान्तरसे अन्वयको कहता है अन्यान्वितको नहीं। इसलिए अन्वित पदार्थोंका अन्वय अवश्य ही पदार्थ हेतुक है, ऐसा मानना चाहिए। (अर्थात् अन्वित पदार्थोंका पुनः आकांक्षा आदिके द्वारा परस्पर अन्वय होता है)

इसमें दूसरा हेतु देते हैं 'किंच' इत्यादिसे। और सुनिए, रूढ़ि समुदाय शक्तिको कहते हैं। योग अवयव शक्तिको कहते हैं। रूढ़ी योगसे प्रबल होती है, शीघ्र प्रवृत्त होनेके कारण, यह निर्विवाद है*। यह बात अन्विताभिधानमें रुढ़ि और योगके बलाबलके विपरीत होगी। इसीको उदाहरणसे

* अर्थात् रूढ़ी शीघ्रतासे अर्थकी बोधिका है। अवयव-शक्ति तो अवयवार्थ सापेक्ष है। जब अवयव अर्थोंको लेकर विशिष्टार्थका बोधन कराते हैं; उसके पूर्वही इतर निरपेक्ष रूढ़ी स्वार्थका बोधन करा देती है, अतः वह प्रबल है। यह अध्याय ६, पाद १, अधि० १३ में प्रसिद्ध है।

१. अतोऽन्वितयोरन्वयः, इति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।

वाऽश्वशब्दोपि वाजिनं कर्णशब्दोप्यवयवं स्मारयत्येव। अतो न स्मृतिकाले तावद्विशेषः। अभिधानं तु योगवृत्तौ पदान्तरमनपेक्ष्य स्वायववाभ्यामेव शीघ्रं मिथो निर्वर्तते। रूढिस्तु प्रतियोगिसन्निधानलिप्सया पदान्तरमपेक्षमाणाभिधाने विलम्बत इति वैपरीत्यम्।

स्वरूपमात्राभिधानपक्षे तु पदान्तरापेक्षाभावादक्षरश्रवणमात्रादेव रूढ्यर्थोऽभिधानसिद्धोऽवयवार्थलक्षिताद् यौगिकाद्वाक्यार्थस्थानीयाद्बलीयान् भवति। एवम्—'अतिमधुरं गोक्षीरम्' 'ईषन्मधुरमजाक्षीरम्' इति 'केतकीगन्धसमानः सर्पगन्धः', इत्यादि दर्शयितव्यम्। तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते। तत्र गामानयेत्या-

स्पष्ट करते हैं 'अश्वकरण' इत्यादिसे। अश्वकरण शब्द रूढ़िसे जब वृक्ष जातिका स्मरण कराता है, उसके पूर्व हीमें अश्व शब्द भी घोड़ेको तथा कर्ण शब्द भी अवयवका स्मरण दिलाता है। स्मृतिकालमें इनमें कोई अन्तर नहीं। रुढ़िके सिद्ध न होनेके कारण। किन्तु अभिधान योगवृत्तिमें पदान्तरकी अपेक्षा न कर, अपने अवयवोंसे ही शीघ्रतया परस्पर सिद्ध हो जाता है। रूढी तो प्रतियोगिके सन्निधानकी लिप्सासे पदान्तरको चाहते हुए अभिधानमें विलम्ब करती है, अतः विपरीतता है।

(यह अन्विताभिधानवादमें दोष है। सिद्धान्त पक्षमें यह दोष नहीं; इसे बताते हैं 'स्वरूपमात्र' इत्यादिसे) स्वरूप मात्रके अभिधान पक्षमें तो अर्थात् पद तो पदार्थके स्वरूप मात्रका अभिधान करता है; अन्वितका नहीं। इस अभिहितान्वय पक्षमें पदान्तरकी अपेक्षा न होनेसे अक्षर मात्रके श्रवणसे (पद श्रवणमात्रसे) ही अभिधानसे सिद्ध जो रूढ़ी अर्थ है, वह अवयवार्थोंसे लक्षित वाक्यार्थ स्थानीय यौगिक अर्थसे बलवान् होता है। रूढ़ी अर्थ भी यौगिक अर्थसे बलवान् है, यह स्वरूपमात्र अभिधान पक्षमें सिद्ध होता है। इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं 'एवं' इत्यादिसे। इस प्रकार 'गोक्षीर अत्यन्त मधुर होता है' 'अजाका क्षीर स्वल्प मधुर होता है' 'केतकी गन्धके समान सर्पगन्धा होती है' इत्यादि स्थलोंमें भी स्वरूप मात्रके अभिधान पक्षमें ही ये सब सिद्ध होते हैं।

(जिससे वाक्यके द्वारा साक्षात् वाक्यार्थ प्रतीतिका होना सम्भव नहीं है, अतः अभिहितान्वय पक्ष ही मानना चाहिए। इस अपने सिद्धान्तको बताते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे) इसलिए पदोंसे अभिहित जो पदार्थ हैं वे आकांक्षा आदिसे युक्त होकर लक्षणावृत्तिसे वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं॥।

॥ अर्थात् प्रत्येक पद या पदोंका संघातरूप वाक्य, वाक्यार्थका साक्षात् मूल कारण नहीं हो सकता तथापि पदोंसे प्रतिपादित पदार्थ ही आकांक्षा, योग्यता आसत्तिमान् होकर, वाक्यार्थका कारण हो सकते हैं। क्योंकि पदार्थका ज्ञान होनेपर वाक्यार्थका ज्ञान होता है, उसके अभावमें नहीं। अतः वाक्यार्थके प्रति पदार्थ ज्ञान कारण है। या ज्ञात पदार्थ कारण है। यद्यपि नैयायिकोंने पद ज्ञानको कारण माना है, किन्तु यह ठीक नहीं। पद तो पदार्थके प्रतिपादनमें निराकांक्ष हो जाते हैं। उनकी पुनः वाक्यार्थमें भी दूसरे व्यापारके लिए कल्पना करनेपर गौरव होगा। तथा अदृष्टकी कल्पना, इष्टको हानि आदि दोष होंगे। अतः नैयायिकोंका पक्ष ठीक नहीं। क्रम-विशिष्ट वर्णोंसे पदार्थका ज्ञान होनेपर उसके अनन्तर वाक्यार्थका ज्ञान होनेसे पदार्थोंमें ही सामर्थ्यकी कल्पना उचित है।

नयतिरानयनसामान्यमभिधाय तद्व्यक्तिं लक्षयति, गोपदमपि स्वार्थद्वारेणानयनमेव गोकर्मकत्वाकारेण तत्सम्बन्धिस्वरूपेण लक्षणया प्रतिपादयति ।

एवं यत्र यत्र वाक्ये यो योऽर्थो विशेष्यत्वेन विवक्षितस्तमेव स्वपदेन सामान्यवाचिना लक्षितं सन्तमितराणि पदानि स्वार्थाभिधानद्वारेण तत्सम्बन्धिरूपेण लक्षयन्ति । यत्राप्यन्वितस्यैव पुनरन्वयान्तरं तत्रापि लक्षितलक्षणापरम्परया सर्वस्य तस्य सिद्धिरित्येषा दिक् ।

ननु कर्मत्वेनाभिहिता गौस्तत्कर्मिकां क्रियां लक्षयन्त्यपि कथमानयनमेव लक्षयति ? तदेकवाक्यतयेति ब्रूमः—लक्षणा हि साधारण्येनैव प्रवृत्ताप्येकवाक्यतया नियम्यत इति दर्शनबलादङ्गीक्रियते । योपि ह्यन्विताभिधानमिच्छति, तेनापि सामान्यतः प्रवृत्ता लक्षणा पदान्तरैकवाक्यत्वेन नियम्यत इत्येतदङ्गीकृतमेव । तथा हि युगपदधिकरणवाचितायां

'गामानय' इत्यादि वाक्यमें आनयति आनयन सामान्यका अभिधानकर आनयन व्यक्तिका लक्षणासे बोधन कराता है । इसी प्रकार गोपद भी स्वार्थ = गोरूप अर्थके द्वारा आनयनको गो कर्मताके रूपसे उसके सम्बन्धिके रूपसे लक्षणया बोधन कराता है । इस प्रकार जिस-जिस वाक्यमें जो जो अर्थ विशेष्यके रूपसे विवक्षित है, उसी अर्थको सामान्य वाची स्वपदसे लक्षित करते हुए और भी पद स्वार्थके अभिधानके द्वारा उसके सम्बन्धिके रूपमें लक्षणावृत्तिसे बोधन कराते हैं (अर्थात् सामान्य पदका वाच्य होता है, विशेष लक्ष्य होता है) उस पक्षमें अन्वितका अन्वय भी सिद्ध होता है उसीको बताते हैं—'यत्रापि' इत्यादिसे । यहाँ भी अन्वितका ही पुनः दूसरा अन्वय होता है, वहां भी लक्षित लक्षणारूप परम्परासे उन सबकी सिद्धि होती है* ।

शंका—'गामानय' इस वाक्यमें कर्मरूपसे गोका अभिधान होता है । वह आनयन कर्मिका क्रियाका लक्षणासे बोधन करता हुआ भी आनयनका ही लक्षणया कैसे बोधन करता है ?

उत्तर—उसके साथ एक वाक्यता होनेसे§। क्योंकि यद्यपि लक्षणा साधारण रूपसे ही प्रवृत्त है तथापि 'आनय' पदके साथ एक वाक्यता होनेसे क्रिया मात्र लक्षक आनयनको ही लक्षित करता है । यह नुभव बलसे माना जाता है । (उक्त नियम अन्विताभिधान वादमें भी मानना अनिवार्य है, इसीको बताते हैं 'योऽपि' इत्यादिसे) जो प्राभाकर मीमांसक अन्विताभिधानवादको चाहता है उसकी भी सामान्यरूपसे प्रवृत्त लक्षणा पदान्तरसे एक वाक्यतासे नियमित होती है; ऐसा उन्होंने भी अंगीकार किया है । इसीका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं 'तथाहि' इत्यादिसे ।

---

* अर्थात् 'अतिशोभन राजपुरुष है' इत्यादि स्थलोमें अतिशोभन पदोंकी अतिशय शोभनमें पृथक् शक्ति है । अतिशयित शोभनमें लक्षणा है । उसके द्वारा अति शोभनत्व विशिष्ट राजपुरुषमें लक्षित लक्षणा है । उसी प्रकार राजपुरुष—दोनों पदोंकी राजा तथा पुरुषमें शक्ति है । राजान्वित पुरुषमें लक्षणा है । अतिशोभन विशिष्ट राजान्वित पुरुषमें लक्षित लक्षणा है । इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । यह दिग्दर्शन मात्र है ।

§ अर्थात् गामानय इस वाक्यमें गो पद तथा आनयन पद दोनोंका उपादान है । गो पद क्रिया सामान्यको कहता हुआ भी आनयनको ही कहेगा । यह नियम सभीको अभिमत है । इसीका उपपादन किया गया है 'लक्षणा हि' इत्यादिसे ।

द्वन्द्वमिच्छन्ति, तत्र धवखदिरावित्यत्र खदिरप्रातिपदिकं द्विवचनोपपत्तयेऽर्थान्तरं लक्षयदपि धवमेव लक्षयति, नार्थान्तरम्। तत्पदसमभिव्याहारादेव तथा सर्वत्रास्तु। यत एवायमन्वयविशेषोऽविनाभावादसिध्यन्नेकवाक्यतावशेनैव सिध्यति, अत एव शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वमनुमानात्[1]।

पदार्थानां वाक्यार्थबोधकत्वशंकानिरासो

ननु प्रत्यक्षेण गवि देवदत्ते चाऽगते सत्स्वप्याकाङ्क्षा-संनिधि-योग्यत्वेषु न परस्परान्वयप्रतीतिर्भवति, तस्मान्न पदार्था वाक्यार्थं गमयन्तीति पदानामेवान्विताभिधानं युक्तम्। अन्विताभिधानेपि तुल्योयं दोषः—यौ तावदर्थौ प्रत्यक्षप्रतिपन्नौ, तयोर्वाचकावपि शब्दौ तस्मिन् समये स्मृतिस्थौ भवतः, न च तौ स्वार्थयोराकाङ्क्षादिसद्भावेप्यन्वयं प्रतिपादयतः।

अथ यादृगवस्थितैः पदैरन्वयो वृद्धव्यवहारे दृश्यते तादृशान्येवान्वयं प्रतिपादयन्ति, नान्यादृशानीत्युच्यते ? तत् पदार्थेष्वपि तुल्यम्। तेऽपि हि पदार्था एकैकविशिष्टा-

---

जैसे युगपद् अधिकरण वाचितामें द्वन्द्व समास मानते हैं (यहाँ अधिकरण नाम है पदार्थका। वह युगपद् वाच्य होनेसे एक ही पदसे दो पदार्थोंको एक साथ यहां उपस्थित हो वहां द्वन्द्व समास होता है) उदाहरण है 'धवखदिरौ छिन्धि' यह वाक्य है। इसमें धवश्च खदिरश्च' यह विग्रह है। यहाँ खदिर प्रादिपदिक द्विवचनकी सिद्धिके लिए अर्थान्तरका लक्षणासे बोध कराता हुआ भी धवका ही लक्षणासे बोधन कराता है; अर्थान्तरका नहीं। वह पदके उच्चारणसे ही होता है। ऐसा सभी जगह हो जाए। जिससे यह अन्वय विशेष अविनाभावरूप व्याप्तिसे सिद्ध नहीं होता। किन्तु एक वाक्यतासे ही सिद्ध होता है; अतएव शब्दकी प्रमाणान्तरता अनुमानसे सिद्ध होती है।

शंका—प्रत्यक्षसे गौ तथा देवदत्तको देखा। आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता तो है ही, तब भी परस्पर अन्वयकी प्रतीति नहीं होती; अतः पदार्थ वाक्यार्थका बोध नहीं करा सकते। इसलिए पदोंका ही अन्विताभिधान मानना युक्त है। (अर्थात् पदार्थोंको कारण माननेपर व्यभिचार है, अतः पदोंका ही अन्विताभिधान मानना चाहिए।

सिद्धान्तीका उत्तर—यह दोष अन्विताभिधान वादमें भी समान है। देवदत्त और गौ दोनो पदार्थ प्रत्यक्षसे ज्ञात हैं। उनके वाचक शब्द भी उस समय स्मृतिमें आरूढ़ होते हैं। वे दोनों पद स्वार्थकी आकांक्षा आदि होनेपर भी अन्वयका प्रतिपादन नहीं करते। (तात्पर्य यह है कि उस समय गोशब्द तथा देवदत्त शब्द स्मृत्यारूढ़ अवश्य होते हैं; तथापि वे अन्वयका प्रतिपादन नहीं करते। 'यस्तूभयो समोदोषः' इस न्यायसे यह दोष समान है। इसलिए ऐसा आक्षेप करना ठीक नहीं)

शंका—जैसे अवस्थित पदोंसे वृद्ध व्यवहारमें अन्वय देखा जाता है, वैसे ही पद वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं। अन्य पद प्रतिपादन नहीं करते।

---

१. द्रष्टव्य-श्लोकवार्तिक—न चानुमानमेषां धीस्तन्मात्रेण प्रसज्यते।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् पदार्थानां ह्यलिंगता॥
पदार्थैरनुरक्तोसौ वाक्यार्थः संप्रतीयते। नात्मना गमयन्त्येनं विना, धूमोग्निमत्त्ववत्॥ इति॥

र्थप्रतिपादनाय समाहृता वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तीति न दोषः। तेषां च समाहारे यत्र पुरुषस्य स्वातन्त्र्यम्, तत्र तद्बुद्ध्यधीनं प्रामाण्यम्, अस्वातन्त्र्ये चानपेक्षम्। अतो न पदानामन्विते शक्तिः प्रमाणवती। निरस्तश्चायमन्विताभिधानवादो न्यायरत्नमालायामित्यास्तां तावत्।

वाक्यस्फोट-निरासः

वाक्यस्फोटोपि पदस्फोटन्यायेनैव निरस्तः। वाक्यार्थस्य च निर्भागत्वं भागाऽवगमात्, प्रसङ्गाद्यनुपपत्तेश्च निरसनीयम्।

तथा हि—प्रसङ्गतन्त्रबाधोहाऽतिदेशाधिक्रियाक्रमाः।
प्रयुक्तिशेषभेदाश्च कथं निर्भागवादिनाम्? ॥ ५६ ॥

उत्तर—यह पदार्थोंमें भी समान है। वे पदार्थ एक विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए एक वाक्यमें पदोंसे उपात्त हैं। वे ही वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं दूसरे नहीं। अतः कोई दोष नहीं। और उनके सहोच्चारणमें जहाँ पुरुष स्वतंत्र होता है, वहाँ पुरुष बुद्धिके अनुसार प्रामाण्य होता है। स्वतंत्रता न होनेसे प्रामाण्य निरपेक्ष होता है, अतः पदोंकी अन्वय विशिष्ट अर्थमें शक्ति प्रामाणिक नहीं। अन्विताभिधानवादका निरास न्यायरत्नमाला' में※ किया गया है। बस कीजिए।

(पूर्वमें पदस्फोटके निराकरणके लिए जो प्रकार बताया है, वह वाक्य स्फोटके निरासमें भी समझना चाहिए, उसीको कहते हैं 'वाक्य स्फोटोऽपि' इत्यादिसे) वाक्य स्फोट भी पद स्फोट न्यायसे निरस्त हुआ। और वाक्यार्थ निर्भाग (निरवयव) होता है। यह प्रसंग है। क्योंकि उसके भाग मालूम होते हैं §।

और ऊह, बाध, तंत्र, प्रसंग ये सब असिद्ध हो जाएंगे। अतः इनका निरास करना परमावश्यक है। इसी बातको श्लोकसे बताते हैं। अर्थ=प्रसंग, तंत्र, बाध, ऊह, अतिदेश, अधिकार,

---

※ उक्त अर्थका न्यायरत्नमालामें इस प्रकार विवेचन किया है यथा—
अदृष्टकल्पनैतस्मिन्मते हि स्याद् गरीयसी। दृष्टबाधप्रसंगश्च तस्मादभिहितान्वयः। दृष्टानुगुण्यं तत्रस्यात्कल्पना च लघीयसी ॥ इति ॥ (न्या० र० मा०, वाक्यार्थनि० का० १०-११)

§ अर्थात् वैयाकरणका कहना है कि निरवयव पद ही निरवयव वाक्यार्थका वाचक है तथा निरवयव वाक्य ही निरवयव वाक्यार्थका वाचक है। यहाँ शंका है कि यदि वक्ष्यमाण दोनों निरवयत्र हैं, तो जो व्यवहारमें प्रसिद्ध है पद भेद और वाक्य भेद, वह कैसे होगा? उक्त भेद कल्पित है। अर्थात् यह प्रकृति है, यह प्रत्यय है। इत्यादि अवान्तर भेद प्रक्रियाके लिए वैयाकरणों द्वारा कल्पित है।
इसके सम्बन्धमें मीमांसकोंका यह कहना है कि प्रकृति प्रत्यय तथा उनका वाच्य इन तीनोंका भेद प्रत्यक्षसे ज्ञात होता है। जैसे वृक्षं वृक्षेण' इत्यादि स्थलमें वृक्षरूप प्रकृति एक है। प्रत्ययका भेद होनेसे कर्मत्व, करणत्वरूप अर्थका भेद है। 'वृक्षं घटं च' इस स्थलमें प्रकृति तथा उसका अर्थ भिन्न भिन्न है। तो भी प्रत्ययका अभेद है। उसमें कर्मत्वरूप अर्थ एक ही है अतः निरवयव वाक्य निरवयव वाक्यार्थका बोधक है, भागके ज्ञात होनेके कारण, यह कहना अयुक्त है।

यदा हि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति निभार्गस्यसाङ्गप्रधानविधेरर्थो निर्भागः—न साध्यम्, न साधनम्, नाप्यङ्गानि, तदा न पशुः, न प्रयाजाः, न पुरोडाशः, न तदीयाः अनुयाजाः सन्तीति किं कुत्र प्रसज्जते ? एवं तन्त्रादिष्वपि दर्शयितव्यम्। तस्मादनेकपदार्थानुरक्तो वाक्यार्थः। स च पदार्थमूलः, न निर्मूलः, न च सङ्केतमूलः। तस्मान्नाऽप्रामाण्यं चोदनायाः। यत्तु वाक्यत्वात् पौरुषेयत्वमित्युक्तं तदुपरितनेऽधिकरणे निराकरिष्यामः।

क्रम, प्रयुक्ति, शेष और भेद आदि निरवयव वाक्यार्थ हैं। ऐसा जो वैयाकरणोंने कहा है, उनके मतमें ये सब कैसे सिद्ध होंगे ॥ ५६ ॥

अर्थात् प्रसंग आदि व्यवहार पदार्थके आश्रित हैं, पदार्थके निरवयव होनेसे ये सब नहीं हो सकते। इसी अर्थको बताते हैं 'यदा हि' इत्यादिसे) श्लोकमें आदि शब्द दिया है। उससे तंत्र आदि द्वादश लक्षणीके प्रतिपाद्य अर्थको समझना चाहिए। जब 'अग्निषोमीय पशुयागको करना' इस स्थलमें सांगप्रधान विधि निरवयव होगी, तो अर्थ भी निरवयव होगा। न साध्य है। न साधन है। न अंग है। न पशु है। न प्रयाज है। न पुरोडाश है। न उसके अंग अनुयाज हैं। कौन कहाँ प्रसंगी होगा ? इसी प्रकार तंत्र आदिमें भी समझना चाहिए§। अतः अनेक पदार्थोंसे सम्बद्ध वाक्यार्थ है। (अर्थात् एक पदार्थ मुख्य विशेष्य होता है। और शेष पदार्थ उसके अंग होते हैं) उस वाक्यार्थका मूल है पदार्थ। अर्थात् पदार्थ मूलक वाक्यार्थ है। अतः उसे निर्मूल नहीं कह सकते। और संकेत मूलक भी नहीं। इसलिए विधिवाक्य प्रमाण है। अतः विधिवाक्यका अप्रामाण्य नहीं कह सकते।

(पूर्व पक्षीने कहा था वाक्य रूप होनेसे वेद पौरुषेय है। उसीका निरास करनेके लिए अनुवाद करते हैं 'यत्तु' इत्यादिसे) यह जो वाक्यत्व होनेसे वेदका पौरुषेयत्व कहा गया है, उसका अगले अधिकरणमें निराकरण करेंगे।

ॐ ग्रन्थकारने मीमांसा दर्शनके बारह अध्यायोंमें प्रसंगादि बारह पदार्थोंका वर्णन किया है। उनका संक्षेप उपर्युक्त श्लोकमें है। उन पदार्थोंका क्रम इस प्रकार है प्रथम अध्यायमें प्रमाण। द्वितीयमें कर्मभेद, तृतीयमें शेषत्व, चतुर्थमें प्रयुक्ति, पंचममें क्रम, षष्ठमें अधिकार, सप्तममें सामान्यातिदेश, अष्टममें विशेषातिदेश, नवममें ऊह, अशममें बाध, एकादशमें तंत्र तथा द्वादशमें प्रसंगका निरूपण है। उक्तार्थका संग्राहक यह श्लोक है।

धर्मो द्वादशलक्षण्या व्युत्पाद्यः तत्र लक्षणैः प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमसंज्ञकाः।
अधिकारोऽतिदेश्चसामान्येन विशेषतः। ऊहो बधश्य तन्त्रं च प्रसंगश्चोदिताः क्रमात् ॥ इति ॥
यहाँ प्रसंगके अनुसार ग्रन्थकारने क्रममें विपर्यास माना है।

§ अर्थात् पाशुक प्रयाजोमें पुरोडाशका प्रसंग होता है। आग्नेयादि तीनों यागों = आग्नेयपुरोडाश, ऐन्द्रदधि, ऐन्द्रपयोयाग इन तीनोंमें प्रयाजादि अंगोंका तंत्र = सकृदनुष्ठान करना। यानी एक बार अनुष्ठान करना। कृष्णलचरूमें अवघातका बाध है, इत्यादि जो वेदका व्यवहार है, तथा लोकमें भी 'द्वारं द्वारं' इतना कहनेपर अर्थान्तरकी आकांक्षा होती है। पिक शब्दार्थ क्या है ? इत्यादि प्रश्न अर्थात् पूर्वोक्त वैदिक लौकिक सब व्यवहार पदार्थ विभागके न रहनेसे सिद्ध नहीं होगा।

[तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥१।१।२५॥ अर्थ = तद्भूतानां = उन पदार्थोंमें रहने वाले पदोंका, क्रियार्थेन = क्रियावाचक पदसे अथवा अंश त्रय विशिष्ट भावनाके लिए होनेसे, समाम्नायः = उच्चारण है। क्योंकि अर्थस्य = पदार्थके तन्निमित्तत्वात् = वाक्यार्थ ज्ञानके प्रति निमित्त होनेसे। अर्थात् पद स्वार्थके अभिधायक होते हैं। वे आकांक्षा आदिके द्वारा लक्षणासे वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं, यह भाष्यानुसारी व्याख्यान है।

ग्रन्थकारकी अभिमत व्याख्या इस प्रकार है कुछ लोगोंका कहना है कि वाक्य ही वाक्यार्थका वाचक है। और कुछ लोग कहते हैं कि निर्मूल ही वाक्यार्थ ज्ञान है। इन दोनोंका निराकरण करनेके लिए यह सूत्र है। तद्भूतानां = लोक सिद्ध पदार्थोंमें रहने वाले पदका ही वाक्यार्थ ज्ञानमें उपाय होनेसे वाक्य वाक्यार्थका वाचक नहीं। क्योंकि अर्थस्य = पदार्थके, तन्निमित्तत्वात् = वाक्यार्थके प्रति निमित्त होनेसे, वाक्य वाक्यार्थका वाचक नहीं। और वाक्यार्थ ज्ञान निर्मूल भी नहीं। पदार्थ ही वाक्यार्थका मूल है। पदोंका उच्चारण क्रियाके लिए होता है॥ इति॥

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।१।१।२६। अर्थ = (पूर्व पक्षमें वेदको पौरुषेय कहा गया है। उसके निराकरणके लिए यह सूत्र है। इसमें सन्निकर्ष पद है प्रथमान्त। उसका पंचम्यन्तमें विपरिणाम करके उसे 'लोके' इस पदके अनन्तर जोड़ना चाहिए। तब अर्थ होगा) लोके = लोकमें, सन्निकर्षात् = प्रमाणान्तरके सम्बन्धसे, प्रयोगसंनियमः स्यात् = प्रयोगका नियम होगा (अर्थात् पुरुषके अधीन प्रयोगकी व्यवस्था होगी। वेदमें तो ऐसा नहीं, क्योंकि प्रमाणान्तरका आगोचर अर्थ ही इसका विषय है। अतः वेद पुरुष कृत नहीं।

अधिकरण सार—तद्भूताधिकरणमें क्रिया शब्दसे भावनाको समझना चाहिए। यह अधिकरण मीमांसकोंके लिए प्राणस्वरूप है। इसमें कहा गया है कि 'क्रियार्थेन समाम्नायः, क्रियाके लिए ही उचारण है। यहाँ सन्देह है कि यदि पदार्थोंमें पद रहते हैं तो पदार्थ ही वाक्यार्थ रूप क्रियाका = विशिष्ट भावनाका निमित्त हैं, तब पदोंका क्रियाके लिए उच्चारण कैसे सिद्ध होगा ?

इसका उत्तर है कि वाक्यार्थ ज्ञानमें ही उनका तात्पर्य है। क्योंकि पदार्थ स्वरूपता तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध है। उन पदार्थोंको कहना निष्फल है। अतः पदार्थोपस्थितिमें पर्यवसित पदोंका ही वाक्यार्थ ज्ञानमें तात्पर्य है। और लक्षणाका बीज तात्पर्यानुपपत्ति होनेसे वाक्यार्थमें लक्षणा है। इसी अभिप्रायको दृष्टान्त देकर वार्तिक कारने समझाया है। यथाहुः—

साक्षात् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्नि निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौनान्तरीयकम्। पाकेज्वालेवकाष्ठानां वेदार्थप्रतिपादनम्॥

अतएव सूत्रमें 'क्रियार्थेन' इस अंशसे क्रिया ही प्रयोजन है, यह बताया गया है। यद्यपि भाष्यकारने 'गौः शुक्लः' यह क्रिया रहित वाक्यका उदाहरण दिया है तथापि 'आनीयतां' इत्यादि पदका अध्याहार करना आवश्यक है। आख्यात रहित पद प्रयोजनको कहनेमें असमर्थ हैं। और वाक्यार्थ सर्वत्र लक्षित होता है, यह भाट्ट मीमांसकोंका सिद्धान्त है। लक्षणाका मूल कहीं समभिव्याहार (सहोच्चारण) होता है, कहीं एकवाक्यता। वह भी कहीं प्रत्यक्ष है, कहीं कल्पनाके योग्य है। जैसे 'व्रीहिनवहन्ति' इत्यादि उदाहरण हैं। 'सोमेन यजेत' इसमें एक वाक्यता प्रत्यक्ष है। समिधो-यजति' आदिमें एक वाक्यता प्रत्यक्ष न होनेपर भी उसको कल्पनाकी जाती है।

(इस प्रकार तद्भूताधिकरणका श्रीचन्द्रप्रभा नामक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।)

सू०—वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७ ॥

अनित्यदर्शनाच्च २८ । उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् २९ । आख्या प्रवचनात् ३० । परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ३१ । कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ३२ । इति ।

सङ्केतानपेक्षैरेव पदैः पदार्थाः प्रतिपाद्यन्ते । तैरप्यनपेक्षितसङ्केतैर्वाक्यार्थ इत्युक्तम् । इदानीं तु किं पौरुषेयाणि वेदवाक्यानि, उताऽपौरुषेयाणीति चिन्त्यते । पौरुषेयत्वे तु संजातस्यापि वाक्यार्थप्रत्ययस्य स्वतः प्राप्तमपि प्रामाण्यं पौरुषेयस्य वाक्यस्ये¹दृशेऽर्थे मूलप्रमाणासम्भवाद् विप्रलम्भभ्रान्त्यादिमूलतयाऽपोद्यते ।

तत्र—वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वाद् भारतादिवत् ।
काठकादिसमाख्यापि कृतकत्वे समर्थ्यते ॥ ५७ ॥

नन्वपूर्वात्मा वेदार्थोऽलौकिकः कथंचिदपि बुद्धावारोपयितुमशक्यः, कथं तत्र पुरुषा वाक्यं रचयेयुः ? भवानपि वा कथमीदृशे तस्मिल्लिङादेः शक्तिं गृह्णीयात् ? अधिकारिनियोज्यान्वययोग्यं स्वर्गसाधनक्षमं कार्यरूपमित्यादिरूपेण कथंचिद् हृदयमा-

(तद् भूताधिकरणकी वेदापौरुषेयत्वाधिकरणके साथ आक्षेपसंगति है । इसीको कहते हैं संकेत इत्यादिसे) संकेत निरपेक्ष पदोंसे ही पदार्थ प्रतिपादित होते हैं । वे भी पदार्थ संकेत निरपेक्ष होकर वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं । यह पूर्वाधिकरणमें कहा गया है* । अब वेद वाक्योंको लेकर विचार किया जाता है कि वेद वाक्य पौरुषेय हैं या अपौरुषेय ? शंका—(पौरुषेय भी वाक्य आप्तप्रणीत होनेसे उनका प्रामाण्य इष्ट ही है, उससे विधि प्रामाण्यका अपवाद कैसे होगा ?) उत्तर—पौरुषेय होनेपर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसका स्वतः प्रामाण्य प्राप्त होनेपर भी पौरुषेय वाक्यका जो लौकिक प्रमाणका विषय नहीं वैसे अर्थमें मूल प्रमाण न होनेपर विप्रलम्भ=धोखा देना या भ्रान्ति आदि मूलके सम्भव होनेसे यह बाति होता है आक्षेप है । पूर्व पक्ष करते हैं 'तत्र' इत्यादिसे । अर्थ=वेद पौरुषेय है, वाक्य होनेसे महाभारतादि वाक्य की तरह । काठकादि समाख्या भी पौरुषेयत्व होनेपर समर्थित होती है ॥ ५७ ॥ संक्षेपसे उक्त अर्थकी स्वयं विस्तारसे व्याख्या करते हैं§ । वेदार्थ=धर्म अपूर्वात्मक है, अत एव अलौकिक है । वह किसी भी दशामें बुद्धिमें आरुढ़ नहीं हो सकता । तब कैसे पुरुष उस अर्थके बोधक वाक्यकी रचना करेंगे । और पूर्वपक्षी यह भी पूछता है कि आप सिद्धान्तोको भी लौकिक प्रमाणके विषय न होनेवाले अर्थात् अलौकिक अर्थ=धर्ममें लिङादिका शक्ति ग्रह कैसे होगा ? क्योंकि वह कार्यरूप है, वह स्वर्गको साधनेमें समर्थ

* अर्थात् पद पदार्थोंका सम्बन्ध नित्य होनेसे वाक्यार्थका मूल होनेसे भी विधिका प्रामाण्य सिद्ध होता है । तब आगे अधिकरण आरम्भकी क्या संगति है ? इस आक्षेपका निराकरण करते हुए अर्थवत्ताको बतानेके लिए उक्त अर्थका अनुवाद करते हैं 'संकेत' इत्यादिसे ।

§ शंका—यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं, कर्ताका स्मरण न होनेसे । इत्यादि पूर्वमें परिहार हो चुका है ? उत्तर—यहाँ यहींका विषय अनागत अवेक्षण न्यायसे प्रसंगसंगतिसे पहिले कहा गया है । वस्तुतः इसी अधिकरणमें वेदोंके पौरुषेयत्वका निरास किया जा रहा है । अतः यहीं पर उसका उपन्यास और निराकरण संगत है । इसीको बताया गया है 'ननु' इत्यादि शंका करके ।

१. वाक्यस्येति 'क' पुस्तके नास्ति ।

नीय शक्तिग्रहणम्। तथा वाक्यरचनाविधिः सम्भविष्यति। तस्माद्वाक्यत्वात् पौरुषेया वेदाः। तथा काठकादिसमाख्या युज्यते, नहि प्रवचननिमित्ता समाख्या सम्भवति। प्रवचनस्यानेकपुरुषसाधारणत्वात् काठकविशेषणासम्भवात्। कर्तृत्वं चैकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। किं पुनर्वाक्ये पुंसः कर्तृत्वम्? यः स्वातन्त्र्येण पदानि वाक्यत्वेन रचयति स कर्ता। स्वातन्त्र्यं चैकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। यस्तु यथैव पुरुषान्तरेणोच्चारितं तथैवोच्चारयामीत्येवमुच्चारयति, नासौ कर्ता। तादृगुच्चारणं च बहूनामप्येकस्मिन् वाक्ये सम्भवतीति विशेषणानुपपत्तिः। तस्मात् कर्तृनिमित्तेयमिति प्राप्ते।

है। और अधिकारी तथा नियोज्य=कर्ताके साथ अन्वित होने योग्य है। इत्यादिसे यथाकथंचित अपूर्वको मनमें लाकर, शक्तिग्रह आपको करना होगा। वैसे हम=पूर्व पक्षी भी कह सकते हैं कि वाक्य रचनाका प्रकार भी बन सकता है। इसलिए वाक्यत्वरूप हेतुसे वेद पौरुषेय सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार काठकादि समाख्या भी सिद्ध होती है। शंका—(यदि कहा जाए काठक कालापक समाख्याएं प्रवचनको लेकर सिद्ध होती हैं, अत: समाख्या पौरुषेयत्वकी साधिका नहीं) उत्तर—समाख्या प्रवचनको लेकर सिद्ध नहीं होती; क्योंकि प्रवचन अनेक पुरुष साधारण है। (अर्थात् व्युत्पन्न-अव्युत्पन्न दोनों प्रवचन कर सकते हैं) अत: प्रवचन साधारण है, असाधारण नहीं। असाधारण ही विशेषण होता है, साधारण नहीं। इसलिए प्रवचनके सर्वसाधारण होनेसे वह काठकादिका विशेषण नहीं बन सकता। किन्तु वह कर्तृत्व है, वह एक हीका होगा। अतः वही विशेषण होनेके योग्य है। शंका—यह बताइए कि वाक्यमें पुरुषका कर्तृत्व किस रूपसे है? उत्तर—जो मानव स्वतन्त्रतासे वाक्यके रूपमें रचना करता है, वही कर्ता है। स्वातंत्र्य तो एक हीका होता है। 'स्वतन्त्रः कर्ता' यह पाणिनिका अनुशासन है: अतः कर्तृत्वेन सामाख्या विशेषण है; प्रवचनको लेकर नहीं। जो मानव पुरुषान्तरसे उच्चरित जैसा वाक्य है, वैसे ही मैं उच्चारण करूं इस अभिप्रायसे उच्चारण करता है, वह उस वाक्यका कर्ता नहीं, किन्तु अनुकरण कर्ता है। (जैसे=अध्यापक 'इषे त्वा' वाक्यका उच्चारण करता है, वैसे ही अध्येता माणवक उसी आनुपूर्वीका अनुकरण करता है) वैसे उच्चारण कई लोगोंका एक वाक्यमें सम्भव है। अतः काठकादि विशेषण सिद्ध नहीं हो सकते, अर्थ=इसलिए समाख्या कर्तृ निमित्तक है। इस प्रकार पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर—

[वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या ॥१।१।२७॥ अर्थ=चकार तु शब्दार्थक है। एके=कुछ वादी लोग, अर्थात् तार्किक, वेदां-वेदोंको, सन्निकर्षं=सन्निकृष्ट काल मानते हैं। अर्थात् कुछ दिन पूर्व बनाए हुए मानते हैं। अर्थात् पौरुषेय मानते है। जिससे वेद पुरुषाख्या=पुरुषके नामसे कहे जाते हैं। अत: वेद पौरुषेय हैं। और भी कहा है कि—

'जायते वाक्यतापत्तिः पदानां रचनावशात्। न च सा पुरुषाभावे कथंचिदुपपद्यते ॥ इति।

अनित्य दर्शनात् १।१।२८ यह पूर्ण पक्षमें गुणसूत्र है। अर्थ=अनित्य पदार्थोंका वेदमें दर्शन होनेसे। अर्थात् अनित्य=बबरादि पदार्थोंका वेदोंमें दर्शन होनेसे वेद अनित्य है।

यहां ध्यानमें रहे कि उक्तं तु शब्द पूर्वत्वम् ॥ १।१।२९॥ आख्याप्रवचनात् ॥ १।१।३०॥ इन दोनों सूत्रोंको पृथक् पृथक् लिखकर भाष्यकारने व्याख्यान किया है। ग्रन्थकारने तो परिहारकी सुविधाके लिए दोनोंको मिलाकर व्याख्यान किया है]

अभिधीयते— 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वमाख्याप्रवचनादिति' ॥ ५८ ॥
वाक्यत्वात् पौरुषेयत्वं दृश्यादर्शनबाधितम् ।
प्रतिहेतुविरुद्धश्च हेतुस्तस्मादकृत्रिमाः ॥ ५९ ॥

यदि वेदानां कर्ता कश्चिदभविष्यत् ततोऽवश्यमध्येतृपरम्परया बुद्धादिवदस्मरिष्यत् । न ह्यस्य विस्मरणं सम्भवति । तत्प्रत्ययेन हि तदा सर्वपुंसां वेदार्थानुष्ठानम्, प्रमाणान्तराऽगोचरत्वात् फलसाधनत्वस्य । अतोऽर्वाचीनैः कथमसौ विस्मर्येत, यतः स कर्तावश्यं स्मर्तव्यः, न च स्मर्यते । तेन स्मृतिरूपदर्शनयोग्यत्वे सत्यप्यदृश्यमानः कर्ता शशविषाणवदभावात्मनाऽध्यवसीयते ।

येपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते, तेपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति—केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्, न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथंचिदप्यवकल्पते । न हि मानवे, भारते, शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद्विवदते । तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणाद् दृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतोदृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् ।

अब सिद्धान्त कहा जाता है—ग्रन्थकार श्लोकोंसे सूत्रकारोक्त सिद्धान्तको बताते हैं। अर्थ=शब्द अध्ययन कर्तृक होता है, यह पूर्वमें=वृत्तिकार ग्रन्थमें कह चुके हैं। अर्थात् जो जो अध्ययन है वह सब अध्ययन पूर्वक ही होता है। प्रवचनसे समाख्या सिद्ध होती है। वाक्यतारूप हेतुसे पौरुषेयत्व दृश्यादर्शनसे बाधित है। और वाक्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषसे दूषित है। अतः वेद अपौरुषेय (अकृत्रिम हैं) ॥५८-५९॥

(इस प्रकार सूत्रकारके अनुसार व्याख्यान कर उक्तार्थका स्वयं व्याख्यान करते हैं 'यदि' इत्यादिसे) यदि कोई वेदोंका कर्ता होता तो अवश्य ही अध्येताकी परम्परासे बुद्धादिकी तरह स्मृतिका विषय होता। क्योंकि उसका विस्मरण सम्भव नहीं। शंका—यदि कहा जाए—उपेक्षासे विस्मरण हो सकता है। उत्तर—नहीं, ऐसे विषयमें उपेक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि उसीके ज्ञानसे सभी पुरुषों द्वारा वेदार्थका अनुष्ठान होता है। क्योंकि फल साधनता प्रमाणान्तरका विषय नहीं है। अतः अर्वाचीनोंके द्वारा उसका विस्मरण कैसे सम्भव हो सकता है। जिससे वह वेदोंका कर्ता अवश्य स्मृतिका विषय होने योग्य है, किन्तु उसका स्मरण होता नहीं। इससे स्मृति रूप दर्शनके योग्य होनेपर भी अदृश्यमान या अस्मर्यमाण कर्ता शशविषाणकी तरह अभावरूपसे निश्चित किया जाता है। (अर्थात् स्मृति विषयके योग्य होते हुए सर्वथा स्मरण न होनेसे सामान्य रूपसे कर्ताकी प्राप्ति होनेपर समाख्यासे विशेष नियम नहीं हो सकता)

जो नैयायिकादि वेदको पौरुषेय मानते हैं, वे भी परम्परासे कर्तृविशेषके स्मरणको नहीं बता सकते। सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे कर्ताका अनुमान कर, सम्भावित कर्ताको वहां देखते हैं। कुछ लोग ईश्वरको, दूसरे लोग हिरण्यगर्भको। और लोग प्रजापति=ब्रह्माको कर्ता मानते हैं। ऐसे नाना प्रकारके विवाद परम्परासे कर्ताके विषयमें मन्वादिकी तरह स्मृतिमें किसी प्रकारसे भी आ नहीं सकते। (अन्वयसे उक्त कथंको बताकर अब व्यतिरेकसे उक्तार्थको कहते है 'न हि' इत्यादिसे)

सप्रतिसाधनश्च हेतुः 'वाक्यत्वात्' इति। विवादाध्यासितं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वादद्यतनाध्ययनवदिति। तदिदमाह सूत्रकारः—'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' इति। शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम्। तदयमर्थः—सर्वपुंसामध्ययनमध्ययनानन्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाधीतम्, तथैवाधिजिगांसन्ते। न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति, यः कर्ता स्यात्। तस्मादपौरुषेया वेदाः। समाख्यापि योग्यानुपलब्धिनिराकृते कर्तरि तन्निमित्ता न सम्भवतीति प्रवचननिमित्ताऽध्यवसीयते। प्रवचने एवातिशययोगेनाऽसाधारण्यं कठस्य सम्भवतीति न विशेषणत्वानुपपत्तिः।

यद्वा नायं पुरुषविशेषवचनः कठशब्दः, किन्तु नित्यस्य चरणविशेषस्यैवेयं संज्ञा, तच्चरणैः पुरुषैः परम्परयाऽधीयमाना शाखा काठकशब्देनाभिधीयते।

मनुस्मृति, महाभारत तथा शाक्य = बौद्धोंके ग्रन्थोंमें कर्ता विशेषके प्रति कोई विवाद नहीं करता। अतः स्मृतिका विषय होनेपर भी स्मरण न होनेसे दृश्यादर्शनसे बाधित सामान्यतोदृष्ट अनुमान- कर्ताका अनुमान नहीं करा करता।

और सुनिए—वाक्यत्वहेतु सत्प्रतिपक्ष दोषसे दूषित है। पूर्वपक्षीका अनुमान था 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् भारतादिवाक्यवत्' इसका विरोधी अनुमान है 'विमतं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात्, इदानीन्तनाध्ययनवत्'। इति। इसी बातको सूत्रकारने कहा है—'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वमिति'। यहां 'शब्द' शब्दसे शब्द जन्य अध्ययन कहा जाता है। (अर्थात् उच्चारण तो है ही। यह गुरुकर्तृक उच्चारण मानव कर्तृक अध्ययनमें कारण है। इत्यादि पहिले हो सिद्ध है। इसी अर्थका ग्रन्थकार स्वयं विश्लेषण करते हैं। 'तदयमर्थः' इत्यादिसे) इसका निष्कर्ष यह है कि सभी पुरुषोंका अध्ययन अध्ययनानन्तर पूर्वक होता है। सभी अध्येता जैसा गुरुने अध्ययन किया वैसा ही अध्ययन (उच्चारण) करना चाहते हैं। न कि स्वतन्त्रता पूर्वक प्रथम ही वेदका कोई अध्येता है, जो कर्ता हो सके। अतः वेद पौरुषेय नहीं। अर्थात् अपौरुषेय हैं*।

(अब समाख्याको सिद्ध करते हैं। शंका—अप्राप्त वेदोंके कर्ताकी भी समाख्या ही मूल क्यों नहीं हो सकती) उत्तर—नहीं, समाख्या योग्यानुपलब्धिसे निराकृत कर्तामें उसकी निमित्त नहीं हो सकती। अतः समाख्याका प्रवचन ही निमित्त है, यह निश्चय किया जाता है। (श्रुति आदिकी अपेक्षा समाख्या दुर्बल है और सादि है। अतः उससे शब्दराशि वेदके कर्ताका निश्चय नहीं हो सकता) प्रवचनमें ही विशेषता होनेसे कठकी असाधारणता हो सकती है। उससे विशेषणता होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं। (अर्थात् प्रकृष्टवचनको प्रवचन कहते हैं। प्रकर्षसे असाधारणता ज्ञात होती है। अतः विशेषणता युक्त है। यों कहा जाता है कि वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी थे। कठने तो केवल एक शाखाका ही अध्ययन किया था। इसलिए दूसरी शाखाको न पढ़नेवालेकी एक शाखाको पढ़ना ही विशेषता है। इसीको प्रकारान्तरसे कहते हैं—'यद्वा' इत्यादिसे) अथवा यह कठ शब्द पुरुष विशेषका

---

* व्याकरणमें दो सूत्र हैं 'अधिकृत्यकृतेग्रन्थे' तथा 'तेनप्रोक्तम्'। प्रथम सूत्र ग्रन्थको पुरुष प्रणीत बताता है। दूसरा सूत्र प्रवचनको बताता है। यह अपौरुषेयत्व पक्षमें ही संगत होता है।

तस्मादपौरुषेयत्वाच्चोदनानां प्रमाणता।
चोदनेति प्रतिज्ञार्थः पादेनानेन साधितः ॥ ६० ॥

पदार्थोपसंहारः

यद्धि द्वयं चोदनासूत्रे प्रतिज्ञातम्—भेदशेषप्रयुक्तिक्रमनियमाधिकारातिदेशोहबाधतन्त्रप्रसङ्गसर्वविशेषणविशिष्टे धर्मस्वरूपे चोदनैव प्रमाणम्, प्रमाणमेव चोदनेति, तत्र चोदनैवेत्यवधारणेन यच्चोदनानिरपेक्षाणां तया सह तुल्यकक्षतया स्पर्धमानानां

वाचक नहीं, किन्तु नित्य चरण विशेष = शाखा विशेषका❀ ही यह नाम है। उस शाखाको पढ़नेवाले पुरुषोंके द्वारा परम्परासे अधीयमान शाखा काठक शब्दसे कही जाती है। उक्त अर्थका श्लोकसे प्रतिपादन करते हैं 'तस्मात्' इत्यादिसे। अर्थ = इसलिए अपौरुषेय होनेके कारण विधिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध होता है। इस प्रथम पादसे चोदना सूत्रसे प्रतिज्ञात अर्थको ही सिद्ध किया गया है ॥ ६० ॥

[पूर्वपक्षमें 'अनित्यदर्शनात्' इस सूत्रसे वेदको अनित्य सिद्ध किया था। इसके लिए उदाहरण दिया था 'बबरः प्रावाहणिरकामयत्' इत्यादि। इसका उत्तर सूत्र है 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' ॥ १।१।३१ ॥ अर्थ = परन्तु = वेद पौरुषेय सिद्ध करनेके लिए जो दूसरा हेतु दिया है 'अनित्य दर्शन, वह श्रुति सामान्यमात्रम् = शब्दका साम्य मात्र ही है। (अर्थात् प्रावाहणि आदि शब्द किसी व्यक्ति विशेषके वाचक नहीं, किन्तु जो प्रकृष्ट प्रावहण शील है वही प्रवाहण कहलाता है। यहां 'ई' प्रत्यय कर्तृरूप अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, अतः जो अत्यन्त वेगसे चलता है वही प्रावाहणि = वायु है। 'बबरः' इति शब्दका अनुकरण है, इसलिए प्रावाहणि शब्द नित्य अर्थका ही वाचक है, अनित्यका नहीं)

पूर्व पक्षीने यह कहा था वनस्पतियोंने सत्र = याग किया। सर्पोंने सत्र = याग किया इत्यादि वाक्य उन्मत्त वाक्यकी तरह अप्रमाण हैं। उस पूर्व पक्षका निरास करनेके लिए यह सूत्र है 'कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥ १।१।३२ ॥ अर्थ = कृते सत्रादिरूप कर्ममें विनियोगः स्यात् = प्रशंसाके द्वारा विनियोग होता है। क्योंकि कर्मणः सम्बन्धात् = कर्मका सम्बन्ध होनेसे। (अर्थात् ज्योतिष्टोमादि वाक्य परस्पर सम्बद्ध अर्थको कहते हैं। अतः वाक्यार्थको जानते हुए, वेद वाक्य उन्मत्त वाक्यके समान हैं, यह कैसे मान जा सकता है? उक्त सर्पादि वाक्य सत्र – यागकी प्रशंसा करते हुए विधिवाक्यसे एक वाक्यताको प्राप्त होकर प्रमाण हैं, इसलिए वेद वाक्य अपौरुषेय होनेसे प्रमाण हैं। इसका विशेष विवरण भाष्यमें पृष्ट १०३, पर देखिए]

(पूर्वमें यह कह चुके हैं कि तीनों पाद धर्मजिज्ञासा सूत्रके ही शेष हैं; चोदना सूत्रके नहीं। द्वितीय चोदना सूत्रमें दो बातें बताई गई हैं 'विधिवाक्य ही धर्ममें प्रमाण हैं। 'विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण है ही'। इसीको बताते हैं 'यद्धि' इत्यादिसे। यह जो दो प्रतिज्ञाएं चोदना सूत्रमें की गई हैं यहां धर्म स्वरूपके विशेषण हैं = भेद, शेष, प्रयुक्ति, क्रम, नियम, अधिकार, अतिदेश, (ऊह, बाध, तंत्र, प्रसंग इत्यादि। उक्त सभी विशेषणोंसे विशिष्ट धर्मके स्वरूपमें विधिवाक्य ही प्रमाण है। विधिवाक्य प्रमाण ही है, यह प्रतिज्ञाकी गई है। उनमें चोदनैव अर्थात् विधिवाक्य ही इस अन्ययोग

❀ 'चरणे ब्रह्मचारिणि' यह पाणिनिका सूत्र है। इसकी व्याख्या करते हुए भट्टोजी दीक्षितने अपनी वृत्तिमें चरणः = शाखा, ऐसा चरण शब्दका अर्थ किया है।

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं प्रतिज्ञातम्, तत् प्रत्यक्षसूत्रेण साधितम्। 'औत्पत्तिकस्तु' इत्यादिना पादशेषेण प्रमाणमेवेत्ययमंशः साधितः। तदेवमस्मिन्नेव पादे[१] चोदनासूत्रप्रतिज्ञातार्थविशेषे साधिते उपरितनं पादत्रयं चोदनासूत्रशेषतया न सङ्गच्छते, किन्तु प्रथमे सूत्रे किंलक्षणो धर्म इति धर्मस्य प्रमाणं वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातम्, तत्रानेन पादेन चोदनायाः प्रामाण्यमुक्त्वाऽर्थवादस्मृतिनामधेयानामुपरितनेन पादत्रयेण प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते। तेन चोदनासूत्रवदेव पादत्रयं जिज्ञासासूत्रोक्तया 'को धर्मः' इत्यनयैव प्रतिज्ञया सङ्गच्छते।

न चार्थवादादीनां प्रामाण्ये चोदनैवेति प्रतिज्ञाव्याघातः स्यादिति वाच्यम्, तुल्यजातीयापेक्षत्वादवधारणस्य। यथा 'शुक्लः पटः' इत्युक्ते कृष्णादीनामेव निवृत्तिः, न द्रव्यत्वादीनाम्। एवं चोदनैवेत्यवधारणेन प्रत्यक्षादीनामेव चोदनावत् स्वातन्त्र्येण प्रमाणीबुभूषतां व्यावृत्तिः, नत्वर्थवादादीनाम्। चोदनैकवाक्यतया चोदनामूलतया

व्यावृत्तिके अवधारणसे जो विधिवाक्यसे निरपेक्ष्य तथा विधिवाक्यके समकक्षके रूपमें स्पर्धा करनेवाले प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, उनके अप्रामाण्यकी जो प्रतिज्ञाकी गई है, वह प्रत्यक्ष सूत्रसे सिद्धकी गई है। 'औत्पत्तिकस्तु' इत्यादि अवशिष्ट पाद शेषमें प्रमाण है ही, यह अंश सिद्ध किया गया है। इस प्रकार इस प्रथम पादमें चोदना सूत्रके द्वारा प्रतिज्ञात अर्थ विशेषको सिद्ध करनेपर ऊपरके तीन पाद चोदना सूत्रके शेषके रूपमें संगत नहीं होते। किन्तु प्रथम सूत्रमें अर्थात् 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें धर्ममें क्या प्रमाण है? यह जो धर्म विषयक प्रमाण बतानेके लिए प्रतिज्ञाकी है, उसमें इस प्रथम पादसे विधिका प्रामाण्य कहकर, अर्थवाद, स्मृति तथा नामधेय इन तीनोंका प्रमाण्य ऊपरके तीन पादोंमें कहा गया है। इससे चोदना सूत्रकी तरह तीनों पाद भी धर्मका क्या स्वरूप है? इस जिज्ञासा सूत्रसे की गई प्रतिज्ञासे ही संगत होते हैं।

शंका—यदि कहा जाए अर्थवाद आदिका प्रामाण्य सिद्ध करनेपर विधिवाक्य ही प्रमाण है, इस प्रतिज्ञाका विरोध होगा। उत्तर—विरोध नहीं है, क्योंकि अवधारण समान जातीयकी अपेक्षा रखता है। (यतश्चनिर्धारणे' इस पाणिनि सूत्रमें यह अर्थ स्पष्ट है। इसीको उदाहरण देकर समझाते हैं—'यथा' इत्यादिसे) जैसे यह वस्त्र शुक्ल है–शुक्लः पटः' ऐसा कहनेसे कृष्ण-वर्ण आदिकी निवृत्ति होती है। न कि द्रव्यत्व आदिकी ही निवृत्ति होजाती है, यह तो स्पष्ट है। इसी प्रकार 'विधिवाक्य ही प्रमाण है? इस अवधारणसे विधिवाक्यकी तरह स्वतंत्र रूपसे प्रमाण होनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्यक्षादि की ही व्यावृत्ति होती है, अर्थवाद आदिकी नहीं। क्योंकि अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यके साथ एक वाक्यताको प्राप्त करकें प्रमाण होते हैं। मन्वादिस्मृतियां वेद मूलक होते हुए प्रमाण होती हैं। अतः इन दोनोंके विधि विषयक अवधारणसे प्रमाण्य न निरस्त हुआ है और न सिद्ध किया गया है। ऊपरके तीन पादोंसे तो अर्थवाद तथा स्मृति आदिका प्रामाण्य सिद्ध किया जाएगा। (उक्त अर्थमें वार्तिककारकी सम्मति दिखाते हैं 'यथाह' इत्यादिसे यह श्लोकवार्तिकका

---

१. 'सूत्र' इति 'ख' पुस्तके पाठः।

च प्रमाणीभवतां चोदनाविषयेणावधारणेन प्रामाण्यं निरस्तम्, नापि साधितम् ।उपरितनेन तु पादत्रयेण तत्साधयिष्यते ।

यथाह—'इति प्रमाणत्वमिदं प्रसिद्धमुक्त्वेह धर्मं प्रतिचोदनायाः ।
अतः परं तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति यस्य योर्थ' ॥

॥ इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणमीमांसासाम्राज्यधुरन्धरमहामहोपाध्याय-
विद्वद्वरश्रीमत्पार्थसारथिमिश्रशास्त्रिप्रणीतायाः शास्त्रदीपिकायाः
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

अन्तिम पद्य है) उसका अर्थ=इस प्रकार धर्मके प्रति विधिवाक्यका प्रामाण्य जो सिद्ध है, उसे प्रथम पादमें बताकर, इसके बाद वेदको विधि, अर्थवाद तथा मंत्रके रूपसे तीन भेदोमें विभक्त करके, उसके अनन्तर जो वेद भाग जिस अर्थको कहता है, उसे बतावेंगे । (अर्थात् 'अतः परम्' आदिसे यह कहा गया है कि अर्थवाद आदिके प्रामाण्यका प्रतिपादन न होनेसे, प्रमाणका लक्षण समाप्त नहीं हुआ । इसलिए इस पादमें विधिका प्रामाण्य सिद्ध होनेपर भी आगे तीनों पादोंमें विधि, अर्थवाद तथा मंत्रके रूपसे वेदके तीन भेद बताकर, तत् तत् वाक्योंके स्तुति आदि प्रयोजन आगे बताएँगे । ॥ यहाँ तक प्रथमाध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ ॥

[अधिकरण सार—इस अधिकरणका वेद वाक्य विषय है । वेद वाक्य पौरुषेय है या अपौरुषेय मह संशय है । यहाँ पूर्व पक्ष है 'वेद पौरुषेय है' । इसमें दो हेतु दिए हैं । प्रथम हेतु है कि काठकादि समाख्या है । दूसरा हेतु है वाक्यत्व । इसमें होनेवाले अनुमानका यह स्वरूप है—'वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्, भारतादिवत्' ।

सिद्धान्त है कि—वेद अपौरुषेय हैं । समाख्या तो प्रवचनको लेकर सिद्ध होती है । वाक्यत्व कर्ताके दिखाई न देनेसे बाधित है । और उक्त अनुमानका सप्रतिसाधन या सत्प्रतिपक्षी अनुमान है । मथा—'वेदा अपौरुषेयाः सम्प्रदायाऽविच्छेदे सति, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' । ग्रन्थकारने दूसरा अनुमान दिया है, जो मूलमें स्पष्ट है । अतः वेद अपौरुषेय हैं]

पञ्चावस्थभटिण्डाख्ये मण्डले भागिवान्दरे ।
श्रीमद्गोपालदासोऽभूत् तपश्चर्यापरायणः ॥ १ ॥
तच्छिस्योर्जुनदासश्च समुद्यत्कीर्तिमण्डितः ।
स्वामीकिशोरदासस्तच्छिष्यो विद्वद्वशंवदः ॥ २ ॥
तेन सम्पादिता चैषा दुर्लभा शास्त्रदीपिका ।
चन्द्रप्रभाख्यया हिन्दीव्याख्यया समलंकृता ॥ ३ ॥
सेयं श्रीभगवच्चन्द्राचार्यपादसरोजयोः ।
जिज्ञासूनां बुधानाञ्चमुदे सश्रद्धमर्प्यते ॥ ४ ॥

पंजाब स्थित, भागीवान्दर, जिला भठिण्डाके निवासी श्री सन्त निक्कूराम (गोपालदास) जी के प्रशिष्य तथा स्वामी अर्जुनदास जी महाराजके शिष्य, किशोरदास स्वामीने उदासीन वंशावतंस भगवान् श्रीचन्द्राचार्यके चरणोंमें अपनी श्रद्धा व्यक्त करनेके लिए तथा जिज्ञासु जनोंके उपकारके लिए राष्ट्रभाषा हिन्दीमें शास्त्रदीपिकाके तर्कपादान्त तकका अनुवाद करके इस ग्रन्थका सम्पादन किया ।

परिशिष्टम्

शास्त्रदीपिकायाः-मूलश्लोकाः

लक्ष्मी - कौस्तुभवक्षसं मुररिपुं शङ्खासिकौमोदकी—
हस्तं पद्मपलाशताम्रनयनं पीताम्बरं शार्ङ्गिणम् ।
मेघश्याममुदारपीवरचतुर्बाहुं प्रधानात्परम्,
श्रीवत्साङ्कमनाथनाथममृतं वन्दे मुकुन्दं मुदा ॥ १ ॥

न्यायाभासतमश्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदर्शिकाम् ।
कुमारिलमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम् ॥ २ ॥

विनाऽपि विधिना ज्ञानलाभान्न हि तदर्थता । कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात्स्वर्गो विश्वजिदादिवत् ॥ ३ ॥
लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना । विधेश्च नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ॥ ४ ॥
नियोज्यः कल्पनीयोऽत्रविध्यर्थानुपपत्तितः । न चोपनयनस्याङ्गभावोऽस्त्यध्यापनं प्रति ॥ ५ ॥
द्वितीयाश्रुतिसामर्थ्यात्सा माणवकसंस्क्रिया । तथा सत्यन्तरङ्गत्वादङ्गमध्ययनस्य तत् ॥ ६ ॥
परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् । मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ॥ ७ ॥
ज्ञानमेवैवमाकारमात्मना प्रथते, कुतः ? नाप्रत्यक्षस्य तस्यास्ति प्रमाणान्तरतो गतिः ॥ ८ ॥
संवेद्यत्वाच्च नीलादेर्ज्ञानाकारत्वनिश्चयः । अर्थान्तरस्य च ग्राह्यलक्षणं न हि युज्यते ॥ ९ ॥
नीलादिवित्तेरात्मांशग्राहित्वं केन गृह्यते । नात्मना नान्यसंवित्त्या सापि ह्यात्मावसायिनी ॥ १० ॥
अज्ञानस्थिरचित्रत्वबाह्यत्वादेरनात्मनः । असतो वा सतो वापि कथं विज्ञानवेद्यता ॥ ११ ॥
न ह्येकाक्षरविज्ञानादर्थधीरुपजायते । वाचश्च क्रमवर्तित्वात् साहित्यं नावकल्पते ॥ १२ ॥
यथाग्नेयादिकर्माणि क्रमवर्तीनि सन्त्यपि । संहृत्य कुर्वते कार्यमेकं वर्णास्तथैव नः ॥ १३ ॥
पृथक्त्वे व्यक्तितो जातिर्दृश्येत पृथगेव सा । अभेदे व्यक्तिमात्रं स्याद् द्वेधाचेन्न विरोधतः ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षबलसिद्धस्य सामान्यस्य कुतर्कतः । न शक्योऽपह्नवः कर्तुं सर्वं विजयते हि तत् ॥ १५ ॥
वृत्तिः स्वावयवेष्वस्य व्यासज्येति प्रदर्शितम् । तेनास्त्यवयविद्रव्यं सामान्यं चास्ति सर्वगम् ॥ १६ ॥
वर्णानामभिधातृत्वमाकृतेश्चाभिधेयताम् । कथयित्वाथ सम्बन्धकथैव प्रकृतोच्यते ॥ १७ ॥
ज्ञाप्यज्ञापकभावश्च सम्बन्धः प्रागुदीरितः । तन्नित्यत्वं यदाक्षिप्तं तत्समाधीयतेऽधुना ॥ १८ ॥
सिद्धे ज्ञानसुखादीनां गुणत्वे गुणिकल्पना । न तु तत्सिद्धमस्माकं तावन्मात्रोपपत्तितः ॥ १९ ॥
प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः पूर्वापरकालयोः । तस्य स्थास्नोः स्फुटो भेदो विज्ञानात्क्षणभङ्गुरात् ॥ २० ॥
तथाहि येऽपियोगस्य परां काष्ठामुपागताः । योगेश्वरेश्वरास्तेऽपि कुर्वन्त्यात्मन्यहंमतिम् ॥ २१ ॥
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ! ॥ २२ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपिचोत्तमः । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ २३ ॥
'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । एवमादावहं शब्दः परस्मिन् पुंसि हि ध्रुवम् ॥२४॥
सुष्वापादुत्थिताश्चैवं निर्विद्यन्ते हि कामुकाः । वृथेयमन्तरेणैव कामिनीं यामिनी गता ॥ २५ ॥

आश्लिष्टामप्यबुद्ध्वैनां मृतवच्छयितं मया । मुक्त्वा च परमानन्दं तस्य च स्मरणादयम् ॥ २६ ॥
स्वल्पाल्पसुखहान्यैवं निर्वेदो नावकल्पते । तत्सुखं विस्मृतं च स्यात् सुखमस्वाप्समित्ययम् ॥ २७ ॥
व्यवहारो न युज्येत, दुखाननुभवेतियम् । सुखव्यवहृतिस्तस्माद् गुणवृत्त्येति निश्चयः ॥ २८ ॥
नैवमल्पं हि संसारे सुखं तदपि सूरयः । बहुप्रयाससाध्यत्वाद्दुःखमेवानुजानते ॥ २९ ॥
जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखान्यनुदिनं नृणाम् । स्वयमेव विना यत्नान्निपतन्ति सहस्रधा ॥ ३० ॥
विहिताकरणान्नित्यं प्रतिषिद्धनिषेवणात् । महदामुष्मिकं दुःखं यन्नरैर्नैव गम्यते ॥ ३१ ॥
बहुःदुःखपरिष्वक्तं यन्नामस्वल्पकं सुखम् । सुरापानादिसुखवद्वर्जनीयं विवेकिनाम् ॥ ३२ ॥
एवं भूतेऽपि संसारे ये रक्ताः सुखतृष्णया । न तेषामधिकारोऽस्ति मुक्तिशास्त्रे कथञ्चन ॥ ३३ ॥
संसारादुद्विजन्ते ये दृष्टलोकपरावराः । त एव खलु मुच्यन्ते न तु यः प्राकृतो जनः ॥ ३४ ॥
तेषामेवापवर्गाख्यः पुरुषार्थो महात्मनाम् । तेषामेवाधिकारश्च मुक्तिशास्त्रे मनीषिणाम् ॥ ३५ ॥
तेनाऽभावात्मकत्वेऽपि मुक्तेर्नाऽपुरुषार्थता । सुखदुःखोपभोगो हि संसार इति शब्द्यते ॥ ३६ ॥
तयोरनुपभोगन्तु मोक्षं मोक्षविदो विदुः । श्रुतिरप्येतमेवाह भेदं संसार-मोक्षयोः ॥ ३७ ॥
न ह वैः सशरीरस्य प्रियाप्रियविहीनता । अशरीरं वा वसन्तं स्पृशतो न प्रियाऽप्रिये ॥ ३८ ॥
आनन्दात्मकमात्मानं ये वदन्ति स्वयं प्रभम् । तन्मतेऽपि च संसारान्मुक्तेरेतावतीभिदा ॥ ३९ ॥
आत्माह्यानन्दरूपोऽसौ संसारेऽपि प्रकाशते । तावानेव स मोक्षेपि नाधिक्यं तस्य किञ्चन ॥ ४० ॥
अथ संसारवेलायामानन्दो न प्रकाशते । न ह्यप्रकाशनं युक्तं स्वप्रकाशस्य वस्तुनः ॥ ४१ ॥
यद्यसौ न प्रकाशेत किं तह्यन्यत् प्रकाशते । आत्मस्वरूपमिति चेत् ? ननु चानन्द एव तत् ॥ ४२ ॥
तच्चेत् प्रकाशते नूनमानन्दोऽपि प्रकाशते । तेन शब्दादिविषयजन्ययोः सुख-दुःखयोः ॥ ४३ ॥
निवृत्तिरेव संसारादपवर्ग इतीर्यते । ततश्च सुखलोपेन मुक्तेरपुरुषार्थता ॥ ४४ ॥
यद्यस्माकं भवेत्तर्हि तुल्यैषा भवतामपि । सुखहानिमतस्तस्य भूयोदुःखविवर्जनात् ॥ ४५ ॥
मोक्षस्यपुरुषार्थत्वभावयोरुभयोः समम् । सुख-दुःखविहीनोऽतो मुक्तः स्वस्थोऽवतिष्ठते ॥ ४६ ॥
प्रयत्नानन्तरं दृष्टेर्नैकान्त्यात् कार्यताध्वनेः । तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि युज्यते तत्र दर्शनम् ॥ ४७ ॥
युगपद्देशभेदश्च स्यादेकस्यापि सूर्यवत् । ये विन्ध्यनिलया ये च कामरूपे व्यवस्थिताः ॥ ४८ ॥
प्राग्भागे ह्यात्मनः सर्वेरुद्यन् भास्वान् निरीक्ष्यते । प्रत्यग्भागे तथास्तं यन्मध्याह्ने चोपरि स्थितः ॥ ४९ ॥
भिन्नाश्च तेषां प्राग्भागास्तथा प्रत्यक् तथोपरि । तेष्वस्य दृश्यमानस्य विस्पष्टा भिन्नदेशता ॥ ५० ॥
विवादाध्यासिता भावाः सत्वात् क्षणविनाशिनः । दीपवत्प्रत्यभिज्ञापि स्यात्प्रदीपवदेव नः ॥ ५१ ॥
वाक्येनैव हि वाक्यार्थः साक्षादेवाभिधीयते । उपलक्षणतश्चास्य सम्बन्धग्रहसम्भवः ॥ ५२ ॥
वाक्यं गोपदयुक्तं यत् तत्-सास्नादिमदन्वितम् । वाक्यार्थंवदतीत्येवं व्युत्पत्तिः सुकरैव हि ॥ ५३ ॥
सत्यं व्युत्पत्तिरेवं स्यात् तथापि तु न वाक्यतः । वाक्यार्थविगतिर्युक्ता तिरोभावेऽपि दर्शनात् ॥ ५४ ॥
पूर्वभागेषु वाक्यस्य विस्मृतेष्वपि दृश्यते । वाक्यार्थावगतिः पुंसां पदार्थस्मृतिशालिनाम् ॥ ५५ ॥
प्रसङ्गतन्त्रबाधोहाऽतिदेशाधिक्रियाक्रमाः । प्रयुक्तिशेषभेदाश्च कथं निर्भागवादिनाम् ॥ ५६ ॥
वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वात् भारतादिवत् । काठकादिसमाख्यापि कृतकत्वे समर्थ्यते ॥ ५७ ॥
'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वमाख्याप्रवचनादिति' ॥ ५८ ॥
वाक्यत्वात्पौरुषेयत्वं दृश्यादर्शनबाधितम् । प्रतिहेतुविरुद्धश्रहेतुस्तस्मादकृत्रिमाः ॥ ५९ ॥
तस्मादपौरुषेयत्वाच्चोदनानां प्रमाणता । चोदनेति प्रतिज्ञार्थः पादेनानेन साधितः ॥ ६० ॥

प्राभाकरमतस्योक्तस्थलानि

तार्किकाणां निर्देशस्थलानि

सांख्ययोगयोर्निर्देशस्थलानि

वैयाकरणानां निर्देशस्थलानि

सौगतमतस्य निर्देशस्थलानि

वेदान्तमतस्य निर्देशस्थलानि

सूत्र—भाष्य—वार्तिककाराणां निर्देशस्थलानि

शब्दार्थ-विवरणम्

अतिदेशः -प्रकृतिकी तरह विकृतिको करना चाहिए ऐसा वचन ।

नातिपेलवम्—सुन्दर न होना या उपयुक्त न होना ।

अध्ययन—गुरुमुखोच्चारण पूर्वक उच्चारण ।

अध्ययनविधि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विशेष विधि वाक्यका नाम ।

अधिकार—कर्मजन्य फलको भोगना या भोगकी योग्यताका होना ।

अध्यापन—पढ़ाना, जो कि आचार्य का धर्म है ।

अनुयाज—अग्निदेव, बर्हिरनुयाज, अग्निस्विष्टकृत, ये तोन अनुयाज कहलाते हैं । ये दर्शपूर्णमासके उत्तरांग हैं ।

अन्विताभिधानम्—पदोंका अन्वित अर्थको कहना ।

अपूर्व—यागकी शक्ति या अवान्तर व्यापार ।

अपोह—तद्भिन्न भेद या अतद् व्यावृत्ति । यह बौद्धोंका पारिभाषिक शब्द है ।

अपौरुषेयम्—वाक्य रचनामें पुरुषका स्वातंत्र्य न होना या अतोन्द्रियार्थ का बोधक वाक्य ।

अभिहितान्वय—पदों से अभिहित पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध ।

अलीकम्—मिथ्या या अनुपपन्न अर्थ ।

आकृति—सामान्यम्, जाति, ये तीनों पर्याय हैं । जातिके पर्याय हैं यह भाट्टका मत है ।

आग्नेयादिकर्माणि—दर्शमें आग्नेय पुरोडाश याग, दधि-याग, पयो-याग, आदि कर्मों को कहते हैं ।

आचार्यकम्—आचार्यस्वभावः आचार्यकम्, आचार्य होना ।

आचार्यकरण—आचार्यत्वको कहते हैं ।

आरादुपकारक—जो परमापूर्वमें उपकारक होता है, उसे आरादुपकारक कहते हैं, जैसे प्रयाजादि ।

उपदेशः—इसको इस प्रकारसे अमुक फलके लिए करना चाहिए, ऐसा आदेश ।

ऊहः—पदान्तरका प्रक्षेप या विकार ।

क्रमः—अंगोंका पौर्वापर्य

कार्यः—जो प्रयत्नके द्वारा सिद्ध होता हो तथा फलका साधन हो । यह पारिभाषिक शब्द है ।

जिज्ञासा—प्रवर्त्य पुरुषकी जाननेकी इच्छा ।

तंत्र—अंगोंका सकृदनुष्ठान ।

धर्मः—वेदविहित यागादि क्रिया विशेष ।

नियोग—जो पुरुषको यागादिमें प्रवृत्त करता है ।

नियोगवादिन—नियोग वाक्यार्थ में मुख्य विशेष्य मानने वाले प्राभाकर मीमांसक ।

निरालम्बन—बाह्य विषयके बिना होनेवाला ज्ञान ।

निवृत्तिरूपम्—अभाव रूपता ।

परिणामः—पदार्थका पूर्वरूपको छोड़कर रूपान्तरमें परिणत होना ।

पुद्गलाः—पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः । या पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वं पुद्गलत्वम् । शरीरके आरम्भक परमाणु विशेष । यह जैनोंका पारिभाषिक शब्द है ।

प्रकारः—उपकार या अङ्ग ।

प्रकृतियागः—जहाँ सम्पूर्ण अङ्गोंका विधान हो उसे प्रकृति याग कहते हैं ।

प्रकृतिः—प्रधान, अजा ये तीनों पर्याय हैं। सांख्य मतमें सत्व, रज, तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं।

प्रतिनिधिः—मुख्य सामग्रीके अभावमें उसके समान जो शास्त्रसे विहित हो।

प्रयाजः—समित्, तनूनपात, इट्, बर्हिः, स्वाहाकार, ये प्रयाज कहलाते हैं, जो दर्शपूर्ण मासके पूर्वाङ्ग हैं।

प्रवचनम्—विशेषरूपसे अध्ययन या अध्यापन।

प्रयुक्तिः—अनुष्ठान या प्रयोज्य-प्रयोजक भाव।

प्रसंगः—दूसरेका भी उपकारक होना। अर्थात् एकके लिए करनेपर दूसरेका भी उपकार करना।

बाधः—पदार्थोंकी निवृत्ति या अनुष्ठान न करना।

बालजल्पितम्—वाद-विवाद करना।

मीमांसा—श्रोताकी क्रिया या पवित्र विचार।

मुकुन्दः—मुक्ति ददातीति मुकुन्दः, मुक्तिको देनेवाला। प्रशोदरादिगणमें पठित है।

योगः—अवयव शक्ति विशेष।

रूढिः—समुदाय शक्ति।

वासना—ज्ञान-जन्य संस्कार विशेष।

विकल्प—सविकल्पक ज्ञान। बौद्धोंका पारिभाषिक शब्द है।

विकृतिः—जहाँ विशेष अंगोंका विधान हो और अंग प्रकृतिसे आते हों।

विधिः—नोदना, उपदेश ये तीनों समानार्थक हैं।

विधिरूपम्—भावरूपता।

विवर्तः—पदार्थका स्वरूप वैसा हो रहे और अन्यथारूपसे भान हो यही विवर्त है।

वैभाषिक—बाह्य वस्तु प्रत्यक्ष तथा अनुमेय होती है, ऐसा मानने वाले बौद्धाचार्य।

शक्तिः—कारणमें होनेवाली योग्यता। यह तीन प्रकारकी होती है सहज, आधेय और पदार्थ शक्तिः।

शून्यः—बाह्यार्थके बिना होनेवाला ज्ञान। विज्ञानवादी योगाचार विशेषकर इस शब्दका प्रयोग करते हैं।

शेषशेषित्वम्—शेष कहते हैं अंगको। शेषि कहते हैं अंगिको; अतः यह अंगांगि भावका नाम है।

श्रेयस्करभाष्ये—अर्थ पदके व्याख्यान रूप भाष्यमें।

सन्निपत्योपकारकः—द्रव्य या देवतामें सम्बद्ध होकर, परम्परासे यागका उपकारक अङ्ग।

समावर्तन—ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति या स्नान।

सादृश्य—किसी पदार्थसे भिन्न हो उससे अनेक धर्मोंमें समानता हो, उसे सादृश्य कहते हैं।

साम—जो मंत्रोंमें गाया जाता है या गान विशिष्ट मंत्र।

सामान्य—अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला धर्म।

सौत्रान्तिक—बाह्य प्रपंचको अनुमेय माननेवाला बौद्धोंका सम्प्रदाय।

स्फोटः—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः। इसीको वैयाकरण शब्द ब्रह्म मानते हैं।

स्वलक्षणम्—असाधारण आकार या व्यक्ति।

स्वाध्याय—वेदकी शाखा विशेष।

ज्ञातता—प्राकट्य, अतिशय, ये तीनों ज्ञान-जन्य-विषय-निष्ठ धर्मको बताते हैं।

शुद्धि-पत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पंक्ति	पृष्ठ
न्यायामस	न्यायामास	३	३
देश	निर्देश	१६	३
अध्यापन	अध्ययन	७	४
मुनपयीत	उपनयीत	४	६
आचार्थकं	आचार्यकं	१४	८
शास्रत्वम्	शास्त्रत्वम्	५	२७
प्रामाव्यं	प्रामाण्यं	३३	३४
पाप्ता	प्राप्ता	३२	३३
हेतुत्थ	हेतूत्थ	३२	३३
श्रृणेत	श्रृणोत	२२	३४
प्रालाप	प्रलाप	२२	३४
न द्रकृतस्य	न शूद्रकृतस्य	३	४०
प्रतिशेध	प्रतिषेध	६	४६
विकल्पता	विकल्पयता	१७	५९
अत्रौत्पत्ति	अत्रौत्पत्ति	६	७१
दयप्रामाण्यं	दप्रामाण्यं	२	७२
प्रसाक्ष्ङीत्	प्रसांक्षीत्	५	७२
इन्द्रियम्	इन्द्रियजम्	११	९२
निषेघयता	निषेधता	१३	९६
तब्दुद्धीनां	तब्दुद्धीनां	७	९७
प्रमादर्शिनी	प्रमादर्शिनः	९	११६
द्वारलोक	द्वारलोप	२५	१३६
प्रत्यामनान	प्रत्याम्नान	२५	१३६
नह्यपपादक	नह्युपपादक	३	१४४
समिदो	समिघो	३५	१५८
प्रतित्ति	प्रतिपत्ति	१	१८४
थगाश्रया	पृथगाश्रया	२	२०३
इत्यहनीयम्	इत्यूहनीयम्	९	२०५
क्षेंज्ञज्ञास्तु	क्षेत्रज्ञास्तु	७	२३१
प्रत्यक्षसिद्धय	प्रत्यक्षसिद्धये	६	२५७
युज्येते	युज्यते	१३	२५८
उपादावात्	उपादानात्	९	२६१
कियन्तश्चित्कालं	कियन्तश्चित्कालम्	३	२६४
अशेघर्मं	अशेषघर्मं	१	२६६
निर्मंक्त	निर्मुंक्त	४	२६६
शकाशत	प्रकाशत	८	२७४
जानयति	जनयति	१०	२७४
यनि	यदि	१	२७५
उपलब्घि	उपलब्धि	४	२८८
अपह्नते	अपह्नुते	५	३१०
संयुक्तग्मवाय	संयुक्तसमवाय	९	३१४
पदाथ	पदार्थं	१	३१७
स्वायववाभ्यामेव	स्वावयवाभ्यामेव	२	३२४
वेदार्थोऽअलौकिकः	वेदार्थोऽलौकिकः	१०	३३०